आचार्य
नन्ददुलारे वाजपेयी
व्यक्ति और साहित्य

P. G. SECTION

संग्रहणीय प्रकाशन

प्रकीर्णिका—लेखक आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी	८ ००
आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी —लेखक आचार्य प० किशोरीदास वाजपेयी	३.००
डिंगल-साहित्य—डा० गोवर्द्धन शर्मा	१६.००
हिन्दी-उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डा० (श्रीमती) ओम शुक्ल	१६ ००
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा	१६ ००
अज्ञेय का काव्य—सुश्री सुमन झा	८ ००
हिन्दी की नयी कविता—श्री वी० नारायणन कुट्टी	७ ००
आ० हि०-कविता मे अलंकार-विधान—डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी	१५.००
नया हिन्दी-काव्य—डा० शिवकुमार मिश्र	१६ ००
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डा० रामाधार शर्मा	१६ ००
रामचरितमानस : काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डा० राजकुमार पाण्डेय	१६ ००
हिन्दी-उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन—डा० चण्डीप्रसाद जोशी	१६ ००
तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी	१६ ००
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डा० रणधीर सिन्हा	१६.००
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा	१० ००
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना	८ ००
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा	१२ ५०
हिन्दी काव्य-शास्त्र मे रस-सिद्धान्त—डा० सच्चिदानन्द चौधरी	१६ ००
प्रसाद जी की काव्य-प्रवृत्ति—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	२० ००
कवि प्रसाद और कामायनी—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	८ ००

अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर-२

(शोध-ग्रन्थो के प्रकाशक)

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
व्यक्ति और साहित्य

०
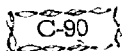
सम्पादक :
डॉ० रामाधार शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

प्रकाशकीय वक्तव्य

महानता विविध प्रकार की असहज विशेषताओ और असामान्य उपलब्धियो का समुच्चय, सामञ्जस्य और समन्वय है, इसका परिवेश व्यापक एव विस्तृत, लक्ष्य उदात्त, मानवतावादी, सार्वभौम, कार्य अनुकरणीय, अनुसरणीय, स्थायी होता है, तथा इसकी वैचारिकी गत्यात्मक, पूर्वाग्रह से मुक्त, परम्परा से युक्त, जनमानस को आन्दोलित करने मे समर्थ तथा समाज के दिशा-निर्देशन मे सक्षम होती है।

युग-प्रवर्तक साहित्यकार प० नन्ददुलारे जी वाजपेयी मे महानता के उपर्युक्त समस्त गुण सन्निविष्ट हैं। आप हिन्दी-साहित्य की महान् विभूति, भारतीय वाड्मय के अविस्मरणीय साहित्य-स्रष्टा, समकालीन साहित्य-समाज के सर्वाधिक समादृत व्यक्तित्व हैं। आपने समीक्षक, निबन्धकार, सम्पादक, सशोधक, शोध-निर्देशक, प्राध्यापक, सम्भाषणकर्ता के रूप मे हिन्दी-साहित्य की प्रगति और हिन्दी-भाषा के प्रसार मे ऐतिहासिक योगदान किया है। 'हिन्दी-साहित्य . बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न', 'सूरदास', 'जयशङ्करप्रसाद' आदि मौलिक ग्रथ-रत्नो के प्रणयन, 'सूर-सागर', 'रामचरितमानस', सा० 'भारत', त्रै० 'आलोचना' आदि के कुशल सम्पादन, हिन्दू विश्वविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालय मे सफल अध्यापन, शताधिक महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्धो के निर्देशन, सहस्रो साहित्यिक सम्भाषणो; तथा साहित्य-एकेडेमी, नागरीप्रचारिणी-सभा, हिन्दी-परिषद्, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की गतिविधियो मे सक्रिय योगदानो से वाजपेयी जी ने हिन्दी-साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा की है। आचार्य वाजपेयी जी का कार्य क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है; उनके साहित्यिक शिष्य, समर्थक और स्नेही सम्पूर्ण भारत मे परिव्याप्त हैं। आधुनिक समीक्षा-पद्धति और समीक्षको पर उनका प्रचुर प्रभाव है। वह अपने साहित्य के माध्यम से सदा राष्ट्रीय, मानवतावादी, प्रजातान्त्रिक जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। आपकी साहित्यिक मान्यताओ मे पौर्वात्य और पाश्चात्य, नवीन और प्राचीन का सन्तुलित समन्वय है। आप अपने तटस्थ साहित्यिक-मानदण्डो के द्वारा नई-से-नई साहित्यिक प्रवृत्ति और कृति का विश्लेषण और आकलन करने मे सदैव जागरूक रहे हैं। आधुनिक-युग के अनेक

साहित्यकारों की प्रगति और प्रतिष्ठा में वाजपेयी जी का अमित योग है। निस्सन्देह, वाजपेयी जी के गत्यात्मक व्यक्तित्व और व्यापक परिप्रेक्ष्य, सम्यक् दिशा-दर्शन और सन्तुलित समर्थन, प्रगतिशील चिन्तन और सास्कृतिक उपागम, तथा उनकी तलस्पर्शी मेधा और कलात्मक अभिवृत्ति के लिए आधुनिक हिन्दी-साहित्य युग-युग तक ऋणी रहेगा।

शोध ग्रन्थो के प्रकाशक और साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण मुझे आचार्य वाजपेयी जी के व्यक्ति और साहित्य को निकट से देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं सदा उनकी साहित्यिक और चारित्रिक महानता से अभिभूत रहा। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से मुझे श्रद्धेय वाजपेयी जी के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति व्यक्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

इस पुण्य-कार्य की मूल प्रेरणा समाजशास्त्र के प्रख्यात लेखक, अनेक साहित्यिक ग्रन्थों-पत्रों के यशस्वी सम्पादक, मेरे परम मित्र श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी से प्राप्त हुई थी। उन्हीं के सुझावों और प्रयत्नों से यह ग्रन्थ इस रूप में प्रकाशित होकर आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। इस अमित सहयोग और सद्भाव के लिए मैं त्रिपाठी जी का हृदय से आभारी हूँ।

—रामकुमार मिश्र
सञ्चालक
अनुसन्धान-प्रकाशन

१५ अगस्त, १९६५
कानपुर।

दो शब्द

ग्रथ की प्रेरणा पर दो शब्द लिखना आवश्यक है। पूज्य गुरुदेव आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का समीक्षा कार्य, गुण और परिमाण मे इतना महत्वपूर्ण एव पर्याप्त हो चुका है कि अब उस पर विचार-विमर्श होना आवश्यक हो गया है। इस दिशा मे कतिपय छोटे और व्यक्तिगत प्रयत्न हुए हैं, परन्तु वाजपेयी जी के सम्पूर्ण कृतित्व का सम्यक् मूल्याङ्कन उनमे सम्भव नही था। वाजपेयी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को हिन्दी-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने का दायित्व उनके मित्रो और छात्रो पर आ पडा है। मैं वाजपेयी जी का एक छोटा-सा छात्र हूँ, इसलिए समय-देवता ने इस कार्य मे मुझे निमित्त बनने का गौरव दिया है। मुझे अपनी असमर्थता का ज्ञान था, परन्तु मित्रो के सहयोग की आशा से मैंने ग्रन्थ के सकलन और सम्पादन का दुस्साहस किया। आशा है, उदार-चेता सुधी-समाज इसके लिए मुझे क्षमा करेगा। यह कार्य एक व्यक्ति द्वारा भी हो सकता था, परन्तु तब इसमे विचारो की विविधता नही होती, इसीलिए इसे सामूहिक प्रयत्न का रूप दिया गया है। फलतः इस ग्रन्थ मे वाजपेयी जी पर अनेक दृष्टियो से विचार सम्भव हो सका है। आचार्य वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि को समझने और समझाने की चेष्टा मे कई मत प्रस्तुत किए गए हैं और इस प्रकार उन पर होने वाले भावी कार्य की अनेक दिशाएँ इस ग्रन्थ मे स्वयमेव उद्घाटित हो गई हैं। मेरे लिए इतना ही अलम् था।

इस कार्य मे मुझे अनेक महानुभावो का उदार सहयोग मिला है और इस ग्रन्थ मे वाजपेयी जी का जीवनी और यात्राओ से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री भी दी जा सकी है। इसलिए ग्रन्थ का मूल्य बढ गया है। जिन महानुभावो ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी कृतियो से सङ्कलन की शोभा बढाई है, मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। जिनके लेख इस सग्रह मे नही दिए जा सके, उनसे अपनी असमर्थता के लिए क्षमा चाहता हूँ।

समाजशास्त्र के सुपरिचित लेखक, 'साहित्यालोचन' और सा० 'मनु' के सम्पादक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी ने सम्पादन और प्रकाशन मे पूर्ण मनोयोग से अमित सहयोग प्रदान किया है। आपकी तत्परता और सक्रियता के अभाव मे यह ग्रन्थ इस

रूप मे प्रकाशित नही हो सकता था। डा० शिवकुमार मिश्र, डा० प्रेमशङ्कर, श्री रमेश महरा एव प्रो० प्रवीण नायक का विशेष सहयोग के लिए उल्लेख आवश्यक है। ये सब मेरे अभिन्न मित्र है। डा० प्रतापसिंह चौहान, डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी तथा कथाकार श्री शत्रुघ्नलाल शुक्ल ने प्रूफ सशोधन आदि मे विशेष सहयोग दिया है, अत हम हृदय से उनके भी आभारी है। ग्रन्थ के प्रकाशक श्री रामकुमार मिश्र एव उनके निस्पृह भाव की मैं प्रशसा करता हूँ। ग्रन्थ की साज-सज्जा एव सुन्दर प्रकाशन के लिए वे बधाई के पात्र हैं। अन्त मे, यह ग्रन्थ जिनसे सम्बन्ध रखता है *उन्ही पूज्य गुरुदेव आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी के कर-कमलो मे सादर समर्पित* करता हूँ।

—रामाधार शर्मा

ॐ

विषय-क्रम

प्रथम खण्ड : व्यक्ति-परिचय

द्वितीय खण्ड : साहित्य-परिचय

प्रथम खण्ड

o

व्यक्ति-परिचय

o

आशीर्वचन

—आचार्य बाबू श्यामसुन्दरदास डी० लिट्०

नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म भाद्रपद कृष्ण १५, स० १९६३ को उन्नाव जिले के मगरायल ग्राम मे श्रेष्ठ कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। इनके पिता पहले खेनडी (राजपूताना) म हिन्दी के अध्यापक थे। वहाँ से वे कलकत्ता गए और वहाँ की पिंजरापोल नामक गोशाला मे मैनेजर नियुक्त हुए। यह एक बहुत बडी गोशाला है, जिसमे हजारो की सख्या मे गायें रहती हैं। उसकी एक शाखा बिहार प्रान्त के हजारीबाग जिले मे भी है। कुछ दिन बाद इनके पिता कलकत्ता से हजारीबाग गोशाला के प्रबधक नियुक्त होकर चले गए। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बडा मनोरम है, यही इनका आरम्भिक जीवन व्यतीत हुआ। जन्म के डेढ वर्ष बाद ही इनकी माता का देहान्त हो गया था।

इनकी शिक्षा घर ही पर हिन्दी से आरम्भ हुई। अँग्रेजी की आरम्भिक पुस्तकें भी घर ही पर पढी। सात वर्ष की अवस्था मे वही के मिशन कालेजिएट स्कूल मे भर्ती किए गए। ये अपनी कक्षा के सबसे छोटे विद्यार्थी थे। उस स्कूल से इन्होने सन् १९२२ मे एट्रेंस की परीक्षा पास की और फिर सायस लेकर एफ० ए० मे पढ़ने लगे। किंतु इस विषय की ओर रुचि न होने से दूसरे वर्ष सायस के स्थान पर आर्ट्स लेकर पढना आरम्भ किया। सन् १९२५ मे इन्होने एफ० ए० पास किया। उसके अनन्तर ये काशी विश्वविद्यालय मे पढने के लिए आए। यहाँ सन् १९२७ मे बी० ए० और १९२९ मे हिन्दी लेकर एम० ए० पास किया। बी० ए० मे ये विश्वविद्यालय के प्रमुख छात्रो मे थे और एम० ए० मे अपनी श्रेणी के विद्यार्थियों मे इनका प्रथम स्थान था। १९२९ से ३० तक ये "मध्यकालीन हिन्दी-काव्य" मे अनुसन्धान कार्य करते रहे।

हिन्दी की ओर इनकी रुचि स्कूल से ही थी। हजारीबाग मे शुद्ध हिंदी बोलने वालो की सख्या बहुत कम थी। विद्यार्थियो को भी शुद्ध हिन्दी-लिखना या बोलना नही आता था। स्कूल के प्रधान अध्यापक, जो क्रिश्चियन थे, देहली-निवासी होने के कारण शुद्ध हिन्दी बोल लेते थे। उन्होंने इन्हे प्रोत्साहित किया। छोटे-छोटे

निबन्ध लिख कर ये उनको दिखाते थे। इन्हे प्राचीन काव्य का अर्थ समझने मे अपने पिता जी से बहुत सहायता मिली। 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'हिन्दी-प्रदीप', आदि मासिक और भारतमित्र, 'स्वतन्त्र' आदि दैनिक पत्र इनके पिता मँगाते थे, जिन्हे य बाल्यावस्था से ही पढा करते थे। 'भारतमित्र' के अग्रलेखो को पढते रहने से इन्हे उसी समय विदेशी शासन के प्रति अनास्था हो गई थी।

१९३० मे ये 'भारत' पत्र के सपादक नियुक्त हुए। यह पत्र नर्म नीति का था, अत पत्र के अधिकारियो से इनका मतैक्य नही हो सका। उस पत्र मे रहकर इन्होने अनेक साहित्यिक लेख लिखे, आधुनिक साहित्य की आलोचना इनका मुख्य विषय था। इनके निबन्ध नई शैली के, मनोवैज्ञानिक गम्भीरता लिए होते थे और नवीन काव्य-धारा पर नया प्रकाश डालते थे। १९३१ मे 'भारत' का काम छोडकर ये काशी आ गए। यहाँ नागरीप्रचारिणी-सभा मे 'सूरसागर' का सपादन-कार्य, जिसे रत्नाकर जी अधूरा छोड गए थे, आरम्भ किया। यह काम चार वर्षो मे समाप्त हुआ। इसी अवसर पर सस्कृत तथा अँग्रेजी के धार्मिक और दार्शनिक ग्रथो का भी अध्ययन और मनन किया। सस्कृत के अध्ययन की ओर इनकी रुचि पहले से ही थी।

१९३७ मे ये गीता प्रेस गोरखपुर चले गये। वहाँ 'रामचरितमानस' का सम्पादन-कार्य इन्हे दिया गया। वह कार्य दो वर्षा मे पूरा हुआ। वहाँ 'मानस' की प्राचीन प्रतियो के देखने और भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी नियमो के शोध करने म इनका समय बीता। 'रामचरितमानस' के दार्शनिक आधार को लेकर एक बडा निबन्ध इन्होने लिखा जो अभी अप्रकाशित है। गीता प्रेस मे रहकर भी 'कल्याण' पत्र की नीति के साथ इनका मतैक्य नही हो पाया। यद्यपि अपना मतभेद इन्होने आरम्भ मे ही प्रकट कर दिया था, किन्तु 'रामचरितमानस' के साहित्यिक कार्य के कारण दो वर्षों तक ये वहाँ रहे। १९३९ के अत मे गीता प्रेस छोड़कर प्रयाग चले गये।

१९४० मे प्रयाग रहकर स्वतन्त्र रूप से साहित्य-रचना का कार्य करते रहे। इसी वर्ष २९ वें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति निर्वाचित होकर पूना गए। इनके अध्यक्ष पद के भाषण का विषय था 'प्रगतिशील साहित्य' जिसकी प्रशसात्मक चर्चा हिन्दी के प्रमुख पत्रो मे हुई। सन् १९४१ की जुलाई मे ये काशी विश्वविद्यालय मे हिन्दी के अध्यापक हो गये है।

इनकी रचनाएँ निम्नांकित है —

मौलिक—१ जयशकर प्रसाद, २ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, ३ साहित्य एक अनुशीलन, ४ तुलसीदास प्रबन्ध।

सम्पादित—५ सूरसागर (काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा) तथा ६ रामचरित मानस (गीता प्रेस)।

संग्रह—७ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, ८ हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास ९ सूर-सुषमा, १० सूर-सदर्भ, ११ साहित्य सुषमा।

अनुवाद—१२ धर्मों की एकता (डाक्टर भगवान दास की 'Essential Unity of all Religions' पुस्तक का अनुवाद)।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक लेख और भूमिकाएँ लिखी है। श्री *जयशंकर प्रसाद की 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', प० सूर्यकांत त्रिपाठी की* 'गीतिका', प० भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'खाली बोतल', 'अचल' की 'अपराजिता' जानकीवल्लभ शास्त्री के 'रूप और अरूप' तथा गंगाप्रसाद पांडे की 'छायावाद और रहस्यवाद' आदि आधुनिक साहित्य की पुस्तकों की भूमिकाएँ इन्होंने लिखी है। 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ' तथा 'रत्नाकर-संग्रह' की प्रस्तावना भी इन्होंने ही लिखी है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के नवीन परिवर्धित संस्करण में इन्होंने मुझे जो सहायता की है उसका उल्लेख उन सब ग्रंथों में किया गया है। इनके अतिरिक्त इनके दर्जनों लेख मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। नव युग के उन लेखकों में जिन्होंने हिन्दी- साहित्य के क्षेत्र में कार्य किया और यश पाया, इनका विशेष स्थान है। अँग्रेजी के आलोचना साहित्य का इन्होंने विशेष रूप से अनुशीलन किया है और उसका उपयोग ये अपने साहित्यक लेखों में करते है। इनमें स्वतन्त्र उद्भावना और निर्माण की भी अच्छी शक्ति है। हिंदी के नवीन समीक्षकों में इनका प्रमुख स्थान है।...

यह सम्पूर्ण लेख स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी के निर्माता' (प्रकाशन काल सन् १९४१) नामक पुस्तक से अविकल उद्धृत किया गया है।

आशंसा

प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ईसवी सन् १९२८ का शरत्काल, ज्वार और बाजरे के पेड़ों की बाढ़ प्राय पूरी हो चुकी है। कोई-कोई पेड़ गभुवारे, बाली भुट्टे फुनगी के पत्तों में छिपे हुए। *किसी-किसी ने सुन्दरी बहू की तरह थोड़ा-सा घूँघट उठाकर पृथ्वी पर परिचय की* दृष्टि डाली है। वर्षा का वेग मन्द, शीत के आगमन की सूचना मजे में मिल रही है। सारी प्रकृति एक स्तब्धता धारण किए हुये। बरसाती नदियों का पानी काफी घट गया है। किनारों की घास फूली हुई हवा में झूम-झूम जाती है। बागों में घास कमर तक, कहीं कहीं छाती तक आ गई है, भँजूर और जनेवा की सुगन्ध धरमपुर और शिमले की याद दिलाती है। किसान बड़ी लगन से हल चला रहे हैं। रबी की फसल बोने का समय आ गया है। सुबह की साधारण ओस पड़ी घास से आती स्निग्धता फूलित, रंग-बिरंगी किरनें, चिड़ियों की चहक, जंगली फूलों की सुगन्ध, हल की मूठ पकड़े पाटे लगाते किसानों की तेजी, मन की एक नई आँख खोल देती हुई दिल में एक दूसरी ला देती है। शाम की स्तब्धता शरत् की शुभ्र शांति का चित्र खींच देती है। मृत्यु के बाद के नए जीवन की तरह काम की नयी सूरत सामने आती है। इस स्तब्धता से जैसे कुल विरोध दबकर मर जाता है और रचना की नवीनता अपनी जीवनदायिनी कला से चपल हो उठती है। गाँव में हूँ, एकाएक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का हिन्दू विश्वविद्यालय से पत्र मिला, हमारे यहाँ हिन्दी-परिषद् में रहस्यवाद और छायावाद पर व्याख्यान दीजिए। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इस परिषद् के उप सभापति, प० अयोध्या सिंह उपाध्याय जी सभापति और श्री सोहनलाल द्विवेदी सेक्रेटरी थे। एक ही भाषण मैंने अब तक दिया था, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता में। सभापति महामना मालवीय जी थे। श्री जे० एल० बनर्जी के हिन्दी विरोधी धारा-प्रवाह अंग्रेजी भाषण के जवाब में बोला था। पूज्य मालवीय जी, जनमण्डली तथा मित्रों से तारीफ पा चुका था, डर छूट चुका था। मैंने वाजपेयी जी का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

उन दिनो छायावाद की जोरो से मुखालिफत थी, आज के प्रगतिवाद की जैसी। प्रगतिवाद सघबद्ध साहित्यिक प्रचेष्टा है, छायावाद इनगिन साहित्यिको का प्रयत्न था। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र, अध्यापक तथा काशी के साहित्यिक इस व्याख्यान के सुनने के लिए बडे उत्सुक हुए। हर निगाह मे मुझे आग्रह दिखा। काशी चल कर मैं वाजपेयी जी के यहा ठहरा। वाजपेयी जी आर्य-भवन मे रहते थे। पहले दो एक बार उन्ह देख चुका था, खत-कितावत जारी हो चुकी थी, अब नजदीक से अच्छी तरह देखने का मौका मिला। गोरा रग, बडी-बडी आखें, साधारण कद, स्वस्थ देह, स्वच्छ खादी के वस्त्र, स्वाभाविक प्रसन्नता, पास रहन वालो का खुश कर देने वाली शालीनता तथा सयत भाषा, हृदय पर मधुर मुहर छोडती हुई, जो प्राय नही मिलती। आर्य-भवन हिन्दू-विश्वविद्यालय के बडे-बडे छात्रावासो से दूर एकान मे है, हरियाली के बीच म एक तरफ खेत जो उस समय बाजरे से लहरा रहा था। सामने, कुछ ही दूर चलने पर सडक, आगे महिलाओ का छात्रावास। वाजपेयी जी उस समय एम० ए० फाइनल म थे। और भी कई लडके आर्य-भवन मे रहते थे। दूसरे खुले दिलवाले लडको से मालूम हुआ, आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल छायावाद की कविता और उनके कवियो का मजाक उडाते है, यह विद्यार्थियो को पसन्द नही, इसके जवाब मे यह व्याख्यान का ठाट बाधा गया है, शुक्ल जी को वे खास तौर से इसका प्रतिपादन सुनाना चाहते है। लडको की मडली मे खूब ताश खेले। कभी-कभी छ-छ घण्टे पार कर दिये। दो-तीन रोज पहले गया था। प्रसाद जी से मिला। उन्होने व्याख्यान के दिन मुझे अपने यहाँ से ले चलने के लिए वाजपेयी जी से कहा। बात तै हो गयी। मैं प्रसाद जी के यहाँ चला आया। प्रसाद जी ने राय कृष्णदास जी की मोटर मगा ली और अपनी मण्डली लेकर यथा समय चले। उस दिन उन्होने इत्र से मुझे खूब सुवासित किया। मैंने व्याख्यान के नोट लिखे थे जो ऐन वक्त पर काम न दे सके, क्योकि मैं भाव मे ऐसा डूबा था कि कागज पर निगाह डालना था तो कुछ दिखाई न पडता था। अच्छी उपस्थिति थी। पूज्य उपाध्याय जी सभापति के आसन पर समासीन थे, वाजपेयी जी और सोहनलाल जी कारवाई मे उनकी मदद कर रहे थे। छात्र-छात्राओं की अच्छी सख्या थी। सिर्फ प० रामचन्द्र शुक्ल न आये थे। मेरा भाषण लडको को पसन्द आया। मैं उसे साधारण रूप से सफल हुई वक्तृता समझता हू। मुझे याद है, जब भी बोलने वक्त सभा की सामाजिकता का ख्याल न था, मैंने कहा था तीसरे दर्जे का विद्यार्थी एम ए का कोर्स क्या समझेगा? रहस्यवाद और छायावाद की मूल धाराओ को समझने के लिये अध्ययन और मनन की आवश्यकता है—यह काव्य का ज्ञान-काड है। इस बात मे उपाध्याय जी नाराज हो गए और भाषण के बीच मे आवश्यक कार्य की आड लेकर चले गये। उनके जाने पर वाजपेयी जी सभापति के आसन पर बैठे। वाजपेयी जी ने अपने भाषण मे छायावाद को विद्रोहात्मक काव्यधारा बनाया और नूतनतर

उत्थान के रूप में उसकी व्याख्या की जो विद्यार्थियों को पसन्द आयी। सभा भले-भले समाप्त हुई।

एम० ए० की इम्तहान देकर वाजपेयी जी गाँव आये। मैं गाँव में ही था। कभी वे मेरे गाँव आते थे, कभी मैं उनके गाँव जाता था। एक दिन निश्चय हुआ, यहाँ एक पुस्तकालय कायम किया जाय। चूँकि वाजपेयी जी का गाँव बड़ा है, इसलिये उसी गाँव के लिए निश्चय हुआ। यह इरादा पहले मैं पक्का कर चुका था। वाजपेयी जी के चाचा पं० रामेश्वर जी वाजपेयी (श्री आनन्द मोहन वाजपेयी एम० ए० के पिता) में सभा हुई। स्थानीय सभासदों की सहानुभूति और सम्मति मिली। मैं शुरू से अदूरदर्शी था, आदर्शप्रियता में पड़कर मैंने कुछ किताबें, पत्र-पत्रिकायें और रुपये दिये, एक सज्जन ने भवन बनने तक अपनी बैठक में पुस्तकालय के लिए जगह दी। काम जारी हो गया। लेकिन स्थानीय लोगों की वैसी सहानुभूति न मिली।

पुस्तकालय द्वारा आस-पास की जनता के लिए व्याख्यानों की योजना हुई, जिसमें अनेक उपयुक्त विषयों पर मेरे और वाजपेयी जी के व्याख्यान हुआ करते थे। उनसे अच्छी जागृति आस-पास की जनता में हो गई थी।

इन्हीं दिनों बातचीत करने पर मुझे मालूम हुआ, वाजपेयी जी साहित्य को ही अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं। एक दिन इसी आधार पर यह तै हुआ कि आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ चला जाय। द्विवेदी जी का गाँव दौलतपुर वाजपेयी जी के गाँव, मगरायर से १७-१८ मील पड़ता है। बैलगाड़ी पर चढ़कर हम लोग आचार्य द्विवेदी जी के दर्शनों के लिए चले। मुझ पर पहले द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी, बाद को मेरे 'मतवाला' में चले जाने से और असमर्थित साहित्य की सृष्टि करने से असन्तुष्ट हो गए थे। लेकिन फिर भी उनके हृदय में मेरे लिए स्नेह था। हम लोग कुछ चक्कर काटते आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ, दौलतपुर पहुँचे।

उन्होंने वाजपेयी जी को बुलाया और पूछताछ करने लगे। ऐसे ढंग से प्रश्न करते थे कि सुनकर बड़ा आनन्द आता था। एक-एक करके उन्होंने वाजपेयी जी के घर की कुल बातें मालूम करलीं और इस नतीजे पर पहुँचे कि ये सम्पन्न हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी में और जो कुछ हो, बातचीत में विपन्नता बिलकुल नहीं जाहिर होती, विद्यार्थी-जीवन से ही 'न दैन्यं न पलायनम्' के वे प्रतीक हैं। फिर साहित्यिक बातचीत चली। वाजपेयी जी का सवा पाव का दिया जवाब, ध्वनि के साथ द्विवेदी जी को सवा सेर का जँचता रहा। मैं बड़ा आनन्द लेता रहा। द्विवेदी जी हिन्दी में काम करने के प्रसंग पर जो कुछ कहते थे वह प्राचीन व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम होने पर भी सन् १९२९ ई० के शिक्षित व्यक्ति के लिए अग्राह्य हो तो खुशी की बात ही कहना चाहिए। १९२० ई० में द्विवेदी जी ने मेरे लिए भी कई प्रयत्न किए थे, पर उनकी शिक्षा का निर्वाह मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। पहर रात रहते हम लोग गाड़ी पर बैठकर गाँव चल दिये।

विश्वविद्यालय खुलने पर वाजपेयी जी काशी चले गये और आचार्य श्यामसुन्दरदास जी से मिल कर उनकी आज्ञा से रिसर्च करने लगे। एक वर्ष तक रिसर्च करने के बाद पं० वेंकटेशनारायण जी तिवारी के 'भारत' के सम्पादन-कार्य से अलग होने पर वाजपेयी जी साप्ताहिक और बाद वे अर्द्ध-साप्ताहिक 'भारत' के सम्पादक हुए।

वाजपेयी जी नई आलोचना-शैली को जीवन देते हुए उसे इस तरह आगे बढ़ाते है कि हिन्दी के उपर मौलिक साहित्य के उज्जीवन की तरह आलोचना अपने सच्चे अस्तित्व की आँखो मे देखती है, अपनी सत्ता मे प्रतिष्ठित होकर साँस लेती है। वाजपेयी जी की समीक्षा मुख्यत मनोवैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है। इस विवेचन म न केवल रचयिता की मनोवृत्ति की, बल्कि उसकी रचना के साहित्यिक सौष्ठव की भी परीक्षा हो जाती है। वाजपेयी जी की समीक्षा मे साहित्य की सामाजिक और सास्कृतिक प्रेरक शक्तियो की भी उपेक्षा नही है।

'भारत' मे हिन्दी-कवियो की वृहत्त्रयी उन्ही की निकाली हुई है। इस लेख का उद्धरण दूसरी जगह किया गया और आज भी विद्वान आलोचक इसका समर्थन करते हैं।

प्रेमचन्द और मथिलीशरण गुप्त की भी उन्होने आलोचना की। हिन्दी मे एक तूफान-सा उठ खडा हुआ, पूरे एक आन्दोलन की सृष्टि हो गयी। पर आलोचक वाजपेयी अचल रहे। प्रेमचन्द जी से वाद-विवाद चला। इसमे भी वाजपेयी जी अपने विचार मे दृढ रहे। प्रेमचन्द जी बहुत उदार थे। उन्होने वाजपेयी जी की सत्यता मान ली। जब उनके अन्तिम दिन थे—रोग-शैय्या पर पडे हुए थे, मैं वाजपेयी जी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होने वाजपेयी जी की आलोचना की प्रशसा की थी।

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष तक अत्यन्त योग्यतापूर्वक 'भारत' द्वारा हिन्दी की सेवा करने के बाद इस पत्र से आपका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ। यहाँ से चलकर, आप कुछ दिनो तक आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के सहायक की हैसियत से 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन' के परिवर्धित सस्करण मे काम करते हैं। फिर 'सूर-सागर' का कई साल तक 'नागरीप्रचारिणी सभा' मे रह कर सम्पादन करते हैं। यह काम पूरा कर 'गीता प्रेस' जाते है और वहाँ रामचरितमानस का सम्पादन करते है। ये काम ऐसे हैं जिनमे वाजपेयी जी के नवीन और प्राचीन साहित्य के ज्ञान पर पूरा प्रकाश पडता है। १९२८ ई० से १९४१ तक उन्होने अनेकानेक सार-गर्भ लेख लिखे हैं, जिनमे हिन्दी-साहित्य के भण्डार मे मूल्यवान रत्न आये है। साधारण और साहित्यिक जनो का आदर और विश्वास उन पर बढा है।

'गीतिका' (निराला), 'कामायनी' (प्रसाद), 'काव्य और कला' (प्रसाद) तथा 'अपराजिता' (अचल) पुस्तकों की भूमिका और इस पर लेख लिखे। उनकी लिखी 'जयशंकर प्रसाद', 'सूर-सन्दर्भ 'पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी' पुस्तक म द्विवेदी जी से प्रारम्भ कर अब तक के प्रमुख साहित्यिकों पर निबन्ध है। इनम इस काल की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। 'साहित्य एक अनुशीलन' मे साहित्य सम्बन्धी विचारात्मक लेख है। यह पुस्तक बाद मे 'आधुनिक साहित्य' नाम से प्रकाशित हुई। उनके और भी साहित्यिक उद्बोधन के कार्य हैं। यह सब देखने पर उनकी विशाल ज्ञानराशि और हिन्दी के प्राचीन एव नवीन दोनो विभागो मे साधिकार प्रवेश का निर्णय हो जाता है। आपने 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ' की प्रस्तावना जिस योग्यता से लिखी है उसकी प्रशसा किए बिना नही रहा जाता। वाजपेयी जी अकेले व्यक्ति अपने समय के है, जिन पर हिन्दी को सस्नेह गर्वानुभव है। उनके इन्ही गुणो और कार्यो के कारण अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने साहित्य-विभाग का उन्हे सभापति चुनकर सम्मानित किया। उनका निर्मित आदर्श और ऊँचा दिया ज्ञान हिन्दी-भाषियो को उठाने वाला है। वाजपेयी जी ने भारतीय और पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया है। इस अध्ययन की छाप उनकी आलोचनाओ मे सब जगह है। राजनीतिक विचारो मे वे आरम्भ से ही गाधीवादी रहे है, यद्यपि आध्यात्मिक मान्यताओं मे वे गाधी जी के आदर्शवाद की अपेक्षा विशुद्ध भारतीय या हिन्दू आदर्शवाद की ओर अधिक झुके है। राजनीतिक विचारो मे भी वाजपेयी जी गाधी जी के अन्धभक्त नही है। साहित्य मे आप स्वच्छता और मप्राणता के हामी हैं। प्रणाली और उद्देश्य दोनो मे शिष्टता और स्वास्थ्य चाहते हैं। साहित्य का वे समाज के प्रगतिशील उत्थान मे सक्रिय योग आवश्यक मानते है।

आचार्य वाजपेयी का जीवन-परिचय*

—श्री उमेशचन्द्र मिश्र, एम० ए०

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के मगरायर नामक ग्राम मे सवत् १९६३ भाद्रपद कृष्ण १५ रविवार के दिन शेष रात्रि के समय प्राय चार बजे भोर को हुआ था। उनके पिता पण्डित गोवर्धनलाल वाजपेयी अपने ग्राम के कदाचित् सबसे अधिक शिक्षित और प्रगतिशील व्यक्ति थे। उन पर युवावस्था मे ही आर्य-समाज के विचारो का प्रभाव पडा था। उस समय आर्य-समाज की मुख्य शिक्षा मूर्ति-पूजा के निषेध की थी। ग्रामीण परिवारो मे यह आर्य-समाजी शिक्षा एकदम अस्वीकृत और प्राय अधार्मिक और विद्रोहिणी मानी जाती थी। श्री गोवर्धनलाल वाजपेयी जी का विवाह मगरायर ग्राम मे ही तिवारी परिवार मे हुआ था जो स्वय आर्य-समाजी प्रभावो को ग्रहण कर चुका था। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के मामा श्री शिवकुमार तिवारी आयु मे उनके पिता जी से कुछ ही छोटे थे और नई शिक्षा म दीक्षित हो चुके थे। साले और बहनोई दोनो पास के पुरवा तहसील मिडल स्कूल से पढकर उपाधिया प्राप्त कर चुके थे। दोनो ही एक दूसरे के मित्र भी थे और विवाह के मूल मे यह मैत्री की स्थिति भी थी। उन दिनो स्कूलो मे यद्यपि उर्दू और हिन्दी दोनो ही भाषाए पढाई जाती थी, परन्तु आर्य-समाजी प्रभाव के कारण वाजपेयी जी और तिवारी जी दोनो का झुकाव उर्दू की अपेक्षा हिन्दी की ओर अधिक था।

ये दोनो महत्वाकाक्षी युवक शीघ्र ही अपने ग्राम को छोड कर दूरवर्ती स्थानो मे चले गये थे और विभिन्न क्षेत्रो मे काम करने लगे थे। वाजपेयी जी के पिता जी राजपूताने के खेतडी नामक स्थान मे माध्यमिक-शाला के प्रधान अध्यापक थे। *अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त अध्ययन और सामाजिक गतिविधियों में* उनकी दिलचस्पी रहा करती थी। विशेषकर आर्य-समाज की पुस्तके और पत्र-पत्रिकाए वे उसी समय से मगाने और पढने लगे थे। सामाजिक सहचार्य मे उनका सम्पर्क बढता जा रहा था और स्थानिक समृद्ध मारवाडी समाज मे वे घनिष्ठ और लोकप्रिय हो गये थे। मारवाडियो को ईमानदार और क्रियाशील कुशल व्यक्तियो की खोज

* यह जीवन-परिचय पारिवारिक सूत्रो से सकलित है।

सदैव रहा करती है। चाहे वे स्वयं इन गुणों से रिक्त ही हों। कदाचित् इसी सिलसिले में उन लोगों ने श्री गोवर्धन लाल वाजपेयी को उपयुक्त पाया और उन्हें कलकत्ता-स्थित अपनी एक बड़ी संस्था, एक वृहत् गोशाला का व्यवस्थापक बनाकर भेज दिया। आर्थिक दृष्टि से यह स्कूल की अपेक्षा अधिक लाभकर उद्योग था, अतएव वाजपेयी जी के पिता को वहाँ जाने में प्रसन्नता ही हुई।

कुछ ही दिनों के पश्चात् सन् १९०७ के आसपास श्री गोवर्धनलाल वाजपेयी का स्थानान्तरण कलकत्ता से बिहार प्रदेश के हजारीबाग नामक नगर में हो गया, जहाँ कलकत्ता गोशाला की एक बहुत बड़ी शाखा सस्थित थी। कलकत्ता में बड़ी गोशालाओं का सचालन बहुत व्ययसाध्य हो गया था। कदाचित् इसीलिए हजारीबाग के प्राकृतिक और वन्य क्षेत्र में यह शाखा चलायी गई थी।

इसी वर्ष दुर्भाग्यवश वाजपेयी जी की माता जी का देहावसान हो गया। यद्यपि उन्हें अपनी माँ की प्रत्यक्ष छवि की स्मृति नहीं है, क्योंकि माँ के निधन के समय उनकी आयु वर्ष भर से भी कम थी, परन्तु सचेत होने पर उन्होंने पारिवारिक जनों और अन्यों से अपनी माँ के सम्बन्ध में जो कुछ सुना, उसकी एक मार्मिक स्मृति उनके मन की गहराइयों में बैठी हुई है। पिता की बौद्धिकता और माता की स्मृति की करुणा उनके व्यक्तित्व के दो समतुल्य अंग हैं।

पारिवारिक स्थितियों को देखते हुए उनके पिता जी ने दूसरा विवाह भी किया था। यद्यपि वाजपेयी जी वास्तविक मातृ-प्रेम से बहुत कुछ वंचित रहे हैं; परन्तु उसकी आंशिक पूर्ति उन्हें दूसरी माँ से हो सकी थी। पिता जी का बड़ा निर्देश था कि मातृहीनता की कुछ भी सूचना बालक वाजपेयी जी को न दी जाय। उनका यह आदेश बहुत वर्षों तक परिपालित हुआ। परन्तु, वयस्क होने पर उन्हें तथ्य की अभिज्ञता हुई। वाजपेयी जी के बाल्य जीवन के लिए यह एक वरदान ही था कि उन्हें मातृ-अभाव का बोध बहुत दिनों तक नहीं हो पाया।

प्रायः डेढ़ वर्ष की अल्प अवस्था में वाजपेयी जी अपने पिता और नवीन माता के साथ हजारीबाग की प्राकृतिक सौन्दर्य से आपूरित वनस्थली में आकर रहे और अट्ठारह वर्ष की अवस्था तक इसी परिवेश में उनका लालन-पालन तथा उनकी चेतना का निर्माण और विकास हुआ। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में इंटर-मीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वे उच्चतर शिक्षा के लिए काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में भेजे गये थे।

हजारीबाग की विशाल गोशाला एक आत्मसम्पूर्ण संस्था थी। वाजपेयी जी के पिता जी उसमें प्रधान व्यवस्थापक थे। उनके मातहत प्रायः सौ डेढ़ सौ कर्मचारी रहा करते थे जिनमें अधिकांश तो गोचारक ही थे, परन्तु शिक्षित लोगों का एक

समुदाय भी था जिसमे सहायक व्यवस्थापक, पशु-चिकित्सक और उनके सहायक, गोदाम के किरानी तथा गोचारकों के निरीक्षक आदि दर्जनो व्यक्ति और उनके परिवार के लोग थे। इस परिवेश मे पिता जी के अनुशासन की छाया मे रहने हुए वाजपेयी जी की उन वृत्तियो का विकास हुआ जिनसे उनके व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध ह। शैशवावस्था म उन्हे पिता जी ने चालीस तक के पहाडे याद कराये और सात वर्ष की अवस्था तक पाणिनी की अष्टाध्यायी कठाग्र करा दी थी। इसके साथ ही उन्हे अमरकोष का मुख्याश स्मृतिबद्ध करा दिया गया और रघुवश के अध्यापन के लिए एक स्थानिक मैथिल पडित के पास भेजा गया। सात वर्ष की अवस्था के पूर्व ही उन्हे अग्रेजी पढाने के लिए नगर के एक अध्यापक प्रतिदिन तीन मील चलकर सीतागढ (गोशाला का ग्राम) आया करते थे और चित्रो के माध्यम स सज्ञा, क्रिया विशेषण, विशेष्य आदि को पहचानने की आरम्भिक शिक्षा देते थे। इस प्रकार गणित, सस्कृत और अग्रेजी की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हे घर पर ही दी गयी थी।

सात वर्ष पूरे होते न होते वाजपेयी जी हजारीबाग नगर के मिशन हाई स्कूल की आरम्भिक कक्षा मे भरती कराये गये और वही आठ वर्षो तक स्कूली शिक्षा प्राप्त करते रहे। पद्रह वर्ष की अवस्था मे वे उन दिनो की मैट्रीकुलेशन परीक्षा तथा स्कूल लीविंग परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। उस समय की दृष्टि से वे अल्प-वय मे ही हाई स्कूल पास हुए थे, अपनी कक्षा के विद्यार्थियो मे वे सबसे छोटे थे; इसलिए स्वभावत उनसे बडे वय के विद्यार्थी ही उन पर बडप्पन का अधिकार जताना चाहते थे। परन्तु भय से या आतक से इस अधिकार को स्वीकार करने के लिए वे कभी तैयार नही हुए।

इधर सीतागढ मे आसपास की पहाडियो और जलाशयो के समीप विचरण करने और तैरने का उनका अभ्यास बढने लगा। अक्सर वहाँ की विशाल गोशाला मे हिंस्र पशुओ और विशेषकर व्याघ्रों का आक्रमण हुआ करता था। पास के जगलो मे उन शेरो की आवाज प्राय सुनायी पडती थी और कभी-कभी ऊँची दीवारो को छलाग मार कर शेर गोशाला के अन्दर भी आ जाते थे। एक बार ऐसे ही एक शेर ने गोशाला के भीतर आकर एक बहुत ही स्वस्थ और तेज दौडने वाले नए घोडे को दबोच लिया और इतनी जोर से उछाला कि वह चौदह-पन्द्रह फीट ऊँची दीवार के ऊपर से गोशाला के बाहर जा गिरा। इस आतक को समाप्त करने के लिए आसपास के अग्रेज शिकारी बुलाये गये थे और उन्होने कई दिन के प्रयत्न के बाद शेर को रात्रि के समय मार गिराया था।

इस प्रकार की घटनाए वर्ष मे दो चार होती रहती थी और ऐसे प्रत्येक अवसर पर वाजपेयी जी की दिलचस्पी इन दृश्यों और घटनाओं के प्रति तीव्र होती

थी और वे अक्सर इन दृश्यों का देखने और शिकारियों के साथ रहने का अवसर प्राप्त करते थे।

वर्षा होने पर (वहां जोर की वर्षा होती थी) जब जलाशय भर जाते और पहाड़ियां में हरियाली छा जाती तब अपने गोचारक साथियों के साथ मीलों तक अभय जंगलों में जाकर घूमने और भरे जलाशयों का आर-पार तैर जाने में उनकी विशेष रुचि रहा करती थी। कीचड़ में सनी सड़कों और पगडंडियों पर वे प्रायः नंगे पैर चलते और संध्या गहरी होने पर घर लौटते थे। वर्षा ऋतु का सौंदर्य उन्हें सर्वप्रिय रहा है।

इन्हीं दिनों पाठशाला की प्रायः दो फर्लांग लम्बी और दस गज चौड़ी छत पर अपने साथियों के साथ दौड़ लगाने और प्रथम आने का प्रयत्न करना वाजपेयी जी का अभ्यास हो गया था। खेलकूद में ही उनमें स्पर्धा और नेतृत्व के गुणों का विकास हुआ था। उन्हें स्कूलों की दैनिक पढ़ाई की अपेक्षा घर पर खेलना-कूदना और पिता जी के पास आने वाले दैनिक साप्ताहिक और मासिक पत्रों को पढ़ना अधिक अच्छा लगता था। पिता जी की पुस्तकें जो दो आलमारियों में भरी रहती थी अधिकतर आर्यसमाजी प्रकाशन की पुस्तकें थी, पर उनके अतिरिक्त 'सरस्वती', मर्यादा 'हिंदी-प्रदीप' आदि की फाइलें पढ़ने में वाजपेयी जी की अधिक रुचि रहा करती थी। खण्डन-मण्डन से भरे शुष्क विचारों की अपेक्षा नई शैली के भावात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध और कवितायें उन्हें अधिक पसन्द थीं। 'सरस्वती' पत्रिका के सभी अंकों को वे आद्यन्त पढ़ लिया करते और दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों को पढ़ने में भी कमी न करते।

पिता जी के आर्यसमाजी विचारों का प्रभाव यद्यपि उनकी बौद्धिक दृष्टि के निर्माण के रूप में पड़ा था परन्तु उन्हें इस दृष्टि से सम्पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाया था। इसलिये वे तुलसीदास के काव्य और विशेषकर उनके 'रामचरितमानस को भी पढ़ते रहते थे। दस वर्ष की अवस्था में उन्होंने नगर में होने वाली रामायण की एक स्थानिक परीक्षा दी थी और उसमें अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए थे। आर्यसमाज की बौद्धिकता की अपेक्षा उन्हें तुलसीदास की भावात्मकता और आध्यात्मिकता अधिक प्रिय थी।

सामाजिक भूमिका पर वाजपेयी जी के मित्र और साथी वे गोचारक थे जो प्रायः शिक्षाशून्य और निर्धन थे, परन्तु उनके जीवन में सन्तोष और प्रसन्नता की मानवीय वृत्तियाँ बराबर देखी जाती थी। विशेषकर अपने समवयस्क गोचारकों के बीच रहने और उनका स्नेह, सौजन्य और सम्मान प्राप्त करने में वाजपेयी जी को आत्मतोष होता था। वाजपेयी जी के विचारों में आगे चलकर जिन आदर्शवादी

और मानवतावादी आदर्शों का अभिगमन हुआ उनकी मूल प्रेरणा कदाचित् इसी बाल्यकाल के साहचर्य में रही है।

रात्रि के समय पिता जी की अनुपस्थिति में (पिता जी शहर से प्रायः विलम्ब करके लौटते थे) अपने ग्रामीण साथियों को एकत्र कर उन्हें लालटेन की मद्धिम रोशनी में अक्षर ज्ञान कराना और धीरे धीरे आरम्भिक तीन चार पुस्तकें पढ़ा देना वाजपेयी जी का अपने नेतृत्व का एक आवश्यक अंग प्रतीत होता था। उनके विद्यार्थी भी बिना किसी संभ्रम के इस कार्य में प्रवृत्त रहते थे जैसे कोई उनका घनिष्ठ मित्र या सगा साथी ही उन्हें कुछ काम की बात बता रहा हो। दिन में उनके साथ खेलना दौड़ना और रात्रि में उन्हें थोड़ा बहुत पढ़ा देना वाजपेयी जी की नित्य की दिनचर्या थी। कदाचित इस प्राथमिक व्यस्तता के कारण वे स्कूली शिक्षा के अनिष्ट-कारी प्रभावों और बन्धनों से बच रहे। उन्होंने कभी भी गम्भीरता के साथ इस शिक्षा का साथ नहीं दिया। यद्यपि वह प्रतिवर्ष कक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे परन्तु स्कूल के विद्यार्थी उनकी स्पर्धा के विषय कभी नहीं बने।

अपने स्कूली जीवन के वर्षों में वाजपेयी जी प्रतिदिन अपने घर से तीन-चार मील दूर शहर के हाई स्कूल में पढ़ने आते थे। कई वर्षों तक एक घोड़ागाड़ी जिस पर उनके पिता जी शहर आते थे, उनके लिए भी तैनात की गयी थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् वे साइकिल चलाने लगे थे और उसी पर आया-जाया करते थे। स्कूल से छुट्टी मिलते ही उन्हें एक सुखद मुक्ति का बोध होता था और वे चार मील की दूरी बीस मिनट में ही तय करके घर आ जाया करते थे। घर पर उन्हें कुछ वर्षों तक घोड़े की सवारी का भी शौक था। अक्सर वे घोड़े को तेज गति से दौड़ाया करते थे, यद्यपि उनके पिता जी की ताकीद थी कि घोड़े को अधिक तेज न दौड़ाया जाय। सवारी के अतिरिक्त उन्हें स्वयं तेज दौड़ने, लम्बी उछाल भरने और ऊंचा कूदने का अभ्यास था। यों वे गुल्ली-डंडा खेलने और अंटे का निशाना लगाने में भी बड़े सिद्धहस्त थे।

स्कूली पढ़ाई समाप्त कर वाजपेयी जी हजारीबाग के सेंट कोलम्बाज कालेज में भर्ती हुए। किसी अध्यापक की सलाह से उन्होंने साइंस का कोर्स ले लिया था, परन्तु उनकी रुचि कोरी विज्ञान की पढ़ाई में नहीं थी। एक वर्ष के बाद उन्होंने अपने पाठ्य विषय बदले और विज्ञान और कला के समन्वित विषयों को लेकर सन् '२६ में इण्टरमीडिएट (इंटर) की परीक्षा पास की। इन वर्षों में उनके पिता जी ने शहर में ही मकान ले लिया था और वहीं रहने लगे थे। कालेज में आकर उनका झुकाव फुटबाल और हाकी के खेलों की ओर भी हुआ था और वे इन खेलों में पर्याप्त निष्णात भी हो गये थे, परन्तु इण्टर पास करते ही उन्हें हजारीबाग छोड़ देना पड़ा। तभी उनके बाल्यकाल और तरुणवय के मित्र भी उनसे छूट गये और तभी से खेलों में उनकी दिलचस्पी भी प्रायः समाप्त हो गयी।

जुलाई १९२५ म जब व काशी विश्वविद्यालय पहुँचे, विश्वविद्यालय के भवन बन चुके थ परन्तु छात्रावास उसी समय बन रहे थे। अतएव, वाजपेयी जी छात्रावास म न रहकर विश्वविद्यालय के समीप ही आर्यभवन लाज मे रहने लगे, जहा उनक साथ आठ-दस छात्र और रहा करते थे। सयोगवश उनमे से अधिकाश छात्र पढने-लिखने म दिलचस्पी रखने थ अर्थात् पाठ्यविषय की पुस्तकें पढने मे जुटे रहते थ। वाजपयी जी पर भी इस सगति का प्रभाव पडा और अब वे पाठ्यक्रम क बाहर की पुस्तका के साथ पाठ्यक्रम की पुस्तकें भी पढने लगे। परिणाम यह हुआ कि थाडे परिश्रम स ही व बी० ए० की परीक्षा मे सम्पूर्ण विश्वविद्यालय मे चौथे नम्बर पर आय और उनकी गणना विश्वविद्यालय के श्रेष्ठतम विद्यार्थियो मे होन लगी। यह पहला अवसर था जब स्वतन्त्र अध्ययन के साथ उन्होंने कालेजीय अध्ययन का भी अहमियत दी थी और पहला ही अवसर था जब अच्छे परीक्षाफल और साथी विद्यार्थियो की प्रशसा न उनके मन को प्रहर्षित किया था।

बी० ए० म पढते-पढते उन्ह हिन्दी मे छोटे-छोटे लेख और कवितायें लिखने का शौक हुआ था जा क्रमश उन्ह आगे चलकर एक विशिष्ट लेखक बनाने मे सहायक हुआ। उनकी कवितायें प्राय राष्ट्रीयता की भावना स सम्पृक्त रहती थी, यद्यपि प्रेम और सौन्दर्य की कल्पनाये भी उनमे रहा करती थी। लेखो मे प्राय. पुस्तकों की समीक्षा अथवा छोटे-छोटे साहित्यिक विषयो पर निबन्ध होते थे, जिनमे साहित्य के स्वरूप और आदर्श आदि की चर्चा रहा करती थी। इस समय तक वाजपेयी जी का साहित्यिक अध्ययन काफी अग्रसर हो चुका था और वे अग्रेजी और हिन्दी साहित्य के प्राचीन और नवीन साहित्य से परिचित होने लगे थे। सस्कृत की भूमिका बाल्यावस्था मे ही निर्मित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने पहले अपन बगाली मित्रो और बाद को श्री निराला के साहचर्य से बगला भी सीखी थी और उसमे धडल्ले से बालन भी लगे थे। उर्दू का ज्ञान उन्होने एक मौलवी साहब म वर्ष भर शिक्षा लेकर प्राप्त किया था, परन्तु लिपि की दुरूहता के कारण वे उर्दू म उच्च साहित्यिक स्तर की जानकारी नही प्राप्त कर सके। फिर भी उर्दू को समझने म उन्हे काई कठिनाई नहीं होती। जिन उर्दू कवियो की पुस्तकें नागरी लिपि म छपती थी उन्ह वाजपेयी जी सदैव रुचि से पढा करते थे। चकबस्त का 'सुबहवतन' नामक काव्यसग्रह उन्होने नागरी लिपि मे मनोयोग से पढा था।

बी० ए० की कक्षाओं मे ही वे हिन्दी के प्राध्यापक डा० श्यामसुन्दरदास, पडित रामचद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि से परिचित हो गए थ यद्यपि अपनी सकोचशीलता के कारण तब तक उनसे वार्तालाप करने का साहस नही कर पाते थे। आगे चलकर जब वे एम० ए० कक्षा म पहुँचे, तब इन प्राध्यापको के प्रति उनकी घनिष्ठता हुई और गुरुजनो का स्नेह भी उन्ह अधिक मात्रा मे मिला।

बी० ए० की परीक्षा मे उन्हे हिंदी और अग्रेजी साहित्यो मे एक से अक मिले थे। इसलिए आरम्भ मे दोनो ही विषयो के प्राध्यापको ने उन्ह अपने-अपने विषयो की ओर प्रेरित और आकृष्ट किया था, परन्तु इस द्विविधा का अत तब हुआ जब डा० श्यामसुन्दर दास न उन्हे आदेश देकर हिन्दी विषय मे प्रवेश कराया। यद्यपि वाजपेयी जी हिन्दी एम ए के अध्ययन म सलग्न हुए थे परन्तु वे अग्रेजी साहित्य की अनेकानेक पुस्तको को तब भी पढा करते थे। सच तो यह है कि उन्हे हिन्दी एम० ए० की पढाई उस समय हल्की और अपर्याप्त लगा करती थी। उस समय का पाठ्यक्रम अधिक विशद नही था। कवियो के अध्ययन के लिए समीक्षात्मक पुस्तको की कमी थी। नये काव्य का अध्ययन तो नही के बराबर था। केवल प्रियप्रवास और गगावतरण पुस्तके पढाई जाती थी। वैसी स्थिति मे हिन्दी के छात्र के लिये अग्रेजी साहित्य की ओर उन्मुख होना बहुत कुछ सहज और स्वाभाविक ही था।

एम० ए० कक्षाओ मे पढते हुए वाजपेयी जी का ध्यान नई हिन्दी कविता की उन कृतियो पर गया जिन्हे आगे चलकर छायावादी कविता का नाम दिया गया। यद्यपि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक इस नयी कविता को व्यग्य और परिहास की दृष्टि से देखते थे, परन्तु वाजपेयी जी को उन कविताओ मे एक विशेष प्रकार का आकर्षण मिलने लगा था। वे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' से पहले ही परिचित हो चुके थे। काशी आने पर उनका परिचय श्री जयशकर प्रसाद से भी हुआ। सन् २८-२९ मे वाजपेयी जी के दो लम्बे निबन्ध 'सत्समालोचना' और 'आधुनिक हिन्दी-कविता' शीर्षक तत्कालीन विशिष्ट पत्रिका 'माधुरी' म प्रकाशित हुये थे। इनमे वाजपेयी जी एक नए लेखक की सम्पूर्ण सम्भावना को लेकर उपस्थित हुए थे।

एम० ए० कक्षाओ मे पढते हुए ही वाजपेयी जी का ध्यान देश की राष्ट्रीय समस्याओ और सघर्षो की ओर आकृष्ट हुआ था। यो वे अपने पिता जी के साथ बाल्यवय मे ही लोकमान्य बालगगाधर तिलक के दर्शन (कलकत्ता मे) कर चुके थे और गाधी जी के असहयोग-आन्दोलन मे सक्रिय रूप से योग देने वाले अपने पिता जी से बहुत कुछ प्रेरणा पा चुके थे, परन्तु स्वतन्त्रतासग्राम मे सीधा भाग लेने के लिये उनकी परिवारिक स्थिति बाधक हो रही थी। सन् २९ मे उनके पिता जी राष्ट्रीय आन्दोलन मे गिरफ्तार कर जेल भेज दिए गए। परिवार मे माता जी, तीन भाई और एक बहन थीं। तीनो भाई स्कूलो और कालेजो मे पढ रहे थे। उनकी पढाई की देखभाल होनी रहे, यह भी आवश्यक था। पिता जी की आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। जो कुछ रुपया उन्होने अर्जित किया था, अपने कुछ निकट लोगो को ऋण के तौर पर दे रक्खा था। वह रुपया लौटा नही, और इधर राष्ट्रीय आन्दोलन मे व्यस्त हो जाने के कारण पिता जी ने नौकरी से भी छुटकारा ले लिया था। परिवार का व्यय भी काफी ऊचे स्तर पर चलाना पड़ता था, इन कारणो मे

पिता-पुत्र दोनों का जेल जाना परिवार के लिए अत्यधिक हानिकारक होता। फलत हजारीबाग म दो तीन ज्वलन्त भाषण देकर और उन भाषणों मे अपनी हिन्दी की नयी योजना का ऐलान करके वाजपेयी जी ठीक उसी दिन काशी चले आये जिस दिन उनके ऊपर वारट जारी किया जाने वाला था। यद्यपि उनके मित्रों ने उनके उन हिन्दी भाषणों को बहुत सराहा था, परन्तु उन भाषणों का जो क्रियात्मक पक्ष और परिणाम होता, उन्हें देखने का अवसर नही आया।

वाजपेयी जी के विद्यार्थी-जीवन का वृत्तात समाप्त करने के पूर्व हमे कुछ घटनाओ का विशेष रूप मे उल्लेख कर देना है। उनमे से एक है उनके विवाह की घटना। उनका विवाह हरदोई जिले के भगवतनगर नामक कस्बे के प्रतिष्ठित परिवार मे श्री रामनारायण मिश्र की पुत्री सावित्री मिश्र से हुआ था। यद्यपि यह विवाह सन् १९२५ के जनवरी माह मे हुआ था जब वाजपेयी जी की आयु अट्ठारह वर्ष के कुछ ही ऊपर थी, परन्तु विवाह के पूर्व ही यह निश्चय कर लिया गया था कि विवाह के अवसर पर विदाई की रस्म नही की जायेगी और वह तब होगी जब कम से कम वे बी० ए० की परीक्षा म उत्तीर्ण हो जाएगे। उनके पिता जी के आर्यसमाजी सस्कारो ने इस अवस्था के पूर्व का औचित्य अस्वीकार किया। और अतत यही हुआ भी। सन् १९२७ के अप्रैल-मई महीने म द्विरागमन की रस्म पूरी की गयी, जो वास्तव म प्रथमागमन ही कही जानी चाहिए। बी० ए० के परीक्षाफल का प्रकाशन और विवाह के इस द्विरागमन का आयोजन प्राय एक साथ ही हुआ था। द्विरागमन के पश्चात् कुछ ही दिनो म नवागता वधू को उसके घर भेज देने की पद्धति पूरी की गयी थी। वस्तुत पति-पत्नी का लम्बे समय तक एक साथ रहना *सन् १९३१ के पश्चात् आरम्भ हुआ जब वाजपेयी जी की आयु २४ वर्ष की हो* चुकी थी और वे प्रयाग मे 'भारत' पत्र का सम्पादन करने लगे थे। यहाँ यह उल्लेख कर देना भी अप्रासगिक न होगा कि पति पत्नी का परिणय-सम्बन्ध अत्यन्त अनुरूप और पारस्परिक प्रवृत्तियो के सामजस्य मे हुआ था और दोनो का दाम्पत्य जीवन असाधारण रूप से पारस्परिक सहयोग का साधन बना था। विवाह के अवसर की *एक स्मरणीय घटना यह है कि वाजपेयी जी के नये मित्र हिन्दी के* प्रसिद्ध कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने एक सुन्दर कविता द्वारा अपनी शुभाशसा व्यक्त की थी। एक क्रान्तद्रष्टा कवि की यह शुभकामना दम्पति के जीवन मे पूर्णत चरितार्थ हुई।

बाल्य और तरुण वय के सस्मरणो म एकाध का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है जिनमे वाजपेयी जी की तत्कालीन प्रकृति और प्रवृत्ति का कुछ परिचय मिल सके। यद्यपि वे खेल-कूद और भ्रमण-विचरण मे काफी दिलचस्पी लेते थे, परन्तु मेले-तमाशे और बाजे-गाजे आदि के प्रति उनकी अभिरुचि बाल्यावस्था से

ही नहीं थी। हजारीबाग मे मुहर्रम का त्योहार बडे प्रदर्शन के साथ मनाया जाता था। आसपास के अनेक गावो की मडलिया ऊचे-ऊचे सुसज्जित झडे और विमान लेकर सीनागढ म उपस्थित होती थी और पटा-बनैठी तथा अन्य खेलो का प्रदर्शन करती थीं। एक बार जब ये दल-के-दल वाजपेयी जी के घर के समीप आये तो माता जी ने उनसे उस प्रदर्शन को देख आने के लिए कहा। परिवार के अन्य बालक और बालिकाए तो पहले से ही जा चुके थे, परन्तु किशोर वाजपेयी जी घर पर ही रह गए थे। माता की बात सुनकर उन्होने कहा—अम्मा, क्या देखने जायें, हर साल तो यही तमाशा हुआ करता है। बार-बार उन्हे क्या देखना। चलो हम तुम मिल कर भोजन बनाए और खाए। इस पर माता जी को मन ही मन प्रसन्नता हुई और वे भोजन बनाने लगी।

सीनागढ की उस विशाल गोशाला मे सभी जाति, श्रेणियो और वर्गों के लोग रहा करते थे। जहा पढे-लिखे कर्मचारियो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ जाति के लोग थे, वही अन्य कार्यों के लिए अन्य जातियों के लोग भी रहा करते थे। मुसलमान और ईसाई भी एक अच्छी सख्या मे वहा के कर्मचारी थे। इन सबमे उस छोटे क्षेत्र मे भेदभाव रहित होकर मिलना वाजपेयी जी के लिए स्वाभाविक था। गोचारको म कितने ही तथाकथित निम्न जाति के लोग थे। साईस अधिकतर मुसलमान थे, कम्पाउन्टर क्रिश्चियन था, गायो और पशुओ के लिए जगल की घास लाने वाली नारिया भी ईसाई थी। वे सब अपने छोटे शिशुओ को पीठ मे बाधकर सिर पर घास के बडे-बडे बोझ लेकर आया करती थी। वाजपेयी जी की मानवीय और जाति पाति-रहित सवेदना इसी परिवेश मे विकसित हुई थी। माता जी के मना करने पर भी ग्रामीण साथियो के बनाये हुए भोजन मे कई बार सम्मिलित हो जाते थे। जब वे बहुत छोटे थे तब तो उन्हे घर के भोजन की अपेक्षा सोनामहतो (एक स्थानिक वृद्ध) की बनायी मोटी मोटी रोटिया और सस्ते प्रकार के चावलो का भात अधिक रुचता था। प्राय दिन का भोजन वे बाहर ही किया करते थे। यह तब की बात है जब वे चार-पाच वर्ष की आयु के थे।

ऊपर उल्लेख किया गया है कि पारिवारिक कारणो से वाजपेयी जी स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे सक्रिय भाग न ले सके और हजारीबाग मे कुछ ज्वलन्त राजनीतिक भाषण देकर वे काशी चले आए, यह सन् १९३० की घटना है। अब उनके लिए आवश्यक था कि कोई ऐसा कार्य करें जिससे कुछ द्रव्य मिल सके। यह तो स्पष्ट है कि किसी सरकारी नौकरी मे जाना उनके लिए न रुचिकर था और न सम्भव। उनकी सारी तैयारी एक साहित्यिक लेखक के रूप मे हुई थी और उनकी पूर्ण अभिलाषा साहित्य का अध्यापक बनने की थी। किसी भी शासकीय कार्य मे लगने की उनकी इच्छा न थी। उनकी ससुराल की ओर से यह प्रयत्न किया गया था कि

वे रेल्वे विभाग में कोई अच्छी नौकरी स्वीकार लें अथवा किसी सरकारी प्रतियोगिता म सम्मिलित हों, परन्तु उन्होंने इन प्रस्तावो की ओर कोई अभिरुचि नही दिखाई। काशी विश्वविद्यालय मे अध्यापन सम्बन्धी कोई स्थान उस समय रिक्त न था जहाँ उनके गुरुजन और विशेषकर डा० श्यामसुन्दरदास उन्हे लेने को उत्सुक थे। फलत उस समय के प्रसिद्ध पत्रकार और राजनीतिक विचारक श्री सी० वाई० चिंतामणि और डा० श्यामसुन्दरदास के बीच की गई बातचीत के परिणामस्वरूप उन्हे लीडर प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'भारत' पत्र का सपादक बनकर प्रयाग जाना पडा। यद्यपि पत्रकारिता का उस समय तक कोई अनुभव उन्हे न था, परन्तु एक नये साहित्यिक और उदीयमान लेखक की हैसियत से लीडर प्रेस के अधिकारियो ने बिना किसी असमजस के उन्हे सम्पादन कार्य मे नियुक्त कर लिया।

'भारत' पत्र मे वाजपेयी जी जून सन् १९३० से जनवरी सन् १९३३ तक रहे और सम्पादन का पूर्व अनुभव न होते हुए भी 'भारत' का सम्पादनकार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। इस कार्य मे वाजपेयी जी ने किसी पूर्व निर्धारित सम्पादन-पद्धति का अनुगमन न कर अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार सामग्री का चयन करना आरम्भ किया। उनके अग्रलेख और टिप्पणिया देश-प्रेम और राष्ट्रीय सघर्ष के भावों और स्थितियो से अनुप्राणित रहा करती थी। एक सम्पादकीय लेख मे उन्होंने अंग्रेजी सल्तनत द्वारा भारतीय आकाक्षाओ को न समझने और उनकी ओर ध्यान न देने के रुख पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि 'जिन्दगी चैन से गुजरती है ममिन, आकबत की खबर खुदा जाने'। इस टिप्पणी पर लीडर प्रेस के अधिकारियो को प्रादेशिक सरकार द्वारा चेतावनी दी गयी थी कि ऐसे विचारो से सरकार के विरुद्ध असन्तोष फैलता है, इसलिए भविष्य मे पत्र को सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार की सावधानी जताने वाले पत्र कई बार आए जिनकी सूचना वाजपेयी जी को लीडर के सम्पादक और 'भारत' के व्यवस्थापक से अक्सर मिलती रही। क्रमश. वाजपेयी जी ने अपने राजनीतिक लेखो और टिप्पणियो को अपेक्षाकृत कम महत्व देकर 'भारत' पत्र को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु यहाँ भी विरोध की सृष्टि हुए बिना न रही। नये छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पन्त पर वाजपेयी जी की लेखमाला प्रकाशित हुई जिसमे नये लेखकों को तो हर्ष और प्रसन्नता हुई, परन्तु कई पुराने लेखक विचलित हुए। समीक्षा के क्षेत्र मे वाजपेयी जी के इन स्वतन्त्र विचारो के परिणामस्वरूप हिन्दी के तत्कालीन कुछ पत्रकार भी असन्तुष्ट हो गये और उन्होने समय-समय पर श्री चिंतामणि और श्री कृष्णराम मेहता से शिकायत करनी शुरू की। यद्यपि उक्त दोनों सज्जन सम्पादक की स्वतन्त्रता के कट्टर हामी थे; परन्तु शिकायत सुनते-सुनते उन्हे भी चिन्ता होने लगी। इस प्रकार वाजपेयी जी का यह अनुभव रहा कि नए और स्वतन्त्र लेखक के लिए राजनीति और साहित्य के क्षेत्रो

मे समान प्रकार की असहिष्णुता व्याप्त थी। अन्तर इतना ही था कि राजनीतिक असहिष्णुता अग्रेज अधिकारियो द्वारा बरती जाती थी और साहित्यिक असहिष्णुता देशी साहित्यिको म फैली हुई थी।

सन् ३३ की जनवरी म विचारो के स्वातन्त्र्य पर आघात करने वाली स्थितियो से ऊब कर वाजपेयी जी न 'भारत' के सम्पादन से त्यागपत्र दे दिया और वे अपने शिक्षा-गुरु डा० श्यामसुन्दरदास जी के आमन्त्रण पर पुन काशी आ गये और नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा आयोजित हिन्दी के प्रसिद्ध ग्रथ सूरसागर का सम्पादन करने लगे। इस समय से लेकर सन् १९३९ तक प्राय छ सात वर्षों म वाजपेयी जी न 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' जैसे विशिष्ट ग्रन्थो का सम्पादन किया। इन वर्षों म यद्यपि उनका मुख्य ध्यान प्राचीन काव्य और उसके वैशिष्ट्य पर लगा रहा और वे भारतीय इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी विषयो का अध्ययन करते रहे, परन्तु साथ ही नई साहित्यिक प्रेरणाओ और गतिविधियो स भी उनका सम्पर्क बना रहा। कदाचित् इसी कारण व प्राचीन और नवीन साहित्य को समदृष्टि से देख सक और उन पर अपने सन्तुलित विचार व्यक्त कर सके।

'रामचरितमानस' के सम्पादन के लिए गीता प्रेस, गोरखपुर मे रहते हुए उन्होंने दो-तीन वर्षों तक भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का अध्ययन किया। गीता प्रेस मे रह कर उन्हें वर्तमान धार्मिक गतिविधियो का जो अनुभव हुआ उसने उनमे धर्म के बाह्याचार के प्रति पूर्ण अनास्था उत्पन्न कर दी। भजन, पूजन, तथा उपदेश-श्रवण से उन्हे विरक्ति हो गयी। धार्मिक सस्थाओ मे दिखाई देने वाली धार्मिकता कितनी छिछली है, इसका उन्ह प्रत्यक्ष बोध हो गया। 'कल्याण' के सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार इस समस्त वातावरण मे एक अपवाद थे, जिनके प्रति वाजपेयी जी की सम्मान-भावना जो इस समय बनी थी, अब भी बनी हुई है।

सन् उनतालीस के अन्त मे वे गीता प्रेस छोडकर प्रयाग चले आये और वहाँ स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक कार्य करने लगे। प्राय डेढ वर्ष तक स्वतन्त्र साहित्यिक-जीवन व्यतीत करते हुए उनके अनुभव बहुत ही निराशाजनक रहे। जो प्रकाशक लेखको से इस प्रकार का फुटकर काम लेते हैं वे समय पर पैसे नही देते और देते भी हैं तो अहसान जताकर। वाजपेयी जी जैसे लेखक जो थोडा और अच्छा काम करने के अभ्यस्त थे, स्वतन्त्र साहित्यकार के रूप मे रह भी नही सकते थे, क्योकि उनके थोडे लेखन का मूल्य चुकाना उन प्रकाशको के लिए सम्भव नही था। वे प्रकाशक परिमाण मे ज्यादा काम चाहते थे, चाहे वह मोटा ही काम क्यो न हो। इसलिए इस क्षेत्र मे वे ही लेखक रह सकते हैं जो प्रकाशको की इच्छापूर्ति करना जानते हैं और जिनसे स्तरीय कार्य की कोई सम्भावना नही की जा सकती।

' सन् १९४१ के फरवरी मास में काशी-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का देहावसान हुआ। उसी रिक्त स्थान पर वाजपेयी जी की नियुक्ति जुलाई ४१ मे हुई। काशी विश्वविद्यालय मे उन्होंने उत्साह और लगन के साथ प्राय छ वर्ष अध्यापन कार्य किया। यहाँ आकर उन्होंने प्राध्यापकों की मनोवृत्ति का जो परिचय प्राप्त किया वह भी उन्हे रुचिकर नही लगा। अध्ययन और अध्यापन की ओर कम ध्यान देकर अधिकतर वैयक्तिक स्वार्थो और स्पर्धा-भावनाओं से आक्रान्त अध्यापक ही उन्हे अधिक सख्या मे मिले। अध्यापन मे वैयक्तिक रुचियों और प्रवृत्तियो का इतना प्राधान्य था कि व्यवस्थित और वस्तुमुखी अध्यापन कम ही दिखाई देता था। विद्यार्थियो को घण्टे भर ध्यानस्थ रखने की शक्ति और सामर्थ्य अध्यापको मे विकसित नही हो पाई थी। फलत विद्यार्थी भी अन्यमनस्क होकर या तो निष्क्रिय हो जाते थे या फिर विध्वसात्मक और अनुशासनहीन प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करते थे। वाजपेयी जी का विश्वास है कि विश्वविद्यालयो मे जो कुछ अनुशासनहीनता है उसके कम-से-कम आधे भाग के लिए अध्यापक स्वय जिम्मेदार है। विश्वविद्यालय म अच्छे अध्यापक भी है, परन्तु उन्हे अपने सहयोगियो से प्रेरणा नही मिलती और कुछ ही वर्षा मे वे बहुमत के साथ हो जाते है।

काशी विश्वविद्यालय मे अध्यापको की इस मन स्थिति से खिन्न होकर वाजपेयी जी ने नवयुवक साहित्यिको का एक नया सगठन तैयार किया जिसमे विश्वविद्यालय के भी अनेक विद्यार्थी थे। 'प्रगतिशील लेखक-सघ' के नाम से यह सगठन काशी की एक सक्रिय सस्था बन गया जिसमे विचार-विनिमय, निबन्ध-लेखन, भाषण और मासिक तथा वार्षिक अधिवेशन होने लगे। यद्यपि प्रगतिशील लेखक-सघ अपने मूल रूप मे मार्क्सवादियो की सस्था थी, परन्तु वाजपेयी जी ने उसे साहित्यिक भूमिका प्रदान की और पाँच-छ वर्षों तक (जब तक वे काशी रहे) उसका सचालन करते रहे। इस सगठन मे जब-जब असाहित्यिक प्रवृत्तियो ने सिर उठाया और विशेष विचारधारा का आग्रह किया गया, वाजपेयी जी ने उन्हे रोका और सगठन मे सतुलन स्थापित किया। एक बार इसमे 'लोक-भाषा बनाम राष्ट्र-भाषा' का प्रश्न उठाया गया और इसी आदर्श पर लोक-भाषाओ को एक समन्वित राष्ट्रीय भाषा पर तरजीह देने की कोशिश की गयी। उस अवसर पर वाजपेयी जी ने एक व्यापक राष्ट्रीय भाषा का पक्ष लेकर जो वक्तव्य दिया, था उसकी तुलना हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष श्री राहुल साकृत्यायन के उस भाषण से ही की जा सकती है जिसके उन्हे 'कम्यूनिस्ट पार्टी' का विरोधभाजन बनना पड़ा था। अवसर आने पर स्वस्थ चिन्तक और विचारक वाद का सम्पर्क छोड कर सत्य और तथ्य के सम्पर्क मे आते हैं, यह बात उपर्युक्त दोनो भाषणों से स्पष्ट हो जाती है।

सन् ४७ के मार्च महीने मे वाजपेयी जी काशी विश्वविद्यालय को छोडकर मध्यप्रदेश के नव निर्मित सागर विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त

होकर आए। इसी वर्ष जनवरी मे वाजपेयी जी ने अपने कवि मित्र श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के पचासवे जन्मदिवस पर अखिल भारतीय स्तर पर 'निराला स्वर्ण-जयन्ती' का आयोजन किया था। यद्यपि जयन्ती का मुख्य केन्द्र काशी मे था, परन्तु देश के विभिन्न भागो म यह जयन्ती बडे उत्साह और समारोह के साथ मनाई गई थी। इस जयन्ती स वाजपयी जी की सगठनशक्ति, अध्यवसाय और लोकप्रियना का अपूर्व परिचय मिला था। कलकत्ता और बम्बई के दो नगरो मे दो-दो दिन रहकर वाजपेयी जी ने जयन्ती के लिए बीस हजार रुपयो का वचन लिया था, यद्यपि इस वचन मे से केवल पाच हजार रुपयो का उपयोग किया जा सका। जयती-समारोह के साथ-साथ निराला जी को एक विशिष्ट अभिनन्दन-ग्रथ भेट करने का निश्चय किया गया था, परन्तु जयन्ती के तुरन्त पश्चात वाजपेयी जी के काशी छोड कर सागर चले आने से अभिनन्दन-ग्रथ का विचार छोड देना पडा। ग्रथ के लिए आयी हुई सामग्री इधर-उधर बिखर गयी। कलकत्ता और बम्बई से वचनप्राप्त शेष रुपये भी एकत्र नही किये गये। एक साहित्यिक जयन्ती के रूप मे यह कार्यक्रम इतना सफल रहा कि इसकी और इसके साथ वाजपेयी जी की प्रशसात्मक चर्चा प्राय सर्वत्र की गयी, यद्यपि कुछ लोगो मे इसकी अन्यथा प्रतिक्रिया भी हुई थी। इस जयन्ती ने यह भी प्रदर्शित किया कि साहित्यिको मे सगठन और मिलकर काम करने की क्षमता भी होती है, यद्यपि अर्थसग्रह की अपेक्षा साहित्यिक लोग समारोहो के विषय और उद्देश्य पक्षो से अधिक सलग्न रहते है। उनका सगठन-कार्य मानवीय और आत्मीय हुआ करता है।

काशी से विदा होते समय वाजपेयी जी को अनेक प्रीति-गोष्ठियो और स्नेह-सम्मेलनो मे सम्मिलित होना पडा था। इस अवसर पर काशी के साहित्यिको और सहयोगी अध्यापको ने उनके सम्बन्ध मे जो प्रशसात्मक बाते कही थी उन्हे सुनकर वाजपेयी जी स्नेहाभिभूत हो गये थे। इन्ही भाषणो मे से एक मे उन्हे 'हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-समीक्षा का जवाहरलाल नेहरू' कहा गया था। यद्यपि वाजपेयी जी की शालीनता और विनयभावना ऐसे वक्तव्यो को सुनकर प्रसन्न होने की अपेक्षा चिंतित और सकुचित होती थी, परन्तु इनसे यह आभास मिलता है कि इस समय तक वाजपेयी जी अपनी अनेक विशेषताओ के कारण हिन्दी-ससार के सम्मान-भाजन बन चुके थे और साहित्यिक नेतृत्व की भूमिका पर देखे जाते थे।

सन् १९४७ की पहली मार्च को वे सागर विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष होकर आये थे और तबसे निरन्तर उसी पद पर कार्य कर रहे है। विश्वविद्यालय के शिक्षा-कार्य मे योग देते हुए उन्होने प्राय उन सभी पदो को प्राप्त किया है जो शैक्षणिक क्षेत्र मे प्राप्य है। सागर विश्वविद्यालय के सत्रह-अट्ठारह वर्षों के जीवन मे वे आठ-नौ वर्षों तक कला-ससद के अध्यक्ष (डीन फेकल्टी आफ आर्ट्स) रह चुके है जो अध्यापको के लिए उच्चतम उपलब्धि है। केवल सागर मे ही नही,

सागर आने के पश्चात् काशी विश्वविद्यालय में वे वर्षों तक वहाँ की प्रबन्ध-समिति के सदस्य रहे हैं। सागर में तो कदाचित् कुछ महीने छोड़कर वे पूरे सत्रह वर्षों से प्रबन्ध समिति के सदस्य बने हुए हैं। किसी एक निर्वाचन-क्षेत्र से नहीं, सभी निर्वाचन-क्षेत्रों से वे इस समिति में चुने जा चुके हैं। इससे उनकी शैक्षणिक क्षेत्र की क्षमताओं के अतिरिक्त, उनकी लोकप्रियता का भी अनुमान किया जा सकता है। अध्यापक और शिक्षक के रूप में उनकी ख्याति बहुश्रुत और बहुज्ञात हो चुकी है, परन्तु वाजपेयी जी अपने को मूलतः शिक्षण क्षेत्र का व्यक्ति न मानकर साहित्य का समीक्षक ही मानते हैं। विद्यार्थियों को कक्षा में प्रतिवर्ष साहित्य सम्बन्धी नवीन जानकारियाँ और विवेचन देते रहते हैं। उन्होंने अध्यापन कार्य को सरल और पिष्टपेषित बनाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। जब कभी वे कक्षा में जाते हैं, नयी ही बातें बतलाया करते हैं। उनके भाषणों में नवीनता और उद्भावना का अद्भुत आकर्षण रहा करता है। उनकी भाषा यद्यपि संस्कृतनिष्ठ होती है, परन्तु इधर कुछ वर्षों से उन्होंने अपेक्षाकृत सरल और सुगम शब्दों का प्रयोग करना आरम्भ किया है। उनके भाषणों में अनुक्रम, धारावाहिकता, और समग्रता रहा करती है। यदि किसी दिन घंटा पूरा होने के कुछ पहले ही उस दिन का विषय पूरा हो गया, तो उस दिन वे नया विषय नहीं उठाते। अपने निजी अध्ययन को उन्होंने कभी कम नहीं किया। यद्यपि उक्त अध्ययन को वे ज्यों का त्यों विद्यार्थियों को वितरित नहीं करते, वरन् उसे आत्मसात् करने के पश्चात् उसके तथ्यांश को वे विद्यार्थियों तक पहुँचाते हैं।

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-पाठ्यक्रम में व्यवस्था और संतुलन लाने का कार्य वाजपेयी जी ने किया है जिससे उनकी साहित्यिक अध्ययन और अध्यापन सम्बन्धी दृष्टि का परिचय मिलता है। हिन्दी-अध्यापन में सामयिक संस्कृति और इतिहास का एक स्वतंत्र प्रश्न-पत्र रखना वाजपेयी जी की अपनी सूझ है जिसका अनुसरण दूसरे विश्वविद्यालयों ने बाद को किया। आधुनिक गद्य और पद्य सम्बन्धी दो अलग-अलग प्रश्न-पत्र रखना और भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा का एक स्वतन्त्र प्रश्न-पत्र निर्धारित करना वाजपेयी जी के प्रगतिशील साहित्यिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त विद्यार्थियों को अधिक से अधिक वैकल्पिक अध्ययन की सुविधा देने की ओर उन्होंने ध्यान दिया है। प्रमुख कवियों और लेखकों के स्वतंत्र अध्यापन का जितना प्रसार सागर विश्वविद्यालय में है, शायद ही अन्यत्र हो। एम० ए० में कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों को एक प्रश्न पत्र के विकल्प में एक साहित्यिक प्रबन्ध लिखने की अनुमति दी जाती है, जिसके फलस्वरूप आधुनिक साहित्य के प्रमुख लेखकों, कवियों और काव्यधाराओं पर प्रायः एक सौ प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं जिनमें से दस-बारह प्रकाशित भी हुए हैं और कुछ अन्य प्रकाशित किए जा रहे हैं। इन प्रबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि वाजपेयी जी कितनी अधिक वैयक्तिक रुचि लेकर इस कार्य में संलग्न रहते हैं।

पी० एच डी० के शोध प्रबन्धो का निर्माण वाजपेयी जी एक सुचिंतित योजना के अनुसार सम्पन्न कर रहे है। उनके निरीक्षण और निर्देशन मे अब तक प्राय पचास शोध प्रबन्ध निर्मित हो चुके है और शोध छात्रों को उपाधियाँ प्राप्त हो चुकी है। वाजपेयी जी की इस योजना और सक्रिय निर्देशन के फलस्वरूप सागर विश्वविद्यालय म हिन्दी शोध और अनुशीलन का एक सस्थान ही निर्मित हो चुका है जो क्रमश सुव्यवस्थित और सशक्त होता जा रहा है। यदि आगामी कुछ समय मे विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का विकास एक शोध सस्थान के रूप मे हो जाय तो यह सर्वथा उचित और आकाक्षित होगा।

यद्यपि कार्याधिक्य के कारण वाजपेयी जी यथेष्ट रूप से अपने निजी लेखन का कार्य उतने बडे पैमाने पर नही कर पा रहे है जितना कि उन्हे और उनके साथ ही हिन्दी ससार को अभीष्ट है परन्तु सागर रहते हुए उन्होने 'आधुनिक साहित्य' 'नया साहित्य नये प्रश्न', 'प्रेमचद साहित्यिक विवेचन', 'महाकवि सूरदास', 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए', 'आधुनिक काव्य रचना और विचार' नामक प्राय आधा दर्जन साहित्यिक और समीक्षात्मक पुस्तकें लिखी हैं। *'आलोचना'* पत्रिका के सम्पादक के रूप मे उन्होने जो सम्पादकीय लेख लिखे थे तथा साहित्यिक और शैक्षणिक विषयो पर जो नये निबन्ध लिखे हैं, उनका एक सग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। इसके अतिरिक्त उनकी आकाशवाणी वार्तायें और स्फुट समीक्षायें भी एक पूरी पुस्तक का आकार ले चुकी है। वाजपेयी जी के दो बडे आयोजन जिन पर उन्होने थोडा-थोडा कार्य भी किया है—आधुनिक साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास लेखन तथा भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिंतन को समन्वित रूप देने का है। सम्प्रति वे इन्ही के प्रणयन मे लगे हुए है। 'कवि निराला' और 'रस विमर्श' शीर्षक उनकी दो पुस्तकें प्रेस मे है। उनका प्रकाशन शीघ्र ही होगा।

पिछले सत्रह वर्षों से सागर विश्वविद्यालय मे रहते हुए वाजपेयी जी ने भारतीय स्वतन्त्रता की सत्रह वर्षों की गतिविधि समानान्तर रूप से देखी है। उनकी राष्ट्रीय भावना अत्यन्त बलवती है, परन्तु उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति भारतीय राजनीति के वामपक्ष के अधिक समीप कही जा सकती है। यद्यपि डा० राजेन्द्रप्रसाद और डा० राधाकृष्णन् के साथ उनका काफी साहचर्य रहा है और वे उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु उनका निजी झुकाव आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री जयप्रकाशनारायण और राहुल साकृत्यायन के प्रति अधिक रहा है जिन्हे उन्होने सागर विश्वविद्यालय मे व्याख्यान देने के लिए बुलाकर उन दिनो खतरा भी मोल लिया था। परन्तु एक तो वे विद्वान स्वय भलीभाति जानते थे कि विश्वविद्यालय मे किस प्रकार के भाषण दिये जाने चाहिए और फिर वाजपेयी जी जैसे स्वतन्त्रचेता व्यक्ति विचार-स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध सहन भी नही कर सकते।

वाजपेयी जी की निजी पारिवारिक घटनाओं का एक संक्षिप्त ब्योरा देकर हम उनके जीवन परिचय सम्बन्धी इस निबंध को पूरा करेंगे। उनके विवाह का उल्लेख हम ऊपर यथास्थान कर चुके है। सन् १९३६, ४१ और ४६ मे क्रमश एक पुत्र, एक पुत्री, और पुन एक पुत्र का जन्म हुआ। यही तीन उनकी सतान है। बडा लडका स्वस्तिकुमार दो वर्ष पूर्व एम० बी० बी० एस० करने के पश्चात् जबलपुर के विक्टोरिया अस्पताल म सहायक सर्जन है और साथ ही एम० एस० का पाठ्यक्रम पूरा कर रहा है। उसका विवाह गतवर्ष भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूराम मिश्र की द्वितीय पुत्री ऊषा मिश्र एम० ए० से सम्पन्न हुआ है। वाजपेयी जी की एकमात्र पुत्री पद्मा अपनी माता की पिछले कुछ वर्षों की अस्वस्थता के कारण नियमित अध्ययन से विरत रहने को बाध्य हुई, परन्तु उसने साहित्य और राजनीति मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा (रत्न) उत्तीर्ण की है और इस वर्ष सागर विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा मे उसने प्रथम श्रेणी प्राप्त की है। उनका छोटा लडका सुनृतकुमार भी इस वर्ष बी० ए० की परीक्षा म उत्तीर्ण हुआ तथा हिन्दी मे विशेष योग्यता प्राप्त की है। इस निजी परिवार के अतिरिक्त वाजपेयी जी का एक वृहत् परिवार भी है जिसमे उनके बहुत से परिचित और सम्बन्धी छात्र विश्वविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करते रहते है। ऐसे छात्रो की सख्या प्रतिवर्ष दो-चार रहा ही करती है।

समग्र दृष्टि से देखने पर वाजपेयी जी का जीवन कतिपय असाधारण गुणो और विशेषताओ से दीप्तिमान है। बाल्यावस्था मे प्रकृति के मनोरम दृश्यो के साहचर्य मे रहकर उनमे जिस सौन्दर्य-सवेदन और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का उद्भव हुआ था उसका क्रमिक विकास उनके सम्पूर्ण जीवन मे दिखाई देता है। पिता जी के आर्यसमाजी और बौद्धिक व्यक्तित्व की छाया उन पर सदैव रही है, यद्यपि अपने निजी अध्ययन से वे अधिक गम्भीर, आध्यात्मिक धारणा को अपने व्यक्तित्व मे सजो सके है। छायावादी और रहस्यवादी काव्य के इतने सफल और सहानुभूतिशील समीक्षक होने का यही कारण जान पडता है। उनका अध्यात्म ऐकान्तिक नही है नैतिक और सामाजिक आधारो को लेकर चला है। उनके गुरुजनो से उन्हे आत्म-सम्मान और निर्भीकता की शिक्षा मिली है। विशेषकर बाबू श्यामसुन्दरदास इस दिशा म उनके प्रमुख प्रेरक रहे है। उनके किशोर हृदय पर उनके क्रिश्चियन अध्यापक प्रीतम लूथरसिंह की छाप पडी थी जो अब भी बनी हुई है। अपनी निजी माता के अभाव की करुणा उनके व्यक्तित्व मे व्याप्त है, परन्तु उनकी दूसरी माता का स्नेह और उदारता भी उनके व्यक्तित्व का अग बन गयी है। इन आरम्भिक सस्कारो के साथ उनकी पत्नी की अनन्य निष्ठा सदैव उनका सम्बल रही है। जीवन के अनत सघर्षों मे शक्ति और आश्वासन उन्हे पत्नी से ही प्राप्त हुए हैं। वय प्राप्त होने पर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके महान नेता महात्मा गाधी की

जीवनी और व्यक्तित्व ने उन्हे गम्भीर रूप से अनुप्राणित किया है। सामाजिक स्थितियो और विपन्नताओ को देखकर उनके विचार समाजवाद के समीप गये है, किन्तु मूलत वे सस्कृतिनिष्ठ मानवतावादी विचारक और साहित्यकार के रूप मे ही प्रसिद्ध है। उनके समस्त लेखन मे उनका यह व्यक्तित्व किसी भी सूक्ष्मद्रष्टा, लेखक या पाठक द्वारा देखा जा सकता है। उनके लेखन और समीक्षण कार्य पर कितने ही प्रशसात्मक और विरोधमूलक लेख लिखे गये है। उन प्रशसाओ मे कितना सार है और उन विरोधो मे कितनी तथ्यात्मकता है, यह तभी जाना जा सकता है जब हम वाजपेयी जी के जीवन की स्थितियो, प्रवृत्तियो और आदर्शो से भलीभाति परिचित हो जाये।

आचार्य वाजपेयी :
साहित्यिक जीवनी और साहचर्य

—श्री रमेशचन्द्र मेहरा एम० ए०

— १ —

पण्डित जी की साहित्यिक जीवनी लिखने का अधिकार वास्तव मे उनके उन मित्रो को है जो आरम्भ से उनके साथ रहे हैं और जिन्होने उनकी दीर्घकालीन साहित्यिक गतिविधि को उनके समीप रह कर देखा है। मेरे जैसे उनके अल्पवयस्क शिष्य के लिए यह काय बहुत कुछ दु साध्य है। परन्तु पिछले तीन वर्षों से पडित जी के साथ रह कर उनसे जो सस्मरण अनेक बार सुनने को मिले है उन्ही के आधार पर यह निबन्ध लिखने का साहस कर रहा हू। निश्चय ही इसकी समग्रता का या सम्पूण प्रामाणिकता का दावा मै नही कर सकता और न उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को एक छोटे निबन्ध मे रखा ही जा सकता है, तथापि पण्डित जी के सम्बन्ध म प्रकाशित होने वाली इस पुस्तक म अपने अश का योग देने मे मुझे प्रसन्नता हो रही है।

पण्डित जी का साहित्यिक व्यक्तित्व सन् १९२८ २९ से प्रारम्भ हुआ था। इसके पहले व विद्यार्थी जीवन मे भी छोटे मोटे लेख और कवितायें लिखा करते थे। उनका प्रथम वैचारिक निबन्ध सन १९२९ के 'माधुरी' पत्रिका के विशेषाक म प्रकाशित हुआ था। शीर्षक था 'सत्समालोचना'। इस निबन्ध मे पण्डित जी न समीक्षक के कुछ गुणो का उल्लेख किया था। साहित्य का दीर्घकालीन अध्ययन, पक्षपात राहित्य और निर्भीकता के गुणो को उन्होने प्राथमिकता दी थी। इक्कीस बाईस वर्ष की आयु म लिखे गये इस निबन्ध म समीक्षक के उन गुणो की चर्चा की गई है जिनका अनुसरण स्वय पण्डित जी ने निरन्तर किया है। इससे यह अनुमित होता है कि यह निबन्ध पर उपदेश के लिए नही, अपनी ही साहित्य-साधना के सकल्प रूप म लिखा गया था। हिन्दी म आज समीक्षको की एक बडी सख्या है, सभी अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य-समीक्षा का कार्य करते हैं। परन्तु निरन्तर अध्ययन, साहित्यिक तटस्थता और निर्भीकता का जो परिचय पण्डित जी की

समीक्षाओ मे प्राप्त होता है, वह अन्यत्र इतनी सुगमता पूर्वक नही दिखाई देता। इन तीन गुणो के अतिरिक्त प्रतिभा और विवेक दो अन्य गुण, समीक्षक के लिए आवश्यक होते है, परन्तु यह गुण स्वभावज होते है, प्रयत्नज नही। कदाचित् इसी कारण इन गुणो का उल्लेख उक्त निबन्ध मे नही किया गया है। 'आधुनिक हिन्दी-कविता' शीर्षक पण्डित जी का एक अन्य निबन्ध भी उन्ही दिनो 'माधुरी' मे छपा था। इस निबन्ध मे द्विवेदी-युगीन कविता के साथ-साथ नई छायावादी कविता के सम्बन्ध मे भी कुछ मार्मिक बाते लिखी गई थी, जो समीक्षा के क्षेत्र मे पडित जी की उदीयमान प्रतिभा की परिचायक है।

सन्' ३० मे पण्डित जी प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'साप्ताहिक भारत' पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए। उसी समय से एक ओर उनके साहित्यिक निबन्धो और दूसरी ओर राजनीतिक अग्रलेखो और टिप्पणियो की अव्याहत परम्परा आरम्भ हुई। यहाँ हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की ही चर्चा कर रहे है, इसलिये उनके व्यक्तित्व के दूसरे अगो पर विचार करना यहाँ सगत नही है। इतना कह देना आवश्यक है कि पण्डित जी के राजनीतिक निबन्धो मे देशप्रेम और राष्ट्रीयता का भाव अविकल रुप से पाया जाता है; यद्यपि सयम और विवेक भी उनके लेखो की विशेषता रही है।

'भारत' मे प्रकाशित साहित्यिक निबन्धो मे से अधिकाश उनकी समीक्षा-पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' मे सकलित कर लिए गये हैं, परन्तु कई निबन्ध अप्रकाशित भी है। विशेषकर छायावादी वृहत्त्रयी 'प्रसाद, निराला और सुमित्रानन्दन पन्त' की धारावाहिक काव्य-समीक्षा से, जो सन् इकतीस (३१) मे प्रकाशित हुई थी, पण्डित जी की प्रसिद्धि एक नवीन और युग-प्रवर्तक समीक्षक के रूप मे हुई। उनके पहले छायावादी काव्य की कोई गम्भीर और सन्तुलित समीक्षा उपलब्ध नही थी। साहित्य-जगत् मे इस समीक्षा का सामूहिक स्वागत हुआ और विशेषकर नवयुवक साहित्यिको द्वारा इसकी चतुर्दिक् प्रशसा की गई।

इन्ही दो-तीन वर्षो मे पण्डित जी ने 'मैथिलीशरण गुप्त' और उनके 'साकेत' काव्य पर भी समीक्षायें लिखी। इन समीक्षाओ मे प्रथम बार गुप्त जी के काव्य-वैशिष्ट्य के उल्लेख के साथ उनकी काव्य-सीमाओ का भी स्पष्ट निर्देश किया गया। प्रेमचन्द जी पर भी पण्डित जी ने एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा और उसी समय 'हस' के आत्मकथाक को लेकर आत्मकथा सम्बन्धी अपने विचार भी लिखे, जिन पर प्रेमचन्द जी ने उत्तर-प्रत्युत्तर भी किया था। इस वाद-विवाद के सम्बन्ध मे कवि श्री निराला ने अपनी 'चाबुक' शीर्षक पुस्तक मे ये वाक्य लिखे है : 'प्रेमचन्द जी से वाद-विवाद चला। इसमे भी वाजपेयी जी दृढ रहे। प्रेमचन्द जी बहुत उदार थे। उन्होने वाजपेयी जी की सत्यता मान ली। जब उनके अन्तिम दिन थे—रोगशैय्या

पर पडे हुए थे, मैं वाजपेयी जी के साथ मिलने गया था, उस समय भी उन्होंने *वाजपेयी जी की आलोचना की प्रशंसा की थी।"*—पृष्ठ ४०

इस वाद-विवाद में साहित्य के स्वरूप और लक्ष्य सम्बन्धी कतिपय मूल्यवान विचार प्रेमचन्द और पण्डित जी द्वारा प्रकट किये गये हैं, जो दोनों के साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने के लिए उपयोगी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-आदर्शों पर पण्डित जी का प्रथम निबन्ध सन् ३१-३२ में ही प्रकाशित हुआ था। दो-तीन वर्षों के पश्चात् उनका एक अन्य निबन्ध भी शुक्ल जी के सम्बन्ध में लिखा गया था ('वीणा' पत्रिका)। इन दोनों निबन्धों में शुक्ल जी के साहित्यादर्श का एक नये समीक्षक की दृष्टि से विचार किया गया है। सन् ४१ में जब आचार्य शुक्ल का देहावसान हुआ, तब पुन एक तीसरा निबन्ध लिखकर पण्डित जी ने अपने गुरुदेव के प्रति निष्ठापूर्ण श्रद्धाजलि अर्पित की। कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के सबल और निर्बल पक्षों की जितनी स्पष्ट विवेचना इन तीन निबन्धों में प्राप्त होती है उतनी अन्यत्र नहीं।

सन् १९३३ में पडित जी 'भारत' पत्र को छोड कर 'काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा' म 'सूरसागर' का सम्पादन करने लगे। यह कार्य उन्होंने प्राय ४ वर्षों में पूरा किया। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में पण्डित जी की कितनी गहरी पैठ और अभिज्ञता है, इसका परिचय 'सूरसागर' के दो वृहत् भागों को देखने से प्राप्त होता है, जो 'नागरीप्रचारिणी-सभा' द्वारा प्रकाशित हुए हैं।

इन चार वर्षों मे पण्डित जी ने 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रथ' के लिये 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक निबन्ध लिखा, जो ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'रत्नाकर' शीर्षक जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सम्पूर्ण काव्य-सग्रह के लिए उनकी जीवनी और काव्य पर एक निबन्ध लिखा जो पुस्तक की भूमिका रूप में प्रकाशित हुआ। इन वर्षों में उन्होंने 'सूरसागर' का गम्भीर अनुशीलन करते हुए वे निबन्ध लिखे, जो आगे चलकर 'महाकवि सूरदास' शीर्षक उनकी पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। इसी अवसर पर या इसके कुछ आगे-पीछे उन्होंने 'सूर-सुषमा' और 'सूर-सन्दर्भ' नामक नामक दो चयनिकाएं भी प्रकाशित की, जिनमें सूरदास के श्रेष्ठ पद सगृहीत हैं। इन सग्रह-पुस्तकों का प्रचलन आज भी अनेक विश्वविद्यालयों और शिक्षा-सस्थाओं में पाया जाता है। इन दोनों की भूमिकायें भी स्वतन्त्र रूप से लिखी गयीं जो 'महाकवि सूरदास' पुस्तक में ले ली गई हैं।

'सूरसागर' का सम्पादन समाप्त कर सन् ३७ मे पण्डित जी 'कल्याण' के 'रामचरित मानस' विशेषाक के सम्पादन के लिये गीता प्रेस गोरखपुर गये और वहां प्राय ३ वर्षों तक रहे। इस अवधि में उन्होंने तुलसीदास की भाषा और शुद्ध

पाठ को लेकर कई निबन्ध लिखे जो तत्कालीन पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए थे। 'तुलसी के अध्ययन मे बाधा' शीर्षक उनका एक अन्य वैचारिक निबन्ध भी इसी अनुक्रम म प्रकाशित हुआ था, जिसकी चर्चा बहुत दिनो तक होती रही। खेद है कि तुलसीदास पर लिखे गये पण्डित जी के निबन्धो का अब तक सग्रह नहीं हो सका, अन्यथा उससे साहित्य के विद्यार्थियो को यथेष्ट लाभ हो सकता था। 'रामचरित-मानस के व्याकरण पर एक बडा निबन्ध श्री चिमनलाल गोस्वामी के साथ सयुक्त रूप म लिखा गया जो गीता प्रेस के मानस-सस्करण म प्राप्त होता है।

इन्ही वर्षों म हिन्दी का नया साहित्य मोड ले रहा था और नये प्रकार की रचनायें प्रकाश म आ रही थी। श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री अचल और श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की नवीन साहित्यिक कृतियो पर तीन निबन्ध पण्डित जी ने उसी समय लिखे थे, जो उनकी 'बीसवी शताब्दी' पुस्तक म सगृहीत है। जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासो और कहानियो मे गाधीवादी विचारधारा का जो आदर्शोन्मुखी आभास है, उसकी परीक्षा करके उपन्यासों और कहानियो म पाई जाने वाली लेखक की मनोवैज्ञानिक कुण्ठाओ का भी प्रथम बार उल्लेख किया गया। 'अचल' के काव्य की मानसिक मलिनता के उल्लेख के साथ उसके परिष्कार की दिशाओ का भी सकेत किया गया। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कथा-साहित्य मे पाई जाने वाली ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन भी किया गया।

प्रसाद जी के काव्य-विकास और उनके नाटको पर दो-तीन निबन्ध पहले ही लिखे जा चुके थे। सन्' ३६, ३७ मे 'कामायनी' काव्य के प्रकाशन के साथ पडित जी ने उक्त काव्य पर दो स्वतन्त्र निबन्ध लिखे और इसी बीच मे प्रसाद जी का देहावसान हो जाने पर प्रसाद के व्यक्तित्व और कृतित्व का समग्र आकलन करते हुए दो अन्य निबन्ध प्रस्तुत किए। प्रसाद के 'ककाल' उपन्यास, और उनकी 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक पुस्तक पर दो बडे निबन्ध इसी समय लिखे गये। इस प्रकार प्रसाद जी पर पण्डित जी के निबन्धो की एक अच्छी सख्या तैयार हुई, जिन्हे एकत्र कर 'जयशकर प्रसाद' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित की गई। (१९३९-४०)

१९४१ के जुलाई मास मे पण्डित जी की नियुक्ति काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक रूप मे हुई। उसी वर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निधन हुआ था। उन्ही के स्थान पर पण्डित जी का निर्वाचन किया गया था। यह कितने सयोग की बात है कि आचार्य शुक्ल के स्थानापन्न होकर एक ओर पण्डित जी साहित्य के शिक्षक हुए और दूसरी ओर समीक्षा क्षेत्र मे सन्' ४१ से सन् ४७ तक काशी विश्वविद्यालय मे अध्यापन कार्य करते हुए उन्होंने स्थानीय 'प्रगतिशील लेखक-सघ' का सघटन किया और ४-५ वर्षों तक उसके अध्यक्ष बने रहे। काशी के

नवयुवक साहित्यिकों के लिए 'प्रगतिशील लेखक-संघ' एक अजस्र प्रेरणा का आधार बना रहा और पण्डित जी का निजी निवास साहित्यिक चर्चाओं का केन्द्र बन गया।

इन वर्षों में पण्डित जी ने अनेक निबन्ध लिखे जो आगे चलकर उनके 'आधुनिक साहित्य' ग्रंथ में प्रकाशित हुए हैं (सन् १९५०)। विशेषकर 'अज्ञेय' के 'शेखर एक जीवनी' और दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' पर लिखे गये निबन्ध अधिक विचार-पूर्ण हैं। 'नई कहानियाँ', 'साहित्य और प्रगतिशीलता', 'साहित्य और आत्माभिव्यक्ति' शीर्षक निबन्ध भी इसी समय लिखे गये थे। इस समय तक पण्डित जी न केवल काशी में बल्कि हिन्दी के विस्तृत क्षेत्रों के एक श्रेष्ठ समीक्षक का पद और ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उसी समय सन् १९४७ में उन्होंने अखिल भारतीय पैमाने पर निराला-स्वर्ण जयन्ती का संगठन किया था। अनेकानेक नगरों में जयन्ती मनाई गई थी। जयन्ती का प्रधान केन्द्र काशी में था, जहाँ १४ जनवरी को वसन्तपञ्चमी के दिन एक ऐसा विशाल और विशिष्ट समारोह हुआ जिसको आज भी उस समय के साहित्यिक स्मरण करते हैं। यह समारोह तीन दिनों तक अनवरत रूप में मनाया गया और इससे संबद्ध अनेक गोष्ठियाँ, कवि-सम्मेलन और पुरस्कार-वितरण आदि के उत्सव हुए। इस समस्त कार्यक्रम के संगठन और संचालन का श्रेय पंडित जी को ही है।

इसी उत्सव के पश्चात् मार्च सन् १९४७ में पंडित जी काशी विश्वविद्यालय को छोड़कर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष होकर सागर विश्वविद्यालय आये और तब से वे यहीं पर हैं। इन १६-१७ वर्षों में अपने विविध शैक्षणिक दायित्वों के अतिरिक्त वे साहित्यिक निर्माण-कार्य में भी तत्पर रहे हैं।

'आधुनिक साहित्य' पुस्तक के कुछ निबन्ध तो काशी में ही लिखे गये थे, पर उसके अधिकांश निबन्ध पंडित जी के सागर आने के पश्चात् लिखे गये। जैसा 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका' में लिखा गया है, इस पुस्तक में सन् ३० से लेकर ४० तक की मुख्य साहित्यिक कृतियों और गतिविधियों पर निबन्ध लिखे गये हैं। इसे एक प्रकार से छायावादोत्तर हिन्दी-साहित्य का युग कहा जा सकता है, जिसमें एक ओर बच्चन, दिनकर और अंचल जैसे कवि काव्य-लेखन कर रहे थे और दूसरी ओर प्रगतिशील साहित्य का सृजन हो रहा था। काव्य की तीसरी धारा प्रयोगवाद के नाम से भी परिचालित होने लगी थी। इसके अतिरिक्त कुछ पुरानी शैली के कवि भी काव्यरचना कर रहे थे। 'आधुनिक साहित्य' में इन चारों काव्य-धाराओं और उनकी कतिपय श्रेष्ठ कृतियों पर विचार किया गया है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्दोत्तर युग चल रहा था। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-कहानी और उपन्यास पर पंडित जी के कई निबन्ध 'आधुनिक साहित्य' में प्रकाशित हुये हैं। नाट्य साहित्य में प्रसादोत्तर युग आरम्भ हो चुका था। इस युग के प्रमुख नाट्यकार श्री

लक्ष्मीनारायण मिश्र पर पंडित जी का एक निबन्ध इसी समय लिखा गया था, परन्तु वह 'आधुनिक साहित्य' पुस्तक में नहीं दिया जा सका और उनकी आगामी पुस्तक 'नया साहित्य नये प्रश्न' में प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल के इतिहास-ग्रंथ पर भी एक निबन्ध इसी समय लिखा गया। शुक्ल-परवर्ती समीक्षाशैलियों और वादों आदि पर पंडित जी के कुछ निबन्ध 'आधुनिक साहित्य' में प्रकाशित हुये हैं। इन निबन्धों में पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-सिद्धांतों की भी यथेष्ट चर्चा हुई है। परन्तु इस पुस्तक का सबसे अधिक विस्तृत और गंभीर निबन्ध पुस्तक की भूमिका रूप में लिखा गया था जो आज भी समग्र साहित्यिक आकलन का एक स्मरणीय निबन्ध है। 'बीसवीं शताब्दी' के पश्चात् १९५० में इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर साहित्य की पूरी अर्द्ध शताब्दि की वैचारिक और समीक्षात्मक सामग्री हिन्दी-साहित्य को प्राप्त हुई।

सन् ५० के पश्चात् एक ओर महाकवि सूरदास के निबन्धों का परिष्कार करके उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया और दूसरी ओर 'प्रेमचंद-साहित्य' पर लिखी गयी समीक्षा पुस्तक प्रकाशित की गई। ये दोनों ही पुस्तकें '५३-५४ के आसपास प्रकाशित हुई थीं। प्रेमचंद के सम्बन्ध में पंडित जी के विचार कुछ क्षेत्रों में प्रतिकूल समझे जाते थे, परन्तु इस पुस्तक के द्वारा स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो गई। प्रेमचंद के उपन्यास और कहानी-साहित्य का जैसा विकासात्मक अध्ययन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है और प्रेमचंद के उपन्यासों और उनकी कहानियों पर जिस क्रमिक रूप से विचार हुआ है, इस तथ्य पर साहित्यिकों का प्रायः ध्यान नहीं गया। पंडित जी की इस पुस्तक में इस क्रम-विकास की विवेचना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। आश्चर्य यह है कि यह पुस्तक केवल १५ दिनों में लिखी गई थी और प्रायः सब की सब पुस्तक बोलकर लिखायी गई थी। सन् १९५४ के पश्चात् पंडित जी का ध्यान साहित्य के वैचारिक और सैद्धांतिक तथ्यों की ओर गया। काशी विश्वविद्यालय में रहते हुए भी पंडित जी पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का अध्यापन एम० ए० कक्षाओं में करने लगे थे। परन्तु सागर आने के पश्चात् भारतीय और पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों का समग्र अध्यापन उन्होंने वर्षों तक किया, जिसके परिणाम-स्वरूप सिद्धांत-पक्ष पर उनके नये विचार और उद्‌भावनायें प्रकाश में आयीं। सन् १९५५ में प्रकाशित उनकी नयी पुस्तक 'नया साहित्य नये प्रश्न' में सैद्धान्तिक पक्ष की प्रमुखता है, यद्यपि इसमें व्यावहारिक समीक्षा के कुछ निबन्ध भी सम्मिलित हैं। 'नया साहित्य नए प्रश्न' की भूमिका जो 'निकष' नाम से लिखी गयी है, पंडित जी के निजी समीक्षा-कार्य का आत्मविश्लेषण है। इस प्रकार का आत्मविश्लेषण हिंदी-साहित्य में एकदम नया तथा बहुत कुछ बेजोड़ है। आधुनिकतम पश्चिमी सिद्धान्तों पर भी इस पुस्तक में सामग्री दी गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यावहारिक समीक्षा की अपनी आरम्भिक कृति 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' से आगे बढ़कर व्यवहार और सिद्धान्त की सम्मिलित

भूमि म कार्य करते हुए 'आधुनिक साहित्य' का प्रणयन किया गया और अतन सैद्धातिक पक्ष को प्रमुखता देते हुए 'नया साहित्य नये प्रश्न' पुस्तक प्रकाश मे आयी। इसी बीच सूर और तुलसी, प्रसाद और प्रेमचद की चार स्वतत्र पुस्तको की सामग्री भी प्रस्तुत की गई। यो तो 'आधुनिक साहित्य' म भारतीय और पश्चिमी साहित्य के कतिपय वादो पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखे गये थे, परन्तु 'नया साहित्य नये प्रश्न म साहित्य-सिद्धान्तो के नव मूल्याकन का प्रस्ताव रखा गया है और नव मूल्याकन की एक आरम्भिक भूमिका भी दी गई है। इसके अतिरिक्त रस सिद्धात के चारो सम्प्रदायो को समन्वित रूप मे रखने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। भारतीय सम्प्रदाय और विशेषकर रस-तत्व को लेकर की गयी पडित जी की यह व्याख्या गम्भीर और मननयोग्य है। इस निबन्ध के प्रकाशित होने के पश्चात् हिंदी के अन्य समीक्षको और विचारको ने इसका विविध रूपो मे अनुकरण किया है और कई बार तो लेखक का उद्धरण दिए बिना ही सामग्री ले ली गई है। इसी प्रकार पश्चिमी समीक्षा के सैद्धातिक विकास पर एक वृहत निबन्ध 'नया साहित्य . नये प्रश्न' पुस्तक म प्रकाशित हुआ है, जिसमे अरस्तू से लेकर आज तक के सैद्धातिक विकास का स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टि से विचार किया गया है। वास्तव मे समीक्षा के सैद्धातिक पक्ष पर पडित जी का कार्य इतना मौलिक और महत्वपूर्ण है कि उसकी ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट होना अत्यन्त आवश्यक जान पडता है।

इस समस्त लेखन से यह स्पष्ट होता है कि पडित जी का ध्यान सदव श्रेष्ठ काव्य और उसकी मूलभूत विशेषताओ पर रहा है। सामान्य कविता को उन्होने अपने विवेचन के लिए स्वीकार नही किया। हा, जहाँ कही उन्हे साहित्य और काव्य की असाहित्यिक, वादग्रस्त अथवा लक्ष्यहीन और हल्की वस्तु दिखाई पडी है, वहाँ उन्होंने उसका प्रतिवाद भी किया है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य मे कोई ऐसा समीक्षक दिखाई नही देता, जो इतनी निर्भीकता और स्पष्टता के साथ युगीन साहित्यिको और उनकी कृतियो पर अपना अभिमत दे सका हो। साहित्यिक वस्तुओ को साहित्येतर वस्तुओ से पृथक् कर विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा का अनुसरण भी पडित जी की अपनी विशेषता है। उन्होने साहित्य के प्रेरणा स्रोतो का और कवियो और लेखको के मनोवैज्ञानिक और वैचारिक पक्षो का भी उल्लेख किया है। परन्तु इसकी मात्रा उतनी ही है, जितनी साहित्यिक सौंदर्य को परखने के लिए आवश्यक होती है।

सन् १९५५-५६ के पश्चात् पडित जी ने दिल्ली से प्रकाशित होने वाली 'आलोचना 'पत्रिका का सम्पादन किया और उस त्रैमासिक पत्रिका म उन्होने प्राय दस सम्पादकीय निबन्ध लिखे, जिनम हिन्दी-साहित्य की समसामयिक-साहित्यिक गतिविधियो पर सुस्पष्ट विचार व्यक्त किये गये हैं। नये साहित्य के निर्माण की स्थितियो और समस्याओ पर पडित जी का ध्यान इन निबन्धो मे गया है और

उन्होंने नवीनतम साहित्य के कतिपय दुर्बल पक्षों पर दृष्टि डाली है। इन निबन्धों मे उन्होंने काव्य और साहित्य की राष्ट्रीय परम्परा का विशेष रूप से आग्रह किया है, क्योंकि उन्होंने देखा है कि नवीन साहित्य पर विदेशी प्रभावों का आधिक्य हो रहा है। मौलिकता घट रही है। देश की जलवायु का असर कम हो रहा है और भिन्न परिस्थिति वाले देशों के काव्य का आँख मूद कर अनुसरण किया जा रहा है। अत्यधिक वैयक्तिक, प्रतीकात्मक और रूपात्मक काव्य के प्रति उन्होंने अपना सयत अभिमत व्यक्त किया है जिनसे नये लेखकों को आवश्यक सकेत मिल सकते हैं।

सन् १९५८ मे केन्द्रीय शासन द्वारा हिन्दी के प्रति सद्भावना के प्रसारार्थ पडित जी को केरल प्रदेश भेजा गया था। इस महत्वपूर्ण यात्रा म पडित जी ने भारतीय साहित्य और सस्कृति की एकता के पक्ष पर प्राय २० अभिभाषण दिये थे। जिनका सग्रह 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें' नाम की पुस्तक मे प्रकाशित किया गया है। यद्यपि ये भाषण केरल प्रदेश के अहिंदी-भाषी समाज मे दिये जाने के कारण अत्यन्त सरल और बोधगम्य भाषा का आधार लिये हुए हैं, परन्तु विषय की गम्भीरता और मार्मिकता इनमें किसी प्रकार कम नही है। इसी सिलसिले मे केरल सम्बन्धी यात्रा विवरण और सस्मरणमूलक एक बडा निबन्ध भी पुस्तक मे दिया गया है, जिसमे पडित जी की भावात्मक शैली का एक नया ही विन्यास दिखाई देता है। इस निबन्ध मे वस्तु-निरीक्षण की क्षमता और मानवीय गुणों की पहचान भी बडे सुन्दर रूप मे अभिव्यजित हुई है।

पिछले कुछ दिनो मे पडित जी ने साहित्य के कतिपय वादो पर सरल और सुबोध लेख लिखे हैं, जो उनकी नयी पुस्तक 'आधुनिक काव्य . रचना और-विचार' मे प्रकाशित हुए हैं। इन निबन्धों मे पडित जी का लक्ष्य विश्वविद्यालयीन विद्यार्थियों के समक्ष विभिन्न साहित्यिक वादो को स्पष्ट करने का रहा है। अतएव इनमे व्याख्यात्मक शैली को अपनाया गया है। सूक्ष्म और गहरे विवेचन की क्लिष्टता इनमे नही दिखाई देती। ये जिस प्रयोजन से लिखे गये हैं, उसकी भली-भाति पुष्टि हो सकी है। इन आधुनिक साहित्यिक वादो मे स्वच्छदतावाद, छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद और प्रयोगवाद आदि मुख्य हैं। कहने की आवश्यकता नही कि ये सभी वाद आधुनिक-साहित्य की विविध गतिविधियों से सबधित हैं।

इन साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त पडित जी ने राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक और दार्शनिक विषयों पर बहुत से लेख लिखे हैं जो अब तक बहुत अश मे अप्रकाशित हैं। 'भारत' पत्र का सम्पादन करते हुए (३०-३३) उन्होंने अनेकानेक अग्रलेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी थी, जिनसे उनके राष्ट्र-प्रेम का

गहरा परिचय मिलता है। इन लेखो के प्रकाशित होने पर पडित जी का सार्वजनिक जीवन पक्ष उद्भासित हो सकेगा। स्वातन्त्र्योत्तर युग मे राजनीति की प्रमुखता के कारण पडने वाले अनिष्ट प्रभाव का उन्होने एक निबन्ध में स्पष्टीकरण किया है, जो साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' के एक विशेषाक म प्रकाशित हुआ था। इससे पडित जी के सजग और सतर्क व्यक्तित्व का अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार भारतीय हिन्दी-परिषद् के दिल्ली और वल्लभविद्यानगर अधिवेशनो मे दिये गये उनके अध्यक्षीय भाषण साहित्य की शैक्षणिक रूपरेखा का विवेचन करते है और विश्वविद्यालयो के साहित्यिक शिक्षण पर पूरा प्रकाश डालते है। सन् १९४० मे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पूना अधिवेशन मे साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष पद से उन्होने प्रगतिशील साहित्य पर अपना अभिभाषण दिया था, जिसमे वादरहित प्रगतिशीलता का सुन्दर विवेचन किया गया है। काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा के हीरकजयन्ती-महोत्सव म पण्डित जी ने साहित्य-गोष्ठी के सभापति पद से हिंदी-साहित्य की गतिविधि पर जो लिखित भाषण प्रस्तुत किया था, उसमे एक सर्वांगीणता है और काशी केन्द्र से हिन्दी-साहित्य की किस प्रकार अभिवृद्धि हुई है, इसका सुन्दर परिचय मिलता है। यो तो पण्डित जी के भाषणो, रेडियो वार्ताओ, विचार-गोष्ठियो आदि मे दिये गये वक्तव्यो की सख्या बहुत अधिक है, परन्तु इधर हाल मे उन्होने कवि निराला को लेकर कई महत्वपूर्ण भाषण दिये है और कतिपय निबन्ध भी लिखे है, जिनका पुस्तक रूप मे सग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। वे इस समय हिंदी-साहित्य के आधुनिक युग के इतिहास पर एक बडा ग्रथ लिखने की तैयारी कर रहे हैं। इस कार्य के सम्पन्न होने पर पिछले १०० वर्षों के हिन्दी-साहित्य का सम्पूर्ण स्वरूप नवीन विवेचनात्मक शैली मे उपलब्ध हो सकेगा। कतिपय पाश्चात्य साहित्यिक इतिहास लेखको के समकक्ष अथवा उनसे भी विशिष्ट इतिहास का प्रणयन पडित जी के प्रौढ लेखन का नया प्रतिमान बन सकेगा। इसी के साथ पडित जी भारतीय और पश्चिमी साहित्य सिद्धान्तो पर एक समन्वयात्मक और धारावाहिक ग्रथ भी तैयार कर रहे हैं जो हिंदी के विवेचनात्मक साहित्य को उनका अभिनव प्रदेय होगा। हम सब आश्वस्त होकर उक्त दोनों ग्रथो की प्रतीक्षा कर रहे है।

इस वैयक्तिक कार्यकलाप के अतिरिक्त पडित जी ने सार्वजनिक क्षत्रो मे जो योगदान दिया है, वह भी उल्लेखनीय है। उन्होने सन् ४१-४२ के पश्चात् काशी प्रगतिशील लेखक-सघ का सगठन और सचालन किया था जिसके परिणामस्वरूप काशी के साहित्यिक क्षेत्रो मे और विशेषकर नवयुवको मे नई साहित्य-चेतना का सचार हुआ था। प्रगतिशील लेखक-सघ को वामपथीवादी विचारो से अलग रखकर विशुद्ध साहित्यिक प्रगतिशीलता का जो आदर्श पडित जी ने निर्मित किया था, उसका मूल्य साहित्य के वादरहित विकास मे कितना अधिक है, यह हिन्दी-साहित्य

के इतिहास लेखकों के लिये एक ज्ञातव्य वस्तु होगी। राष्ट्रीयता और समाजवाद का सतुलित समन्वय पडित जी के इन वर्षों के साहित्यिक उपक्रमो के मूल मे सन्निहित है। आज भी हिन्दी-साहित्य की प्रमुख धारा इन्ही मूल्यो का अनुगमन कर रही है। पिछले ६ ७ वर्षों से पडित जी दिल्ली की केन्द्रीय साहित्य-एकेडमी के विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप म सदस्य रह है। किस प्रकार साहित्य-एकेडमी हिन्दी-साहित्य के उन्नयन म हिचक-हिचक कर काम कर रही है और क्यो एक स्वतन्त्र हिन्दी-एकेडमी की आवश्यकता है, इस विषय पर पण्डित जी के विचार सार्वजनिक हो चुके हैं। उन्होने हिन्दी के देशव्यापी प्रसार के लिये केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल मे एक स्वतन्त्र हिन्दी-मन्त्रालय के निर्माण की सिफारिश भी की है। अभी तक मन्त्रालय तो नही बना पर एक निदेशनालय अवश्य बना है, जिसकी कार्यविधि पर पडित जी को सतोष नही है। वे हिंदी भाषा और साहित्य का अधिक गतिशील विकास आवश्यक मानते हैं।

यह बहुत कम लोगो को ज्ञात है कि पडित जी का कितना समय अध्यापन और शोध-कार्य के निरीक्षण और निर्देशन मे लग रहा है। वास्तव म इन कार्यों मे पडित जी की असाधारण सलग्नता उनके निजी लेखन मे बाधक भी हो रही है। उनके निरीक्षण मे प्राय ४० शोधकर्ता अब तक पी० एच-डी० उपाधि प्राप्त कर चुके हैं और प्राय इतनी ही सख्या मे सक्रिय शोधकर्त्ता कार्य-सलग्न है। पिछले दो-तीन वर्षों से प्राय एक दर्जन अनुसधायको को पडित जी के निर्देशन मे प्रतिवर्ष पी० एच-डी० की उपाधि मिल रही है। यदि यही उपक्रम चलता रहा तो आगामी ३-४ वर्षों मे पडित जी के तत्वावधान म शोध-उपाधि प्राप्त करने वालो की सख्या १०० तक पहुच जायगी। जिन विविध विषयो पर सागर विश्वविद्यालय मे और अन्यत्र पडित जी शोधकार्य करा रहे हैं, उन्ह देखने से ज्ञात होता है कि यह सारा कार्य योजनाबद्ध हो रहा है और साहित्य के सद्धान्तिक पक्ष से लेकर उसकी समतात भूमियो का विशिष्ट रूप से शोध और अनुशीलन किया जा रहा है। इस समस्त शोधकार्य के प्रकाशन की यथेष्ठ सुविधायें सागर विश्वविद्यालय मे उपलब्ध नही है। परन्तु पडित जी के वैयक्तिक प्रभावो से अब तक एक दर्जन से अधिक शोध-समीक्षा-ग्रथ प्रकाशित होकर हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रस्तुत हो चुके हैं, जिनकी ओर साहित्य के विद्वानो और विद्यार्थियो का ध्यान आकृष्ट हो चुका है।

पडित जी के इस समस्त साहित्यिक और समीक्षात्मक कार्य को समग्र रूप से देखने पर हम कतिपय निष्कर्षों पर पहुच सकते है। कुछ समीक्षको ने उन्हे व्यावहारिक समीक्षक मात्र कहा है, और कुछ ने उन्हे व्याख्याकार की सज्ञा दी है। कुछ अन्य समीक्षको ने उन्हे कला या सौंदर्यवादी समीक्षक कहा है। कुछ लोग उन्ह

सांस्कृतिक भूमिका का समीक्षक कहते हैं । डा० भगवतस्वरूप मिश्र ने उन्हें स्वच्छंदतावादी और सौष्ठववादी समीक्षक बताया है । डा० नगेन्द्र ने इन सब पक्षों को समाहित कर उन्हें कला, सौन्दर्य और संस्कृतिमूलक समीक्षक की अभिधा दी है । वस्तुतः देखा जाय तो पंडित जी का समीक्षा-कार्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ परम्परा का आकलन करते हुए युगीन चेतना को आत्मसात् कर लेता है । इसीलिए जहाँ उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी के काव्य की साहित्यिक समीक्षा की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने आधुनिक साहित्य का सम्पूर्ण अध्ययन और विवेचन भी किया है । संस्कृत-काव्य की वह परम्परा, *जो कालिदास से आरम्भ होकर जयदेव तक पहुँची है,* पंडित जी के ध्यान का विषय रही है । अतएव हम उन्हें सच्चे अर्थों में भारतीय साहित्यिक परम्परा का समीक्षक कह सकते हैं । पंडित जी ने बीसवीं शताब्दी के समस्त साहित्य को वाद रहित विकासमान भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया है । कुछ समीक्षक उन्हें प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी कहते हैं । कदाचित् उनका आशय पंडित जी की उस दृष्टि से है जिससे वे स्वस्थ और विकासमूलक भावनाओं के काव्य का स्वागत करते हैं । हिन्दी समीक्षा के विकासक्रम में एक धारा वह भी है जो मानवतावादी कहलाती है । इस धारा के उन्नायकों ने सिद्धों, नाथपंथियों और निर्गुण सन्तों के साथ नवीन साहित्य के सामाजिक सुधारवादी कवियों और साहित्यकारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । पंडित जी का दृष्टिकोण विशुद्ध साहित्यिक है, इस कारण मानवतावाद के इस असाहित्यिक दृष्टिकोण को वे विशेष महत्व नहीं देते । इस दृष्टि से उन्हें शुक्ल जी की साहित्यिक-परम्परा का समीक्षक कहा जा सकता है, जिन्होंने सूर और तुलसी जैसे प्रशस्त कवियों के समक्ष कबीर जैसे अनपढ़ कवियों को अधिक महत्व नहीं दिया । इस भूमिका पर शुक्ल जी का अनुवर्तन करते हुए पंडित जी शुक्ल जी से एकदम स्वतन्त्र भी हैं । शुक्ल जी का लोकधर्म या लोकादर्श वाला सिद्धान्त उन्हें स्वीकार नहीं है, यद्यपि वे काव्य में राष्ट्रीय सामाजिक विकासमान चेतना को पूर्णतः स्वीकार करते हैं । पंडित जी रस के सौंदर्यमूलक स्वरूप को ही सर्वोपरि मानते हैं और अभिनवगुप्त के ध्वनिसिद्धांत का पूर्णतः समर्थन करते हैं । पश्चिमी स्वच्छंदतावादी समीक्षा जो प्राचीन बन्धनों से छूट चुकी थी, पंडित जी को अतिशय प्रिय है, *यद्यपि वे मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति* काव्य साहित्य के मूलभूत गभीर, नैतिक आदर्शों को भी स्वीकार करते हैं । साहित्य से भिन्न ज्ञानविज्ञान की अन्य भूमिकाओं को पंडित जी साधन रूप में ग्रहण करते हैं *साध्य रूप में नहीं* । मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, *समाजविज्ञान आदि विज्ञानों को* वे साहित्य की सहकारी वस्तु के रूप में ही अपनाते हैं । इसीलिये इन विज्ञानों की पारिभाषिक शब्दावली का अतिरेक पंडित जी की समीक्षा में नहीं पाया जाता । सैद्धान्तिक भूमिका पर पंडित जी का चिंतन स्वच्छंदतावादी कहा जा सकता है । समीक्षा-कार्य के अतिरिक्त पंडित जी ने संपादन सम्बन्धी जो कार्य किये हैं, उनका अपना अलग महत्व है । यों तो इतिहास, दर्शन और आधुनिक

राजनीतिक मतों और सिद्धान्तों के प्रति पंडित जी की अशेष अभिरुचि है और वे इन सभी विषयों का सदैव अनुशीलन करते रहते हैं, परन्तु उन्होंने अपने समक्ष साहित्यिक समीक्षा का जो एकान्त लक्ष्य बना रखा है, उसके कारण वे इन अपर विषयों पर अधिक लेखनी-चालन नहीं करते। परन्तु इन सभी विषयों की गम्भीर चेतना पंडित जी के समीक्षा-कार्य की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहती है जिसका प्रतिफलन उनकी समीक्षाकृतियों को एक अप्रतिम आलोक प्रदान करता है।

—२—

पंडित जी के निजी सहायक के रूप में पिछले चार वर्षों से मुझे उनके बहुत निकट संपर्क में आने का अवसर मिला है। उनके साथ प्रायः समस्त देश की यात्रा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। किन्तु उस सौभाग्य से भी अधिक मेरे लिए उन संस्मरणों का महत्व है, जो कभी-कभी प्रसंगवश, और कभी समय बिताने के लिए, मुझे वे सुनाते रहे हैं। उन्हीं संस्मरणों के आधार पर यहाँ पंडित जी के साहित्यिक साहचर्य के सम्बन्ध में कुछ लिखने का साहस कर रहा हूँ। इस निबन्ध का मुख्य आधार मेरी वह डायरी है जिसमें पंडित जी से सुने हुए बहुत से प्रसंग और घटनाएँ लिख ली गई हैं।

पंडित जी का साहित्यिक जीवन वास्तव में तब से आरम्भ होता है जब वे काशी विश्वविद्यालय में अध्ययनार्थ बी० ए० कक्षा में दाखिल हुए थे। यह सन् १९२५ की बात है। इसके पूर्व वे बिहार प्रदेश के हजारीबाग जिले में रहते थे और वहीं पर इंटरमीजिएट तक का अध्ययन किया था (यों वे मूलनिवासी उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले के हैं)। हजारीबाग के अपेक्षाकृत असाहित्यिक किन्तु प्राकृतिक सौंदर्य पूरित परिवेश से निकलकर जब वे काशी की सांस्कृतिक और साहित्यिक नगरी में आये, तब उनमें निहित संस्कारों का अभ्युदय हुआ और वे अपनी अंतश्चेतना में निहित क्षमताओं से परिचित होने लगे। संयोगवश उनका प्रथम संपर्क आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास जैसे गुरुजनों से हुआ जिनसे इन्हें साहित्यिक लेखन की प्रेरणा मिली। डा० श्यामसुन्दरदास के व्यक्तित्व से वे अधिक प्रभावित हुए और कुछ ही समय में उनके शिष्यों में सर्वप्रिय बन गए। शुक्ल जी के प्रति पंडित जी का संसर्ग मुख्यतः एक सभ्रमपूर्ण, सम्मान-भावना का ही था। उन्हें उनके अधिक समीप आने का अवसर नहीं मिला। काशी विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हुए उनका संपर्क श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय और लाला भगवानदीन से भी हुआ था। उपाध्याय जी की सरल और आत्मीय प्रवृत्ति से पंडित जी विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे, परन्तु लाला भगवानदीन के विनोदी स्वभाव और पांडित्य-पूर्ण अध्यापन से उन्हें कम प्रेरणा नहीं मिली। फिर भी यह कहा जा सकता है कि

शिक्षा-क्षेत्र के अपने इन गुरुजनों में से डा० श्यामसुन्दरदास के व्यक्तित्व और व्यवहार से वे सबमे अधिक प्रभावित और लाभान्वित हुए थे। डा० श्यामसुन्दरदास के प्रयत्न से ही उन्हें प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'भारत' पत्र का सम्पादकीय पद प्राप्त हुआ था और उन्ही के आदेश से पंडित जी प्रयाग छोड़कर सन् १९३३ में पुन काशी आये थे और नागरी-प्रचारिणी सभा मे चार वर्षों तक सूरसागर का संपादन किया था।

परन्तु, पण्डित जी का यह प्रथम साहचर्य उतना साहित्यिक नहीं, जितना शैक्षणिक था। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के पश्चात् पण्डित जी जिस साहित्यिक क्रियाशीलता मे लगने वाले थे, और जिस नई धारा के साथ अपने को संयुक्त करने वाले थे, उसके साहचर्य कुछ और ही थे। इस प्रकार का पहला साहचर्य पण्डित जी को श्री जयशंकर प्रसाद से प्राप्त हुआ जो स्वयं काशी निवासी थे। जब प्रसाद जी से पण्डित जी की पहली मुलाकात हुई थी, उन दिनो प्रसाद जी एक बड़ी दाढी रखाये हुए थे। उनके आसपास कुछ विशिष्ट प्रकार के भारी भरकम साहित्यिक तथा अन्य लोग बैठे हुए थे। पण्डित जी उस समय मुश्किल से २०-२१ वर्ष के थे। उस मडली मे वे केवल अपना नाम-धाम ही बता सके, परन्तु यह सुनते ही कि वे कानपुर के रहने वाले है, प्रसाद जी ने अपने कान्यकुब्ज प्रदेश के मूल निवासी होने का उल्लेख किया और जब पण्डित जी उस मडली से उठने को तैयार हुए, तब प्रसाद जी ने उन्हें फिर से मिलने का आग्रह किया। इसके कुछ ही दिनो पश्चात् श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' कलकत्ता से कुछ अस्वस्थ होकर उपचार के लिए काशी आए थे। निराला जी कभी प्रसाद जी के घर और कभी पण्डित जी के साथ विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहा करते थे। विश्वविद्यालय मे उन दिनो पण्डित जी के मित्र छात्रो मे श्री रामअवध द्विवेदी, श्री आनन्द मोहन वाजपेयी, श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री सोहनलाल द्विवेदी तथा अन्य अनेक नवोदित साहित्यिक रहा करते थे। निराला जी का परिचय इन सबसे हो गया और निराला जी के साथ साहित्यिक वार्तालाप करने को ये सभी पण्डित जी के कमरे मे आने लगे। उन दिनों वसंत ऋतु समाप्त होकर ग्रीष्म का आगमन हो रहा था। विश्वविद्यालय के छात्रावास की ऊपरी छत पर सब लोगों के बिस्तर लगते थे। वही निराला जी भी सोते और रात १-२ बजे तक कभी अपनी और कभी रवीन्द्रनाथ की कविताएं सुनाया करते। निराला जी को ताश खेलने का भी बडा शौक था। उन्होंने पण्डित जी को उसी समय 'ट्वेंटीनाइन' का खेल सिखाया और घंटों चार आदमी मिलकर यह खेल खेला करते थे।

दूसरी बार प्रसाद जी के यहा पण्डित जी निराला जी के साथ गये थे। उस समय पण्डित जी को प्रतीत हुआ कि निराला जी के प्रति प्रसाद जी मे अगाध अनुराग

और स्नेह भावना भरी हुई थी। प्रसाद जी ने अपनी वाटिका मे ले जाकर उन दोनो को बठाया। प्रसाद जी अपने साथ एक कापी बरावर रखा करते थे, जिसमे पिछले २-४ दिनो की रचनाये लिखी रहती थी। उनका अभ्यास था कि वे नयी रचनाये ही अपने साहित्यिक मित्रो को सुनाया करते थे। इस दिन भी उन्होने कुछ रचनायें सुनायी। फिर निराला जी कब मानने वाले थे ? उन्होने भी ' यमुना के प्रति' और 'तुम और मैं' के कुछ अश अपनी मन्द्र ओजस्विनी ध्वनि मे सुनाये। इसी समय पण्डित जी का एक निबन्ध 'सत्समालोचना' और एक अन्य निबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कविता' पर लिखा गया था, जो कुछ ही दिनो पश्चात् तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रिका 'माधुरी' मे प्रकाशित हुए थे। ये दोनो उनके आरम्भिक साहित्यिक लेख थे। 'आधुनिक हिन्दी-कविता' वाले लेख मे उन्होने 'प्रसाद', 'निराला', 'पत' आदि की रचनाओ का भी उल्लेख किया था।

यो तो निराला जी से पण्डित जी की भेट सन् १९२५ मे ही हो चुकी थी, पर लम्बे समय तक उनका साहचर्य १९२८ मे हुआ था। १९२८ के बीच निराला जी से पण्डित जी का कुछ पत्र-व्यवहार भी चला था। इन वर्षों मे पण्डित जी नयी छायावादी कविता की जो पुस्तक बाजार मे आती, उत्सुकतापूर्वक खरीद कर पढते थे। इन वर्षों मे उनके पास 'प्रसाद', 'निराला', मोहनलाल महतो 'वियोगी', लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि की कविता-पुस्तकें एकत्र हो चुकी थी।

पण्डित जी के साहित्यिक जीवन मे एक विशेष मोड लाने वाली घटना वह थी, जिसमे काशी विश्वविद्यालय मे निराला जी के भाषण की व्यवस्था की गई थी। जिस समिति के तत्वावधान मे यह भाषण हुआ था उस के अध्यक्ष थे अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'। पण्डित जी के बहुत अनुरोध करने पर भी आचार्य शुक्ल जी उस भाषण मे सम्मिलित नही हुए और थोडी देर रहकर 'हरिऔध' जी भी क्षमा मागकर चले गये। तत्पश्चात् पण्डित जी ने ही उस गोष्ठी का सचालन किया। उस गोष्ठी मे प्रसाद जी इस शर्त पर आये थे कि वे सभा के बाहर ही खडे रहेगे और न तो वे कविता पाठ करेगे, न कुछ बोलेगे। अपने भाषण के सिलसिले मे निराला जी ने अपनी स्वाभाविक वृत्ति के अनुरूप यह कहा कि जिस प्रकार कोई मिडिल क्लास का छात्र एम० ए० की पढाई को नही समझ सकता, उसी प्रकार पुराने कवि और लेखक छायावादी काव्य का अर्थ और आशय नही जान सकते। उनके इन वाक्यो ने विश्वविद्यालय के क्षेत्र मे एक भयानक हलचल मचा दी। छात्र होने के नाते पण्डित जी की स्थिति अतिशय सकटापन्न हो गई। कदाचित् उन्हे भी यह कल्पना न थी कि निराला जी अपने भाषण मे खुली चुनौती देगे। परन्तु जहाँ एक ओर इस भाषण ने पण्डित जी को तात्कालिक सकट की स्थिति मे डाल दिया था वही दूसरी ओर पण्डित जी के साहित्यिक भविष्य के लिए एक नये द्वार का उद्घाटन भी कर दिया था।

शीघ्र ही निराला जी काशी से अपने गाँव चले गये और पण्डित जी प्राय प्रति सप्ताह या १५ दिन म प्रसाद जी के घर जाने लगे। वहाँ पर साहित्यिक चर्चा भी होती और प्रसाद जी का कविता-पाठ भी होता रहता। उस समय के प्रसाद जी के साहित्यिक मित्रो मे पण्डित जी के अतिरिक्त रायकृष्णदास, कृष्णदेव-प्रसाद गौड, रामनाथ सुमन, विनोदशकर व्यास, वाचस्पति पाठक आदि थे जिन सबम पण्डित जी का परिचय उसी समय हुआ था। श्री 'उग्र' जी भी कभी कभी प्रसाद जी से मिला करते थे। श्री शिवपूजन सहाय और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी शायद एकाध वर्ष बाद प्रसाद जी के साहचर्य म आए थे। प्रेमचन्द जी स पण्डित जी की भेंट प्रसाद जी के घर पर कभी नही हुई। उनसे पण्डित जी की पहली मुलाकात सन् ३० के आसपास किसी साहित्यिक गोष्ठी या सभा मे हुई थी। स्वय प्रसाद जी कभी-कभी बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मिलने उनके निवासस्थान पर जाया करते थे, पर ऐसा वर्ष मे दो-एक बार ही होता था। इनकी अपेक्षा वे प० केशवप्रसाद मिश्र से, जो उनके अधिक आत्मीय मित्र थे, अक्सर मिला करते थे।

इस प्रकार सन्' २५ मे '३० तक काशी म विद्याध्ययन करते हुए पण्डित जी के समक्ष साहित्यिको के दो वर्ग बन चुके थे। एक को शिक्षको और आचार्यो का वर्ग कहा जा सकता है, दूसरे को रचनात्मक लेखको और कवियों का वर्ग कह सकते हैं। पण्डित जी ने इन दोनों ही वर्गो से साहचर्य प्राप्त किया और दोनों स ही लाभान्वित हुए। पण्डित जी के व्यक्तित्व म जहाँ एक ओर शास्त्रीय पक्ष की सम्पूर्ण अभिज्ञता पायी जाती है, वही दूसरी ओर स्वच्छन्द काव्य प्रतिमानो की भी गम्भीर चेतना उपलब्ध होती है। इसी अवधि मे प्राचीन और नवीन हिन्दी-काव्य मे उनकी साहित्यिक चेतना का निर्माण हुआ था। अग्रेजी साहित्य और काव्य के अनुशीलन मे उन्ह विदेशी काव्य-परम्परा और समीक्षा-शैलियो की अभिज्ञता हुई थी। सस्कृत साहित्य के प्रति पण्डित जी का झुकाव बहुत पहले से था। इसे उन्होने पैतृक परम्परा से उपलब्ध किया था। उस समय के सभी साहित्यकार हिन्दी के अतिरिक्त सस्कृत, अग्रेजी और उर्दू का ज्ञान अपेक्षित मानते थे। इनके अतिरिक्त बगला साहित्य के प्रति भी उस समय के लेखको और कवियों मे विशेष रुचि पायी जाती थी। जिस प्रकार का सगठन रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन के माध्यम स निर्मित किया था, उसमे लोकजीवन और लोकसाहित्य के तत्व भी समाहित थे। काशी की उस साहित्यिक मण्डली के विकास मे काशी विश्वविद्यालय का भी उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। बल्कि कहा जा सकता है कि काशी की परम्परा सस्कृत की भूमिका पर और भी अधिक परिपुष्ट थी। जहाँ तक लोक-जीवन और लोक-साहित्य का सम्बन्ध है, इसकी कोई विशेष चर्चा उस समय के साहित्यिकों में न थी। अकेले प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन का चित्रण उपन्यासो मे किया था।

काशी विश्वविद्यालय मे रहते हुए पण्डित जी का परिचय श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र जसे नई शैली के लेखको से भी हुआ था। जैनेन्द्रकुमार की 'वातायन' और 'परख' नामक पुस्तकें उसी समय प्रकाशित हुई थी। 'सुनीता' कुछ समय पश्चात् निकली थी। पण्डित जी ने बतलाया था कि जैनेन्द्र भी उन्ही के साथ ठहरे थे और अपनी पुस्तको पर प्रसाद जी की सम्मति लेने उन्ही के साथ प्रसाद जी के निवास-स्थान पर गये थे। प्रसाद जी ने उन्हे मौखिक रूप से तो प्रशसा और प्रोत्साहन दिया था, परन्तु लिखित रूप से कोई सम्मति नही दी थी। कदाचित् प्रसाद जी यथेष्ठ सवर्धन न प्राप्त कर जैनेन्द्र जी प्रेममन्द जी के पास गये थे, जहाँ उन्हे अपना अभीप्सित प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र, इब्सन और बर्नार्डशा की चर्चा करते हुए पण्डित जी से मिला करते थे। उन्होंने उसी समय से ही प्रसाद के नाटको के सम्बन्ध मे अपने विरोधी विचार व्यक्त करना आरम्भ कर दिया था।

सन् ३० के पश्चात् पण्डित जी 'भारत' पत्र के सम्पादन-कार्य से प्रयाग चले गये और वहाँ प्राय ३ वर्ष रहे। इस अवधि मे पण्डित जी का साहचर्य श्री सुमित्रानन्दन पत, श्री रामचन्द्र टण्डन आदि से हुआ था। परन्तु यहाँ रहते हुए उन्हें काशी का सा स्वच्छन्द साहित्यिक वातावरण प्राप्त नही हुआ। श्री पर्यासिह शर्मा और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी प्राय प्रयाग आया करते थे। श्री कृष्णकान्त मालवीय और उनके पुत्र पद्मकान्त मालवीय उन दिनो 'अभ्युदय' पत्र का सम्पादन कर रहे थे। इन सभी लोगो से पण्डित जी की मुलाकात तो हुई थी, परन्तु घनिष्ठता नही हो पायी थी। अक्सर रामचन्द्र टण्डन के यहाँ पन्त जी आया करते थे। वही उनसे भेंट होती थी। परन्तु साहित्यिक चर्चा के प्रसग कम ही आते थे। दो एक बार पत जी पण्डित जी के घर पर भी आये थे। पत जी के व्यक्तित्व और उनकी सरल प्रकृति का पण्डित जी पर बडा ही सुन्दर और मनोज्ञ प्रभाव पडा था। यद्यपि पत जी मे वह खुलापन नही था, जो काशी के साहित्यिको मे पण्डित जी ने देखा था। 'भारत' पत्र का सम्पादन करते हुए पण्डित जी ने श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' ग्रन्थ पर एक निबन्ध लिखा था जिसके पश्चात् गुप्त जी से उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इसके पश्चात् तो गुप्त जी से उनका सम्बन्ध काफी घनिष्ठ हो गया और जब पण्डित जी प्रयाग से लौटकर पुन काशी गये, तब गुप्त जी जब कभी काशी आते, पण्डित जी के घर पर अवश्य ही आते थे। गुप्त जी कहा करते थे कि मेरा तो सभी साहित्यिको के यहाँ हाजिरी देना कर्तव्य है, फिर आप जैसे ब्राह्मण साहित्यिक तो और भी पूज्य हैं। गुप्त जी का स्वभाव ही था साहित्यिको से मिलना और विनयपूर्ण शब्दावली से उन्हे प्रसन्न करना। गुप्त जी के साथ ही उनके छोटे भाई श्री सियारामशरण गुप्त भी जब कभी काशी आते, पण्डित जी की उनसे भेंट-मुलाकात होती। 'भारत' पत्र के सम्पादन-काल मे ही

पण्डित जी का आत्मीय सम्बन्ध श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से हुआ था, जो उस समय 'प्रताप (कानपुर) के सम्पादक थे। स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी के निधन पर पण्डित जी ने एक अत्यन्त भावपूर्ण लेख लिखा था। इसी निबन्ध से आकृष्ट होकर नवीन जी ने उन्हे पत्र लिखा था, तबसे इन दोनो की मैत्री दृढ हो गयी और जब कभी पण्डित जी कानपुर जाते तो नवीन जी से अवश्य मिलते।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के दर्शनार्थ पण्डित जी सन् १९३०-३१ मे ही अपने गाव से ६-७ मील दूर द्विवेदी जी के गाँव गये थे। उस समय द्विवेदी जी ने प्रस्ताव किया था कि यदि पण्डित जी चाहे, तो 'सरस्वती' पत्रिका के सयुक्त सम्पादक के रूप मे वे उनकी सिफारिश कर सकते हैं। परन्तु इस प्रस्ताव को उन्होने उस समय स्वीकार नही किया था। इसके पश्चात् कई वर्षों तक द्विवेदी जी से पण्डित जी का पत्र-व्यवहार चलता रहा था। इससे पण्डित जी के प्रति द्विवेदी जी के अकृत्रिम स्नेह का अनुमान होता है। १९३१ ३२ मे द्विवेदी जी ने एक सरकारी पाठ्य पुस्तक के सम्बन्ध मे जिसका सम्पादन डा० रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने किया था, बडा लेख लिखकर पण्डित जी के पास भेजा था। इस लेख के साथ जो पत्र भेजा गया था उसमे द्विवेदी जी ने लिखा था कि उनके लेख के छपने पर जो भयानक प्रतिक्रिया हो सकती है, उसका सामना करने को तैयार हो, तभी यह लेख 'भारत म छापें। पण्डित जी ने उस लेख को तत्काल छाप दिया। उस लेख के छपने पर वैसी ही प्रतिक्रिया हुई जैसी आशका थी। परन्तु पण्डित जी इसकी चिन्ता कब करने वाले थे ? कुछ ही समय बाद सुनने को मिला, वह पुस्तक पाठ्य क्रम से निकाल दी गयी। यद्यपि प्रयाग मे रहते हुए पण्डित जी का परिचय और मैत्री डा० रामप्रसाद त्रिपाठी से भी हो चुकी थी, परन्तु व्यक्तिगत मैत्री के ऊपर साहित्यिक और सार्वजनिक कर्तव्य की प्रेरणा पण्डित जी मे उस समय तक सुदृढ हो चुकी थी।

सन् १९३३ म आचार्य महावीरप्रसाद जी का अभिनन्दन काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया था। समारोह के अध्यक्ष महामना पडित मदनमोहन मालवीय थे। इस समारोह मे पण्डित जी का प्रथम परिचय पूज्य मालवीय जी से हुआ था, यद्यपि काशी विश्वविद्यालय मे पढते हुए वे अनेक बार मालवीय जी के दर्शन कर चुके थे। मालवीय जी के व्यक्तित्व मे अशेष करुणा और सवेदना के तत्त्व पण्डित जी को बहुत अधिक प्रभावित करने मे समर्थ हुए। उनके निजी जीवन मे विद्यार्थियो के प्रति जो अगाध स्नेह और सहानुभूति रहा करती है, उसका स्रोत मालवीय जी के व्यक्तित्व मे देखा जा सकता है।

यहाँ हम पण्डित जी के केवल साहित्यिक साहचर्य की चर्चा कर रहे हैं, इसलिए तीन वर्षों तक प्रयाग मे रहकर एक राजनीतिक पत्र का सम्पादन करते हुए

उनके जो अन्य सम्पर्क हुए, उनका उल्लेख यहाँ नही किया जा रहा है, फिर भी यह सकेत करना आवश्यक है कि 'भारत'-सम्पादन के समय श्री गणेशशकर विद्यार्थी, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश आदि राजनीतिक नेताओ से उनकी मुलाकात हुई थी और तभी से उनका परिचय भी हो गया था। प्रयाग मे रहते हुए एक बार श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू जी ने उन्हे बुलाया था और जेलखाने मे अपने परिवार के लोगो से भेट करने मे जो कठिनाइया अधिकारीगण उपस्थित करते थे, उनके सम्बन्ध मे 'भारत' पत्र मे लिखने को कहा था। इन्ही वर्षो मे पडित जी के पिता जी भी काग्रेस कार्यकर्ता की हैसियत से जेल गये थे जिसके फलस्वरूप राजेन्द्र बाबू तथा बिहार प्रदेश के अन्य नेताओ से हजारीबाग जेल में उनका परिचय-सम्पर्क हुआ था। राजेन्द्र बाबू तबसे लेकर भारतीय राष्ट्रपति के पद पर रहते हुए और अन्तिम दिनो तक पण्डित जी से स्नेह और वात्सल्य का सम्बन्ध रखते थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन महत्त्वपूर्ण सम्बन्धो को पण्डित जी ने केवल वैयक्तिक भूमि पर रखा है और वह भी उतना ही जितना उनके साहित्यिक क्रियाकलाप के अनुकूल पडा है। साहित्य से बाहर जाकर राजनीतिक सम्बन्ध-स्थापन का प्रयत्न पण्डित जी ने कभी किसी से नही किया। सन् ३४ से ४०-४१ तक पण्डित जी 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' जैसे महान् ग्रन्थो के सम्पादन मे व्यस्त रहे। इन वर्षों मे उनका अधिकाश समय प्राचीन साहित्य और दर्शन के अध्ययन मे ही बीतता रहा। विशेषकर गोरखपुर में रहते हुए उन्होने भारतीय दर्शन का विशेष अनुशीलन किया।

सन् १९४१ के पश्चात् पडित जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक नियुक्त हुए और एक बार पुन वे काशी के साहित्य-समाज मे नये सिरे से दिलचस्पी लेने लगे। इस समय तक प्रसाद, प्रेमचन्द तथा आचार्य शुक्ल आदि का देहावसान हो चुका था। काशी के नये साहित्यिको को नवीन नेतृत्व की आवश्यकता थी। प्रगतिशील लेखक-सघ के माध्यम से वह नेतृत्व पडित जी ने तत्कालीन काशी के साहित्यिको को प्रदान किया। इस नयी साहित्य मण्डली मे काशी विश्वविद्यालय के साहित्यिक रुचि रखने वाले अनेकानेक छात्र भी सम्मिलित थे। सन् १९४७ मे निराला जी की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गयी जिसका समस्त सगठन और सचालन पडित जी और उनके सहयोगियो ने ही किया था। जयन्ती के अवसर पर देश के विभिन्न भागो से कवियो और साहित्यिको का बहुत बडा जमाव हुआ था। विशेषकर एक बृहत् कवि-सम्मेलन की योजना की गयी थी, जिसमे सभी शैलियो के कविगण उपस्थित हुए थे। इस समारोह का उद्घाटन आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने किया था, तभी से पडित जी का सपर्क आचार्य नरेन्द्रदेव से हुआ जो उनके जीवनपर्यन्त बना रहा। आचार्य नरेन्द्रदेव जी के पाडित्य तथा चरित्र के प्रति पडित जी को जितनी श्रद्धा रही है, उतनी बहुत कम व्यक्तियो के प्रति है। '४७ के पश्चात्

पडित जी काशी से मध्यप्रदेश आये और सागर विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष के रूप मे नियुक्त हुए। तबसे अब तक वे इस विश्वविद्यालय के अनेकानेक पदो और समितियो मे कार्य करते रहे हैं। इन वर्षों मे श्री राहुल साकृत्यायन, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रविशकर शुक्ल, श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा अन्य अनेकानेक विद्वानो से पडित जी का घनिष्ठ सपर्क और साहचर्य स्थापित हुआ। भारतीय विश्वविद्यालयो को अनेकानेक हिंदी-पाठ्य-समितियो और कला-ससदो मे वे सदस्य और प्रतिनिधि बनकर जाते रहते हैं। उत्तर और मध्यभारत, पूर्वी तथा पश्चिमी भारत के प्राय. सभी विश्वविद्यालयो से पडित जी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और अब भी है। इन सभी विश्वविद्यालयो के अध्यक्षो और अध्यापको से पडित जी का मैत्री सम्बन्ध क्रमश घनिष्ठ होता गया है।

अभी कुछ वर्ष पहले केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि रूप मे उन्होने दक्षिण-भारत की यात्रा भी की थी और लम्बे समय तक केरल प्रदेश मे पर्यटन किया था। वहाँ हिन्दी के प्रति सद्भावना के प्रसार मे पडित जी का योग अविस्मरणीय कहा जा सकता है। अब पडित जी प्राय. समस्त देश के विभिन्न भागो की यात्रायें कर चुके हैं और सभी स्थानो पर उनके मित्रो और छात्रो की बडी सख्या पायी जाती है। नयी पीढी के लेखको मे पडित जी को प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दोनो ही धाराओ के साहित्यिको का स्नेह और सम्मान प्राप्त हैं; यद्यपि वाद की भूमिका पर पडित जी इन दोनो से असहमत रहे हैं। अपने विचारो की स्पष्टता और निर्भीकता के लिये पडित जी यत्र-तत्र बदनाम भी हैं, परन्तु जो लोग उन्हे निकट से जानते हैं उन्हे यह ज्ञात है कि उनका यह वैमत्य विशुद्ध साहित्यिक है। इसमे किसी प्रकार का वैयक्तिक सस्पर्श नही। व्यक्तिगत रूप से तो जहाँ पडित जी का सपर्क हिंदी के प्राय सभी प्रगतिशील लेखको और कवियो से है, वहाँ श्री अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती आदि प्रमुख प्रयोगवादियो से भी उनके अच्छे वैयक्तिक सम्बन्ध हैं। आधुनिक समीक्षको की तुलना मे पडित जी की विशेषता यह रही है कि वे सर्वतोभद्र या अजातशत्रु नही बनना चाहते, क्योकि ऐसा करने पर उनकी ख्याति तो बढ सकती है, परन्तु उनका साहित्यिक प्रदेय घट जायगा। साहित्य की रचना और समीक्षा २-४ दिनो की प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि पर आश्रित नही है। उनका आकलन तो भविष्य की क्रमागत पीढियाँ करती हैं। इस तथ्य पर पडित जी का विश्वास इतना गहरा है कि वे कभी साहित्यिक नेतृत्व या मैत्री-निर्वाह के लिये लेखन-कार्य नही करते। उनके साहित्यिक-लेखन के केन्द्र मे साहित्य के सार्वजनिक स्वरूप और तथ्यो का योग है। उपर्युक्त साहित्यिक साहचर्य के साथ दार्शनिक क्षेत्र के साहित्यिको से पडित जी का सम्बन्ध निरन्तर बढता गया है। उत्तर भारत मे ही नहीं, पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिण भारत मे भी पडित जी के साहित्यिक मित्रो और साथियो की अच्छी सख्या है।

अपने इन सभी मित्रों से पंडित जी वर्ष में एक-दो बार अवश्य मिल लेते हैं, कभी उनके यहाँ जाकर और कभी उन्हें अपने यहाँ बुलाकर। अपने इन मित्रों के सम्बन्ध में पंडित जी जो चर्चायें यदाकदा करते रहे हैं उनसे सूचित होता है कि उन सबके प्रति पंडित जी की आत्मीयता काफी गहरी है और किसी प्रकार की स्पर्धा का भाव उनके मन में शेष नहीं है। अपने इन मित्रों में से दो के सम्बन्ध में पंडित जी ने अपने एम० ए० के विद्यार्थियों से दो लघुप्रबन्ध भी लिखाये हैं, जिनका निर्देशन उन्होंने स्वयं किया है—इनमें से एक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और दूसरे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। मिश्र जी के गंभीर पांडित्य-साहित्यिक उद्भावना और अध्ययनशीलता के प्रति पंडित जी का विशेष सम्मान है। द्विवेदी जी के स्वतन्त्र चिंतन और उनकी विनोदभावना से पंडित जी अधिक प्रभावित हैं। डा० रामकुमार वर्मा से पंडित जी का मैत्रीभाव वर्षों पुराना है। वर्मा जी की आलंकारिक भाषा और उनकी भाषण-शैली की पंडित जी अनेक बार प्रशंसा करते हैं। डा० नगेन्द्र पंडित जी की दृष्टि में अधिक मितभाषी हैं। डा० नगेन्द्र के प्रति पंडित जी की सद्भावना सदैव बनी रहती है। डा० भगीरथ मिश्र की सटीक और नपी-तुली विवेचनाओं से पंडित जी अतिशय संतुष्ट रहते हैं। मिश्र जी की शोध-सम्बन्धी योजनायें भी पंडित जी को आकृष्ट करती हैं। श्री मोहनवल्लभ पंत जी से पंडित जी का सम्बन्ध पिछले वर्षों में बहुत घनिष्ठ हो गया है। अधिकारियों के प्रति उनकी स्पष्टभाषिता का पंडित जी के मन में बड़ा सम्मान है। राजनीतिज्ञों के प्रति पंत जी के दो टूक वक्तव्यों का आनन्द वे बराबर लिया करते हैं। कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह जी पंडित जी के प्रति बहुत ही घरेलूपन का भाव रखते हैं। उनकी साहित्यिक अभिरुचि, अध्यवसाय और विलक्षणता पर पंडित जी विशेष रूप से आकृष्ट रहते हैं। डा० दशरथ ओझा से पंडित जी का परिचय प्रसाद जी के 'विशाख' नाटक के संबंध में एक वक्तव्य को लेकर हुआ था। वक्तव्य-सम्बन्धी मतभेद तो न जाने कब दूर हो गया, डा० ओझा की विनयशीलता और व्यावहारिकता से पंडित जी उनके आत्मीय बन गये और अब तो उनका सम्बन्ध एकदम अविच्छेद्य हो गया है। डा० देवराज उपाध्याय को पंडित जी नई शैली का अच्छा समीक्षक मानते हैं, यद्यपि उनके निष्कर्षों से वे सहमत नहीं हैं। डा० देवराज के द्वन्द्वात्मक दार्शनिक वक्तव्य पंडित जी को बड़े मनोरंजक लगते हैं। डा० दीनदयालु गुप्त, डा० विनयमोहन शर्मा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डा० श्रीकृष्णलाल आदि पंडित जी के पुराने मित्रों और सहकारियों में से हैं। नये विभागाध्यक्षों में श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा, डा० भालचन्द्र तैलंग, श्री कल्याणमल लोढा और डा० कमलाकान्त पाठक से भी पंडित जी का घनिष्ठ परिचय है।

वर्तमान समीक्षकों में डा० रामविलास शर्मा की सुलझी हुई दृष्टि और उनके सजग अध्यवसाय के प्रति पण्डित जी के मन में यथेष्ट सम्मान है। स्व० श्री नलिन

विलोचन शर्मा की नई उद्भावनाओ मे पण्डित जी उनकी प्रतिभा का गम्भीर प्रत्यय पाते थे। विहार प्रदेश के लेखकों मे पण्डित जी का सबसे अधिक साहचर्य और आकर्षण श्री शिवपूजन सहाय के प्रति था। श्री 'दिनकर' के व्यक्तित्व मे पण्डित जी को राजनीति और साहित्य का मणिकाचन योग दिखाई देता है। उस दृष्टि से श्री जानकीवल्लभ शास्त्री का व्यक्तित्व उन्हे स्फटिक की भाति स्वच्छ प्रतीत होता है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की सहृदयता पण्डित जी को अतिशय प्रिय लगी है, और उनके वर्तमान स्वास्थ्य के प्रति उन्हे निरन्तर चिन्ता रहती है। मध्यप्रदेश म श्री 'अचल' जी पण्डित जी के बहुत पुराने मित्र हैं। उनके वार्तालाप से पण्डित जी को बडी प्रसन्नता का बोध होता है। डा० शिवमगल सिंह 'सुमन' पण्डित जी के मित्र और शिष्य रहे हैं जिनकी कतिपय काव्य रचनायें पण्डित जी को बहुत अच्छी लगी है। उत्तरप्रदेश मे श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री अमृतलाल नागर, यशपाल तथा श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि से पण्डित जी सुपरिचित हैं। इनका पारस्परिक सम्मिलन भी यदा कदा होता रहता है। कानपुर पण्डित जी का मुख्य निवासस्थान है। वहाँ के साहित्यिको मे श्री सनेही जी, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, डा० मुन्शीराम शर्मा, प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी प० हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश', डा० प्रेमनारायण शुक्ल, डा० प्रतापसिंह चौहान आदि से पण्डित जी का सम्बन्ध बहुत दिनो से बना हुआ है। यहाँ के नई पीढी क साहित्यिको म डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी, नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, शम्भूरत्न त्रिपाठी, उमाशकर, बाल्मीकि त्रिपाठी, उपेन्द्र, शत्रुघ्नलाल शुक्ल आदि विशेष निकट सम्पर्क म हैं। पण्डित जी की प्रेरणा तथा सुपरिचित लेखक और सम्पादक शम्भूरत्न जी त्रिपाठी के प्रयासो से ही कानपुर म केवल शोध-प्रबन्धो को प्रकाशित करने वाली दो अप्रतिम सस्थाओ 'अनुसधान प्रकाशन' और 'प्रयत्न' की स्थापना हुई है, जहाँ स पण्डित जी के निर्देशन म हुए एम० ए०, पी-एच० डी० के शोध-कार्य विशेष रूप से प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। अभी हाल मे ही पण्डित जी की अध्यक्षता मे 'हिन्दी भवन-समिति' का निर्माण हुआ है, जो कानपुर म एक विशाल हिन्दी-भवन बनाने तथा सगठित रूप मे साहित्यिक योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील है। कानपुर की साहित्यिक गतिविधियो मे श्री शम्भूरत्न जी त्रिपाठी पण्डित जी के विशेष सक्रिय सहयोगी हैं। पण्डित जी त्रिपाठी जी के समाजशास्त्रीय कृतित्व, सम्पादन-कार्य तथा साहित्यिक सगठन-क्षमता के विशेष प्रशसक हैं।

पण्डित जी के शिष्य साहित्यिकों की सख्या इतनी अधिक है कि इस छोटे से लेख मे उनकी परिगणना नही की जा सकती। वे सभी शिष्य वर्तमान साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र मे अच्छा कार्य कर रहे हैं। इस बृहत् परिवार के साथ पण्डित जी घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्धो से बँधे हुए हैं। इस बडी परिचित मण्डली के साथ पण्डित जी से अपरिचित भी अनेकानेक लेखक और साहित्यिक हैं

जिनका पण्डित जी से साक्षात्कार नही हुआ है, परन्तु जिनकी कृतियो को वे बडे चाव और मनोयोग से पढा करते है। साहित्य के क्षेत्र मे पण्डित जी परिचय और अपरिचय की विभाजक रेखा से परे है। श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु', श्री मोहन राकेश आदि नई पीढी के अनेकानेक लेखक है जिनसे व्यक्तिगत परिचय न होने पर भी पण्डित जी गम्भीर साहित्यिक परिचय रखते हैं। वे किसी भी अच्छी कृति की प्रशसा करने मे नही चूकते, चाहे वह पुराने लेखक की हो या नये लेखक की। अपने अनेक मित्रो की कृतियो की विपरीत समीक्षायें भी उन्होने लिखी है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनके व्यक्तित्व मे साहित्यिक सौन्दर्य और वैशिष्ट्य का सर्वोपरि स्थान है। विपरीत समीक्षायें कर चुकने के पश्चात् भी पण्डित जी की वैयक्तिक मैत्री घटनी नही है, वरन् वे तो यह मानते है कि जो स्पष्ट कथन से क्षीण होकर मुरझा जाय वह वास्तविक मैत्री है ही नही। इसी धारणा के अनुरूप पण्डित जी का साहित्य-समीक्षा-कार्य आरम्भ से आज तक चलता रहा है और भविष्य मे भी चलता रहेगा।

७

आचार्य वाजपेयी जी का उन्मुक्त हास्य

—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र डी० लिट्

आचार्य श्री प० नन्ददुलारे वाजपेयी का परिचय मुझे उस समय से है, जब वे विश्वविद्यालय का अपना अध्ययन समाप्त कर 'भारत' के सम्पादकीय विभाग मे काम करने लगे थे। मेरे बन्धु स्वर्गीय प० आनन्दमोहन वाजपेयी के वे अभिन्न मित्रो म से थे और उन मेरे बन्धु के द्वारा ही मुझे इनका परिचय प्राप्त हुआ था। उस समय भी मैंने देखा कि विचारो की गम्भीरता और भाषा की प्रौढता मे वे अपनी असाधारणता रखते हैं। उस समय भी मैंने देखा कि उनकी समीक्षा और उनके निर्णयो मे न तो किसी प्रकार के पक्षपात की दुरभिसधि रहती थी, न किसी प्रकार की चाटुकारिता, न किसी प्रकार की दोलाचल चित्तवृत्ति। हम लोगो ने उसी समय धारणा बना ली थी कि श्री प० नन्ददुलारे जी का भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल रहेगा और साहित्य के क्षेत्र मे वे अच्छा नाम करेंगे। आज कितनी सही उतरी है हम लोगो की वह धारणा!

मैं देख रहा हूँ कि आचार्य महोदय के वे गुण अब तक उसी प्रकार जगमगा रहे हैं। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर उन्होने भारती के भण्डार को अनेक ग्रथरत्नो से समृद्ध किया है और न केवल सूर तुलसी सरीखे अतीत के महाकवियो की रचनाओं के सम्बन्ध मे अपनी अमूल्य गवेषणाएँ अर्पित की हैं, किन्तु 'प्रसाद' और 'निराला' सदृश इस युग के महाकवियो पर भी मौलिक विवेचनात्मक प्रकाश डाला है। पौरस्त्य और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धातो के पारङ्गत पण्डित होकर उन्होने इस शास्त्र से सम्बन्धित ऐसी कृतियाँ प्रदान की हैं जिनसे टक्कर लेने वाली कृतियाँ हिन्दी मे इनी-गिनी ही पाई जा सकती हैं।

चिन्तन की विशालता, भावो की गम्भीरता और भाषा की प्राञ्जलता मे तो वे अभिनन्दनीय हैं ही, परन्तु अन्यो को उठाते हुए चलने की उनकी प्रवृत्ति भी किसी प्रकार कम अभिनन्दनीय नहीं है। अनेक विद्वान् प्राय आत्मकेन्द्रित रहा करते हैं। उन्हें देख कर कबीर का यह दोहा बरबस स्मृति-पथ पर आ जाता है कि—

ऊँचा भया तो क्या भया, जैसे ताड खजूर।
पथिकन छाया ना मिलै, फल लागै अति दूर॥

श्री वाजपेयी जी अपनी योग्यता से स्वत तो ऊँचे उठे ही परन्तु अपनी शिष्य-मण्डली को भी ऊँचा उठाने मे उन्होने शिथिलता नही दिखाई। न जाने कितने अनुसधित्सु उनके तत्वावधान मे और उनसे प्रेरणाएँ पाकर आचार्य पदवी (डाक्टरेट) प्राप्त कर चुके है तथा प्राप्त करते चले जा रहे है और अच्छे-अच्छे पदो पर आसीन होते जा रहे है। उनका प्रभाव-क्षेत्र सागर ही मे सीमित न होकर महासागर की तरह अनेक विश्वविद्यालयो तक फैला हुआ है, जहां के प्राध्यापक और छात्र उनसे उपकृत होकर अपने को धन्य मान रहे हैं। विश्वविद्यालयो से बाहर का साहित्यिक जगत् भी उन्हे बडे सम्मान की दृष्टि से देखता है और न केवल उनकी रचनाओ किन्तु अनेकानेक सस्थाओ द्वारा अर्पित की गई उनकी सेवाओ से बडी प्रसन्नता का अनुभव करता है । मित्र-मण्डली मे अपने उन्मुक्त हास्य से वे एक अद्भुत सत्रामकता बिखेरा करते है और प्रेमपूर्ण आतिथ्य के लिए तो उनके द्वार सदैव खुले ही रहते है। मुझे कई बार उनके उस उत्मुक्त हास्य का और उस आत्मीयतापूर्ण आतिथ्य का आनन्द मिल चुका है।

श्री वाजपेयी जी : एक झलक

डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एम० ए०, पी-एच० डी०

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मेरे परम आदरणीय सतीर्थ है और पिछले तीस-बत्तीस वर्षों से हम दोनो का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सम्भवत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्राचीन पुनीत परम्परा का यह परिणाम हो कि श्री वाजपेयी जी सदा मुझे अपने अनुज के रूप मे देखते आये है और मेरे प्रति उनका स्नेह नित्य नवीन एव चिर वर्धनशील है। छात्रावस्था मे ही श्री वाजपेयी जी अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण देदीप्यमान नक्षत्र की तरह चमके और उनकी रचनायें उस समय की 'माधुरी ,'सुधा की शोभा बढाती रही। छात्रावस्था मे उन्होने 'माधुरी' मे एक लेख लिखा था। सम्भवत १९२७–२८ की बात है जिसमे आधुनिक (तत्कालीन) काव्य धारा पर खूब जम कर विचार किया गया था, और यदि मैं भूलता नही तो वाजपेयी जी ने हमारे बन्धु श्री रामअवध द्विवेदी (अब डाक्टर) की कुछ पक्तियो को उद्धृत करते हुए उनके काव्य सौदर्य की भूरि-भूरि प्रशसा की थी। छात्र-जीवन मे ही अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण वाजपेयी जी हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० श्यामसुन्दरदास के निकटतम सपर्क मे आ गए और उनके 'साहित्यालोचन' का काया-कल्प कर दिया। 'साहित्यालोचन' के प्रथम सस्करण को द्वितीय सस्करण से मिला कर देखने पर हमारे कथन की सत्यता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। हिन्दी मे एम० ए० करने के बाद श्री वाजपेयीजी की प्रतिभा के प्रस्फुटन के लिए प्रयाग के दैनिक 'भारत' के सम्पादक के रूप मे विशेष अवसर मिलने लगा। सच पूछा जाय तो श्री वाजपेयी जी छायावादी कविता के प्रबल प्रचण्ड समर्थक तथा 'मसीहा' बनकर चमके। 'भारत' मे उनकी साहित्यिक टिप्पणियो के लिए पाठक लालायित रहते। उन दिनो का 'भारत' सचमुच 'भारती' था। श्री वाजपेयी जी ने निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी, मैथिलीशरण आदि पर विस्तृत लेख लिखे और सच तो यह है कि निराला, प्रसाद, पन्त को 'बृहत्त्रयी' का रूप देने मे स्वय वाजपेयी जी का बहुत बडा हाथ था। काशी मे रहते हुए उन्हे प्रसाद जी और

प्रयाग मे 'निराला', 'पन्त' का निकटतम सान्निध्य प्राप्त हुआ था। परन्तु इस सान्निध्य के कारण ही उनकी आलोचना-पद्धति मे किसी प्रकार का पक्षपात आया हो, ऐसा कोई भी विवेकशील व्यक्ति नही मानता। हाँ-अपनी आलोचनाओ मे कभी-कभी ही नही, प्राय बार-बार श्री वाजपेयी जी आचार्य शुक्ल जी पर कस कर प्रहार करते रहते थे। वे प्रहार सीधे स्वय शुक्लजी पर न होकर प्राचीन परम्परा और रूढियो पर थे, जो छायावाद या रहस्यवाद को शक की निगाहो से देखती थी। हम लोग जो शुक्ल जी के 'स्कूल' के थे, उन आक्रमणो से तिलमिला जाते थे और मैंने 'माधुरी' मे एक बार उनका प्रतिरोध करने की चेष्टा भी की थी। परन्तु वाजपेयी जी अपने रग मे थे और उन्हे मिल गया था 'भारत' का उन्मुक्त क्षेत्र।

परन्तु,श्री वाजपेयी जी की साहित्यिक प्रतिभा के लिए 'भारत' पर्याप्त न था। उनकी प्रतिभा को पूरा-पूरा मनमाना क्षेत्र मिला जब काशी नागरीप्रचारिणी-सभा से सटीक 'सूरसागर' तथा गीताप्रेस गोरखपुर से 'श्री रामचरितमानस' के सम्पादन का दायित्व उन्हे मिला। 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' की सम्पादित प्रतियाँ श्री वाजपेयी जी की अन्यतम उपलब्धियाँ हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। उन दोनो ही महार्घ ग्रन्थो के सम्पादन मे श्री वाजपेयीजी के जिस परिश्रम, लगन, अध्यवसाय, सूझबूझ और प्रभविष्णुता का परिचय मिलता है उससे हिन्दी का एक-एक व्यक्ति अपने को उपकृत, अनुगृहीत, अभिभूत अनुभव करता है। उन ग्रन्थो के सम्पादन मे ब्रज-भाषा और अवधी की प्रकृति का कितना निर्मल ज्ञान श्री वाजपेयी जी का है उसे हिन्दी ने नतमस्तक होकर स्वीकार किया। 'श्री रामचरितमानस' के सम्पादन-काल मे सयोगवश वाजपेयी जी और मैं—हम दोनो गीताप्रेस मे थे और उन दिनो का मधुरतम सान्निध्य सम्पूर्ण जीवन को सुवासित किए रखने के लिए पर्याप्त है। उन्ही दिनो मैंने अनुभव किया कि श्री वाजपेयी जी का हृदय प्रेम से लबालब भरा है और वे किसी का अनिष्ट करना तो दूर रहा, सोच भी नही सकते। जो भी उनके सम्पर्क मे आता है उसकी भलाई करते हैं, और कभी किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नही, आकाक्षा नही। श्री वाजपेयी जी का बाह्य रग जैसा देवोपम, तेजोमय, स्वर्णिम है, उनका अन्तरग भी वैसा ही देवोपम, मधुमय, रसमय, अमृतमय। हिन्दी ऐसे सुविज्ञ सेवक को पाकर धन्य हुई है, कृतार्थ हुई है।

अपने विद्या-गुरु बाबू श्यामसुन्दर दास के अनेक गुणो को श्री वाजपेयी जी ने अर्जित किया है—उनमे से मुख्य हैं सगठन की शक्ति, प्रेरणा और प्रोत्साहन देने की शक्ति, जिन-जिन क्षेत्रो मे हिन्दी का कार्य अधूरा है, उसे शीघ्र से शीघ्र सम्पन्न कर देने के लिए साधन जुटाने की शक्ति। श्री वाजपेयी जी ने समस्त भारत के शोध-क्षेत्र मे अपनी विशिष्टता का परिचय दिया और अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो मे सैकडो ऐसे छात्र होंगे जो श्री वाजपेयी जी की सत्प्रेरणा से हिन्दी मे शोध-कार्य

करने मे सलग्न है। ऐसे कई छात्रो से जब मेरी भेंट हुई तो वे भाव-मुग्ध हो श्री वाजपेयी जी से प्राप्त प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन की कृतज्ञतापूर्ण भूरि-भूरि प्रशसा कर रहे थे। साहित्य के क्षेत्र मे श्री वाजपेयी जी अतिशय 'उदार' हैं, वे किसी गुट, मत, पथ, सम्प्रदाय या वाद मे नही फँसे—और अपनी बात वे बडी निर्भयता और निर्ममता से कह जाते हैं—वहाँ किसी पर मुरौव्वत करना नही जानते—वह व्यक्ति चाहे द्विवेदी जी हो या शुक्ल जी।

यह सच है कि आचार्य श्यामसुन्दर दास की तरह श्री वाजपेयी जी ने लिखा कम लिखवाया अधिक। 'बाबू साहब' (हिन्दू विश्वविद्यालय मे हम सभी आचार्य श्यामसुन्दरदास को इसी नाम से अभिहित करते थे) की तरह वाजपेयी जी को भी अपने छात्रो की विशिष्ट प्रतिभा की अच्छी परख और पकड है और किससे क्या काम लिया जाना चाहिए वे खूब पहचानते हैं। वे अपने सहकर्मियो को भी चुपचाप बैठे रहना देना पसन्द नही करते और इसीलिए यह देखा जा रहा है कि शोध के क्षेत्र म सागर विश्वविद्यालय सभी विश्वविद्यालयो से बाजी मार ले गया है। स्वय 'डाक्टर' न होते हुए भी श्री वाजपेयी जी ने अब तक सैकडो डाक्टर पैदा कर दिये होगे। प्राय सभी विश्वविद्यालयो मे शोध-छात्रो के वे परीक्षक होते हैं।

'आलोचना' के सम्पादन मे श्री वाजपेयी जी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रतिभा का और नवनवोन्मेषशालिनी साहित्यिक प्रज्ञा का परिचय मिला। यह स्वीकार करना पडता है कि 'सूरदास' पर श्री वाजपेयी जी की पुस्तक भाव की अपेक्षा पाडित्य के बोझ से अधिक लद गयी है। मात्र उद्धरणो एव अतिशय विशेषणो के कारण पाठक का सिर दुखने लगता है और कोशिश करके भी मैं पूरी पुस्तक दो-तीन बैठको मे समाप्त न कर पाया, हालाकि आकार-प्रकार मे वह 'लघु कौमुदी' है। श्री वाजपेयी जी का सारा का सारा साहित्य मैंने पढ लिया है, ऐसा मेरा दावा नही। परन्तु जितना पढ़ा है, उससे उनकी निर्मल प्रज्ञा की अमिट छाप मेरे मन पर है।

परन्तु, एक और बात के लिए मैं वाजपेयी जी को प्यार करता हू—(श्रद्धा करते सकोच होता है, क्योकि वे मेरे सतीर्थ है और हम लोग पढाई और अवस्था मे साल-दो-साल ही आगे पीछे है) वह है उनकी लिखावट की सुन्दरता और हँसी की निश्छलता। ऐसी सुन्दर लिखावट और ऐसी मनोमोहनी मुसकान आज के युग मे विरल है, विरल!

●

आचार्य वाजपेयी की अपूर्व सहृदयता

—डा० कृष्णबिहारी मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०

●

जब गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को यह सूचना मिली कि शोध कार्य के लिए मैं सागर गया हूं, तो तुरन्त ही उन्होंने मुझे अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण पत्र लिखा— "वाजपेयी जी के सम्पर्क में पहुंच कर तुम साक्षात् विद्या के सम्पर्क में पहुंच गए हो।" मुझे लगा कि जो बात मैं कभी से अनुभव करता रहा हूं, उसे ही द्विवेदी जी ने वाणी दी है। मैं गद्गद् भाव से उनका पत्र शुरू से आखिर तक एक बार और पढ़ गया।

वाजपेयी जी से मेरा परिचय तब का है जब मैं नवीं कक्षा का विद्यार्थी था। तब मेरे लिए उनका कृतित्व बोधगम्य न था और दूर से उनका व्यक्तित्व भी दुरूह जान पड़ता था। किन्तु मन में यह धारणा बन गयी थी कि वाजपेयी जी हिन्दी के बड़े साहित्यकार हैं और इसलिए उनका परिचय करना मेरे लिए एक बड़ी उपलब्धि थी (आज भी मैं वाजपेयी जी के सम्पर्क को एक महत् उपलब्धि मानता हूं)। यदि आत्म-विश्वास के आधिक्य का नाम धृष्टता है तो तत्कालीन मेरी धृष्टता की थी कि उतनी छोटी वय में अपनी 'साहित्यिक जिज्ञासाएं' लेकर वाजपेयी जी जैसे महान् पण्डित के सामने, सारा संकोच छोड़कर, पहुंच गया था। मुझे ठीक से स्मरण है, वाजपेयी जी मुझसे घण्टों बातें करते रहे। उन्होंने मुझे अतिरिक्त महत्त्व दिया, अपने साथ के एक कामायनी का मूल्य प्रदर्शन दिखलाया। और भी कई जगह। मेरे मन में कई तरह के भाव उठ रहे थे। एक ओर तो मैं मन ही मन अप्रत्याशित आनन्द का अनुभव कर रहा था, दूसरी ओर मेरे मन में यह कल्पना होती थी कि इस महत्त्व का मैं अधिकारी हूं। थोड़ी बुद्धि आने पर मैंने महसूस किया कि यह मेरा अधिकार नहीं, मेरे पण्डित जी के स्वभाव की विशेषता थी। इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूं कि थोड़ी प्रौढ़ता आते ही मुझे अपनी स्थिति का और पण्डित जी के स्वभाव का भान हो गया। अतिरिक्त आत्म मूल्यांकन के कारण जो दुर्गति होती है

उससे मैं बच गया। मैंने देखा है, इसके चलते लोगो को साघातिक झटका लगता है और 'फ्रस्ट्रेशन' झेलना पडता है। यहाँ तक कि उसकी अतिवादी परिणति के चलते लोगो का मानसिक सन्तुलन भी नष्ट हो जाता है।

उस समय पडित जी मेरे हर पत्र का जवाब देते थे। यद्यपि जरा विलम्ब से वे उत्तर लिखते थे, लेकिन कभी उपेक्षा नही करते थे। "तुम्हारे पत्रो मे सच्चे जिज्ञासु के लक्षण दिखाई देते है।" "तुम्हारे पत्रो को मैं बडे प्रेम से पढता हू। कार्याधिक्य के कारण कभी-कभी पत्र लिखने मे विलम्ब हो जाता है, इसे उपेक्षा न समझना। आरम्भिक अवस्था मे सभी विषयो का अध्ययन आवश्यक है—आगे साहित्य रचना मे सहायक सिद्ध होगा।" इस तरह वे बराबर मुझे उत्साहित करते थे। यह मेरे ऊपर उनकी विशेष और अकारण कृपा थी।

कलकत्ता छोडकर जब मैं हिन्दू-विश्वविद्यालय के छात्र के रूप मे काशी गया तब उनसे प्राय भेंट होती थी। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य थे। प्राय हर महीने काशी आना पडता था। आने के पहले वे मुझे पत्र द्वारा सूचना भेजते, ताकि निश्चित रूप से भेंट हो सके। यदि किसी कारणवश भेंट न होती, तो सागर पहुच कर वे पत्र लिखते—"इस बार काशी मे तुमसे भेंट क्यो नही हुई, लिखना। मैं तुम्हे खोजता रहा।" मुझे सफाई देनी पडती। बाद मे वे कभी-कभी मेरे निवास स्थान पर भी आ जाते थे। एक बार अकेले मेरे निवास-स्थान पर *आ गये थे। "कहाँ उठाऊ कहाँ बैठाऊ"—मारे आनन्द के मैं क्षण भर के लिए* असमजस मे पड गया था। इसे मैं अपने प्रति उनकी विशेष कृपा समझता था; किन्तु सागर जब मैं यह गुमान लेकर पहुचा, तो सच कहू, मुझे एक झटका लगा। मेरे लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया कि पण्डित जी किसे अधिक स्नेह करते हैं। सभी छात्रो की छोटी-छोटी समस्याओ म समान रुचि लेना, उनकी कठिनाइयो के निराकरण के लिए सदैव सचेष्ट रहना वाजपेयी जी का सहज धर्म है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी के बारे मे मैंने सुना था कि वे विद्यार्थियो की बहुविध सहायता के लिए बराबर उद्यत रहते थे। आचार्य वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का भी यही वैशिष्ट्य है। अपने एक शोध छात्र पर वे एक दिन इसलिए नाराज हो गये थे, क्योकि उनसे लिये हुए रुपयो को लौटाने की वह जिद कर रहा था। "*तुम्हारे परितोष के लिए मैं अपना नियम नही तोड सकता। विद्यार्थियो को दिया हुआ रुपया मैं वापस नही लेता।*" दो सौ रुपयो की बात थी, मुझे ठीक से स्मरण है। उन छात्र महोदय ने सकुचाते हुए नोट पाकेट मे रख लिये।

पण्डित जी के यहाँ शाम को बैठक जमती है और उसमे लोग मुक्त होकर तरह-तरह की बाते करते हैं और उसमे पण्डितजी काफी रुचि लेते हैं। मुझे स्मरण आ रहा है, एक दिन बलिया का लोग मजाक उडा रहे थे। पण्डित जी भी

उसमे आनन्द ले रहे थे। एकाएक उन्हे स्मरण आया कि मैं भी बलियाका का ही हू। यह स्मरण आते ही बलिया के राष्ट्रीय और सास्कृतिक महत्व की चर्चा करने लगे— "शायद आप लोगो को पता नही कि सन् ४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन म बलिया अग्रणी था, बलिया मे एक से एक पण्डित पैदा हुए हैं। सस्कृत पण्डितो के अलावा हिन्दी के प० परशुराम चतुर्वेदी डा० हजारी प्रसाद जी, भगवतशरण उपाध्याय और प० बलदेव उपाध्याय—ये सभी बलियाके हैं। अपने कृष्णविहारी जी भी तो वही के हैं।" मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा, "क्यो, तुम भी तो बलियाके ही हो न?" मैंने कहा, "जी हा।" पण्डित जी की बात सुनकर लोग लजा गए और मैं सोचने लगा पण्डितजी को दूसरो के मनोभावका कितना ध्यान रहता है। आज के इस व्यावसायिक और व्यक्तिवादी युग मे क्या इतना ही बहुत नही है कि हम एक दूसरे के मनोभाव की कद्र करे, लेकिन इतनी भी मानवीयता कहा रह गयी है? ऊपर-ऊपर से सबमे मधुर बने बने रहना और सदैव स्वार्थ सिद्धि की चिन्ता मे डूबे रहना, आज की सबसे बडी दुनियादारी हो गयी है। इस माधुर्य-भाव की रक्षा के लिए हम औचित्य का गला घोटते भी नही हिचकते। यह सोचने ही मुझे पण्डित जी का एक वक्तव्य स्मरण हो आया—"मैं अपने तई अध्यात्मिक साचे का पक्षपाती हू। एक तो अध्यात्मिक साचा विशुद्ध भारतीय वस्तु है और परम्परा से गृहीत है, दूसरे इस साचे के अन्तर्गत मानव व्यक्तित्व का महत्व और मनुष्य-जीवन की नैतिकता एक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित है जो मुझे प्रिय है और अपेक्षित भी जान पडती है। प्रगतिवाद के नाम पर किसी प्रकार की मानसिक विकृति, छिछलेपन अथवा नैतिक भ्रष्टाचार को प्रश्रय देना मुझे नितान्त अप्रिय है।" स्वच्छन्दतावादी साहित्य के उन्नायक आचार्य की यह उक्ति बडी अर्थगर्भित है। 'बुद्धिवाद' को एक अधूरी जीवन-दृष्टि मानने वाले भारतीय विचारक का यह वक्तव्य इस बात की विज्ञप्ति देता है कि आध्यात्मिक साचे का पक्षपाती किवा आग्रही वही हो सकता है जिसके आचार और विचार मे किसी प्रकार की असगति न हो। सत्य को स्वीकारने और उसके प्रयोग के लिए चरित्र बल की आवश्यकता पडती है। कहना न होगा कि इसी सत्य और नैतिकता के आग्रह के चलते अनेक सहज प्राप्य भौतिक उपलब्धियाँ उनके हाथ से निकल गई हैं, मगर उनका चित्त सदैव इनसे अप्रभावित रहा है। उनकी सहजता कभी खण्डित नही हुई। युवाकाल मे ही जिस व्यक्ति को औचित्य-रक्षा और सत्य की प्रतिष्ठा के लिए निरन्तर लडना पडा हो, उसके स्वास्थ्य, निर्मल हसी और चित्त की सहज उदारता को देखकर अचरज होना है।

वाजपेयी जी की वैचारिक तीक्ष्णता से सम्भवत कुछ लोग उनके रूक्ष स्वभाव की कल्पना करें, किन्तु सच्चाई यह है कि वाजपेयी जी मे किसी प्रकार की रुक्षता कभी नही दिखायी पडती। विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारी और महान् साहित्यकार होने हुए भी वाजपेयी जी व्यवहार की भूमि पर इतने सहज हैं कि

उनसे मिलने-जुलने मे कभी किसी को कठिनाई नही होती। सकोची इस प्रकार कि घण्टो व्यर्थ की बातो मे उनका समय लोग नष्ट कर देते है। एकाध दिन की बात हो, तो कोई बात नही, मगर वहाँ तो रोज ही लोगबाग उनका समय बेकार की बातो मे ले लेते है। फिर भी उनके यहाँ किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का आश्रय नही लिया जाता, लोगो से मिलने-जुलने के कायदे-कानून नही बनाये जाते; समय नही निर्धारित किया जाता। इस आभिजात्य से वे जान-बूझ कर अपने को बचाते हैं। उदारता इतनी कि दूर-दूर से लोग अपना प्रयोजन लेकर पहुचते हैं। अपने विद्यार्थियो को वे केवल 'गाइडेन्स' ही नही देते, बल्कि बहुविध सहायता करते हैं, यानी पुस्तको से लेकर पैसे-रुपये और भोजन-छाजन तक। उनकी निजी लाइब्रेरी को खाली देखकर सागर के कुछ प्राध्यापको ने एक बार उन्हें सुझाव दिया था, 'पण्डित जी! पुस्तकालय को व्यवस्थित रखना बडा जरूरी है। पुस्तकें जिसको दी जाय उसका नाम नोट कर लेना, फिर उसे वापस माग लेना और यथास्थान लगा देना आपके पी० ए० का कर्तव्य होना चाहिए।' मुझे याद है, पण्डित जी ने वह सुझाव मान लिया था। लेकिन दूसरे ही दिन उनके एक विद्यार्थी पण्डित जी के यहाँ कुछ पुस्तको के लिए पहुचे। उनके पी० ए० उपस्थित नही थे। पण्डित जी ने आदेश दिया—'देख कर अल्मारी से निकाल लो जिन पुस्तको की जरूरत है।' उन्होने पुस्तकें निकाल ली। मैंने पूछा, 'पण्डित जी, कही नोट कर लूँ, ये कौन-कौन-सी पुस्तकें लिए जा रहे हैं।' 'छोडो, वह दे जायेगा, मैं जानता हू।' मैं चुप लगा गया।

'क्यों मिल गयी सब पुस्तकें? देखें कौन-कौन-सी हैं। हाँ, ठीक है ले जाओ। डिपार्टमेन्ट की लाइब्रेरी मे कुछ पुस्तकें मिल जायेंगी वहा देख लेना। और तो कोई काम नही है न?'

'जी नही।' प्रणाम करके वह विद्यार्थी चला गया।

वाजपेयी जी मे एक बौद्धिक आभिजात्य है। आभिजात्यप्रिय व्यक्ति प्राय आत्मलीन हुआ करते हैं। मेरी प्रतीति है कि आध्यात्मिक साँचे के पक्षपाती होने के कारण ही वे इस रोग से बच गये। मुझे स्मरण है, पश्चिमी भारत की यात्रा से लौटते समय भोपाल रेलवे स्टेशन पर उन्होंने अपने एक विद्यार्थी को अपना कश्मीरी शाल ओढने के लिए दे दिया था, क्योकि उसके पास कोई गरम कपडा नही था।

वाजपेयी जी के आध्यात्मिक साँचे का अभिप्राय यह है कि 'मनुष्य मात्र मे समान हृदय, समान बुद्धि और समान विवेक की सम्भावना है और इस समानता का अधिकार मनुष्य मात्र को है। यदि यह मूल धारणा साहित्यिक मे न हो, तो वह अपनी रचना को प्रस्तुत करने का उत्साह नहीं पा सकता। सार्वजनिकता साहित्यिक प्रक्रिया के मूल मे निवास करती है। साहित्यिक आध्यात्मिकता मे यही

आशय है कि उसका रचयिता अपनी रचना के समय अतिशय उदार और गम्भीर मानवीय गुणो से सम्पन्न होता है।' वाजपेयी जी के व्यक्तित्व मे ऐसी ही आध्यात्मिक सम्पन्नता है। उनका आध्यात्मिक साचा किसी सम्प्रदाय का प्रतीक नही, बल्कि शुद्ध मानवीय है। यदि ऐसा न होता तो वे 'किसानो' का राज्य चाहने वाले बुद्धिजीवियो के सामने ऐसा उपयुक्त प्रश्न न रखते कि "क्या ये प्रोफेसर और डाक्टर, मजदूर और किसान की दृष्टि से दुनिया को देखते हैं? क्या अपने वर्गगत और जातिगत सस्कारो का परित्याग कर चुके हैं? यदि नही तो कोरी विवेचना से क्या होगा ? एक नया पन्थ भले ही खुल जाये राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न हो सकेगा।" यहाँ एक दूसरा सवाल सामने आता है, 'आज का जनवादी लेखक क्या करे?" उसका जवाब आचार्य वाजपेयी जी ने बडे स्पष्ट शब्दो मे दिया हैं, "मुझे तो एक ही सीधा रास्ता दिखायी देता है। आज के जनवादी लेखक को व्यक्तिगत त्याग और कष्ट सहिष्णुता अपनानी होगी। उसे प्रेमचन्द और टाल्सटाय के मार्ग पर चलना होगा। वह किसी मार्क्सवादी नुस्खे को लेकर काम नही कर सकता। उसे अब भी चरित्र और आचरण की आवश्यकता है। महान् आदर्शों के पीछे जीवन के क्षुद्र स्वार्थों को मिटा देने की साधना करनी होगी। तब जाकर कुछ नतीजा निकलेगा। मेरे विचार से केवल आर्थिक स्वतन्त्रता की लडाई ही जनवादी लडाई नही है। हमे जनजीवन के सभी पहलुओ पर समान ध्यान देना होगा। हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव-समूह की कल्पना करते है, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नही होगा, उसे पूर्णत सास्कृतिक और नैतिक मानव भी होना चाहिए। यहाँ भी मार्क्सवादी शिक्षा और उपचार मुझे तो अधूरे दिखायी पडते हैं।" ये सुझाव हैं आध्यात्मिक साचे के पक्षपाती आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के, जिन पर मार्क्सवादी भारतीय लेखको और विचारको को नये सिरे से विचार करना आज बहुत जरुरी हो गया है।

सौम्यता तथा विद्वता की प्रतिमूर्ति आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

—डा० लक्ष्मीनारायण दुबे एम० ए०, पी-एच० डी०

●

सौम्यता, ममता तथा विद्वता की त्रिपुरी पर सस्थित है—आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का व्यक्तित्व। उनकी आकर्षक तथा सुन्दर मुख-छवि और प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व को देख कर प्राचीन भारतीय आर्यों का स्मरण हो आता है। हमारे इतिहासकारो ने आर्यों के व्यक्तित्व की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है—गौर वर्ण, लम्बी नासिका, ललित मुख भगिमा एव स्वस्थ व सुडौल शरीर—वह सब वाजपेयी जी मे सहज ही देखी जा सकती हैं। एकान्त अथवा सभा समाज मे, उनकी उपस्थिति, भव्यता और सौष्ठव की श्री वृद्धि करने वाली होती है।

हिन्दी मे, व्यक्तित्व के आधार पर, दो-चार साहित्यकारों की ही गणना की जा सकती है। 'निराला', 'नवीन' और 'पन्त' इनमे प्रमुख हैं। इसी गरिमामयी पक्ति मे आचार्य वाजपेयी जी को भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इन चारो मनीषियो के व्यक्तित्व मे अन्तर भी आंका जा सकता है। 'निराला' को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे नगाधिराज हिमालय उखडकर चल रहा हो। 'नवीन' तो थे 'वृषभ कठ केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल।' 'नवीन' जी ने स्वय अपनी भुजाओ के लिए लिखा है • 'ये मम आजानु बाहु, देखो, अकुलाए हैं।' पन्त के व्यक्तित्व मे सुकुमारता का प्राधान्य है। इन तीनो से पृथक्, वाजपेयी जी का व्यक्तित्व है जो कि ऋजुता, सरलता और सात्विकता के पुनीत त्रिवेणी-जल मे, अपने आपको समग्र निमग्न कर चुका है।

आचार्य वाजपेयी जी व्यक्तित्व तथा प्रतिभा के सर्वतोमुखी रूप हैं। वे एक साथ प्रतिष्ठित समीक्षक, श्रेष्ठ निबन्धकार, मर्मज्ञ सम्पादक, सुधी विद्वान और ख्यातिप्राप्त शिक्षाविद् हैं। उनकी विशद् साहित्य-सेवा, निष्पक्ष तथा सूझबूझ से

परिपूर्ण आलोचना, विविध विषयक निबन्ध, हिन्दी के अनेकानेक स्तरीय शोध-प्रबन्धो के अनुभवी निर्देशक और साहित्य, कला, सस्कृति एव सौन्दर्य शास्त्र के निष्णात पडित के रूप मे किये गये उनके सुकृत्यो को देखकर, यह कहने मे कोई सकोच नही होता कि वे व्यक्ति न होकर सस्था हैं।

समूचा हिन्दी-ससार आचार्य वाजपेयी जी को मूर्धन्य आलोचक के रूप मे ही मानता है, परन्तु यह तथ्य बहुत कम व्यक्तियो को ज्ञात है कि वे सुकवि और सुलझे हुए कहानीकार भी रह चुके हैं। अपने छात्र-काल, विशेष कर, एम० ए० के अध्ययन-काल मे, उनकी बहुत-सी कविताएँ और कहानियाँ उस युग की उत्तमोत्तम पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुई थी जो कि आज सचिकाओ के ढेर मे दबी पडी हुई हैं। उनके कवि-व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के लिए, यहाँ उनकी, 'विशाल भारत' के जुलाई, १९२८ के अक मे प्रकाशित 'कली' नामक कविता को उद्धृत करना अप्रासगिक नही होगा। प्रस्तुत कविता श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, बी० ए० के नाम से प्रकाशित हुई थी —

मनोरजिनी कली खिली थी
विश्व-वाटिका मे कमनीय,
रानी-सी श्रीमती छबीली
मुकुलित शुचि शोभा मे स्वीय।
खग-कुल गौरव-कथा सुनाता
विनत व्यजनरत मदिर समीर,
बाँदी बल्लरियाँ चरणो मे
सेवा की करती तदबीर।
आसमान भी छत्र तानकर
सन्तत परिचर्या मे लीन,
स्वय प्रकृति भी रही दीखती
उसकी दासी-सी श्रीहीन।
वही हाय, निरुपाय पडी अब
खाकर निठुर समय की मार,
तन-मन अर्पण कर रज-कण को
लिये मृदुल-मन का गुरु भार।

कवि के रूप मे, वाजपेयी जी का स्थान, छायावाद के अप्रधान कवियो म आता है। इस दिशा मे अन्वेषको का ध्यानाकर्षण अपेक्षित है। हिन्दी मे, छायावाद के सर्वप्रथम उन्नायक तथा अग्रणी समीक्षक आचार्य वाजपेयी जी की कविताओ मे भी, छायावाद के विषय और रचना-शैली प्राप्त होती है। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों मे जो मार्दव,

प्रसन्न प्रवाह और अस्खलित दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, उसके मूल मे भी, उनका पुरातन कवि-व्यक्तित्व ही चिर-क्रियाशील रहा है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य मे 'वृहत्त्रयी' शब्द की अपनी महिमा, परिपाटी तथा इतिहास है। इस शब्द के प्रदाता और अध्वर्य आचार्य वाजपेयी जी हैं। आधुनिक युग की 'वृहत्त्रयी'—प्रसाद, निराला और पन्त—के काव्य की समीक्षा के साथ ही, वाजपेयी जी का आलोचक, साहित्य के प्रागण मे उतरा था। हिन्दी मे इन तीनो कवियो की प्राण-प्रतिष्ठा और सच्चे मूल्याकन का श्रेय वाजपेयी जी को है। आज हिन्दी मे, इन कवियो पर सर्वाधिक ग्रन्थ और शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे है, परन्तु सम्प्रति हमे वाजपेयी जी जैसी कृतियो का अभाव ही दिखाई पडता है। १८-२० वर्ष की आयु मे लिखित उनकी आलोचना और निबन्धो ने, साहित्य मे क्रान्ति मचा दी थी।

आलोचना के क्षेत्र मे, वाजपेयी जी ने परम्परा का अधानुकरण न करते हुए, अपने सर्वथा नूतन आयामो को उपस्थित किया। इस प्रसग मे, एक-एक सस्मरण सर्वथा उल्लेखनीय एव समीचीन है। एक बार, एक शाला का उद्घाटन वाजपेयी जी कर रहे थे। ध्वनि-प्रसारक यन्त्र कुछ इस ढग का था कि उसे हाथ मे लेकर वोलना पडता था। सभा के अध्यक्ष महोदय ने उसे हाथ मे लेकर अपना प्रारम्भिक वक्तव्य दिया। इसके अनन्तर वाजपेयी जी बोले, परन्तु उन्होंने उक्त यन्त्र को हाथ मे नही लिया, अपितु उसे सामने टेबिल पर ही रहने दिया। अध्यक्ष ने उन्हे उसे हाथ मे लेकर, अपना उद्घाटन-भाषण करने को कहा और हँसकर परम्परा के निर्वाह करने की बात कही। उस समय, वाजपेयी जी ने जो मार्मिक उत्तर प्रदान किया था, वह उनके आलोचना-क्षेत्र के कार्यों के परिप्रेक्ष्य मे, सर्वथा सटीक बैठता है: "मैंने परम्परा का अनुगमन कभी नही किया।"

कहना नही होगा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य होते हुए भी, आचार्य वाजपेयी जी ने, अपने वन्दनीय गुरु के पश्चात् हिन्दी-आलोचना की दिशा मे, नवीन युग का श्रीगणेश किया और हिन्दी के चिन्तन-क्षेत्र मे, अपना पृथक् और मौलिक 'विचार-सम्प्रदाय' स्थापित किया है। आलोचक के रूप मे, उनकी यह उक्ति उनकी समीक्षा-वृत्ति की ज्वलन्त परिचायिका है कि 'शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि से उद्भावित समीक्षा, वह चाहे जिसकी लिखी हो, मुझे प्रिय है (हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी)।' आगे आने वाला युग यह तीव्र रूप से बता पायेगा कि इस क्षेत्र मे उन्होंने युग-प्रवर्तन के गम्भीर और महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निष्ठा तथा सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की आलोचनायें आज शोध-प्रबन्धकार के गले का हार हैं, परन्तु लेखक ने उन्हें अपनी बहुत कम वय

में लिखा था। इससे यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि वाजपेयी जी में जन्मजात प्रतिभा और उत्कृष्ट मेधाशक्ति रही है।

आचार्य वाजपेयी जी के साहित्यिक व्यक्तित्व में मानवता, स्पष्टोक्ति, सांस्कृतिक रुचि और व्यापकता के विद्यमान होने के भी कई कारण ढूंढ़े जा सकते हैं। इसमें उनके स्वनामधन्य गुरुओं और समसामयिक साहित्यिक मित्रों के प्रभाव तथा उनका अपना स्वाध्याय व गहन चिन्तन रहा है। इन सूत्रों के अतिरिक्त, एक प्रभाव और भी है जो कि पर्याप्त महत्वपूर्ण तथा हृदयस्पर्शी है और वह है उनके पूज्य पिता जी से प्राप्त राष्ट्रीय-सांस्कृतिक तत्व भरा संस्कार। उनके पिता जी ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रियता-पूर्वक भाग लिया था और 'तपोभूमि' की यात्रा भी की थी।

कहानीकार के रूप में, वाजपेयी जी ने सामाजिक स्थितियों को ही स्पर्श किया और उन्हें एक रसवादी विचारक के रूप में विद्यमान किया है। सम्पादक के रूप में, उनकी पत्रकार-कला, ईमानदारी, लगन तथा भाव-प्रवणता पर आधृत है। उनकी सम्पादकीय-टिप्पणियाँ और अग्रलेख अपने युग की नब्ज है। वाजपेयी जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास और लेखन-शैली के उत्तरोत्तर उन्नयन में, उनकी टिप्पणियों का महत्व असम है। अभी, इस दिशा में भी, हमारे अनुसंधायकों का ध्यान नहीं गया है।

आचार्य वाजपेयी जी ने हिन्दी-वाङ्मय को अनेक गवेषणात्मक निबन्धों के अतिरिक्त, सात ग्रन्थ प्रदान किये हैं। अभी उनके पास लगभग दस ग्रन्थों की और भी सामग्री है। उनकी कविताओं, कहानियों, सम्पादकीय टिप्पणियों तथा अग्रलेखों को संकलित कर, प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उनके शताधिक अग्रलेख 'भारत' की प्राचीन सचिकाओं की शोभा द्विगुणित कर रहे हैं। जिस प्रकार 'नवीन' जी द्वारा 'प्रताप' में काकोरी षड्यन्त्र के क्रान्तिवीरों पर लिखित 'वे' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी, पत्रकार 'नवीन' की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है, उसी प्रकार सन् १९३१ में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के आत्मोत्सर्ग पर लिखित, सम्पादक वाजपेयी जी का अग्रलेख, उनका 'मास्टर पीस' कहा जा सकता है।

आधुनिक काव्य, पौरस्त्य तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त, आधुनिक काल का इतिहास, आकाश-वाणी वार्ताएँ, विविध अभिभाषण तथा वक्तव्य, विकीर्ण स्फुट निबन्ध आदि उनसे पुस्तकाकार होने का साग्रह निवेदन कर रहे हैं। इस विचारणा के पक्ष के साथ ही, एक सरस पार्श्व और भी है जिसका उनके जीवनी तथा संस्मरणों से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। वाजपेयी जी के पास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डा० श्यामसुन्दरदास, महाकवि 'हरिऔध', 'प्रसाद', 'नवीन', 'निराला' आदि साहित्य-निर्माताओं के बहुमुखी संस्मरणों का अक्षय भण्डार है जिसे हिन्दी-संसार को उनसे प्राप्त कर लेना चाहिए। उन्हें अपने युग के श्रेष्ठ साहित्यकारों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। समसामयिक राष्ट्रीय और साहित्यिक आन्दोलनों तथा घटनाओं का उन्हें 'कागजी' ज्ञान न होकर, प्रत्यक्ष अनुभूति है। वे कबीरदास के सदृश, 'कागद की लेखी' न कहकर 'आखिन की देखी' कहते हैं। उनमें दयालुता, परदुःखकातरता, स्नेह और सर्व-जन-सुलभ होने का जो वैशिष्ट्य है; इसका सूत्र भी उनकी जीवनी के अनुशीलन से प्राप्त किया जा सकता है। उनका जीवन साहित्यिक तपस्या और संघर्ष का प्रतीक है। साहित्य-साधना ने ही उनके विचारक को स्वर्ण-सा निखार दिया है।

माँ भारती के वरद् पुत्र आचार्य वाजपेयी जी से हिन्दी-वाङ्मय को अनेक आशाएँ हैं।

●

आचार्य वाजपेयी जी का व्यक्तित्व मेरी दृष्टि में

—डा० प्रतापसिंह चौहान, एम० ए०, पी-एच० डी०

इस निबन्ध के अन्तर्गत हमे एक प्रख्यात समीक्षक के साहित्यिक व्यक्तित्व का आकलन अभीष्ट है, जो लगभग तीन दशको से हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओ का अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा तटस्थ विवेचन ही नहीं करता आ रहा, वरन् उनका मार्ग-दर्शन भी कर रहा है। वह हिन्दी का समर्थक ही नही, उसका सरक्षक भी है।

वाजपेयी जी सोलहो आने साहित्यिक व्यक्तित्व-सम्पन्न लगते हैं। जैसे उनके व्यक्तित्व मे कवि ही उभर आया हो, अपनी समस्त भावुकता और सवेदनो के साथ। उनमे समीक्षक का गाम्भीर्य कोमल, व्यक्तित्व की सीमाओ को घेरे हुए है। अनेक व्यक्तियो ने उनसे मिलकर अपनी प्रतिक्रिया को बहुत कुछ उपयुक्त शब्दावली मे मुझे बताया है। आज जब मैं उनके व्यक्तित्व के विषय मे लिखने बैठा हू, तो मैं लोगो के अनुभवो मे सत्यता का आभास पाता हू।

आचार्य वाजपेयी जी का शारीरिक आकार-प्रकार सुगठित और अतिशय कोमल है। अत्यन्त गौरवर्ण होने के कारण उनका वाह्य व्यक्तित्व सगमरमर की सुघड प्रतिमा सा लगता है। प्रशस्त भाल उनकी विशाल प्रतिभा का द्योतन करता है। तेजस्वी तथा तरल, भावपूर्ण आंखें विवेक तथा कवित्व-शक्ति की प्रतीक प्रतीत होती हैं। वस्त्रो तथा अन्य वस्तुओ के सुरुचि-पूर्ण चुनाव मे उनके समीक्षक की अपेक्षा कलाकार का रूप अधिक मूर्त दृष्टिगोचर होता है। जीवन को वे सौन्दर्य के परिवेश मे ही देखना पसन्द करते हैं। उनका सौन्दर्य के प्रति आग्रह 'ईस्थेटिक सेंस' का आतिशय्य उन्हे कलाकार तथा कवि का समानधर्मा ही अधिक सिद्ध करता है, क्योकि कलाकार और कवि मूल रूप से सौन्दर्य के शिल्पी और भाव के चितेरे होते हैं। उनके इस भव्य बाह्य-व्यक्तित्व का अनुसारी उनका उदार हृदय भी है। इतना उदार और सकोची स्वभाव कदाचित् ही किसी अन्य-साहित्यकार को मिला हो। उनके होठो पर अब भी सहज मुस्कान खेला करती है और हृदय की उदारता और भी

गहरा गयी है। किसी से उन्हें शिकायत नहीं, जैसे उनके लिए सब सहज हो, सब स्वाभाविक। उनके लिए कोई भी शत्रु नहीं, सभी मित्र हैं। यह दूसरी बात है कि कोई उन्हें अजातशत्रु न कहना चाहे, न कहे। वे अपनी ओर से किसी से न तो द्वेष मानते हैं और न वैमनस्य। यात्राओं में वे साथ हों तो योग क्षेम की चिन्ता नहीं रहेगी। यदि आप लेखक हैं तो वे बौद्धिक परामर्श से लेकर प्रत्येक प्रकार की सहायता करने के लिए तत्पर मिलेंगे। यदि आपको उनके विद्यार्थी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो उनके स्नेह की थाह नहीं और आप भी अपने को उनका आत्मज मानने लगेंगे। यदि कभी आप उनके साथ गाँव जायें तो उनके प्रति ग्रामीणों का स्नेह, सौजन्य और श्रद्धा का भाव देखकर चकित रह जायेंगे। आप सोचने के लिए बाध्य होंगे कि औद्योगिक-क्रान्ति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप जब सयुक्त परिवार-प्रणाली को भग्न होने को कौन कहे, स्वय व्यक्ति ही टूटकर विभक्त होता जा रहा है, तो इस छोटे से ग्राम मे परिवार ही नही अनेक परिवार सश्लिष्ट होकर एक इकाई जैसे बन गये हैं। वे अपने ग्राम मे अनेक सम्बन्धो से जाने जाते है, किन्तु 'भैया' शब्द उनके नाम के सम्बोधन के साथ अधिक जुड़ा हुआ मिलेगा।

उनके व्यक्तित्व के उपर्युक्त चित्रण मे कवि और कलाकार की प्रकृति का रूपायन ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। किन्तु, वे समीक्षक हैं, नीर-क्षीर का विवेचन करने वाले विश्लेषण की महती प्रतिभा उन्हें मिली है। मैंने ऊपर उन्हें प्रख्यात समीक्षक कहा है। किन्तु, ऊपर का मेरा समग्र कथन उनके समीक्षक के व्यक्तित्व से बिल्कुल मेल नहीं खाता। एक विरोधाभास-सा लगता है। तो क्या समीक्षक की केवल एक ही परिभाषा हो सकती है कि वह सरस विषयों मे नीरसता की खोज करने वाला प्राणी होता है। अथवा वह कठफोड़े के सूखे काठ को फोड़ने के समान नीरस चिन्तन से ही जूझने वाला व्यक्ति है। लेकिन वाजपेयी जी का समूचा व्यक्तित्व समीक्षक की उपर्युक्त परिभाषा का विरोधी है। उनके इस दुहरे व्यक्तित्व के सन्धिस्थल पर खड़े होकर जब मैं उनके विषय मे सोचता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि जो उन्हें होना चाहिए था, वह न होकर दूसरे बन गये है। सर्वप्रथम उनके कण्ठ मे कविता ही फूटी थी। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक पत्र के कविता विशेषाङ्क मे उनका भी परिचय कवि रूप मे प्रकाशित हुआ था। उनके कवि होने का यही प्रमाण है। किन्तु, उसके पश्चात् उनके कवि रूप मे किसी का परिचय नहीं हुआ। क्यों और किन परिस्थितियों के वशवर्ती होकर उनका कवि पद्य-रचना से विरक्त हो गया, मैं नही जानता। कदाचित् उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता। किन्तु, उनके चारों ओर का तथा मानसिक परिवेश आज भी काव्य की मधुर सुरभि से ओत-प्रोत है और उसकी सुगन्धि की गमक उनके साहित्य म भी छायी हुई है। कदाचित् इसी कारण कुछ समीक्षकों ने उन्हें सौष्ठववादी समीक्षक कहा है। सौष्ठव अथवा सौन्दर्य वस्तुत काव्य का ही प्रमुख विषय और तत्व है।

वास्तव मे यही सौष्ठव उनकी समीक्षा मे प्रकट हुआ है। इसीलिए उनकी उपपत्तियो मे मार्दव और चिन्तन का वह सन्तुलित रूप प्राप्त होता है जो पाठक के हृदय और मस्तिष्क को सन्तुष्ट करने की अमोघ शक्ति रखता है। इसी सन्तुलन के कारण उनकी समीक्षाएँ न तो शान्तिप्रिय द्विवेदी अथवा डा० रामकुमार वर्मा के समान भाव-बोझिल होती है और न आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प० कृष्णशकर शुक्ल तथा प्रगतिशील समीक्षको के समान वस्तून्मुखी तथा विचाराक्रान्त। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के समान पाण्डित्य का अतिरेक भी उनमे नही हैं और न डा० नगेन्द्र के समान मन की शल्य-क्रिया का प्रयास ही कही दृष्टिगोचर होता है। वे साहित्य को आनन्द और रस की अखण्ड धारा के रूप मे स्वीकार करते है। उनके मत से साहित्यान्तर्गत इन्ही तत्वो की प्रमुखता होनी चाहिए। दर्शन, धर्म और पाण्डित्य प्रधान रचनाओ को वे साहित्येतर कहते है। इन सारे तत्वो को वे तभी तक साहित्यान्तर्गत स्वीकार करते हैं जब तक साहित्य की आनन्दमयी धारा की एक-तानता अक्षुण्ण बनी रहे। समष्टि और अखण्ड आनन्द की स्वीकृति के कारण उन्हे अद्वैतवादी भी कहा जा सकता है। भावना और चिन्तन के गठ-बन्धन के कारण उनकी समीक्षाएँ बड़ी मार्मिक और विचारपूर्ण होती है। उनके पढने से काव्यानन्द की भी उपलब्धि होती है और सन्तुलित तथा सयमित विचारणा को भी मार्ग दर्शन प्राप्त होता है, अतएव उनके साहित्यिक कृतित्व मे रचनाकार और विचारक का रूप इस प्रकार घुला मिला मिलता है कि उसके बीच पार्थक्य-रेखा नही खीची जा सकती। यदि ऐसा करने का प्रयास किया जाय तो दोनो तत्व खण्डित हो जायँगे और कृति का प्रभाव नष्ट हो जायगा।

ऊपर के मेरे समग्र वक्तव्य मे आचार्य वाजपेयी जी के साहित्यकार का जो रूप उभरा है, उसे हम कवि, समीक्षक और निबन्धकार का समन्वित व्यक्तित्व कह सकते हैं। किन्तु, आचार्य वाजपेयी जी के व्यक्तित्व के कुछ और भी पक्ष हैं, जो उनके कवि, समीक्षक और निबन्धकार के व्यक्तित्व से कम महनीय नही है। उनके व्यक्तित्व के उन पक्षो को उनके कुशल अध्यापक, वक्ता और शोधनिर्देशक के रूप मे देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का एक सबल पक्ष और है। वे एक सफल तथा विवेकशील सम्पादक के रूप मे भी प्रतिष्ठित हुए हैं।

वे सच्चे अर्थो मे गुरु और अध्यापक हैं। वे केवल अपने विषय का तल-स्पर्शी ज्ञान ही नही रखते, वरन् वे अपने शिष्यो को उसे पूर्ण समाधान के साथ हृदयगम कराने की शक्ति भी रखते है। उनकी वाणी की सरसता और प्रकृत मधु-रिमा कठिन-से-कठिन और नीरस-से-नीरस विषय को सहज और सरल बनाने की सामर्थ्य रखती है। विद्यार्थी को उनके अध्यापन के समय यह विश्वास नही होता कि पैंतालीस मिनट का समय इतने शीघ्र कैसे व्यतीत हो गया। अध्यापक की इससे भी बडी सफलता यह है कि वह अपने विद्यार्थियो के मन पर अपने व्यक्तित्व की

अमिट छाप अंकित कर दे। वाजपेयी जी को इस दृष्टि से भी आशातीत सफलता मिली है। इसका प्रमाण उनके विद्यार्थियो के अतर्गत प्रचुर मात्रा मे देखा जा सकता है। उन्होने आचार्य जी की भाषा तथा लिपि से लेकर अभिव्यञ्जन प्रणाली तक को आत्मसात् करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए लिपि को छोडकर भाषा और विषय-प्रतिपादन-प्रणाली के नमूने सागर विश्वविद्यालय के शोध-प्रबन्धो के अतर्गत देखे जा सकते है। गुरु के सच्चे रूप का वर्णन ऊपर किया जा चुका है अर्थात् वे अपने शिष्यो के प्रति अकृत्रिम प्रेम और उदारता के लिए प्रसिद्ध हैं।

वक्ता के रूप मे भी वे अप्रतिम है। उनकी वाणी अतिशय मधुर है और वे वक्तृत्व-कला के मर्मज्ञ हैं। जब वे आवेश मे होते है तो उनके कण्ठ का प्रकृत माधुर्य ओज समन्वित होकर श्रोताओ पर विचित्र प्रभाव डालता है। उनकी वक्तृता मे विचारो की एकतानता और अन्विति होती है। भाषा-शिल्प के विषय मे तो इन पक्तियो के लेखक ने उनसे कई बार कहा है कि वे जिस भाषा का प्रयोग अपने लेखन-कार्य मे करते हैं, वही उनकी वाणी का श्रृंगार भी बनती है। विषय को स्पष्ट करने के लिये वे अनेक प्रश्नो की सर्जना करते है और फिर उनके उत्तरो मे उठायी हुई समस्याओ का समाधान करते चलते है। वे विषय की गहनता को अपने रचयिता द्वारा इस सीमा तक मधुर और मार्मिक बना देते हैं तथा विचारक द्वारा इतना स्पष्ट कर देते हैं कि फिर उसमे श्रोताओ के लिए कही भी व्याभिष्टता नही रह जाती।

आचार्य वाजपेयी के साहित्यिक व्यक्तित्व मे उनके शोध-निर्देशक का भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान है। पचास के लगभग अनुसन्धाताओ ने उनके निर्देशन मे विभिन्न विषयो मे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। निश्चय ही ये सारे शोध-कर्ता सागर-विश्वविद्यालय से ही सम्बद्ध नही थे, वरन् आगरा तथा अन्य विश्वविद्यालयो के शोधार्थियो की एक बहुत बडी सख्या भी इनमे सम्मिलित है। विषय के चुनाव तथा प्रतिपादन के सन्दर्भ मे आचार्य वाजपेयी के निर्देशन मे सम्पन्न शोध-प्रबन्धो का बहुत ऊँचा स्तर है। मेरी जानकारी मे आचार्य वाजपेयी जी हिन्दी के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति हैं, जो हिन्दी से सम्बन्धित सभी विषयो पर पूर्ण सामर्थ्य और कुशलता के साथ शोध-निर्देशन कर सकते हैं। कठिन-से कठिन विषय की सन्तुलित और प्रकृष्ट रूप-रेखा पन्द्रह मिनट से लेकर अधिक-से-अधिक आध घण्टे मे बनवाने की क्षमता भी कदाचित् ही अन्य किसी शीर्षस्थ हिन्दी के विद्वान् मे हो। उनके निर्देशन मे जो शोध कार्य एम० ए० के अन्तर्गत हुआ है, उसका स्तर अन्य विश्वविद्यालयो के कुछ पी एच० डी० के प्रबन्धो से भी अधिक ऊँचा है। उदाहरणार्थ अनुसन्धान-प्रकाशन कानपुर मे प्रकाशित कई एम० ए० के प्रबन्धो का नाम लिया जा सकता है।

इस सन्दर्भ मे आचार्य वाजपेयी का नाम और भी अधिक उल्लेखनीय इसलिए है कि उन्होने उन कवियो पर भी अनुसन्धान कार्य कराया है, जो आधुनिक हैं, *किन्तु उनकी सामग्री प्राय अप्राप्य ही नही जा सकती है। इनमे कवि-सम्राट्* सनेही जी तथा ओज और प्रेम के कवि स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा नवीन के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसमे कोई सन्देह नही कि कमरे मे मेज-कुर्सी पर बैठकर इन पर कार्य नही किया जा सकता था। सनेही जी के पास सामग्री की उपलब्धि चील के घोसले से मास प्राप्त करना जैसा प्रयास है। सनेही जी ने पर्याप्त समय तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे लिखा है किन्तु पास अन्य पत्रिकाओ की कौन कहे, 'सुकवि' की भी समग्र फाइलें नहीं मिल सकती, जिसके वे कुशल सम्पादक थे।

निश्चय ही इन शोध प्रबन्धो के माध्यम से भी आचार्य वाजपेयी ने अपने व्यक्तित्व का अभिव्यञ्जन किया है। ऐसा कहकर मुझे शोधार्थियो के व्यक्तित्व की अवमानना करना अभीप्ट नही है, उनकी कृतियो मे उनका प्रदेय है, यह स्वीकार कर लेने पर भी शोध की रूप-रेखा से लेकर विषय प्रतिपादन, भाषा शिल्प, विचार-अन्विति तथा सामग्री उपलब्धि साधन तक की प्रक्रिया मे जो आचार्य वाजपेयी का समय और प्रतिभा अनुस्यूत है, उसका मूल्य उन्हे मिलना ही चाहिए।

वाजपेयी जी अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा का प्रकाशन इन शोध ग्रथो के माध्यम से करते रहे हैं, जैसे एक से अनेक बनकर वे साहित्य की बहुमुखी सेवा करने म तत्पर हो। वास्तव मे उनके दीर्घ मौन का, अन्य कारणो से अधिक उपर्युक्त कारण ही रहा है।

उनके व्यक्तित्व के सम्पादक रूप की चर्चा ऊपर की गई है। उनके सम्पादक का रूप द्विविध रहा है। प्रथम पत्र के सम्पादक का रूप तथा द्वितीय ग्रन्थ-सम्पादक का रूप। प्रथम रूप मे वे सुप्रसिद्ध पत्र 'भारत' के यशस्वी सम्पादक रह चुके हैं। उस काल मे लिखित उनकी सम्पादकीय आलोचनाएँ तथा साहित्यिक निबन्ध विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से कितने महत्त्वपूर्ण, मौलिक और निर्भीकतापूर्ण होते थे, तत्कालीन एतद्विषयक साहित्य के सन्दर्भ मे इन्हे देखा जा सकता है। उस समय के कुछ विद्वानो ने आचार्य वाजपेयी की इन समीक्षाओ को देखकर उनसे हिन्दी म व्यावहारिक समीक्षा का प्रारम्भ माना था। कुछ समय तक वे समीक्षा की त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' के भी सम्पादक रहे हैं। उसमे भी उनके सम्पादकीय कितने प्रेरक और विद्वत्तापूर्ण रहे हैं, इसके प्रमाण की आवश्यकता नही।

ग्रन्थ-सम्पादन के रूप म उनका साहित्यिक व्यक्तित्व गीता प्रेस गोरखपुर से सम्पादित 'रामचरितमानस' और 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' से प्रकाशित 'सूरसागर' प्रथम तथा द्वितीय खण्ड म प्रकट हो चुका है। उनके सम्पादन मे उनकी कार्य-क्षमता तथा भाषा विषयक अपरिमित ज्ञान का पता चलता है। ग्रन्थ सम्पादन

म पाठ शोध का विशेष महत्त्व होता है। अनेक उपलब्ध प्रतियों को देखकर शुद्ध पाठ का निर्णय करना बिना भाषा की प्रकृति को जाने सम्भव नही है। आचार्य वाजपेयी न इन ग्रन्थों का सम्पादन करके अपने अवधी और ब्रजभाषा के प्रौढ ज्ञान का परिचय दिया है।

अस्तु, हम आचार्य वाजपेयी के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व के उपर्युक्त विवेचन से विश्वासपूर्वक कह सकते है कि उनके साहित्यिक व्यक्तित्व मे कवि और कलाकार की भावुकता, समीक्षक की सन्तुलित और पारदर्शी दृष्टि, अध्यापक और वक्ता का विवेचन और प्रतिपादन, अनुसन्धाता की मौलिक सूझ, सम्पादक की निर्भीकता, लगन और प्रतिभा इस प्रकार सम्पृक्त हो गये हैं कि इनमे से कोई एक ही उनके साहित्यिक व्यक्तित्त्व को महामहिम बनाने मे समर्थ था, फिर जब ये सारे-के सारे तत्त्व उनके व्यक्तित्व मे सघटित हो गये हैं, तो उनके साहित्यिक व्यक्तित्त्व की महानता का प्रमाण उपस्थित करना असम्भव ही कहा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से एक दूसरे निष्कर्ष पर भी पहुचा जा सकता है कि हम आचार्य वाजपेयी का व्यक्तित्व भी चौबीसो घण्टे का साहित्यिक व्यक्तित्व कह सकते हैं, क्योकि वे प्रत्येक क्षण हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए मन वाणी तथा कर्म से सतत् प्रयत्नशील बने रहते हैं।

वाजपेयी जी : घर में और बाहर

—डा० बलभद्र तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

पंडित जी का घरेलू जीवन कदाचित् उतना ही स्वस्थ है जितना उनका वाह्य जीवन। इस घरेलू जीवन को स्पष्ट करने वाली कतिपय बातें इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका आकलन किए बिना हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का सही मूल्याकन नही कर सकते। 'घर' को स्पष्ट करने वाली मुख्य बातो मे सर्वप्रथम रुचि का स्थान है। रुचि का सबध जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से है। व्यक्ति के खानपान से लेकर आवास तक का पर्यवेक्षण किया जाय तो व्यक्तित्व सम्बन्धी रूपरेखा स्पष्ट हो सकती है। आचार्य जी को जितने नजदीक से मैंने देखा है, और जितना अधिक मैं समझ पाया हू, उनकी रुचि प्रत्येक क्षेत्र मे सामान्य लोगो से भिन्न है। भोजन मे उन वस्तुओ को वे अधिक पसन्द करते हैं, जो सामान्य जीवन मे अधिक उपलब्ध हो, जिनमे शरीर को स्फूर्ति देने की शक्ति विशेष होती है। जैसे टमाटर और मूली, स्निग्ध पदार्थों मे दूध और दही आदि। सुस्वादु भोजन के सिवा फलो के प्रति भी उनकी रुझान है। अधिकाश व्यक्तियो को यह अभ्यास होता है कि वे अधिक अच्छी वस्तुयें पा जाने पर उन्हे ऐसा छक कर खाते हैं कि उनके पचन-पाचन के उपक्रम मे ही अनेक दिन व्यस्त रहते हैं। कदाचित् पिछले वर्षो मे जबसे मैं उनके साथ हू, ऐसी स्थिति कभी नही आई कि वाजपेयी जी किसी ऐसे कारण से बीमार पड़े हो। उनका स्वास्थ्य सदैव ठीक ही रहा है। अनेक अवसरो पर अनेक दावतो मे पंडित जी को एक ही दिन जाना पड़ा है, परन्तु उनका अपना मिताहार का नियम अटल है। जैसी सुन्दर सुरुचि, उनकी भोजन के सम्बन्ध मे है, वैसी ही कलात्मक जीवन व्यतीत करने मे भी है। वस्त्रो के सम्बन्ध मे उनकी रुचि ही निराली है। विशुद्ध खादी धारण करते हुए भी वे अपने आभिजात्य से मुक्त नही हैं। खादी कभी-कभी विशुद्ध रेशमी और अन्य आधुनिक प्रकारो के 'क्रीजलेस' वस्त्रो को भी मात करती है। कुर्ता धोती के साथ सलेटी या बादामी रग की सदरी उनको विशेष प्रिय है। कुर्ता चाहे रेशमी हो या सूती, पर सिलेगा कानपुर के सद्दन मास्टर के यहाँ। और यह सद्दन मास्टर

भी विचित्र कलाकार है। नवाबों के खलीफा रहे है। पडित जी के कुर्ते को ऐसा सिल देते है कि अन्य खलीफे उनकी कला से दग रह जाते हैं। पिछली बार सइन मास्टर ने पडित जी से आखिरी इल्तजा की थी—'आलीजाह, अब कुछ ही दिन का मेहमान हू। जब तक जिन्दा हू, खिदमत करने का मौका देते रहिएगा।' और पडित जी ने उस वृद्ध की बात मान ली। उसकी कला भले ही सिलने की कला हो, पर गुरु जी को भा गई। जब भी गाँव या कानपुर जाते है, उसीसे कपडे सिलवाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण उनके जीवन से भिन्न रूप से मिल जावेंगे, जिनमे उनका व्यक्तित्व अन्य साहित्यकारो से पृथक् प्रतीत होता है।

जिस भवन मे पडित जी रहते हैं उसमे उनके कमरे मे प्रमुख साहित्यकारो के चित्र अवश्य होते हैं। रवीन्द्र-रवीन्द्र, निराला, प्रसाद और प्राकृतिक दृश्यो के चित्रो के साथ साथ आनन्द (वल्लभ विद्यानगर) की मूर्तियाँ और सबके मध्य मे सरस्वती की मूर्ति कमरे की शोभा बढाती है। साहित्यिक वातावरण यहाँ भी विद्यमान रहता है। प्रात काल का भ्रमण कदाचित् पडित जी का तभी छूटता है जब वे यात्रा मे होते हैं। प्रकृति से उनका विशेष लगाव है। बहुधा उन्होने यह कहा है कि चालीस वर्ष की आयु तक व्यायाम से व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ कर सकता है, पर उसके पश्चात् प्रात साय घूमना बहुत आवश्यक है। अनेक बार मैंने शोध की समस्याओ का समाधान घूमते-घूमते ही पाया है। ग्रीष्मावकाश मे पाँच बजे मैं उनके पास पहुच जाता था। उस समय नवीन-परिक्षेत्र मे पडित जी नही आये थे। प्राचीन परिक्षेत्र से डेढ मील पर्वतीय प्रदेश तक घूमने म ही मेरी थिसिस के अनेक ऐसे अध्याया की रूपरेखा पडित जा ने तैयार करवाई थी जिसमे मैं लगभग पाँच महीने से भटक रहा था। प्रकृति के अनक सुरम्य स्थलो का अनेक बार वाजपेयी जी न पर्यटन किया है। 'राष्ट्र-भाषा की समस्याएँ' मे उनकी प्रकृति पर्यवेक्षण और निर्माणात्मक प्रतिभा के दर्शन होते है।

अनेक बार ऐसे अवसर आये है जिनमे पडित जी के उन विचारो को सुनने का अवसर मिला है जिनसे साहित्यिक भूमिका स्पष्ट करने मे सहायता मिलती है। पर इस छोटे से लेख मे उन सबको प्रस्तुत करना सम्भव न होगा। सक्षेप मे दो-एक बातो की चर्चा करके मैं 'घर' से 'बाहर' की ओर जाने का प्रयत्न करूगा। सबसे प्रमुख बात यह है कि आचार्य जी के गृह मे सबका सहज प्रवेश है। प्रत्येक नवागन्तुक से वे मुक्त होकर मिलते है। जो जिस प्रकार के सम्मान योग्य होता है, उसे वह प्राप्त होता है। प्रारम्भ मे भले ही वह किंचित् सहम कर उनके समक्ष जाये, पर एक-दो मिनट मे वह प्रकृतिस्थ हो जाता है और अपनी समस्या का उद्घाटन करने म उसे कोई हिचक नही रह पाती। यदि वह कार्य पडित जी की सहायता से सम्भव हो सकता है, तो वे भरसक उसकी सहायता करने का प्रयत्न करेंगे और

यदि वह किसी दूसरे के द्वारा सम्भव है, तो परिचित होने पर वे उस व्यक्ति से कहने का आश्वासन दे देते हैं। इसी परोपकार मे अथवा दूसरो की समस्याओ को सुलझाने म अनेक समय उन्हे 'घर' के सदस्यो की भी सुधि नही रहती है। ऐसे अनेको विद्यार्थी एम० ए० और पी-एच० डी० करके चले गए है, जिनको आर्थिक सहायता पडित जी से मिलती रही है। अब भी ऐसे छात्रो की सख्या कम नही है जो भोजन को छोडकर शेष सभी मदो मे आचार्य जी के द्रव्य पर अपना भविष्य सुधार रहे है। ऐसे उदारमना व्यक्तित्व के समक्ष जब कोई कुण्ठित व्यक्तित्व आता है तो वे उसके असत् पक्ष का भूलकर सत्पक्ष की ही प्रशसा करते है। अक्सर उनके मुख से सुना गया है कि व्यक्ति के असत् पक्ष को भूलकर उसका मूल्याकन करना चाहिए। यही कारण है कि पडित जी का प्रत्यक शिष्य यह समझता है कि आचार्य जी का वही सर्वप्रिय शिष्य है। स्वाभिमान उनका एक आभूषण है। जिसके अनेक उदाहरण प्रेमचन्द जी और उनके बीच पत्राचार मे भरे है। साहित्यिक व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि मे ऐसी रहस्यातीत बातें है जिनका अभिज्ञान व्यक्ति वाजपेयी जी के सान्निध्य म ही किया जा सकता है।

'घर' की तुलना म 'बाहर' की अभिव्यक्ति हमने उनके यात्राकालीन पक्ष से की है, जिसमे वे अधिक तटस्थ हाकर जीवन को बोझिल नही होने देते और सौम्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस सदर्भ मे उनकी अजमेर, केरल, द्वारिका, और काश्मीर यात्राओ के कुछ सस्मरण प्रस्तुत है।

विगत दशक मे आचार्य वाजपेयी जी ने सबसे अधिक यात्रायें की हैं। इन यात्राओ मे प्रत्येक का अपना महत्व है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और कलकत्ता से द्वारिका तक के स्थलो का पर्यटन मैंने गुरु जी के निजी सहायक के रूप मे किया और प्रत्येक यात्रा मे नये अनुभव और नवीन ज्ञान से ओतप्रोत हुआ हू। आचार्य जी के व्यस्त समय मे प्रत्येक का यह सौभाग्य नही होता कि वह अधिक समय लेकर अपनी समस्याओ और जिज्ञासाओ का अन्त कर ले। यात्रा के मध्य ही ऐसा उपयुक्त समय मिल जाता है जिसमे अनुसधित्सु का कल्याण होता है। वह पी-एच० डी० के कार्य मे निरन्तर प्रगति करता जाता है। यह पक्ष किसी अन्य की यात्राओ से सम्भव नही है, पर आचार्य जी को कुछ ऐसा अभ्यास है कि शोध छात्र का ही नही, वे अपना आधे से अधिक कार्य जिसम एकान्त अपेक्षित है और दैनदिन जीवन मे कठिनाई से पूर्ण हो पाता है, यात्राकाल मे पूर्ण कर लेते हैं। अनेको बार 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादकीय लेख रेल के डिब्बो मे ही लिखे गये हैं। सागर, अजमेर, दिल्ली-यात्रा की एक घटना स्मरण है, जब आचार्य जी के पास केवल ३० घण्टे थे और दूसरे दिन दिल्ली पहुच कर सम्पादकीय लिख देने की सूचना पण्डित जी दे चुके थे, परन्तु अपने व्यस्त समय मे एक बार भी उसे प्रारम्भ न कर पाये थे। जब वे लेख का श्रीगणेश करते, विश्वविद्यालय के कोई न कोई व्यक्ति

किसी न किसी समस्या सहित आ पधारते और इसी प्रकार दिन बीत जाता। निश्चिन तिथि मे अजमेर की ओर हम लोगो ने प्रस्थान किया। सागर से बीना तक १॥ घण्टे की अवधि मे पण्डित जी ने पाँच पेज तैयार करवा दिए। रात्रि को गाडी मे विश्राम किया। प्रात हम लोग आगरा फोर्ट के पास टहल रहे थे। ताजमहल की भव्य इमारत का दर्शन कर पास के रेस्तराँ मे जलपान कर सन्ध्या समय अजमेर की ओर अग्रसर हुए। वहाँ दो दिन तक बोर्ड का कार्य चलता रहा। हम पुष्कर भी गए। जिस बस मे हम बैठे थे, उसका एजिन खराब था। एक सज्जन हिन्दी तो ठीक नही जानते थे, पर अग्रेजी भी कम जानते थे। गुरु जी के पास बैठे थे, उन्हे अजमेर शीघ्र आना था, पर बस टस से मस न हो रही थी। अधिक परेशान सज्जन चारो ओर विशेष तौर से देख रहे थे। अचानक पण्डित जी से पूछ बैठे 'टाइम ह्वाट'। उनकी ध्वनि कुछ ऐसी विलक्षण थी कि हम भी न समझ पाए कि ये क्या चाहते हैं ? पण्डित जी ने मुस्कराते हुए पूछा—क्या है ? उन्होंने फिर दुहराया—'टाइम ह्वाट'। उनके इस प्रश्न का उत्तर पण्डित जी ने दे दिया, पर मेरे पूछने पर कि 'ऐसी त्रुटिपूर्ण अग्रेजी बोलने का कारण क्या है ?' पण्डित जी बोले—'अजमेर पहुचकर पूछना।' मैं उनका भाव समझ गया—किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे उसकी उपस्थिति मे विचार या सम्मति देना उचित नही है। अजमेर मे दिनकर (श्री ओंकारनाथ दिनकर) जी ने पण्डित जी से किए गए प्रश्न का उत्तर दिया कि 'यहाँ पर पण्डित जी नीम हकीमो की अनेकानेक किवदन्तिया प्रसिद्ध हैं। यहाँ तक कि उर्दू के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जाता है, वह यहा प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है।' पण्डित जी विनोद मे बोले—'वही हकीम जी वाला शेर सुनाओ क्या है ?'

दिनकर जी बोले—'हकीम जी अजमेर गये बडी बही भेज दो

मइ रुई लीन्हा हू यई रुई लीजो।

ऐसा मुन्शी ने उर्दू मे लिखा, पर नीम हकीम के द्वारा बडा अनर्थ हो गया। घर पर पढा गया—'हकीम जी आज मर गए बडी बहू भेज दो

मई रुई (रो) लीन्हा हू, यई रुई (रो) लीजो।'

बडे जोर का ठहाका लगा। अपने मित्रो के बीच जब वे हँसते हैं तो बहुत खुलकर। उस दबे और रुँधे व्यक्तित्व का दर्शन उनके साहचर्य से नही होता, जो जीवन को बोझ और यात्रा को कष्ट समझ कर चलते हैं। वे व्यापक दृष्टिकोण रख सकेंगे, इसमे सन्देह नहीं होता है। इसीलिए उस अस्पष्ट प्रश्नकर्ता पर उन्हे हँसी न आई। मैं अवश्य मुँह छिपाकर हँसता रहा था। दूसरे दिन अहमदाबाद एक्सप्रेस मे एक सज्जन ऐसे मिले जिनका कद कुल ३॥ फुट था। किसी औषधालय के हकीम भी थे और मौलाना भी। वह माला उन पर व्यग्य सा लग रही थी, क्योकि अनुमानत उसकी कुल लम्बाई ४ फुट होगी और वजन भी कम से कम ३ सेर के लगभग अवश्य था। दोनो विपरीत वस्तुएँ देखकर गुरु जी बोले—'हाथ भर लम्बे वित्तन मियां, सवा हाथ की दाढी।' दिनकर जी और अन्य साथी अधिक समय तक हँसते

रहे। ऐसी आत्मीयता अन्यत्र देखने मे दुर्लभ है। इसी यात्रा मे उन्होने अपना सम्पादकीय लेख दिल्ली तक पूर्ण कर दिया। एक्सप्रेस की तीव्र गति के बीच उनका डिक्टेशन देना और बडे-बडे अक्षरो मे लिखवाना भी करामाती प्रतीत हुआ। छोटे अक्षरो मे उस गतिमान एक्सप्रेस के अन्दर बैठकर लेख लिखना बहुत ही कठिन है। पण्डित जी ने कहा—कागज ज्यादा खर्च होगा, पर बडे-बडे अक्षरो मे तुम लिख सकोगे, और वास्तव मे मैं लिख गया। पण्डित जी अपनी यात्राओ मे भी किसी-न किसी प्रकार के लेखन परीक्षण मे व्यस्त रहते है, और यह उनके अपने अनुभव की बात है। इस तथ्य को मैं भी न जान पाता, यदि लेख लिखने का कार्य रेल मे न होता।

इसी यात्रा मे लौटते समय कदाचित् तब तक के समय का प्रथम अवसर होगा, जब फर्स्ट क्लास मे पण्डित जी का रिजर्वेशन नही हो सका था। डाक्टर कमलाकात पाठक भी सागर से दिल्ली पहुच गये थे, वे भी साथ मे लौटने वाले थे। अत द्वितीय श्रेणी के डिब्बे मे सीट घेरने का कार्य हम तीन-चार व्यक्तियो ने किया। जिस समय मैं अपना सामान द्वितीय श्रेणी के डिब्बे मे रख रहा था, एक मिलिटरी का व्यक्ति हाथ मे बन्दूक थामे उसे उठाकर नीचे पटक रहा था। उससे मैंने सामान फेंकने का कारण पूछा, तो बोला—मिलिटरी का आदमी हू, मेरी सीट रिजर्व है। जबकि किसी प्रकार की चिट उस पर नही लगी थी। मैंने ऐसा करने से रोका तो मिलिटरी के सज्जन ने न आव देखा न ताव, राइफल का सेफ्टीकैच 'आन' कर दिया। उसका मन्तव्य कुछ गलत था, यह मैं एक क्षण मे ही समझ गया। (चू कि मैं भी कुछ सैनिक शिक्षा पा चुका था), मैंने तुरन्त सेफ्टीकैच बन्द किया और राइफल छुडाकर अच्छी घुडकी दी। गाडी ने सीटी दे दी थी, अत वह नीचे उतर कर दूसरे कम्पार्टमेंट मे चला गया। मैं पण्डित जी व पाठक जी का इन्तजार कर रहा था। पर दूसरी सीटी के बजने के साथ ओझा जी के पुत्र ने मुझे सूचना दी कि मैं पण्डित जी के कम्पार्टमेंट मे चला आऊँ, वहाँ अन्य लोगो ने काफी जगह घेर ली है। मैं अपनी जगह छोडकर उन लोगो के पास चला गया। मुझे ऊपर का बर्थ मिली थी। प्रात जब पण्डित जी ने मुझे आवाज दी तो बाजू के बर्थ के सज्जन भी उठ बैठे। ये वही सज्जन थे जिनको डॉटकर मैंने लज्जित किया था। परन्तु मुझे गुरु जी के प्रति बहुत ही विनम्र देखकर उनका रात्रि का भाव जाग्रत हुआ और बोले—श्रीमान जी, कल मैंने आपको छोड दिया था, नही गोली मार देता। इस पर गुरु जी व पाठक जी आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने मुझसे पूछा। मैंने सही कारण बतला दिया, तो पण्डित जी ने उसको ऐसी डाट लगाई कि वह अधिक समय तक उस वाक्य के कहने की त्रुटि मे क्षमा-याचना करता रहा। कदाचित् मैंने अब तक पण्डित जी का वह रूप न देखा था। वह पूर्णत रौद्र रूप मे थे या उस फौज के आदमी ने भी बहुत कड़ी बात कह दी थी जो अनुचित थी। उसका उपचार

होना आवश्यक था। दूसरी महत्वपूर्ण यात्रा केरल प्रदेश की है जिसमे भारत सरकार की ओर से पण्डित जी हिन्दी-सद्भावना-यात्रा पर गये थे। इसमे वायु-यात्रा से लेकर जल-यात्रा भी सम्मिलित है।

परिवार का मुखिया जब किसी यात्रा पर जाता है तो सभी सदस्य सकुशल लौटने की मगल कामना करते हैं। केरल यात्रा के आदि और समापन मे ऐसी ही गोष्ठी विभाग के सदस्यो ने आयोजित की और प्रथम दक्षिण-यात्रा के लिए शुभाशसा प्रकट की। निश्चित तिथि मे आचार्य जी के साथ मैं भी कलकत्ता की ओर चल पडा। यह समाचार बिजली की तरह पडित जी के सभी हितैषियो, शिष्यो और परिचय वालो के पास पहुच चुका था, अत जिस ट्रेन से वे जाने वाले थे विभिन्न स्टेशनो पर लोग आकर मिलते, मगलकामना प्रकट करते और अपने निमित्त कुछ याददाश्त के लिए लाने को कहने मे न चूकते। दो दिन की यात्रा मे अनेक व्यक्तियो के निमित्त कुछ न कुछ खरीदने को उनके नाम मुझे नोट करने पडे। कदाचित् वह गुरुकुल की मर्यादा का प्रश्न भी था। गुरु जब प्रवास पर जाते है तो शिष्य उनके लौटने पर प्रसादस्वरूप कुछ पाने की भावना रखते ही है। कलकत्ता पहुचने पर विशेष स्वागत किया गया। एक तो साहित्यकार मडल की ओर से और दूसरे विभिन साहित्य-सस्थाओ की ओर से। हिन्दी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष ने विद्यार्थियो के निमित्त आधुनिक काव्य पर अपने विचार देने के लिए आग्रह किया। यह नयी बात नही थी। जहाँ भी पडित जी जाते हैं किसी भी काम से क्यो न जायें, गोष्ठी भाषण आदि से छुटकारा नही मिलता। और एक लम्बे अर्से से उनके हितैषियो और मित्रो ने आग्रह कर-करके ऐसा कुछ अभ्यास बना दिया है कि एक-दो बार थकावट रहने पर भी पडित जी ने साहित्यिक समाज को निराश नही किया है। अपने व्यस्त समय मे भी वे किसी को यो ही लौट जाने का अवसर नही देते। वही कलकत्ता मे भी हुआ। यात्रा के निमित्त कुछ आवश्यक वस्तुए खरीदनी थी। आचाय जी ने वह कार्य मुझे और कृष्णविहारी जी को सौंप दिया और किसी भवन म हम लोगो को मिलने का आदेश दे दिया।

सन्ध्या तक वे विश्राम न कर पाये। रात्रि को दस बजे दमदम हवाई अड्डे से हम लोग त्रिवेंद्रम जाने वाले थे, पर गुरुजी कही 'तुलसीदास', कही 'सूरदास' कही 'निराला', कही 'आधुनिक काव्य और समीक्षा' आदि सम्बन्धी विवादास्पद प्रश्नो पर अपने विचार दे रहे थे। ९ बजे के आसपास प्रख्यात माहेश्वरी पत्रिका द्वारा आयोजित भोज मे सम्मिलित होकर दस बजे हवाई अड्डे पर पहुचे। विभिन्न प्रकार के यात्रियो के दर्शन इस स्थल पर हुए। पडित जी को विदा देने वालो की सख्या भी अधिक थी। नियत समय पर हवाई जहाज अपने चिन्ह पर खडा हुआ। वास्तव म गुरुजी की भी यह प्रथम हवाई यात्रा थी। और मेरी तो अभूतपूर्व यात्रा। अनेक प्रकार की हवाई यात्रा की कठिनाइया और लाभ हम सुन चुके थे। मेरे मन मे अनेक

विकल्प उठ रहे थे। गुरुजी शान्त थे। उनकी सौम्य मुखमुद्रा को देखकर ऐसा प्रतीत नही होता था कि वे वायुयान की प्रथम यात्रा मे जा रहे हैं। साधारणत प्रथम अवसर मे मोटर और रेल की यात्रा मे भी व्यक्ति उसी प्रकार विकल्पो का समूह बन जाता है जैसे कि वह किसी इन्टरव्यू मे जा रहा हो अथवा परीक्षा भवन मे प्रवेश कर रहा हो। घटी बजी, नागपुर होकर जाने वाले सभी यात्री विमान मे प्रवेश करने लगे। पडितन केर पछिलगा बनकर मैं भी प्रविष्ट हुआ। बैठक पर कोई अक आदि नही थे, अत सामने की सीट पर गुरुजी के साथ बैठ गया। पर बैठते ही एक छोटी सी घटना घटी। कुर्सीनुमा सीट स्ट्रेचर बन गई थी। अनायास किसी ऐसे बटन पर हाथ पड गया कि वह आरामकुर्सी बन गई। मैंने शकित भाव से पडित जी की ओर देखा। मुस्कराकर बोले—देखो वही पर दूसरा बटन भी होगा, जो पूर्ववत स्थिति मे कुर्सी बना देगा। मैंने भूल—सुधार की विधि से कुर्सी ठीक कर ही पाई थी कि पडित जी की कुर्सी (मेरे अनायास ही बटन दबा देने से) आराम कुर्सी बन गई। पडित जी की हसी रुकी नही, बोले-अब मेरी कुर्सी ठीक करो। इस बार अडचन न आई। बार-बार कोई सज्जन केबिन से बाहर आते और पुन. प्रविष्ट हो जाते। यह भी कुछ समझ मे नही आ रहा था। सामने ५ फुट ऊपर प्लेट मे होस्टेस और प्रमुख आफीसर के नाम लिखे थे। उसके ऊपर सिगनल देने वाली पट्टी पर 'कमर पेटी बन्द कीजिए' लिखा था। पडित जी के साथ हमने भी उसका निरीक्षण किया। एक आख वाला बहुत मोटा सा आदमी तभी ट्रे मे चूसने की गोलिया और अन्य लिफाफे लेकर गुरुजी के पास आया। जो पडित जी ने उठाया, वही मैंने भी उठा लिया। लिफाफे के पदार्थ के सम्बन्ध मे हमे भी सन्देह था, पडित जी को भी। दोनो ने उसे छोड दिया; पर थी वह काम की चीज जो नागपुर पहुचने पर आवश्यक प्रतीत हुई। उन छोटे-छोटे लिफाफो मे कान मे लगाने की रुई थी। आरम्भ मे हमे यह अनुमान न था कि विमान के उतरते और चढते समय बहुत ही कर्कश और तेज आवाज होती है जो अनभ्यस्त व्यक्ति को असह्य होती है। पर आश्चर्य यह था कि विमान के कलकत्ता मे चढते समय और नागपुर मे उतरते समय कान के दर्द के सिवा किसी अन्य प्रकार की कठिनाई का अनुभव नही हुआ। गुरुजी ने नागपुर उतरते ही कहा—

> बहुत शोर सुनते थे पहलू मे दिल का
> जो चीरा तो एक कतरये खूं न निकला।

और, हम लोग हवाई होटल मे विद्यमान थे, जहाँ फिल्म भी दिखाई जा रही थी। रात्रि के २॥ बजे फिल्म देखना कितना अस्वाभाविक प्रतीत होता है; पर फिर भी कतिपय यात्री नीद के झोंको को झकझोर कर भगा रहे थे। चाय पीकर हम लोग दूसरे विमान मे बैठे और प्रात काल के सुन्दर वातावरण मे मद्रास के

करीब पहुचे । प्राची की ओर इ गित करके गुरुजी ने कहा था देखो—नील समुद्र के ऊपर रक्ताभ बादलो के बीच सूर्य कितना मनोरम दृश्य उपस्थित कर रहा है । अल्पाकार बादलो के बीच समुद्र तट से लगा हुआ सूर्य किसी स्वर्गिक छटा का आभास दे रहा था । विमान ने घटी दी, हम मद्रास के ऊपर थे । मद्रास उतरकर हम लोग दूसरे विमान मे बैठे जिसने १। बजे त्रिवेन्द्रम पहुचाया । विमान से नीचे उतरते ही एक सज्जन ने पडित जी का स्वागत किया जो न तो उनके परिचित थे और न ही आमन्त्रित । बगाली भाषा म उन्होने कुछ जानना चाहा तो गुरुजी ने भी बगाली मे ही उत्तर दे दिया । बाद मे पता चला कि वह सज्जन उन्हें बगाली समझकर कुछ जानना चाहते थे । यह स्वाभाविक सा दीखता है कि व्यक्ति यदि मानवतावादी धर्म का समर्थक है तो अन्य व्यक्ति क्यो न अपनी भावना के अनुसार उसे समझ लें । पडित जी की शरीर दृष्टि ऐसी है कि सिक्खो और दाक्षिणात्यो को छोडकर किसी भी जाति मे वे छिप जाते हैं । यात्री-निवास मे हम लोग रुके, पर यहा भी मिलने वालो से पीछा न छूटा । स्वभावत पडित जी ने सभी सस्थाओ के प्रमुखो को सतुष्ट किया । उनके द्वारा आयोजित दावतो मे भाग लिया । उस खाने को सहर्ष स्वीकार किया जिसे वे लोग श्रेष्ठ समझते थे । मुझे वह अच्छा न लगा, क्योकि अधिकाश वस्तुएँ नारियल के तेल मे बनती थी । यही कारण है कि यात्री-निवास मे उपलब्ध भोजन मुझे विशेष प्रिय था । पडित जी को दो-चार दिन बाद यह बात मालूम हो गई और फिर कभी ऐसा अवसर नही आया कि मैंने अरुचि से भोजन किया हो ।

त्रिवेन्द्रम से एक दोपहर कन्याकुमारी की प्राकृतिक दृश्यावली विशेषकर सूर्योदय देखने चला गया । पडित जी के साथ चलना कोई आसान काम नही है । कन्याकुमारी के मन्दिर से अरब सागर की ओर मैं गुरुजी के साथ लगभग डेढ मील तक चला गया । सूर्य को देखते हुए वे चले जा रहे हैं । प्रसाद जी की पक्तिया 'ओ सागर अरुण नील' उनके मुख से निकल रही हैं और हम (मैं और श्री विश्वनाथ अय्यर) उनके साथ उतना ही तेज चलने का प्रयास कर रहे हैं । सूर्य कई बार गोताखोर की भाति पानी मे उतर गया और ऊपर आ गया । 'सागर सगम अरुण नील' की कल्पना साक्षात् हो गई । प्रसाद जी ने कदाचित् पुरी के विशाल समुद्र को देखकर लिखा होगा, पर हम तो उसका साक्षात्कार कन्याकुमारी मे कर रहे थे । कितना सुहावना दृश्य था । सहसा सन्ध्या हो गई और हम लोग विश्रामगृह की ओर लौट चले । उदधि की वीचियों की भाति मेरे मन में अनेकों वीचियाँ उठ रही थी । अचानक गुरुजी ने प्रश्न किया 'क्या सोच रहे हो तिवारी?' मैंने उत्तर दिया-समुद्र की विशालता और उसके अन्तर मे व्याप्त चिर तूफान । पडित जी ने तुरन्त ही समाधान किया विशालता में यह भीषण हलचल अमूल्य रत्नो को प्रस्तुत करती है । व्यक्ति को अनेकों कठिनाइयों के बावजूद भी व्यापक दृष्टिकोण से वचित नही

होना चाहिए। यह बात मुझे उस समय तो विशेष प्रिय न लगी, क्योकि मैं भी अनेक बाधाओ से जूझ रहा था और शायद उनसे ही त्रस्त होकर व्यक्ति केन्द्रित सा होता जा रहा था, पर कुछ ही वर्ष उपरान्त जब आज मैं एक शिक्षक का कार्य करने लगा हू, तो पडित जी की बातें पग पग पर याद आने लगी। सच है, महान् व्यक्तियो की छोटी बातो मे भी अनुभव की सत्यता विद्यमान रहती है।

विश्रामगृह पहुचन पर सागर के निवास-स्थान की भाति चार पाच कुर्सिया बाहर रख दी गई। हम सभी विवेकानन्द चट्टान के सामने अधेरे मे समुद्री वायु का आनन्द ले रह थे। भोजन के उपरान्त प्रात शीघ्र उठने के विचार से हम सभी विश्राम करने लगे। प्रात सूर्योदय का मनोरम दृश्य देखा। कन्याकुमारी देवी के दर्शन करने के विचार से प्रात स्नान करने उसी चट्टान के पास वाले घाट पर गए। पडित जी आज दूसरी बार तैरे। पहल तो मैं आश्चर्यचकित सा रह गया? पर उनके पुकारते ही मैं भी सागर म उनके पीछे-पीछे चला गया। एक कुशल तैराक की भाति दस-पन्द्रह मिनट तैरकर वे वापस आ गए और हम तैर ही रहे थे। सहसा मन्दिर मे शखध्वनि जोर से होने लगी। हम सब मन्दिर के भीतरी प्रकोष्ठ मे थे। धार्मिक स्थानो मे गुरु जी पूर्ण निष्ठा से देवअर्चना करते है और पुरोहित को भरपूर दान देते हैं। धर्मनिष्ठा भी साहित्यिक के व्यक्तित्व मे किस प्रकार का महत्त्व रखती है, यह उपरिलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है, जो अपने धर्म को मान सकता है वह सबके धर्म को भी श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है, अन्य नही।

कन्याकुमारी से लौटकर विभिन्न स्थानो मे वाजपेयी जी के भाषण थे। इनमे एक स्थान 'पालय' विशेष महत्वपूर्ण है। यहाँ पर हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक श्री 'व्यथित' की कहानी बडी व्यथा की है। इन्होने जब पण्डित जी का स्वागत किया तो य यह भी भूल गए कि भाषण के समय चाय या काफी का गिलास टेबिल पर नही रखा जाता है। आवश्यकता पर गले को तर करने के लिए पानी अवश्य कही-कही रखा रहता है साथ ही, बीच-बीच म, वे गुरु जी को दुलारे जी, दुलारे जी से सम्बोधित कर रहे थे जो पण्डित जी के साथ चलने वाले प्रत्येक सदस्य को अनुचित सा प्रतीत हुआ, पर इसकी ओर किंचित ध्यान न देते हुए आचार्य जी उनसे बडी सहृदयता से मिले। उनके आग्रह पर घर भी गए। ऐसी समुद्र-सी विशालता अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे अनेको क्षण केरल यात्रा मे आये हैं, जहा किसी-न किसी रूप मे वाजपेयी जी की अप्रतिम प्रतिभा और व्यक्तित्व का दर्शन हुआ है। उन सबका उल्लेख यहाँ सभव नही है।

केरल-यात्रा के उपरान्त अन्य यात्राओ मे भी अनेक बार आचार्य जी ने अपने पैसे से विद्यार्थियो का हित किया है। उनके भोजनादि का व्यय भी अपनी

जेब से दिया है। कुल मिलाकर, पण्डित जी के व्यक्तित्व में एक अनुपमेय विशेषता है जो उनकी मानवतावादी, सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। कुण्ठाहीन उनका व्यक्तित्व सदैव सबको आकर्षित करता है। चाहे वे घर में हों अथवा बाहर, सदैव व्यक्ति कुछ पाने की इच्छा से उनके पास जाते हैं और वे ही ऐसे अवढरदानी हैं कि पास में जो कुछ देने योग्य होता है, जो खोलकर दे देते हैं। सकोच उनमें इतना है कि एकदम किसी को निषेधात्मक उत्तर नहीं दे पाते हैं और इतना ही नहीं, कभी-कभी धूर्त लोग उनकी इस सदाशयता का नाजायज लाभ भी उठाने की चेष्टा करते हैं। एक तो अवसर नहीं आता है और यदि किसी कारण से घटित भी हुआ तो वह व्यक्ति स्थायी लाभ नहीं पाता। क्षणिक और आधिभौतिक लाभ की एक घटना उस समय की है जब आचार्य जी इलाहाबाद से सागर आ रहे थे। शीतकाल था। एक दो व्यक्ति कम्पार्टमेंट में ऐसे थे जो गर्म शाल आदि कुछ न लिए थे। उस समय गाडी के सागर आने का समय बडा विचित्र था। रात्रि के २।। बजे गाडी सागर पहुचती थी, अत गुरु जी को एक-दो स्टेशन पहले से सचेत रहना पडता था। जैसे ही उन्होंने बाहर की ओर झाका, पास के बर्थ पर बैठे सज्जन ने ठड से आक्रान्त होकर पण्डित जी का करीब १००) कीमत का शाल उठा लिया और ओढ लिया। सागर आने पर उसे वापस भी न किया। सौजन्य का बदला अपहरण से दिया। अपनी प्रकृति के अनुसार वाजपेयी जी ने उससे साल नहीं मागा और स्टेशन पर उतर गए। पर तब से अब बहुत अन्तर हो गया है। निजी सहायक गुरु जी के साथ सदैव चलता है और अब ऐसी वृत्ति के व्यक्ति भी फर्स्ट क्लास में कम सफर करते हैं।

पण्डित जी के व्यक्तित्व में विद्यमान इन गुणों का निरन्तर विकास ही होता रहा है और यही कारण है कि उनकी समीक्षा में मानवतावादी भूमिका के साथ-साथ अधिक गहरी आध्यात्मिक भूमिका भी मिलती है। 'घर' और 'बाहर' को स्पष्ट करने वाली रेखाओं और रगों में मैंने कुछ का उल्लेख अपने इन संस्मरणों में किया है। इन्हीं रगों और रेखाओं से जो चित्र उभरता है, वह विशाल और अनादि चित्रकार द्वारा रचित कविता का नितान्त परिदर्शनीय है, जिसमें अद्भुत आकर्षण है, स्नेह की अविरल धारा है और है ऐसी सुषमा, जो पास और दूर से 'घर' और 'बाहर', सदैव एक सी दीप्तिमान रहती है।

●

आचार्य वाजपेयी जी : एक इण्टरव्यू

—श्री नर्मदाप्रसाद खरे

●

गोरा रग। गालो पर कश्मीरी सेव के रग की झलक। क्लीन शेव्ड—सिर्फ नाक की सीध मे ऊपर के ओठ पर मक्षिका-सदृश्य मूँछो के कुछ काले बाल। सिर के बाल न अधिक बडे, न अधिक छोटे। कानो के पास बालो मे कुछ सफेदी। पानीदार बडी-बडी आँखें। चौडा माथा। रूपसीले बादलो की भाँति श्वेत बारीक खद्दर की धोती, नीची इतनी कि सदा पृथ्वी का चुम्बन करती हुई। घर पर बहुधा कोसा या बनारसी सिल्क का ढीला कुरता। बाहर बन्द गले का लबा कोट। विचारो जैसी सुव्यवस्था पहिनावे मे भी स्पष्ट देखी जा सकती है।

आचार्य प० नन्ददुलारे जी वाजपेयी के पास दो-दो तीन-तीन घटे बैठने और साहित्य चर्चा करने का अवसर तो कई बार आया, किन्तु इस बार मुझे स्वय दो दिन के लिए उनका अतिथि बनना पडा। सागर विश्वविद्यालय शहर से लगभग पाँच मील दूर है। सागर मे रिक्शे हैं नही, इसलिए विश्वविद्यालय जाने के लिए या तो स्वय की मोटर हो अन्यथा साइकिल अथवा ताँगे द्वारा ही वहाँ पहुचा जा सकता है। ताँगे वाला तीन रुपये से कम विश्वविद्यालय जाने का नही लेता और डाक्टरो ने मुझे साइकिल पर चढना मना कर दिया है। ताँगे से बार-बार जाने-आने मे काफी खर्च पडता, इसलिए जब मैं इस बार वाजपेयी जी से मिला तो उन्होंने कहा—"आपका स्वास्थ्य ठीक नही है। आप मेरे पास ही ठहर जाइए।" कहावत प्रसिद्ध ही है कि सोने की परख कसौटी पर कसने से होती है, और मनुष्य की परख उसके साथ बसने पर। इन दो दिनो मे मुझे वाजपेयी जी को अत्यधिक निकट से देखने, समझने और पहचानने का सौभाग्य मिला।

जब कभी भी मैं वाजपेयी जी के घर पहुचा, तो उनके पास मुझे कोई न कोई बैठा मिला और मैंने उनके यहाँ किसी न किसी अतिथि को विराजमान पाया। अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी आतिथ्य-सत्कार मे वे मुझे औरो की अपेक्षा दो कदम

दिखाई दिये। शौच्य के लिए पानी रखा गया अथवा नही, से लेकर स्टेशन के लिए सवारी की व्यवस्था हुई अथवा नही, तक की सारी बातो का उन्हे सदैव ध्यान रहता है। एक बार तो उनकी धर्मपत्नी और छोटा पुत्र दोनो बीमार थे। फिर भी वाजपेयी जी के यहाँ मेहमान डटे थे और वे उनकी उसी भाँति आव-भगत कर रहे थे।

वाजपेयी जी के पास विद्यार्थी तो हिन्दी के ही आते हैं, परन्तु विश्वविद्यालय के प्राय सभी विषयो के अध्यापको, प्राध्यापको और आचार्यों का खासा जमघट उनके यहाँ रहता है। साहित्य चर्चा वार्तालाप का मुख्य विषय होता है। परन्तु अन्य प्रसगो मे भी वे मुझे साहित्य जैसा ही रस लेते दिखाई दिये। गम्भीर विचार-विनिमय के साथ-साथ व्यग-विनोद की प्रवृत्ति भी मुझे उनमे स्पष्ट दिखाई दी। विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के मेरे एक आचार्य मित्र से भेंट होने पर उन्होंने मुझसे सहज ही पूछा—"इस बार बहुत दिनो के बाद आपके दर्शन हुए।" मैं उन्हें उत्तर दूँ कि इसके पूर्व ही वाजपेयी जी तपाक से मुसकुराते हुए बोले—"खरे जी ग्रह-नक्षत्र देखकर चलते हैं—आपका यह पूछना ही व्यर्थ है।'

वाजपेयी जी को आज हिन्दी के आलोचको मे शीर्ष-स्थान प्राप्त है। उनके अब तक निम्नलिखित मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं— (१) जयशकर प्रसाद, (२) प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन, (३) महाकवि सूरदास, (४) बीसवी शताब्दी, (५) आधुनिक साहित्य, (६) नया साहित्य नये प्रश्न। सम्पादित पुस्तकें तो अनेक है। द्विवेदी-कालीन खडी बोली कविता के बाद जिस प्रकार प्रसाद, पत और निराला ने हिन्दी-काव्य-जगत् मे एक तहलका मचा कर छायावाद की प्राण प्रतिष्ठा की थी, उसी प्रकार वाजपेयी जी की आलोचनाओ ने साहित्य ससार मे उथल-पुथल मचा दी थी। 'बीसवी शताब्दी' के प्रकाशन के बाद तो वाजपेयी जी स्वय आलोचना के 'करेंट टापिक' बन गये थे।

मैंने एक दिन प्रात काल चाय पीते समय वाजपेयी जी से पूछा—"आपका साहित्यिक जीवन कैसे आरम्भ हुआ ?"

वाजपेयी जी हँसते हुए बोले—"मैंने सन् १९२९ मे काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० किया और उसके एक वर्ष बाद ही सन् १९३० मे मैं प्रयाग के दैनिक 'भारत' का सम्पादक नियुक्त हो गया। उस समय मैं केवल पच्चीस वर्ष का नवयुवक था। प्रयाग के कुछ दिग्गजदिल तथाकथित बुजुर्ग साहित्यिको को मेरी इस नियुक्ति से बडा असन्तोष एव क्षोभ हुआ था। उनमे से कुछ 'भारत' के सम्पादकीय विभाग मे कार्य करते थे। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वे लोग मेरे ही पत्र मे मुझ पर ही छिपे-छिपे आक्रमण करते थे।"

"आपके पत्र में आप पर ही आक्रमण हो, यह कैसे सम्भव है ?" मैंने यह पूछते हुए आगे कहा—"आक्रमण किस रूप में किया जाता था ?"

"दस-बारह पृष्ठ के साप्ताहिक पत्र की एक-एक पंक्ति देखना एक सम्पादक के लिए कैसे सम्भव था। 'भारत' में एक व्यंग-विनोद का भी स्तम्भ था। उस स्तम्भ में मुझ पर भी कभी-कभी व्यंग-बाणों का प्रहार किया जाता था।"

"पंडित जी, आप अपने जीवन के साहित्यिक संस्मरण क्यों नहीं लिखते ? मैं समझता हूँ कि उनका अपना अलग महत्व होगा।"

वाजपेयी जी बोले—"अभी वह समय नहीं आया है। अभी मैं ५१ वर्ष का हूँ। विश्वविद्यालय से ही रिटायर होने के लिए नौ वर्ष शेष हैं। अभी मुझे बहुत कुछ लिखना है। मेरी दृष्टि में किसी भी साहित्यिक को साहित्य-संसार से रिटायर होने के बाद ही संस्मरण लिखना चाहिए। वह समय तो आने दीजिए।"

"गत वर्ष भी तो हिन्दी-आलोचकों में आप ही आक्रमणों के केन्द्र-बिन्दु रहे हैं। आज भी आप पर यह भारी आरोप है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस प्रकार छायावादी कवियों की उपेक्षा की थी, उसी प्रकार आप भी नयी कविता के कवियों की उपेक्षा कर रहे हैं।"

वाजपेयी जी ने कहा—"जी"। और एक मिनट चुप रहने के बाद बोले—"आप ठीक कहते हैं। पिछले वर्ष मुझे लेकर बहुत कुछ लिखा गया है और अधिकांश मेरे विरोध में ही लिखा गया है। मेरे सामने तो पिछले दो सौ वर्षों का साहित्य है। उसको ध्यान में रखकर ही मैं लिखता हूँ। मैं आक्रमणों और आरोपों से घबड़ाता नहीं। हाँ, मैं आपको यह बता दूँ कि शुक्ल जी ने जिन साहित्यिक आदर्शों को सामने रखकर छायावादी काव्य का विरोध किया था, उन आदर्शों को सामने रखकर मैं नयी कविता पर विचार नहीं करता। यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कविता चाहे वह नयी हो अथवा पुरानी हो, मेरे विरोध या उपेक्षा का विषय नहीं हो सकती। काव्य मेरे लिए जीवन का एक परम प्रिय उपकरण है। नयी कविता के दुर्बल पक्षों की ओर मैं संकेत अवश्य करता हूँ, परन्तु उसका एकमात्र लक्ष्य यही है कि नये कवि राष्ट्र और साहित्य के प्रति अपनी जिम्मेवारी का अधिक गहराई से विचार करें। इसके अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई लक्ष्य नहीं।"

हम लोग चाय पीने के बाद इस प्रकार गम्भीर साहित्य-चर्चा में संलग्न हो गये थे। मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था कि चौबीस घण्टों में कम-से-कम कुछ समय तो ऐसा मिला कि जब हम एक निश्चित दिशा में गम्भीरतापूर्वक साहित्य की विवेचना कर पा रहे हैं। मन में यह आ ही रहा था कि दो साइकिलें द्वार पर

आकर रुकी । दो नवयुवकों ने प्रविष्ट होते ही वाजपेयी जी के चरण छुए और वहीं पास में बैठ गए । बस, फिर क्या था, वार्तालाप की दिशा ही बदल गयी । वे दोनों नवयुवक रिसर्च-स्कालर थे । गुरु-शिष्य संवाद छिड गया । मैं श्रोता बन कर बैठ गया ।

एक दिन दोपहर को हम लोग जब भोजन करके उठे तो मैंने कहा—"पंडित जी, आज मैं आपको आराम न करने दूँगा । मुझे आपसे कुछ पूछना है । मैं बराबर देख रहा हूँ कि एकान्त मिल ही नहीं पाता । अब इस चिलचिलाती दोपहरी मे संभवत कोई नहीं आयेगा ।"

वे बोले—"आप अपने प्रश्न मुझे लिख कर दे जाइये, मैं उनके उत्तर लिख कर भेज दूँगा ।"

मैंने हँसते हुए कहा—"पत्रों के उत्तर तो मिलते नहीं, प्रश्नों के उत्तर कैसे मिलेंगे पंडित जी ! न, आपको मेरे प्रश्नों के उत्तर तो आज ही देने पड़ेंगे । मैं दो दिन से इसीलिए धरना दिये पड़ा हुआ हूँ ।"

इस बार उन्होंने कहा—"आपने प्रश्न लिख लिए है ? लाइए, कहाँ है ?"

मैंने एक कागज का टुकड़ा जिस पर कुछ प्रश्न थे, उनके हाथ में दे दिया । वे सरसरी नजर से उन्हें पढ़ने के बाद बोले—"आपके प्रश्न तो सभी अच्छे हैं, परन्तु आज हम कुछ साहित्यिक प्रश्नों को ही लें, संस्मरण फिर कभी सुनाऊँगा ।"

मेरा पहला प्रश्न था—"आपकी अपनी आलोचना की क्या मान्यतायें हैं ?"

वाजपेयी जी—"आलोचना को मैं साहित्यिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन मानता हूँ । साहित्य मेरे लिए एक सांस्कृतिक उपादान है, इसलिए आलोचना में भी राष्ट्रीय जीवन का सांस्कृतिक बिम्ब अवश्य मिलना चाहिए, अतएव मेरी समीक्षायें केवल व्याख्यात्मक नहीं कही जा सकतीं, उनमें राष्ट्रीय संस्कृति के उपादानों का आग्रह भी मुखर है । सैद्धान्तिक आलोचना के प्रति भी मेरी रुचि रही है और मैं भारतीय समीक्षा और योरोपीय समीक्षा के विविध सिद्धान्तों के बीच में सदैव एक समन्वय या सन्तुलन का आकांक्षी रहा हूँ । आलोचना के अन्तर्गत कृति का वैशिष्ट्य, उसकी सबलता अथवा दुर्बलता दोनों ही उद्‌भावित होने चाहिए । इस कारण मैं आलोचना में केवल विषय को प्रस्तुत कर देने की पद्धति को महत्व नहीं देता । आलोचक का व्यक्तित्व और उसकी अन्तर्दृष्टि उसकी कृति में परिलक्षित होनी ही चाहिए ।"

"आप अपनी अब तक की प्रकाशित कृतियों में किसे सर्वश्रेष्ठ समझते हैं और क्यों ?"

"मेरी कृतिया अधिकतर स्वतन्त्र निबन्धो के रूप मे लिखी गयी हैं। जब निबन्धो की एक निश्चित सख्या हो जाती है, तब उन्हे इस प्रकार सज्जित कर दिया जाता है कि उनमे एक व्यवस्था आ जाय और उन्हे एक पुस्तक का रूप मिल जाय। एक प्रकार से मुझे हिन्दी का 'मुक्तक' आलोचक कहा जा सकता है। 'प्रबन्ध-काव्य' अभी मैंने आरम्भ नही किया। केवल जयशकर प्रसाद, प्रेमचन्द और सूरदास पर मेरी स्वतन्त्र पुस्तकें है, जिनम एक समग्र विवेचन करने का उपक्रम किया गया है। परन्तु इनमे भी 'जयशकर प्रसाद' पुस्तक के निबन्ध अलग-अलग समयो मे लिखे गये थे। 'महाकवि सूरदास' पुस्तक का भी एक साथ निर्माण नही हुआ, केवल प्रेमचन्द पर लिखी गयी पुस्तक समग्र रूप मे रची गयी है। परन्तु उसे मैं किसी गम्भीर विवेचन की पुस्तक नहा मानता। सच पूछिए तो २०० पृष्ठो की वह पुस्तक दस रात्रियो मे तीन-तीन चार चार घटे बैठकर लिखा दी गयी है। मैं बराबर अनुभव करता हू कि बोलकर लिखायी गयी पुस्तक मे न तो शैली की एकरूपता आ पाती है और न विषय-वस्तु की गम्भीर व्याख्या हो पाती है।

"इसलिए आपके इस प्रश्न के उत्तर मे मै अपने कुछ निबन्धो का ही उल्लेख कर सकता हू, जो मुझे प्रिय रहे है। इन निबन्धो के भी दो प्रकार है, एक तो 'बीसवी शताब्दी' के वे निबन्ध जिनमे अधिकाश विवेचना एक नवयुवक की है। यह समस्त लेखन मेरी ही अपनी स्फूर्ति का परिणाम है। इन्हे लिखते हुए मैं जैसे नई भूमि का उद्घाटन कर रहा था, इसलिए स्वभावत उनके प्रति मेरी विशेष रुचि और आस्था रही है। इनमे भी प्रसाद, निराला और पन्त पर लिखे गये निबन्ध अतिशय मौलिक होने के कारण मुझे सबसे अधिक प्रिय है। मेरे कई मित्र और विद्यार्थी भी 'बीसवी शताब्दी' को मेरी अद्वितीय रचना मानते हैं। उनका कहना है कि इस पुस्तक मे आपकी शैली अधिक प्रवेगपूर्ण और स्वच्छन्द है, मानो आप अपने दिल की बात कह रहे है। परवर्ती पुस्तको मे इतना हार्दिक उन्मेष नही मिलता, बल्कि एक सयम और विपक्षियो की सख्या न बढाने की वृत्ति अधिक दिखाई देती है। इनमे आपने पूरी हार्दिकता का समावेश नही किया है। अपने मित्रो और विद्यार्थियो की इस बात को मैं आशिक रूप मे ही स्वीकार करता हू। समीक्षा का कार्य कोरी उद्भावना या उमग का कार्य नही है। इसमे विवेचन, विश्लेषण और चिन्तन की भी आवश्यकता पडती है। ये पिछले तत्व मेरी पहिली कृति मे उतनी स्पष्टता और व्यापकता के साथ नही आ सके हैं। परवर्ती कृतियो मे मैंने अधिक तटस्थ और वस्तून्मुखी रहने का प्रयत्न किया है। निश्चय ही वय की गति के साथ मेरे अध्ययन और साहित्यिक प्रत्यय में वृद्धि हुई होगी, इसलिए पिछली कृतियो मे ये गुण अधिक मात्रा मे आये होंगे। इन पिछली कृतियो मे 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य नये प्रश्न' के कुछ निबन्ध मुझे औरो की अपेक्षा अधिक प्रिय हैं। 'भारतीय साहित्य-शास्त्र का नव निर्माण' शीर्षक निबन्ध मेरे निजी चिन्तन का

...... होने के कारण मुझे प्रिय है। अपनी इन दोनों पुस्तकों की भूमिकाओं में मैंने कई वर्षों के साहित्यिक विकास को एक निबन्ध में समेटने की चेष्टा की है। इन दोनों निबन्धों में विषय के सार को संक्षेप में रखने की विशेषता मुझको पसन्द आयी है। इसी प्रकार का एक निबन्ध 'पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की प्रगति' भी है, जिसमें विशाल सामग्री को थोड़े में प्रस्तुत करने की विशेषता देखी जा सकती है।"

"क्या आलोचक का साहित्यकार—कवि, कथाकार या नाटककार—होना आवश्यक है? *ललित साहित्य की रचना के बिना कोई भी आलोचक साहित्यिक* कृतियों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता, ऐसी मेरी अपनी धारणा है। इस सम्बन्ध में आपका क्या कहना है?"

"आपका यह प्रश्न कुछ अधिक वैयक्तिक जान पड़ता है। कदाचित् आपका ख्याल हो कि मैंने रचनात्मक साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखा। आरम्भ तो मैंने काव्य-लेखन से ही किया था। फिर कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं। परन्तु क्रमशः अपनी अभिरुचि समीक्षा की ओर ही मोड़ ली है। मेरी समीक्षाओं में भी रचनात्मक प्रक्रिया के कुछ रूप देखे जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, मेरी कोई भी समीक्षा कोरी इतिवृत्तात्मक नहीं कही जा सकती। इतिवृत्तात्मकता के अतिरिक्त जो कुछ तत्व मेरी आलोचना में हैं, उन्हें मैं रचना का उपादान मानता हूं। यह आवश्यक नहीं कि कहानी, कविता या नाटक लिखने पर ही कोई लेखक रचनात्मक योग्यता का प्रतिनिधि माना जावे। मेरी अपनी धारणा यह है कि बिना रचनात्मक शक्ति के साहित्यिक आलोचना का आविर्भाव नहीं होता।

"एक और भी कारण है जिसने मुझे समीक्षा के क्षेत्र में ही बांध रखा है। मेरा अधिकांश समय अध्ययन और अध्यापन में ही बीता है। रचना के क्षेत्र में जिस प्रकार की मौलिक वस्तु को मैं महत्व देता हूं, उसे मैं अपनी वर्तमान स्थिति में लिखने का साहस नहीं कर सकता। अध्ययन की निरन्तरता के कारण जीवन की अपेक्षा मैं साहित्यिक परम्परा के अधिक समीप चला गया हूं, इसलिए अपने इस अध्ययन और चिन्तन का उपयोग समीक्षात्मक कृतियों में ही करता हूं। रचनात्मक कृति प्रस्तुत करने के लिए अधिक अवकाश की आवश्यकता भी है।"

"मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद में आप किसे श्रेष्ठ मानते हैं?"

वाजपेयी जी मेरे इस प्रश्न पर जोर से हँसे और बोले—"क्या इस प्रश्न के द्वारा आप मुझे लड़वाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में दो टूक उत्तर देना ठीक न होगा। इस समय मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता।"

"मैं मान ही नही सकता। कुछ न कुछ तो आपको कहना ही होगा।"

"अच्छा तो लिखिए", यह कहते हुए वाजपेयी जी मुस्कराकर बोले—"इस प्रश्न का उत्तर मेरी कृतियो म बहुत स्पष्ट है। उन पर अब और अधिक कहने की आवश्यकता नही प्रतीत होती।"

"प्रेमचन्द हिन्दी-कथा क्षेत्र मे अब पुराने पड गये हैं—क्या यह सत्य है?"

"प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यासो के इतिहास मे जिस सर्वोच्च स्थिति पर पहुचे हुए है, उससे कोई नया लेखक उन्हे डिगाने म समर्थ नही है। मेरा आशय प्रमचन्द के मौलिक कृतित्व से है, जिसकी जोड का कोई नवीन कृतित्व प्रस्तुत नही किया गया। इसका यह मतलब भी नही कि प्रेमचद के आगे हिन्दी-उपन्यास गया ही नही। बहुत सी दिशाओ मे और बहुत प्रकार से आगे बढा है, परन्तु सम्पूर्ण प्रदेय के रूप मे हम किसी अन्य लेखक को अब तक प्रेमचद की बराबरी पर नही पाते।"

"आज काव्य मे भाव की अपेक्षा टेकनीक (शिल्प) को अधिक महत्व दिया जा रहा है। क्या यह श्लाघनीय है?"

"भाव और टेक्नीक काव्य के लिए दो पृथक् तत्व नही है। वे एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। भाव अपने लिए अपनी टेक्नीक या शिल्प का स्वत निर्माण करता है। यदि हम यह मानते हैं कि नयी कविता म भाव की सयोजना बलवती नही है तो हम यह भी कहना पडेगा कि उसकी टेकनीक उद्देश्य-रहित है, अत दुर्बल भी है। कोई भी शिल्प अपने मे स्वतन्त्र नही हो सकता, अतएव टक्नीक या शिल्पप्रधान कृति का आशय केवल निर्बल कृति है। जो लोग टेक्नीक को रचना वस्तु से अलग रखकर देखते हैं, वे ही यह कह सकते हैं कि आज की कविता टक्नीकप्रधान है। मेरी दृष्टि मे नयी कविता भाव और टेकनीक दोनो ही दृष्टियो से पिछडी हुई है, कम से कम उस काव्य की अपेक्षा, जो छायावाद के नाम से हिन्दी मे निर्मित हुआ था।"

"मेरी दृष्टि म बच्चन के बाद हिन्दी-कविता की गति अवरुद्ध हो गई है। क्या यह सत्य है? हिन्दी के कवि अपना कोई लक्ष्य नही खोज पा रहे हैं। नयी कविता क्या इसी स्थिति की प्रतिक्रिया नही है?"

"वर्तमान युग मे दो-तीन पीढियो के कवि कार्य कर रहे हैं। पुरानी पीढी के कवियो और लेखको का कार्य युग-सस्कृति को सबल और स्थितिशील बनाना होता है। नयी पीढी के लेखक उसे नयी गति या विकास प्रदान करते हैं। जहाँ

तक आधुनिक कविता का सम्बन्ध है, मैं कह सकता हूं कि पुरानी पीढी के कवि अपना कार्य उचित परिमाण और वैशिष्ट्य मे पूरा कर रहे हैं। किन्तु, यही बात मैं नयी पीढी के लेखको के सम्बन्ध मे नही कह सकता।"

उस दिन वाजपेयी जी ने सचमुच आराम नही किया। मुझसे निवटने के बाद वे उत्तर-पुस्तिकायें जांचने लगे और मैं घर वापिस आने की तैयारी करने लगा।

आचार्य वाजपेयी जी : एक अन्य इण्टरव्यू

—श्री विजयबहादुर सिंह एम० ए०

●

आधुनिक हिन्दी–साहित्य की स्वस्थ चेतना तथा सबल परम्परा को आचार्य वाजपेयी जी ने एक नयी दिशा दी है। साहित्य–चिंतन की नवीन भूमियो को बडी ही सदाशयता से समर्थन देते हुए उन्होंने निरन्तर नयी किन्तु समाजोन्मुखी साहित्य-धारा को प्रोत्साहित किया है। किन्तु साहित्य को सकीर्ण सीमाओ की ओर ले जाने वाले व्यक्तियो का उन्होने वैचारिक स्तर पर विरोध भी किया है। छायावाद से लेकर प्रयोगवाद तथा नई कविता तक के विचार उनकी पुस्तको के माध्यम से हिन्दी के जागरूक पाठक के समक्ष आ चुके हैं। आज भी साहित्य की नवीनतम गतिविधियो पर एक चिंतक की भांति विचार करते हुए वे उसके स्वस्थ तत्वो का समर्थन देते हैं तथा उसी की सीमाओ को स्पष्ट करने मे हिचकिचाते नही। नये रचनाकारो द्वारा उठाये गए अनेक प्रश्नो के बीच जो साहित्यिक कुहेलिका निर्मित होने लगी है, उसी को लक्ष्यकर मैंने आचार्य वाजपेयी जी से कुछ प्रश्नो का समाधान चाहा था। इसी सदाकाक्षा को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने जो विचार प्रकट किये, वे आज की स्थिति मे नितान्त महत्वपूर्ण तथा एक प्रत्यक्ष अनिवार्यता के परिणाम हैं। सागर-प्रवास के दो वर्षो मे उनके नवलेखन सम्बन्धी विचारो से अवगत होने का अवसर मुझे मिला था और यह उचित था कि हिन्दी के शीर्षस्थ समीक्षक और चिंतक के विचारो से आधुनिक रचनाकार और पाठक दोनो परिचित हो। पुस्तक-लेखन तथा अन्य अनेक कार्यो की व्यस्तता के मध्य जिस सहृदयता और स्नेह से आचार्य जी ने साहित्यिक समाधान हमे सौंपा है, वह यथावत प्रस्तुत है।

१—नये साहित्यकारो के बीच उठने वाली तथाकथित धारणा क्या सच है कि छायावाद के पश्चात् आने वाले नये साहित्य–विशेषत नये काव्य–के प्रति आपकी दृष्टि असहानुभूतिपूर्ण है ?

मैं किसी वाद का समर्थक या विरोधी नही हू । काव्य विवेचन मे मैं एकमात्र कविता को ही देखता हू । उसकी भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौन्दर्य ही मेरे समीक्षण के विषय होते है । वादो का लेबेल लगाना मुझे अभीष्ट नही, क्योकि वैसा करने से कविता की अपनी मर्यादाए बाधित होती हैं । छायावाद अभी कल की वस्तु है । कालिदास, जयदेव, सूर और तुलसी तो बहुत पुराने हैं । इन महान् कवियो के प्रति मेरी उतनी ही आस्था है जितनी किसी छायावादी कवि के प्रति । प्रसाद और निराला मेरे लिए छायावादी कवि का बाना पहनकर नही आते, वे प्रसाद और निराला के रूप मे आते है । इस दृष्टि से देखने पर मेरे साहित्यिक विचार और समीक्षा-कार्य पर अधिक न्याय किया जा सकता है । बात कोई भी हो, कविता की सम्वेदनाए कैसी हैं, किस कोटि की हैं उसका बाह्य और अन्तरग सौंदर्य हमारी चेतना और सौंदर्य-दृष्टि को किस रूप मे और किस कारण प्रभावित करता है, मेरे लिए इतना ही ज्ञातव्य है । इतना कहने के पश्चात् आप यह समझ सकते है कि प्रश्न मेरी सहानुभूति या असहानुभूति का नही है, प्रश्न है कविता की उन *विशेषताओ का जो सहानुभूति या असहानुभूति की सृष्टि करती हैं ।'*

२—क्या वस्तुत आज का नया रचनाकार अपने आसपास वैसी ही कु ठा, घुटनभरी स्थितियो का अनुभव करता है जिनका चित्रण उसके काव्य म मिलता है ?

"यह प्रश्न मूलत कवि व्यक्तित्व का है । समान सी परिस्थितियो म कोई व्यक्ति अपराजित रह सकता है और कोई अन्य व्यक्ति पराजित हो जाता है । पराजय के कारण ही कु ठाओ का आविर्भाव होता है और काव्य मे अन्तर्मु खता आती है । काडवेल ने अग्रजी साहित्य मे क्रमश अन्तर्मु खी होते हुए भी कवियो की अनास्था दृष्टि का जो विवरण दिया है, मैं उससे बहुत कुछ सहमत हू । काडवेल के विचारो से मेरा अन्तर यह है कि मैं यह मानने को बाध्य नही हू कि विशेष सामाजिक परिस्थितियो मे कवि *किसी भावप्रणाली को अपनाने को विवश होता है ।* मेरा अपना विचार यह है कि कवि परिस्थितिया मे ऊपर उठ सकता है और देश और जाति के लिए आस्था का सन्देश दे सकता है ।'

३—आधुनिकता और नये युगबोध को लेकर रचे जाने वाले तथाकथित *नये साहित्य के प्रति आपका क्या विचार है ?*

आधुनिकता और नए युगबोध को मैं महत्त्व देता हू, क्योकि यह प्रगति और विकास का परिचायक तत्व है । सभी आधुनिकताए सापेक्षिक होती हैं । आत्यन्तिक आधुनिकता नाम की कोई वस्तु नही होती । आधुनिकता और युगबोध के नाम पर किन्ही ह्रासोन्मुख और पराजयशील भावनाओ का शिकार न तो

अभीष्ट है न अनिवार्य। आज के कवि जिस मात्रा मे सामाजिक जीवन-संस्पर्श से दूर होकर आत्मलीन हो गये हैं और मानवीय जीवन की भूमिका को छोडकर नितात वैयक्तिक भूमि पर पहुच गए हैं, उन्हे मैं आधुनिकता और युगबोध से वचित मानता हू।"

४—नये काव्य-विकास के प्रति आपकी क्या मान्यता है? क्या निराला के पश्चात् हिन्दी-कविता कोई महत्त्वपूर्ण देय दे सकी है?

"बडे कवि प्रत्येक दशक मे उत्पन्न नही होते। कभी-कभी तो अर्धशताब्दी या पूरी शताब्दी मे किसी महान् कवि का आविर्भाव होता है। प्रसाद और निराला ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद मे सास्कृतिक समाहार और निराला मे विद्रोह की वाणी मुखरित है। आधुनिक या नयी कविता मे इस प्रकार का समाहार या विद्रोह किसी कवि मे नही पाया जाता। पूरी राष्ट्रीय चेतना का प्रतिफलन कोई नया कवि नही कर सका है। जिस चेतना का प्रतिफलन हो रहा है, वह खड चेतना है जिसे मार्क्सवादी पूजीवादी युग की एक विशेष अवसर की चेतना कहते है। खड चेतना-सम्पन्न कोई भी कवि महान् नही हो सकता। नयी कविता की यही विवशता है। यो शैली-प्रसाधन के स्तर पर तथा भाव-स्थितियो के प्रौढतर विकास के स्तर पर मैं अज्ञेय जी को विशिष्ट कवि मानता हू।"

५—आपकी प्रारम्भिक समीक्षाओ मे सामाजिक दृष्टिकोण की सघनता है, जबकि परवर्ती समीक्षाओ मे लगता है, आपका झुकाव कला मूल्यो की ओर कुछ अधिक हो गया है! अब भी क्या आप साहित्य और सामाजिक जीवन के बीच वही सम्बन्ध स्वीकार करते हैं जिसके अभाव मे आपने छायावाद का समर्थन करते हुए भी महादेवी वर्मा की कविता को उसकी मूल धारा से पृथक् माना है?

"साहित्य की सामाजिक सापेक्षता के सम्बन्ध मे मेरे विचार क्षीण नही हुए, बल्कि अधिक मजबूत हुए हैं। इधर मैं साहित्य की राष्ट्रीयता की जो चर्चा कर रहा हू, यह इस बात का प्रमाण है। यो मैं सामाजिक जीवन-सापेक्ष ही नही, राष्ट्रीय और जातीय भूमिका के साहित्य का भी आकाक्षी हू। हाल के निबन्धो मे जहाँ कही मैंने साहित्य पर बढते हुए विदेशी प्रभावो का उल्लेख किया है, वहाँ भी मेरा दृष्टिकोण देश की मिट्टी से सुवासित साहित्य के समर्थन का है। केवल कलापक्ष पर मैं कभी आग्रहान्वित नही रहा। यदि वैसा होता तो मैं नयी कविता को शायद अधिक सराहता, क्योकि नयी कविता एक कला और शैली का आन्दोलन बनकर ही उपस्थित हुई थी। प्रयोगवाद शब्द भी तो शैली-वाचक ही है।"

६—आपकी समीक्षा के लिए प्रयुक्त अनेक विशेषणो—छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी, रसवादी तथा अध्यात्मवादी—मे से आप किसे अधिक उपयुक्त मानते हैं?

जिन अनेक शब्दो का प्रयोग विशेषण के रूप मे मेरी समीक्षा को लेकर किया गया है उनकी जिम्मेदारी मुझ पर नही है। हिन्दी के समीक्षको ने समय-समय पर मुझे छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी, रसवादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी, सृजनशील और न जाने क्या २ विशेषण दिये है। इन विशेषणो की अधिकता से मुझे केवल एक तत्व का आभास होता है और वह मुझे प्रिय भी है। वह तथ्य यह है कि मेरी समीक्षा मे किसी एक वाद का अधिकार नही। यदि अधिकार होता तो इतने नाम कहाँ से आते ? कोई भी समीक्षक अपने को सकीर्ण सीमा मे रखना पसन्द नही करेगा। इसलिए यदि इन विशेषणो के द्वारा सीमा का विस्तार हो रहा है, तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? यदि विशेषणो को निकाल कर केवल साहित्य-समीक्षक कहा जाय तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।"

७—आपकी समीक्षा मे यह आध्यात्मिक साचा क्या है ?

"साहित्य की रचना और सवेदना एक मानसिक पदार्थ है, जो जितनी गभीर होगी उतनी ही आध्यात्मिक कही जायगी। इस दृष्टि से आप मुझे गभीर सवेदनाओ का प्रेमी कह सकते हैं। यदि अध्यात्म से आशय कुछ और हो और आध्यात्मिक साचे से मुझे किसी मतवाद की सीमा मे रखने का प्रयत्न किया जा रहा हो तो मै इसे स्वीकार नही कर सकता। उत्कृष्ट काव्य के स्रष्टा मानव-चेतना के सवर्द्धक होते हैं। वे किसी मतवाद को चाहे वह भौतिकवादी हो या अध्यात्मवादी, एकान्तत पकड नही सकते। मैंने भी किसी अध्यात्मवाद को एकान्तत नही पकडा है।

८—लेखक के 'कमिटमेण्ट' के प्रश्न पर आपका क्या विचार है ? क्या कोई साहित्यकार पूर्णत नान-कमिटेड रह सकता है ? यदि नही, तो युग-जीवन के सदर्भ मे आज का साहित्यकार किसके प्रति कमिटेड हो ?

'कमिटमेण्ट' शब्द प्रगतिवादी साहित्य के सदर्भ मे प्रयुक्त हुआ था। जो लेखक अपने को कम्यूनिस्ट पार्टी के सिद्धान्तो मे बाध चुके थे वे ही कमिटेड कहलाते हैं। शेष लेखक जो अपने अनुभवो, अपने वैयक्तिक और सामाजिक सस्कारो, अपनी स्वतन्त्र विचारदृष्टि को प्रमुखता देते हैं वे कमिटेड नही हैं। नयी कविता के प्रति कमिटमेण्ट का प्रश्न ही नही उपस्थित होता, क्योकि यह कविता आरम्भ से ही नान-कमिटेड है। जो नये कवि क्रमश सामाजिक जीवन भूमिका पर आ रहे हैं वे अवश्य इस प्रश्न को उठा सकते हैं। यदि वे कम्यूनिस्ट विचारधारा से अपने को कमिटेड नही मानते तो उनके सामने प्रजातन्त्र, समाजवाद, राष्ट्रीयता तथा मानववाद के द्वार खुले हैं। वे इनमे से किसी या सभी द्वारों से साहित्य के रगमच पर आ सकते हैं।"

९—नये साहित्यकारो द्वारा उठाया गया व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न कहाँ तक औचित्यपूर्ण है ? आज के भारतीय साहित्यकार की यह माग काव्य-कला तथा सामाजिक जीवन के लिए कहाँ तक हितकर है ?

"नये कवियो ने स्वातन्त्र्य की चर्चा एक विशेष प्रसग मे की थी। भारतवर्ष के चारो ओर तानाशाही शासन-पद्धतियां कायम हो रही हैं। ऐसी शासन-पद्धति मे कलाकार के स्वातन्त्र्य का प्रश्न विशेष अर्थ रखने लगता है। वहाँ उसका अर्थ होता है राजनीतिक प्रतिबन्धो से मुक्त होने का प्रयत्न। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वथा उचित है। मैं इसका सर्वांशत समर्थन करता हू। भारतवर्ष मे विचार नियन्त्रण की वह स्थिति नही आई है, यद्यपि लेखको के सामने अनेकानेक कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। इन कठिनाइयो के विरुद्ध स्वातन्त्र्य की माग करना सर्वथा उचित है, यद्यपि इसकी पूर्ति निकट भविष्य मे हो सकेगी, यह सदिग्ध है। लेखक के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न उपर्युक्त दोनो स्थितियो से भिन्न कोई सार्थकता नही रखता। भारतीय साहित्य की परम्परा इतनी समृद्ध है और कवियो को जिम्मेदारियाँ इतनी स्पष्ट है कि उन्हें लेखन सम्बन्धी वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का कोई दूसरा अर्थ अभीष्ट भी नहीं हो सकता। आधुनिक कविता की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ और कुठाएँ लेखन-स्वातन्त्र्य की पर्याय नही हैं, क्योकि स्वातन्त्र्य शब्द बधन-मुक्ति का द्योतक है, जबकि नई कविता अपने लिए नये बन्धन—वैचारिक और मानसिक—बनाती रही है। जब *तक कुण्ठा और अनास्था का कवियो पर अधिकार है तब तक स्वातन्त्र्य का प्रश्न ही कहाँ है ? यदि ये कवि सच्चे अर्थों म स्वातन्त्र्य-प्रेमी हैं तो अधिकाधिक सामाजिकता ही उनकी सहायक हो सकती है। हम ऊपर कह चुके है कि आत्मशक्ति की प्रखरता कवि-व्यक्तित्व का अग होनी चाहिए। कुण्ठायें तो पराजय की सूचिका हैं।*"

१०—पूर्व और पश्चिम मे आज कहाँ पार्थक्य किया जा सकता है ? जीवन और साहित्य दोनो के आधार पर यह भेद कैसे समझा जा सकता है ?

"पूर्वी और पश्चिमी देश विकास की भिन्न स्थितियो पर हैं। पश्चिम मे *राष्ट्रीय स्वतन्त्रता शताब्दियो से कायम है जबकि पूर्व के अधिकांश देश अभी-अभी* स्वतन्त्र हो रहे है। स्वतन्त्रता के साथ समृद्धि का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। पश्चिम *की मूलभूत समस्यायें वे नही हैं जो पूर्व की हैं और खासकर हिन्दुस्तान की।* आर्थिक और भौतिक स्तर पर वहाँ के प्रतिमान यहाँ से ऊँचे हैं और इस कारण पश्चिम मे जीवननिर्वाह की वे समस्यायें नही हैं जो हमारे देश मे हैं। साहित्य और कला की भूमि पर भी इन स्थितिया का प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। जो लोग वास्तविक स्थितियो से प्रेरणा न लेकर सीधे पश्चिमी साहित्य की ओर आस्फालन करते है उन्हे स्वाभाविक साहित्यकार नही कहा जा सकता। पूर्वी देशो की सस्कृति और इतिहास अधिक पुराना है। फलत हमारा सास्कृतिक और ऐतिहासिक बोध अधिक

प्रशस्त है। हम चाहें तो इसका उपयोग नये साहित्य के सृजन मे कर सकते हैं। सच तो यह है कि पूर्व-पश्चिम का सारा परिवेश ही एक दूसरे से पृथक् है। पिछले विश्वयुद्ध ने पश्चिमी राष्ट्रो को जिस विभीषिका मे डाला था और फलत जो अस्तित्ववादी समस्यायें पैदा की थी, सौभाग्यवश हमारा देश उस विभीषिका से बचा रहा है। परन्तु हमारा नवलेखन ऐसा हो रहा है जैसे हमने यूरोपीय विभीषिकाओ को स्वय झेला है। यह एक आरोपित विभीषिका है। कला-शैली सदैव वस्तु-सापेक्ष होती है। जब हमारी वस्तु, हमारी समस्यायें भिन्न है, तब कला-शैली मे पश्चिम की अनुकृति हमारे अनुरूप कैसे होगी? नवीनता आकांक्षित वस्तु है, परन्तु हम पूर्वी नवीनता के प्रयासी है न कि पश्चिमी अनुकृति के।"

११—साहित्य मे गतिरोध का नारा क्यो उठाया जा रहा है? क्या वस्तुत हमारे साहित्य मे गतिरुद्धता आ गई है?

"किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र मे साहित्यिक गतिरोध की कल्पना करना एक विडम्बना है। हाँ, जिस प्रकार मनुष्यकृत दुर्भिक्ष उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार कभी-कभी कविकृत गतिरोध भी आ जाता है। हिन्दी-साहित्य मे अनेक विधाओ के माध्यम से प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि हो रही है। केवल काव्य म कुछ समय पूर्व एक ऐसा खेमा बना था जो सीधे पश्चिम से अपनी प्रेरणायें लेता था। वह खेमा आज टूट रहा है और कवि राष्ट्रीय इतिहास और परिस्थितियो से प्रेरणा ले रहे है। फिर यह खेमा किसी प्रतिनिधि साहित्य-धारा का स्थानापन्न भी नही है। हिन्दी-कविता अनेक धाराओं मे प्रवाहित हो रही है; अतएव कृत्रिम गतिरोध उत्पन्न करने वालो को भी आत्म-निरीक्षण करना होगा।"

१२—नये साहित्य-सृजन को देखते हुए हमारे साहित्य का भविष्य कैसा है?

"आपके इस प्रश्न का उत्तर पिछले अनुच्छेद मे किया गया है। भारतीय राष्ट्र गाधी और नेहरू की परम्परा पर अग्रसर है। कठिनाइयाँ आयें, परन्तु उनके अतिक्रमण का सकल्प कम शक्तिशाली नहीं है। हमारे साहित्यिको और कलाकारो को इन कठिनाइयो और अवरोधो के प्रति सघर्ष करना है। यह क्षेत्र इतना प्रशस्त और उर्वर है कि आश्चर्य होता है कि हमारे कवि-गण उस दिशा मे अपनी शक्ति का उपयोग क्यो नही करते? करते है, पर कभी साहित्य के अन्य रूपो मे हमे यह प्रयत्न अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। कविता मे भी है, पर अपेक्षाकृत कम। मैं हिन्दी-साहित्य के भविष्य के बारे मे पूर्णत. आश्वस्त हू।"

१३—प्रेमचदोत्तर कथा-साहित्य के विषय मे आप क्या सोचते हैं? क्या प्रेमचन्द के पश्चात् कोई महत्त्वपूर्ण कड़ी जुडी है?

"नया कथा-साहित्य दो मुख्य वर्गों मे रखकर देखा जा सकता है। एक मध्य-वर्गीय और नागरिक जीवन के चित्रण का है, दूसरा समग्र राष्ट्रीय जीवनोल्लेख का है। प्रेमचन्द इसी दूसरे वर्ग के लेखक थे। उनकी-परम्परा को-आगे-बढाने वाले यशपाल, नागार्जुन और रेणु जैसे लेखक है। दूसरा वर्ग जो नागरिक जीवन-स्थितियो को अकित करता है, अधिक कलाप्रेमी और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओ को अभिव्यक्त करता है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से इस मध्यवर्गीय यथार्थवाद के प्रति मेरी अधिक आस्था नही है।"

१४—विविध प्रकार के दृष्टिकोणो का लेकर अनेक धाराओ मे गतिशील होने वाली नयी समीक्षा-प्रणालियो मे आप किसे अधिक मान्यता देते है ? क्या नया चिनन पश्चिम से एकबारगी आक्रान्त है ?

"सबसे पहले प्रगतिवादी लेखकों ने मार्क्सवादी चिंतन का अनुसरण किया, परन्तु क्रमश वे हिन्दी-साहित्य की अपनी परम्परा को भी महत्व देने लगे हैं। आरम्भ मे कोई विदेशी विचारधारा हम पर छापा मार सकती है, पर सयत होने पर हम उसे अपनी परम्परा के अनुरूप बनाते हैं। विदेशी अनुकरण का यह स्वरूप कोई अपवाद नही। परन्तु यदि पश्चिमी विचारधारा अथवा किसी विशेष प्रकार की काव्य-शैली को ज्यो का त्यो अपना लिया जाएगा तो इस प्रणाली से किसी श्रेष्ठ कवि की सृष्टि नही हो सकेगी। यह मेरा अपना मत है। इस प्रश्न का दूसरा पहलू भी है। हम यह सोचें कि हम विदेशो से कितना और क्या ले रहे है और उन्हे अपनी ओर से कितना और क्या दे रहे है ? यदि हम लेते ही लेते रहेंगे, देंगे कुछ नही, तो विदेशो मे हमारे काव्य-साहित्य का क्या सम्मान होगा ? केवल अनुकर्ता बनकर जो ख्याति प्राप्त की जा सकती है वह प्राय विदेशी काव्य से अपरिचित लोगो मे ही प्राप्त होगी। जिन्हे इस पश्चिमी काव्य-वस्तु का ज्ञान है, वे तो अनुकरण को अनुकरण और मौलिक वस्तु को मौलिक मानेंगे। पूर्व और पश्चिम के काव्य मे अनुरूपता हो सकती है, तद्रूपता नही।"

"नये समीक्षक अधिकतर नवीनतम काव्य और विचारो पर ही, अधिक ध्यान दे रहे हैं। उनकी दृष्टि मे विस्तार और व्यापकता नही है। उनमे से अधिकाश भारतीय समीक्षा की अपनी प्रणालियो से परिचित भी नही हैं। कुछ व्यक्तित्व उभर रहे हैं, परन्तु जब तक उनकी दृष्टि मे पूरा भारतीय साहित्य नही आता, केवल समकालीन कविता आती है, तब तक उनकी समीक्षा भी वास्तविक अर्थो मे सार्वजनिक नही बन सकती। भाषागत प्रयोगो के सम्बन्ध मे कुछ सूक्ष्म और तथ्यपूर्ण बातें कही गई हैं। ये हिन्दी-समीक्षा को आगे बढाती हैं। इससे अधिक नये समीक्षको के सम्बन्ध मे मुझे कुछ नही कहना है।"

१५—नये पुराने का संघर्ष क्या स्वाभाविक तथा परम्परागत है अथवा आज की तथाकथित बौद्धिकता की उपज है ?

"नये और पुराने का संघर्ष कुछ तो स्वाभाविक होता है और कुछ अस्वाभाविक । प्रत्येक पीढ़ी की अपनी समस्यायें होती है, अपना परिवेश होता है । यह स्वाभाविक विकास है । परन्तु इस स्वाभाविक विकास की गति साहित्य के मूल उद्देश्यो को विघटित करके निर्मित नही होती । प्रेमचन्द से आगे बढने के लिये नई पीढी को प्रेमचन्द की जीवन-चेतना से भी प्रौढतर चेतना की आवश्यकता है और साथ ही कला की भूमिका पर अधिक समुन्नत प्रयोग आवश्यक है । जब हम नवीनता के नाम पर आगे बढना छोड देते हैं, और नये-नये विधानो की ओट लेकर संदिग्ध प्रकार की निर्मितियो मे लग जाते हैं, तब यह अस्वाभाविक विकास बन जाता है । हमे क्रमागत परम्परा के श्रेष्ठतम अश को आत्मसात् कर आगे का रास्ता तय करना होगा । जो साहित्यिक इस प्रकार की मनोभावना रखते हैं, वे पूर्ववर्ती साहित्यिक कार्य का आख मूदकर विरोध नही कर सकते । किसी लेखक की ईमानदारी की पहचान इस बात से होगी कि वह अपनी साहित्यिक परम्परा के प्रति कितना सद्भाव और सम्मान रखता है । जो लोग शून्य मे नई इमारत खडी करना चाहते हैं या चाहेगे, वे शायद कुछ भी मूल्यवान नही दे सकेंगे ।"

●

महान अध्यापक और सफल निर्देशक आचार्य वाजपेयी जी

—श्री सरयूकान्त झा, एम० ए०

●

विश्वविद्यालय अपने सच्चे अर्थों मे सम्पूर्ण विश्व की विद्याओ की उपलब्धि का केन्द्र होने के साथ ही समाज का नेतृत्व तथा उसके बौद्धिक विकास का उत्तरदायित्व लेता है। विश्वविद्यालय के उपाधिप्राप्त स्नातक ही समाज के मस्तिष्क कहे जा सकते हैं। सामाजिक चेतना को उनसे अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहता है। समाज के इस मस्तिष्क को निरन्तर उर्वर एव क्रियाशील बनाए रखने का पूरा उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय स्वीकार करता है। यह सक्रियता और उर्वरता, प्रयोग एव उचित मार्ग निर्देशन से ही निरन्तर सजीव बनी रहती है। विश्वविद्यालय का कर्तव्य है कि वह सतर्क प्रतिभा को पहिचाने तथा उसे ज्ञान के गूढ़ातिगूढ़ तथ्यो को समाज के सम्मुख उपस्थित करने की प्रेरणा दे। विश्वविद्यालय के शिक्षक और विभागाध्यक्ष ऐसी प्रतिभाओ पर उचित दृष्टि रखते है तथा उनकी अन्वेषक बुद्धि को जाग्रत करते हैं। आचार्य वाजपेयी जी ऐसे ही शिक्षक और विभागाध्यक्ष है।

आचार्य वाजपेयी मूलत शिक्षक है। उनका अध्यापकीय व्यक्तित्व सबसे अधिक उभरा हुआ है। छात्रो के बीच मे उन्हे देखते ही इसका आभास मिल जाता है। उनके समक्ष उपस्थित होते ही छात्रो को यह प्रतीत होने लगता है कि वे एक ज्ञानी के समक्ष हैं। आन्तरिक श्रद्धा और आस्था उनके मस्तिष्क की ग्राहिका-शक्ति को प्रेरित करने लग जाती है। ज्ञान प्राप्ति की यही उपयुक्त अवस्था कही गई है। अध्यापक का व्यक्तित्व छात्र की सुप्त जिज्ञासु प्रवृत्ति को उभारता है और तब शिक्षक और शिक्षार्थी के आसपास एक नए वातावरण की सृष्टि हो जाती है। शिक्षक अपने व्यवहार और स्नेह के द्वारा छात्र के मस्तिष्क को उच्च धरातल पर लाता है तथा अपनी बातो को छात्र के मस्तिष्क के लिए अविस्मरणीय बना देता

है। अपने छात्रो से घिरे हुए आचार्य वाजपेयी को जिस किसी ने देखा है, वह समय सकता है कि गुरु शिष्य के मध्य स्नेह के सम्बन्ध का स्वरूप कैसा होता है। शिक्षक वह नही, जो अपने व्यक्तित्व को निरर्थक रहस्य मे छिपाये हुए सुदूर आकाश से नभगिरा का उच्चारण करता हो। वास्तविक शिक्षक तो वह है जो अपने छात्रो के अत करण मे प्रवेश करके उनके मन, बुद्धि, अहम् और चित्त सभी को प्रभावित कर दे—सम्पूर्ण आन्तरिक शक्तियो को एक निश्चित दिशा मे प्रेरित कर दे। आचार्य वाजपेयी मे यह क्षमता विद्यमान है। उनकी निकटता छात्रो मे अपनेपन का भाव जगाती है। उनके व्यक्तित्व कीस पष्टता शिष्य-समुदाय की आन्तरिक वृत्तियो का स्पर्श करती है और वह स्वय अपने म एक परिवर्तन प्रतीत करने लग जाता है। भले ही आचार्य कुछ न कहे, फिर भी उनकी निकटता व्यक्तियो को प्रभावित करती है। ऐसे प्रभावपूर्ण वातावरण मे उनकी स्नेहसिक्त, सशक्त एव सप्राण वाणी एक नए लोक का सर्जन करती है। वे आज भी प्राचीन गुरुकुल और काशी की परम्परा स्थापित किए हुए हैं।

आचार्य वाजपेयी की शिक्षण-कला की एक अद्वितीय विशेषता छात्रो से ही अपेक्षित उत्तर निकालने की उनकी अपूर्व शैली है। उनके छात्रो को यह अनुभूति निरन्तर होती रहती है कि ज्ञान का अश उनके भीतर विद्यमान है। केवल उसकी अभिव्यक्ति करनी है। आचार्य जी की यह शिक्षण विधि शिष्यो को आत्मविश्वासी बनाती है। वे परमुखापेक्षिता से दूर होकर अपना मार्ग स्वय चुन लेते है और उस पर पूर्ण विश्वास के साथ अग्रसर होते है। उन्हे आचार्य वाजपेयी का निर्देशन आश्वस्त किए रहता है। यही पर मैं आचार्य वाजपेयी के शब्द-प्रयोग पर भी कह दूँ—पण्डित जी अध्यापन मे समास शैली के प्रयोक्ता कहे जा सकते है। वे व्यर्थ के शब्दाडम्बर और शब्दजाल पर विश्वास नही रखते। उनका मन्तव्य है कि शब्दों के घटाटोप मे मूल विषय दब जाता है और अध्यापन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। अत वे सूत्र-शैली का प्रयोग करते हैं, नपे-तुले शब्दो मे वे अपना तथ्य स्पष्ट कर देते हैं। उनके कथन का प्रत्येक शब्द जीवन्त होता है, वह स्वय अपनी कथा कहता है। अध्यापन के समय मानो वे उपयुक्तता और सक्षिप्तता की तुलना मे तौल-तौल कर शब्दो का प्रयोग करते चलते हैं। इस क्रिया मे प्रत्येक शब्द के बाद ठहरते है। इस बीच श्रोता-समाज अत्यधिक सक्रिय हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि आचार्य उपयुक्त शब्दो को ढूँढ रहे हैं, वह अपनी ओर से भी शब्दो को उपस्थित करता है। ऐसी दशा मे उसका मस्तिष्क निष्क्रिय हो ही नही पाता। आचार्य जी की इस अध्यापन-शैली और शब्द-प्रयोग के विशेष ढग ने उनके शिष्यो को प्रारम्भ से ही अन्वेषी बना दिया है। वे स्वय-स्फूर्ति से चिन्तन की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं। उपयुक्त टर्मिनालाजी मे वे निष्णात हो जाते हैं। आचार्य वाजपेयी सच्चे अर्थों म गुरुदेव हैं।

उनकी अध्यापन-शैली के सम्बन्ध मे मैं एक बात और कह कर दूसरे प्रकरण मे आना चाहूगा। आचार्य वाजपेयी अध्यापक के साथ ही समीक्षक भी है। अपनी सुदीर्घ समीक्षा-अवधि मे उन्होने अनेक साहित्य-सिद्धान्त तथा सैद्धान्तिको और साहित्यिक विचारको की स्थापनाओ और विचारो की परीक्षा की है तथा अपने निष्कर्ष निकाले हैं। पर अध्यापन-कार्य शिक्षक से पूर्ण तटस्थता की अपेक्षा करता है, उसकी अपनी अभिरुचिया उसके अध्यापन के ऊपर जोर न डाल सकें इसका विशेष ध्यान रखना पडता है। आचार्य वाजपेयी यहाँ पर अत्यधिक सतर्क रहते है। वे अपने समीक्षक-व्यक्तित्व को अध्यापक-व्यक्तित्व के ऊपर हावी नही होने देते हैं। कक्षा मे प्रवेश करते समय केवल अध्यापक रहते हैं। तटस्थ और निष्पक्ष विश्लेषण ही उनका प्रतिपाद्य रहता है। छात्र पूर्वाग्रही न बनकर अपने निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र रहता है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति होगे जो अपने व्यक्तित्व के इन दोनों छोरो को एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र रख सकने मे सक्षम हो सकें।

शिक्षा का उद्देश्य सूचना-सकलन या ज्ञान-सम्पादन मात्र नही है, इसके विरुद्ध शिक्षा बौद्धिक से अधिक मानसिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक हुआ करती है। मानसिक प्रशिक्षण उसका मूल उद्देश्य होता है। उचित अवसर पर हमारा मन उचित दिशा म गतिशील हो, इसके लिए यह आवश्यक होता है कि हमारे मन को इस प्रकार का अभ्यास हो। इस अभ्यास की प्रेरणा हमारे शिक्षको से ही मिला करती है। आचार्य वाजपेयी शिक्षा के इस रहस्य से परिचित हैं और वे अपने छात्रो के चिन्तन के लिए ऐसी समस्यायें देते हैं, जो अपने समाधान की प्रक्रिया मे उनको मानसिक रूप से अभ्यस्त करती चलती हैं। सभी प्रश्नो का बना-बनाया हल प्रस्तुत करने के स्थान पर उसकी ओर दिशा-सकेत करके आचार्य वाज-पेयी ने अपने छात्रो को दृढ मानसिकता की ओर प्रेरित किया है। एम० ए० और पी-एच० डी० के शोधकर्ताओ को इस बात का अनुभव बारम्बार होता है। सरलता और सुविधा का आकाक्षी छात्र पहिले तो इस शैली से कष्ट पाता है, पर यदि उसमे थोडी भी लगन और परिश्रम शीलता हुई तो वह बडी तीव्रगति से विकास करने लग जाता है। कुछ ही दिनो मे उसके व्यक्तित्व का नया अध्याय खुलने लग जाता है, वह नए सस्कार ग्रहण करने लग जाता है और एक दिन ऐसा आता है जब कि ज्ञान की नई दिशा उसके समक्ष उपस्थित हो जाती है। एक पूर्ण सास्कृतिक व्यक्ति के रूप मे वह जीवन मे प्रवेश करता है।

शिक्षक मे रूप मे आचार्य वाजपेयी एक नए आध्यात्मिक समाज की नीव डाल रहे हैं। आध्यात्मिकता से यहा आशय मनुष्य की समग्र विकासमान चेतना से है। यहा आध्यात्मिकता किसी साम्प्रदायिक साधना-प्रणाली से सम्बद्ध नही है, वरन् पृथ्वी पर मानव के सर्वोच्च अनुभवो से इसका सम्बन्ध है। आचार्य वाजपेयी जी की निष्पत्ति है, "अखिल प्राणि-जगत् मे जिन अनुभूतियो को लेकर मानव

श्रेष्ठता की भूमि पर अधिष्ठित है, वह ही उसकी आध्यात्मिक भूमि है, जहाँ पारिवारिक, नागरिक, सामाजिक व राष्ट्रीय सीमाओ को पारकर मनुष्य विश्वजनीन बन जाता है। इसकी सीमा मे वे समस्त वृत्तिया और तथ्य आ जाते है जिन्हे हम अखिल विश्व की स्वतत्रता का अनिवार्य अग कह सकते हैं। व्यापक सहानुभूति, गम्भीर आत्मीयता, बहुजन के हित के लिए आत्मत्याग, सहनशीलता और करुणा की भावनायें इसमे सम्मिलित हैं। यह आध्यात्मिक आधार मानव-जीवन को अविरोधी भावनाओ से सयुक्त करता है और विश्व की प्रगति मे सबसे अधिक मूल्यवान मन स्थिति का आधार बनता है।" वे धीरे—धीरे अपने शिष्यो को उसी ओर प्रेरित करते चले जा रहे हैं। शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण मानवता की प्राप्ति है और आचार्य वाजपेयी जी इसके लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। यहाँ पर शिक्षक से अधिक वे दार्शनिक प्रतीत होते हैं।

अनेक वर्षों तक मुझे हिन्दी बोर्ड आफ् स्टडीज की बैठको मे विश्वविद्यालय के विभिन्न वर्गों के पाठ्यक्रम के लिए पुस्तकें निर्धारित करते समय आचार्य वाजपेयी जी के इस उद्देश्य का परिचय मिला है। छात्रो की क्षमता के अनुकूल रहते हुए भी पाठ्यक्रम उस महत्तर उद्देश्य के सम्पादन के लिए उपयुक्त रहे इसका उन्हे सदैव ध्यान रहा है। उन्होने इस उद्देश्य की सप्राप्ति के लिए अनेक पुस्तकें तैयार कराई है। इसका परिणाम भी प्रत्यक्ष है। सागर विश्वविद्यालय से हिन्दी-विषय के साथ उत्तीर्ण छात्र, भारत के समस्त विश्वविद्यालयो के स्नातको से उच्चतर प्रमाणित हुआ है। वह अपने अध्ययनकाल मे ही जीवन की उन सीमाओ का परिचय प्राप्त कर लेता है जिसकी कल्पना अन्यत्र हो ही नही सकती है। इस विश्वविद्यालय के हिन्दी के छात्र सर्वत्र आदर के अधिकारी सिद्ध हुए हैं।

श्री वाजपेयी जी सच्चे अर्थों मे आचार्य हैं। आचरण की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहते हैं। आचरण की व्युत्पत्ति से अर्थ होगा, 'सभी (महत्ताओ) की ओर गतिशीलता'। जो व्यक्ति मानव-जीवन की महत्ताओ की ओर अपने शिष्यो को गतिशील कर रहा है वह भी आचार्य कहलाने का अधिकारी है। श्री वाजपेयी जी इस अर्थ मे सच्चे शिक्षक और आचार्य हैं। कवि और कलाकार के समान शिक्षक भी जन्मजात होना है। वह किसी निर्माणालय मे स्वरूप ग्रहण नही करता। जिनमे सहृदयता, मुक्त भावना, मर्मभेदिनी दृष्टि तथा अभिव्यक्ति पर अधिकार हो वे ही सफल शिक्षक सिद्ध हो सकते है। ये शिक्षण के लिए आवश्यक उपकरण हैं। ये उपकरण सस्कार से प्राप्त होते हैं। वश-परम्परा तथा वातावरण से मनुष्य सस्कारी बनता है। ये सस्कार ही मनुष्य को विभिन्न दिशाओ की ओर प्रचालित करते हैं। आचार्य जी के सस्कार शैक्षणिक कार्यों की ओर प्रेरित करने वाले हैं। इसीलिए अपने आसपास जिस शैक्षणिक वातावरण की सृष्टि के लिए अन्य लोगो को बड़ी

कठिनाई का सामना करना पडता है, फिर भी उसमे कृत्रिमता की गध आती रहती है, वही वातावरण आचार्य जी की विद्यमानता मे आपही आप बन जाता है। मुझे तो कभी—कभी ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वाजपेयी जी की उपस्थिति लोगो की जिज्ञासा-वृति को जागृत करती है। उनकी अतरात्मा सम्भवत उन्हे समझाती है कि यहा कुछ प्राप्ति हो सकती है। ऐसे वातावरण मे जिज्ञासुओ को कभी निराशा भी नही हुई।

मैंने ऊपर कहा है कि आचार्य वाजपेयी अभी भी प्राचीन गुरुकुल की परम्परा स्थापित किए हुए हैं। प्रात काल से रात्रि के शयनकाल तक शिष्यो और जिज्ञासुओ की बहुत बडी सख्या इनके चारो ओर बैठी रहती है। इनमे से अधिकाश तो ज्ञानार्जन के लिए आते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं जो अपनी वैयक्तिक समस्या उपस्थित करते हैं। आचार्य वाजपेयी ने उन्हे भी कभी निराश नही किया। उनकी सहायता के लिए वे सर्वदा और सर्वथा प्रस्तुत रहते हैं। सभी शिक्षको के समान उनकी भी कामना रहती है कि उनके शिष्य योग्य स्थानो मे प्रतिष्ठित रहे, पर इस विषय मे उनकी तत्परता अनुपम है। शिष्यो की बहुविधि उन्नति के लिए सदैव तत्पर रहने वाले शिक्षको की सख्या, आज की जीवन-प्रक्रिया मे, बहुत कम रह गई है। जब उनके किसी, शिष्य को कोई स्थान मिल जाता है, उस समय तृप्ति और उल्लास का वैभव उनके मुख पर स्पष्टतया देखा जा सकता है, उनके स्वाभाविक तरल नेत्रो मे आनन्द लहराने लगता है। छात्रो को उन्होंने अपने बृहत्तर परिवार मे परिगणित कर लिया है, इसीलिए उनके समक्ष छात्र अपने दु ख-दर्द या कभी-कभी आक्रोश प्रकट करने मे सीमा का ध्यान नही रखते।

समीक्षक की दृष्टि से वे रसवादी हो या न हो, शिक्षक की दृष्टि से वे रसवादी अवश्य हैं। रससिक्त वाणी के द्वारा वे अपनी कक्षाओ को उत्फुल्ल और भावविभोर बनाये रखते हैं। शिष्ट हास्य का पुट बीच-बीच मे रखते हुए शान्त रस की सृष्टि मे आचार्य बडे निपुण हैं। सब जगह उनकी शैली बनी रहती है। हास्य के लिए उन्हें प्रयास नही करना पडता। प्रत्येक व्यक्ति के वैशिष्ट्य मे असाधारणता के चमत्कार के साथ ऐसी बात अवश्य रहती है जो सामान्य से मेल नही खाती। आचार्य जी उसी असाधारणता को अपना लक्ष्य बनाते हैं। यदि स्वच्छ निर्मल हास्य देखना हो तो मेरा आग्रह है कि ऐसे क्षणो मे आचार्य को देखा जाय। किसी प्रकार की दुर्भावना का तो प्रश्न उठ ही नही सकता। वही हास्य वास्तविक है जो आलम्बन को भी मुखरित कर दे। उनका शिष्य-समुदाय अपने आपको लक्ष्य समझकर भी आनन्दित हुए बिना नही रह सकता है। आचार्य जी का मुक्त हास्य उन्हे कभी वृद्ध नही होने देगा। उनकी यह विशेषता उन्हें सदैव तरुण रखेगी। उनके शब्दो मे गम्भीर भाव के साथ अपार व्यजना भरी रहती है। शब्द-क्रीडा उनका

प्रिय मनोरजन है। कक्षाओ से अधिक उनकी सायकालीन बैठको मे व्यजनापूर्ण शाब्दिक चमत्कारो का वैभव दर्शनीय रहता है। इन बैठको मे वे स्वय एक फुलझडी छोडकर प्रतिक्रिया देखते रहते है। उपस्थित समुदाय उस फुलझडी को प्रज्वलित रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। उस समय आचार्य जी श्रेष्ठ समीक्षक, गौरवशाली प्राध्यापक और अन्य अनेक ऐसी भूमिकाओ से अलग होकर पूर्णतया स्वच्छ प्रतीत होते है। सुरुचिपूर्ण एव माधुर्यमय वातावरण की सृष्टि मे आचार्य अद्वितीय हैं।

आचार्य वाजपेयी जी हिन्दी के एक विशेपयुग के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता है। उन्होने अपनी पुस्तको, लेखो, वार्ताओ, कक्षा एव कक्षा के बाहर के भाषणो तथा वक्तव्यो के द्वारा छायावादी युग की रहस्यमयता और जटिलता को दूर किया है—उसके वशिष्ट्य को सर्वजन सुलभ बना दिया है। हिन्दी मे स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के वे एकमात्र भाष्यकार है। पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो के वे अधिकारी विद्वान है तथा हिन्दी-साहित्य पर उनके प्रभाव के विश्लेपण मे वे निष्णात है। पश्चिम से आये हुये इन सिद्धातो की उन्होने खूब परीक्षा की है। उनके प्रकट आकर्पक स्वरूप की चकाचौंध मे ही न ठहर कर उन्होने उनके अन्तस् का भी निरीक्षण किया है, हिन्दी साहित्य और भारतीय जीवन मे उनके स्वरूप की व्याख्या करते हुए उनकी दुर्बलताओ से समाज को परिचित कराया है तथा उनके दुष्प्रभावो से बचने के लिये अग्रिम चेतावनी दी है। इन सिद्धान्तो के खोखलेपन का विचार करते हुए उन्होंने उनमे से अधिकाश को कृत्रिम, अत जन-जीवन के स्वाभाविक प्रभाव के लिए अनुपयुक्त ठहराया है। आधुनिककाल के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक की इन विचारधाराओ ने हिन्दी-ससार और अन्य भाषा-भाषियो को भी सावधान कर दिया है। इसका शुभ परिणाम भी देखने मे आ रहा है। इस युग के प्रारम्भ मे पश्चिमी सिद्धान्तो की जैसी अन्धाधुध नक्ल यहाँ हो रही थी अब यह नही हो रही है। यही पर आचार्य को बहुत बडे विरोधो और विरोधियो का सामना करना पडा है। अन्ध पश्चिमभक्तो ने समवेत स्वर मे सग्राम की घोषणा की थी। पर, यही पर आचार्य वाजपेयी के शिक्षक व्यक्तित्व का एक नया स्वरूप भी प्रकट हुआ है। अपने व्यक्तित्व की दृढता से विपक्ष को मु हतोड उत्तर देने के साथ ही उन्होने सत्साहित्य की व्याख्या की, और उसकी कसौटी पर बाहरी प्रवाहो की परीक्षा की। परिणाम स्पष्ट और आकर्षक हुआ। अनेक व्यक्ति अपना विरोध समाप्त कर आचार्य जी को अपना गुरु मानने लग गए। यहाँ पर आचार्य ने सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र को ही एक विराट कक्षा के रूप मे देखा है और उसे शिक्षित कर योग्य बनाने मे बडा परिश्रम किया है।

अपने सिद्धान्तो पर उन्हे पूर्ण आस्था है। गहन अध्ययन, निरन्तर मनन तथा चिन्तन के द्वारा उन्होने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं, उनसे वे पूर्णतया आश्वस्त हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय म अपनी छात्रावस्था मे ही महान् विभूतियो और सस्थाओ से इन्हे निकटता मिली थी, जिसने इनके व्यक्तित्व को एक विशेष दिशा दी है। यदि विषय एकदम स्पष्ट हो और आस्था दुर्बल न हो तो व्यक्तित्व म दृढता आयेगी अवश्य। आचार्य वाजपेयी जी म इस दृढता के साथ ही खुलापन है, उन्होने किसी प्रकार के पूर्वाग्रह को प्रश्रय नही दिया है। उनके द्वारा निर्देशित प्रबन्ध इसके बहुत बडे प्रमाण है। आधुनिक युग के सभी प्रस्थानो पर उन्होने शोध की प्रेरणा दी है। सभी दृष्टिकोणो से इस युग की परीक्षा करना उनका उद्देश्य है। शोधकर्ताओ को अपने विचारो को प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है—वे अपने निष्कर्ष निकालने मे स्वच्छन्द हैं। इसका परिणाम भी आशाजनक हुआ है। इस युग के साहित्य, साहित्यकार एव सिद्धान्तो पर सागर विश्वविद्यालय मे अद्वितीय कार्य हुआ है। यद्यपि हिन्दी का छायावादी युग कभी न आने के लिए चला गया है, पर आचार्य वाजपेयी जी के निर्देशन म प्रस्तुत शोध प्रबन्धो के द्वारा आज भी वह जनसमुदाय का कण्ठहार बना हुआ है। इस युग की बहुविध व्याख्या इन प्रबन्धो मे की गई है। इसके साथ ही परवर्त्ती काव्य पर उनकी दृष्टि तथा स्थापनायें अपना अलग मूल्य रखती हैं। इन शोध प्रबन्धो ने आचार्य वाजपेयी जी के शिक्षक-व्यक्तित्व को अखिल देशव्यापी विस्तार दिया है। सागर विश्वविद्यालय का हिन्दी शोध विभाग सभी प्रान्तो का आकर्षण-केन्द्र है। पजाब से केरल तथा महाराष्ट्र—गुजरात से बगाल सब जगह के शोधकर्ता वहा मिलेंगे। जो उनका प्रत्यक्ष छात्र बनने का अवसर नही प्राप्त कर पाया वह शोध-कार्य मे उनके शिष्यत्व का आकाक्षी है। ग्रीष्म और शरद्कालीन अवकाशो मे शिक्षक शोध-छात्रो का बहुत बडा समुदाय सागर मे उपस्थित रहता है। साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो, स्थापनाओ तथा सम्भावनाओ पर निरन्तर चर्चा होती रहती है। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय अमूल्य ग्रथो से परिपूर्ण है, आचार्य जी शोधको को उनके अध्ययन योग्य पुस्तको का निर्देश देते रहते हैं।

शोध-निर्देशक के रूप मे आचार्य वाजपेयी जी की एक विशेष शैली मैने देखी है। जब कभी कोई विशेष चिन्तनशील विषय आ उपस्थित होता है, आचार्य उसका विश्लेषण तुरन्त न करके, उसके लिए दूसरा दिन—विशेषकर प्रात काल का समय—निर्धारित करते हैं। निर्धारित समय पर, शोध-छात्र के पहुचने पर वे अन्य कार्यो से अलग हो जाते है। कुछ समय तक तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अन्य-निरपेक्ष हो गये हों। नेत्र अधमुदे हो जाते है, वृत्ति आन्तरिक हो जाती है और अचानक ही उनकी गुरु-गम्भीर वाणी फूट पडती है। शोधक छात्र पत्र-लेखनादि लिए प्रस्तुत रहता ही है। वह एक-एक शब्द कागज मे उतारते चलता है। उस समय आचार्य वाजपेयी डिक्टेट कराने की मुद्रा मे नही रहते, वे तो मुखर चिन्तन (Loud thinking) म जैसे लीन रहते हैं। कक्षाओ मे कभी-कभी उनके इस स्वरूप का परिचय मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी समस्या के उप-

स्थित होते ही वे अपने अतर मे उसका ऊहापोह करते है। बाहर से वे चाहे अन्य अनेक कार्यों मे उलझे रहे, पर उनका आन्तरिक मन उस समस्या के बहुविध विश्लेषण मे व्यस्त रहता है। इसीलिये अपने कार्यों के बीच-बीच मे वे अनेक बार अन्यमनस्क अवस्था मे दीख पडते है। प्रात काल के स्वच्छन्द तथा अपेक्षाकृत कम भारग्रस्त वातावरण मे वे मानो अधिक गहराई मे डूब जाते है तथा उनका मननशील व्यक्तित्व मुखर हो जाता है।

सादगीपूर्ण, स्वच्छ वेशभूषा मे कोमल हृदय वाले आचार्य वाजपेयी जी भारतीय शिक्षकों की एक लम्बी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है। उन्होने शिक्षा का एक नया मानदण्ड स्थापित किया है। आज जबकि नये मूल्य स्थिर हो रहे है, समाज तीव्रगति से सक्रमण कर रहा है और भारतीय जीवन की क्षितिज–रेखा नये प्रकाश से आलोकित हो रही है उस समय नये नेताओ के निर्माण के लिये आचार्य वाजपेयी सफल अध्यापक सिद्ध हुए है। उन्होने दत्तचित्त होकर, एक सच्चे कलाकार के समान अपने छात्रो मे नए मानव का निर्माण किया है। उनके हाथो नई सशक्त मानवता रूप ग्रहण कर रही है। उदार दृष्टि और अप्रतिहत गति से पूर्ण ऐसे शिक्षको ने भारतीय इतिहास मे बडे महान् परिवर्तन किये है। आचार्य वाजपेयी से भी हमे यही अपेक्षा है।

●

आचार्य वाजपेयी जी : सम्पादक के रूप में

—डा० गगानारायण त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का बहुमुखी व्यक्तित्व, आज कई रूपो मे विख्यात, कई दिशाओ मे आलोकित तथा कई क्षेत्रो मे विस्तृत है। उनकी तरुण साहित्यिकता के प्रथम उत्थान से हमे उनके भावुक कवि-हृदय का दर्शन मिलता है[1]। आज के श्रेष्ठ समीक्षक के गाम्भीर्य एव पाण्डित्य में वह कवि-हृदय उसी प्रकार स्थित था (और शायद है) जैसे कठोरता की उपमा धारण करने वाले पर्वत के अक मे निर्झर होता है। निबन्धकार के रूप मे अर्जित उनकी ख्याति, काल की प्रबल शक्ति को चुनौती देती हुई शाश्वत है। समीक्षक के रूप मे उनकी सवेदनशीलता तथा पूर्वाग्रहरहित होकर नवीन सत्यो को सदैव स्वीकार करने की तत्परता अपूर्व है। कृतित्व के मूल्याकन की उनकी पैनी दृष्टि हमारे मत से उन्हे प० रामचन्द्र शुक्ल के समीप स्थान देती है। प्राध्यापक के रूप मे उनकी ख्याति प्रादेशिक सीमाओ को लाघकर अखिल भारतीय स्वरूप धारण कर चुकी है। सम्पादक के रूप मे उनकी कुशलता विभिन्न अवसरो पर प्रगट हो चुकी है। आचार्य वाजपेयी जी के इन सभी स्वरूपो मे कौन-सी मूल प्रेरक शक्ति है— उनका पाण्डित्य ? उनकी गहन अध्ययनशीलता ? उनका मानवतावादी सहृदय दृष्टिकोण ? अथवा सर्वसुलभ उनकी स्नेहशीलता ? इनमे से कोई एक कारण बनाया जा सकता है, किन्तु हमारे दृष्टिकोण से इन सब स्वरूपो की विधायक एक—केवल एक—शक्ति है और वह है उनकी अपूर्व प्रतिभा। प्रतिभा के अभाव मे किसी एक ही क्षेत्र मे कार्य किया जा सकता है, पूर्णत सफलता भी प्राप्त की जा सकती है, पर अनेक मार्गों की मजिल, अनेक दिशाओ को जोडने वाला क्षितिज, अनेक सरिताओ को बाधने वाला सागर, केवल प्रतिभा के जादू से ही उपलब्ध हो सकता है। जिस प्रकार वट का एक नन्हा-सा बीज, जल की एक

1 'महारथी' (दिल्ली) तथा 'विशाल भारत' (कलकत्ता) के कई अको मे प्राप्त।

बूद का स्पर्श पाकर विराटता को साकार करता हुआ, अनेक शाखाओ प्रशाखाओ के साथ शताब्दियो की गाथा सुनाने को खडा हो जाता है, ठीक उसी प्रकार केवल प्रतिभा की सजीवनी शक्ति से ही एक व्यक्तित्व अनेक रूपो मे उच्चतम मान बिन्दु तक पहुचता है। सक्षेप मे, वाजपेयी जी के उल्लिखित विभिन्न स्वरूपो का भी यही रहस्य है।

यहाँ उनके सम्पादकीय रूप के मूल्याकन का ही एक लघु प्रयास है, अतएव इस प्रसग से यह स्वीकार करना आवश्यक है कि उनके इस स्वरूप मे भी प्रतिभा की ही सृजनशीलता रही है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम एक उदाहरण देना चाहेंगे। कल्पना कीजिए १९३० के आसपास के युग की! पूज्य महात्मा गाधी के विकट असहयोग-आन्दोलन की जागरणवेला! देश की धमनियो मे होने वाला उष्ण रक्त-सचार! हिन्दी-पत्रो के द्वारा राष्ट्रीयता का निर्भीक उद्घोष! परिणामत विदेशी शासन की क्रूर दमननीति! अमर शहीद गणेशशकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराडकर जैसे सम्पादको द्वारा स्थापित की जाने वाली उच्च परम्परा! और इन सबके बीच मे काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० करके निकलने वाले एक तरुण पर 'भारत' जैसे पत्र के सम्पादन का कठिन भार! वह तरुण थे श्री वाजपेयी जी।

'भारत' सम्पादन के समय जो पूर्व पृष्ठभूमि थी, उसमे वाजपेयी जी ने जिस कुशलता तथा सूझ-बूझ से तीन वर्ष तक (१९३० से ३२) सम्पादन किया, वह उनकी विशिष्ट प्रतिभा का ही परिचायक है। 'भारत' नीति की दृष्टि से 'लीडर' जसे उदार (लिबरल) पत्र से सम्बन्धित था। उसके सचालको की नीति के अनुसार उग्र राष्ट्रीयतापरक समर्थन अवाछनीय था और वाजपेयी जी स्वय राष्ट्रीय विचारो के कट्टर समर्थक थे। उनकी यह कट्टरता सभवत उनके पिता श्री प० गोवर्धनलाल वाजपेयी की देन थी जो उन दिनो कारावास मे थे। इसके अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से 'भारत' अभी तक अधिकतर विवादग्रस्त पक्षो को ही उठाने मे प्रवृत्त हुआ था[1]। इस परिस्थिति मे उन्होने सम्पादन कार्य आरम्भ किया। किसी भी सम्पादक का प्रथम गुण निर्भीकता है। वाजपेयी जी ने प्रथम ही इसका परिचय दिया। सम्पादकीय लेखो के सम्बन्ध मे उन्होने स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजी के पत्र शिक्षित-जनो तक ही सीमित हैं, पर हिन्दी के पत्र सामान्य जनता तक पहुचते हैं। इस स्थिति म 'लीडर' की नीति कुछ भी हो, 'भारत' मे सामान्य जनता की भावनाओ का प्रतिबिम्ब होना ही चाहिए। सचालको ने इसे स्वीकार कर लिया, केवल इस निर्देश के साथ कि कभी शान्ति-भग को उत्तेजना देने वाला लेख नही होना चाहिए। इस

1 प० वेंकटेशनारायण तिवारी के सम्पादन मे 'राधा स्वकीया या परकीया' का विवाद इसी समय चला था।

प्रकार सीमित क्षेत्र मे कार्य करते हुए भी उन्होने सदैव राष्ट्रीयपरक कार्यों को प्रोत्साहन दिया और अपनी लेखनी से विदेशी शासन के अन्यायमूलक एव अनुचित कार्यों का विरोध किया। यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम 'लीडर' तथा 'भारत' के तत्कालीन सम्पादकीय लेखो का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। निस्सदेह 'भारत' ने अपने प्रगतिशील अग्रलेखो से लोकप्रियता प्राप्त की। 'भारत' के इन राष्ट्रीयपरक एव प्रगतिशील सम्पादकीय लेखो की सराहना श्री श्रीप्रकाश तथा डा० सम्पूर्णानन्द जी जैसे राष्ट्र-सेवियो ने किया[1]।

किसी भी पत्र का अग्रलेख उसका प्रतिबिम्ब होता है। इसीलिए अग्रलेख की अपनी मौलिक शैली एव भाषागत विशेषता होती है। इस सबध मे प्रसिद्ध पत्रकार श्री एस० नटराजन के निम्न शब्द ध्यान देने योग्य है।

"What is important is that when some one is heading your editorial, he must not have his attention diverted by the thought of how well you have written it He must follow the argument and see your point of view The best writing only impresses itself as well as expresses afterwards[2]"

इस दृष्टि से विचार करने पर वाजपेयी जी के अधिकाश सम्पादकीय लेख श्रेष्ठता की कोटि मे आते हैं। प्रभावशीलता की दृष्टि से उनके एक अग्रलेख का निम्न अश दृष्टव्य है—

"सम्पादक तो सभी होते हैं, कितने आये, कितने गये। बहुत से लोग 'विद्यार्थी जी' से भी उच्चकोटि के सम्पादक कहला सकते है। जेल जाने मे हजारो आदमियो ने वर्ष भर के भीतर ही विद्यार्थी जी की समता का दावा किया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने वाली सख्या जितनी चाहिए मिल जायेगी, पर विद्यार्थी जी की तुलना इस धरातल पर करना अपनी मूर्खता और कृतघ्नता साबित करना है। हमे अल्पप्राण और महापुरुष का अन्तर समझना चाहिए। सब सम्पादक शिरोमणि अस्त हो जायेंगे, तब भी विद्यार्थी जी की ज्योति अमिट रहेगी, क्योकि गगा-यमुना की भाति जो पवित्र धारायें महापुरुषो के अन्तर मे बहा करती हैं, वे शाश्वत हैं।"

—'भारत', पूज्य विद्यार्थी जी की वीरगति, २ अप्रैल १९३१।

---

1 लेखक के साथ आचार्य वाजपेयी के किसी वार्तालाप के आधार पर।

2. Journalism in Modern India, Page 136

अग्रलेखो की अपेक्षा टिप्पणियो के लिखने के लिए पृथक् शैली होती है। टिप्पणियो मे किसी सार्वजनिक प्रश्न पर समस्या की विवेचना की अपेक्षा उनका सकेत मात्र ही होता है। इनकी शैली भी अधिकतर व्यग-विनोदमय तथा सरल होनी चाहिए। वाजपेयी जी द्वारा लिखित टिप्पणियो में यह विशेषता सर्वप्रमुख है। ऐसी ही एक टिप्पणी का कुछ अश यहाँ उद्धृत है—

"एक छोटा सा रेंगने वाला जन्तु होता है केंचुआ, जो अधिकतर बरसात के दिनो मे पैदा हुआ करता है। केंचुये के दो मुँह होते है, एक तो आगे रेंगने के लिये, दूसरा पीछे सरकने के लिए। इन दोनो मुँहो की सहायता से केंचुआ जब जिधर चाहता है चलता है। विधाता की सृष्टि मे इन आगे-पीछे चलने वाले उभयमुखी जन्तुओ का यह अनोखा स्थान है।"

"अभी उस दिन भारत सरकार ने आगामी सुधार योजना के लिए, जो सिफारिश का पत्र भेजा है वह भी हमारे सामने केंचुये के रूप मे ही प्रकट हुआ है। प्रारम्भ मे वह सरकारी केंचुआ आगे की ओर रेंगता है, पर थोडा सा आगे चलकर वह अचानक पीछे खिसकता देख पडता है।"

—'भारत', सरकारी केंचुआ, २१ नवम्बर, १९३०।

वाजपेयी जी के द्वारा, 'भारत' के साहित्यिक स्वरूप को सुदृढ बनाने का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होने अपने सम्पादनकाल मे रचनाओ के प्रकाशन मे व्यक्तिविशेष की अपेक्षा रचनाविशेष के सिद्धान्त का दृढता से पालन किया। इसी पत्र के द्वारा इन्होने छायावादी काव्य और कृतियो के सम्बन्ध मे एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित कर परम्परावादी समीक्षा के कठोर पाशो से नवीनतावादी कवियो एवं रचनाओ को मुक्त किया। इस सम्बन्ध मे उन्होने भारत मे एक लेखमाला आयोजित की। इसके अन्तर्गत सवेदनशील समीक्षा का एक नया रूप सर्वप्रथम उपस्थित हुआ। 'भारत'-सम्पादक के रूप मे ही उन्होने हिन्दी-साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियो का खुला स्वागत कर उन्हें पाठको के सामने आने की शक्ति दी। इस कार्य के द्वारा हिन्दी मे नवीन समीक्षा का जो द्वार उद्घाटित हुआ, उसका आज ऐतिहासिक महत्व स्वीकार किया जाता है।[1] राजनीतिक, सामाजिक लेखो के

---

१ वाजपेयी जी ने उसे (छायावाद) हिन्दी काव्य का अभिनव उन्मेष, नई सास्कृतिक जाग्रति का रूपक और युगानुकूल काव्य-सस्कार से युक्त बतलाया। छायावाद के सूत्रपातकर्त्ता पन्त, प्रसाद, निराला के काव्य सौन्दर्य का अपने लेखो मे उन्होने उद्घाटन किया। इस प्रकार प्रबल नैतिक आग्रह और बाह्य उपचारो से दबी काव्यचेतना को मुक्त करके तथा नवीन साहित्यिक उत्थान मे सतर्कतापूर्वक योग देकर उन्होने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया।

अतिरिक्त इनके साहित्यिक अग्रलेख भी महत्वशाली रहे। इन लेखो का स्वरुप स्तुतिपरक की अपेक्षा तटस्थ मूल्यांकन का रहा। सम्भवत ऐसे लेखो के कारण ही, सम्पादन मे पर्याप्त बाधाओ का भी उन्हे सामना करना पडा, पर अपने कार्य-काल तक वे अपनी नीति पर दृढ रहे।

'भारत'-सम्पादन के पश्चात् वाजपेयी जी का सम्पादन विशुद्ध साहित्यिक रहा है। वस्तुत पत्रो की अपेक्षा पाण्डुलिपियो, पुरानी कृतियो पर ग्रन्थो का सपादन अधिक कठिन होता है। ऐसे सम्पादन के लिए पूर्ण पाण्डित्य, प्रतिभा और परिश्रम आवश्यक होता है। वाजपयी जी के सम्पादन का यह दूसरा स्वरुप इसी प्रकार का है। 'भारत'-सम्पादन के चार महीने बाद १९३३ में इन्हाने डा० श्यामसुन्दरदास के बुलावे पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान मे प्रकाशित होने वाले 'सूरसागर' के सम्पादन का दायित्व सभालने का कार्य हाथ म लिया। यह कार्य कठिन स्थिति मे था। 'सूरसागर' के सम्पादन का आरम्भ श्री जगन्नाथदास रत्नाकर जी के निरीक्षण मे हो चुका था। रत्नाकर जी ने सूरसागर की समस्त प्रतियो म प्राप्त पदो को एक बडे रजिस्टर मे अनुक्रमिक रूप मे लिखवा लिया था, इसी बीच उनका देहान्त हो गया। इस स्थिति मे वाजपेयी जी को विभिन्न स्थानो से प्राप्त समस्त प्रतियों का अध्ययन कर, प्रत्येक पद को सौन्दर्य और उसकी प्राचीनता की प्रामाणिकता के साथ 'सूरसागर' म स्थान देना पडा। यह महन् कार्य उन्हाने बडी योग्यता से-पूर्ण किया। यही कारण था कि डा० श्यामसुन्दरदास तथा सूर-सम्पादन समिति के सयोजक प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' इस कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट रहे। निजी वार्तालाप में हरिऔध जी प्राय वाजपयी जी से कह देते—"जब आप यह कार्य कर ही रहे हैं तो हमे क्या देखना है।[1]" 'सूरसागर' के बाद इनके सम्पादनकाल के दो अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख आवश्यक है। 'कल्याण'-सम्पादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के आमन्त्रण पर गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' की प्रामाणिक प्रति सम्पादित करने म भी वाजपेयी जी का मूल्यवान सहयोग रहा। यह कार्य इन्होंने तीन वर्षों (१९३६ से ३९) मे सम्पन्न किया। इसी अवधि मे इन्होने इण्डियन प्रेस प्रयाग के आग्रह पर 'सूर-सदर्भ' नामक पुस्तक का भी सम्पादन किया। इस सम्पादन मे वाजपेयी जी द्वारा लिखित 'सूर-सन्दर्भ' की भूमिका आज तक एक विशेष महत्व की मानी जाती है।

वाजपेयी जी के सम्पादक का पाण्डित्यपूर्ण तथा भविष्य नियामक रूप प्रस्फुटित हुआ है 'आलोचना' (त्रैमासिक दिल्ली) के सम्पादन मे। इस पत्रिका का उन्होंने सन् १९५७ से ६० तक सम्पादन किया। इनके सम्पादन मे 'आलोचना' ने

१ —श्री विजयशंकर मल्ल हीरकजयन्ती-ग्रन्थ, नागरीप्रचारिणी-सभा। आचार्य वाजपेयी के साथ लेखक के निजी वार्तालाप के आधार पर।

हिन्दी-जगत् की समस्त गवेषणात्मक तथा समीक्षात्मक पत्रिकाओ मे अपना एक नया स्तर स्थापित कर दिया था। 'आलोचना' के द्वारा उन्होने समीक्षा की अभिनव योजना प्रस्तुत की, जिसके अनुसार एक भारतीय साहित्यकार, एक विदेशी साहित्यकार तथा एक समसामयिक साहित्यकार की कृतियो के अध्ययन की नयी प्रणाली आरम्भ हुई। हिन्दी मे साहित्यिक पत्रिकाओ के बहुत से विशेषाक निकल चुके हैं, पर 'आलोचना' का 'नाटकाक' तथा 'काव्यालोचनाक' अविस्मरणीय है। वाजपेयी जी ने इसमे जो *सामग्री दी है, वह सामयिक साहित्य न रह कर स्थायी साहित्य* बन गई है। नाटकाक मे नाटक-साहित्य की समग्र विवेचना के साथ नाटक की नवीनतम प्रवृत्तियो का निर्देश किया गया है। काव्यालोचनाक दो भागो मे प्रकाशित हुआ है। एक मे वैदिक युग की काव्यधारा से लेकर आज तक की काव्य-प्रवृत्तियो का पूर्ण परिचय है। प्रमुख भारतीय भाषाओ तथा अग्रेजी साहित्य के प्रधान काव्यकारो का भी मूल्याकन किया गया है। एक प्रकार से यह अक भारतीय काव्य का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करता है। दूसरे भाग (शेषाक) मे साहित्य-समीक्षा के विविध सिद्धातो का अनुशीलन है। पश्चिम और पूर्व के समीक्षातत्वो को एक साथ रखकर विश्लेषण करने का यह प्रथम सुगठित प्रयास है।

वाजपेयी जी के सम्पादनकाल मे 'आलोचना' के अन्य अको मे भी सन्तुलित सामग्री दी गई है। देशी-विदेशी साहित्य का विस्तृत परिचय देने के अतिरिक्त भारतीय और यूरोपीय विचार-धाराओ का इन अको मे प्राय आकलन है। सक्षेप मे यह कहना अधिक ठीक है कि जिस प्रकार वाजपेयी जी के सन् १९३० के सम्पादकीय रूप ने छायावादी काव्य को नवीन दृष्टि देकर ऐतिहासिक कार्य किया था, उसी प्रकार उनके इस सम्पादकीय रूप ने आधुनिक हिन्दी-समीक्षा को, जो दो छोरो मे (प्रगतिवाद, प्रयोगवाद) बँट रही थी, भारतीय समीक्षा का सन्तुलित रूप देकर महान् कार्य किया है।

वाजपेयी जी के अब तक के अन्तिम सम्पादन की यह ऐसी उपलब्धि है जिसकी सराहना डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भगीरथ मिश्र, डा० रामविलास शर्मा तथा श्री शिवदान सिंह चौहान आदि ने की है।

जिस प्रकार 'भारत' के सम्पादकीय, वाजपेयी जी की एक विशिष्ट शैली के द्योतक हैं, उसी प्रकार 'आलोचना' के सम्पादकीय दूसरी शैली के। एक मे भाषा की सरलता, चचलता तथा विचारो को सामान्य दृष्टि से रखने का कौशल है तो दूसरी मे परिष्कृत, गम्भीर भाषा के साथ विचारो की तल-स्पर्शी अभिव्यक्ति है, जैसे :—

"आज पश्चिम की तरह हिन्दी मे भी वाद-बहुलता का युग आया जान पड़ता है। यथार्थवाद, प्रगतिवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद आदि ये नाम यहा भी

प्रचलित हुए है । इन सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनके पुरस्कर्त्ता इनमे अपने सक्रिय चिन्तन कर योग करने मे प्राय असमर्थ रहे हैं । आधुनिक जगत् की परिस्थितियो को देखते हुए भारत मे उनका आगमन कोई अनहोनी बात नही है, किन्तु अपनी वास्तविक जीवनस्थिति और चेतना-स्तर के साथ उनका उपयुक्त सामन्जस्य स्थापित करना भी आवश्यक है सैद्धान्तिक प्रगति और सृजन दोनो के ही नाम पर वर्तमान परिस्थिति हमारे स्वतन्त्र चिन्तन की माग करती है ।" इन दोनो शैलियो की रचनाओ का एक ही लेखनी से सृष्टि होना आश्चर्यजनक लगता है । यहाँ एक बार पुन हम निवेदन करना चाहेगे कि उनमे निहित विशिष्ट प्रतिभा की सृजनात्मक शक्ति का ही यह प्रभाव है । 'आलोचना' वाली शैली मे तो वाजपेयी जी की अनेक कृतियाँ गत तीस वर्षों मे अपना स्थान बना चुकी है, पर 'भारत -सम्पादक वाजपेयी जी की जो सुबोध, व्यगात्मक और मुहाविरेदार शैली है, उसके अक मे भी अनेक कृतियो की सृजनात्मक शक्ति है । इस प्रसग मे स्वभावत यह लालसा उठती है कि यदि आचार्य वाजपेयी अपनी इस शैली मे जीवन के उन क्षणो को जीवित कर देते जिन क्षणो मे प्रयाग-काशी के निराला, प्रेमचन्द और प्रसाद जैसे साहित्यकारो के साथ उनका समय सघर्षों और स्मृतियो के बीच बीता है, तो वे सस्मरण आज और कल की आने वाली पीढियो के लिये न केवल इतिहास की सरसता बन जाते, वरन् साहित्य के कुछ नवीन रत्न प्रकाश मे आ जाते ।

●

राष्ट्रभाषा के अनन्य सेवक—आचार्य वाजपेयी जी

—डॉ० अम्बाशंकर नागर एम० ए०, पी–एच० डी०

राष्ट्रभाषा हिन्दी के आन्दोलन का इतिहास भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास से किसी भी भांति कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दीर्घकालीन संघर्षों के पश्चात् १४ सितम्बर सन् १९४९ को हिन्दी भारतीय संविधान के द्वारा राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई। किन्तु यह सर्व विदित है कि इसके पश्चात् भी सही अर्थ में उसके राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा बनने की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

सिंहासनारूढ़ होने से हिन्दी का उत्तरदायित्व बढ़ा, साथ ही उसकी समस्याएं द्विगुणित हो उठी। हिन्दी के साहित्य-सेवियों में से बहुत कम लोगों ने इस ओर ध्यान दिया। अधिकांश तो इसी से संतुष्ट थे कि हिन्दी को उनके प्रयत्नों से राजभाषा का उच्चपद प्राप्त हो गया। अच्छा होता यदि हिन्दी-सेवी बिना कुछ कहे, हिन्दी को समृद्ध करने में, उसका प्रचार एवं प्रसार करने में जुट जाते। पर, खेद के साथ कहना पड़ता है कि ऐसे कर्मठ कार्यकर्त्ताओं की बड़ी कमी रही। अधिकांश तो हिन्दी के गौरव के गीत गाने में ही लगे रहे। जिनका ध्यान हिन्दी की तत्कालीन समस्याओं की ओर गया, उनमें से कुछ ने उसके स्वरूप की रक्षा का दुराग्रह पकड़ लिया। कुछ हिन्दी को सारे देश में शिक्षा का माध्यम बनाने, उसे सरकारी नौकरियों में तथा उच्चन्यायालयों में स्थान दिलवाने के दिवास्वप्न देखने लगे। परिणामस्वरूप अहिन्दी भाषियों के मन में हिन्दी के प्रति जो स्वाभाविक स्नेह था वह भय में परिवर्तित होने लगा। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र और विशेषकर दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध होने लगा। 'हिन्दी-साम्राज्यवाद' के विरुद्ध मोर्चा लेने की तैयारियाँ होने लगीं। ऐसी विषम परिस्थितियों में जिन महारथियों ने हिन्दी की समस्या को सही अर्थ में समझकर इसके समाधान का स्तुत्य प्रयास किया, उनमें आचार्य वाजपेयी का नाम स्वर्ण-अक्षरों में लिखा जाने योग्य है।

आचार्य वाजपेयी जी की जीवन-साधना के पक्ष की ओर अभी बहुत कम लोगो का ध्यान गया है। जिनका ध्यान इस ओर गया, उन्होंने भी इस रचनात्मक कार्य का उचित मूल्याकन नही किया। आचार्य जी की रचनात्मक सेवाए भी उनकी साहित्यक साधना की भाति नमस्य है। उन्होने हिन्दी के टिमटिमाते हुए दीपक को अपने स्नेह से सीचकर आलोकित कर दिया। प्रतिकूल पवन-प्रवाहो से झिलमिलाती दीपशिखा को उन्होने अपनी ओट मे लेकर अभयदान दिया। अत हिन्दी का यह अखडदीप जब तक जलेगा, आचार्य जी की सेवाओ की स्मृति भी तबतक अक्षुण्ण रहेगी।

प्राय कहा जाता है कि हिन्दी की समस्या को राजनीतिक नेताओं ने नही समझा, क्योकि उन्होने इस प्रश्न पर कभी राजनीति से हटकर विचार ही नही किया। किन्तु इसी भाति यह भी कहा जा सकता है कि साहित्यकारो का दृष्टिकोण भी इस प्रश्न पर एकागी ही रहा। वे भी हिन्दी के प्रश्न पर केवल भाषा और साहित्य की दृष्टि से ही विचार करते रहे। उन्होंने भी समग्र देश की परिस्थितियो, आकाक्षाओ एव आवश्यकताओ की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता भी नही समझी। यह भूल हिन्दी-सेवियो से अधिक हुई। उन्हे यह ध्यान ही नही रहा कि उनके उद्गार हिन्दी के विकास मे भारी बाधा उत्पन्न कर रहे हैं।

मेरा यह निश्चित मत है कि हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश मे बैठ कर कोई भी व्यक्ति हिन्दी समस्या को न तो समझ सकता है न उसका उचित मूल्याकन ही कर सकता है। जबतक इस विराट देश के उत्तरी सीमात से दक्षिणी छोर तक और इसी प्रकार पूर्व से पश्चिम तक घूम कर कोई इस प्रात के भाषा-वैविध्य और उसमे निहित एकता से भलीभाति परिचित न हो ले, तबतक भाषा-समस्या पर उसके विचार 'अधो के देश मे हाथी' वाली जनश्रुति के अनुसार अनुभूत सत्य होते हुए भी आशिक एव एकागी ही रहेगे।

आचार्य वाजपेयी जी ने इस देश के एक छोर से दूसरे छोर तक न केवल यात्रा की है, बल्कि वे इन प्रातो की शैक्षणिक सस्थाओ से सम्बन्धित रहे हैं। बगाल, गुजरात एव महाराष्ट्र मे तो शैक्षणिक कार्य के निमित्त, उनका आना-जाना होता ही रहता था। सन् ५९ मे उन्हे भारतीय शासन की योजना के अन्तर्गत दक्षिण भारत (विशेषत केरल) की अभिभाषण यात्रा पर जाना पडा। वहा उन्होंने त्रिवेन्द्रम, क्विलान, चांगूर, चगनाचेरी, कोट्टायम, एट्टिमनूर और पालाई, एरनाकुलम् त्रिचूर पालघाट, कालीघाट, टेलीचेरी आदि स्थानो का पर्यटन किया और वहाँ के महाविद्यालयो के स्नातको, विश्वविद्यालयो के स्नातकोत्तर छात्रो, अध्यापको और हिन्दी-प्रचार-सस्थाओ के बीच उन्होने हिन्दी का समर्थन एव भावात्मक एकता की पुष्टि करने वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण दिए।

अपनी दक्षिण भारत-यात्रा के समय आचार्य जी ने हिन्दी के सम्बन्ध मे फैले हुए भ्रमो का निवारण, राष्ट्रभाषा पर किए जाने वाले आरोपो का खडन, भारतीय साहित्यो का पारस्परिक आदान प्रदान, राष्ट्रभाषा के विकास मे दक्षिण का योगदान आदि विषयो पर बडे ही सरल एव सारगर्भित भाषण दिये । इन भाषणो को उन्होने बडे ही सुन्दर उदाहरणो और दृष्टातो से मनोरजक एव बोधगम्य बनाया । जिन लोगो ने आचार्य जी के इन भाषणो को सुना अथवा पढा है वे इनका महत्त्व सहज ही समझ सकते हैं । भाषा के प्रचार-प्रसाद एव समर्थन के साथ-साथ आचार्य वाजपेयी जी के ये भाषण देश की भावात्मक एकता की दिशा मे किए गए सत्प्रयत्नो मे से हैं ।

अब हम आचार्य वाजपेयी जी के राष्ट्रभाषा सम्बन्धी विचारो का तत्कालीन परिस्थितियो के सदर्भ मे विवेचन करेंगे ।

राजभाषा बन जाने के पश्चात् हिन्दी की स्थिति बिहारी की 'कहत न देकर की कुबत' वाली नायिका के सदृश्य हो गई । राजसिंहासन पर आरूढ होकर वह घर की बडी बहू के सदृश्य अपनी गौरव-गरिमा मे सिमटी बैठी रही । अहिन्दी-भाषी उस पर जो आरोप-आक्षेप कर रहे थे, उन्हे चुपचाप सहलेने के अतिरिक्त उसके पास और कोई चारा नही था । शिकायत करने से अतर्विग्रह की शका निश्चित थी । उत्तर की आठ और दक्षिण की चार भाषाओ को उसे उचित सम्मान देना था और १५ वर्ष की सुनिश्चित अवधि मे उसे इतने बडे राज्य का भार वहन करने के लिये सक्षम प्रमाणित होना था । सक्षेप मे यही हिन्दी की समस्या थी । हिन्दी के स्वमान की रक्षा, अहिन्दी भाषा-भाषियो के भ्रम का निवारण और हिन्दी को साधन-सपन्न एव समृद्ध करने की अत्यन्त आवश्यकता थी । आचार्य वाजपेयी जी ने जैस इस काम को करने का बीडा उठा लिया और हिन्दी-विरोधियो के बीच अपने दक्षिण-प्रवास मे बडे ही उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से इस विषम कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न किया ।

सन् १९५९ मे अपने केरल प्रवास के समय त्रिवेन्द्रम मे मारआइवानिस कालेज मे आर्चबिशप की अध्यक्षता मे उन्होने कहा

"सभी देशो मे जनता को महत्त्वपूर्ण तथा साधारण से साधारण कार्य के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पडती है । यदि इस देश मे विभिन्न प्रकार के भाषा-भाषी न होते और इस देश का विस्तार अधिक न होता, तो एक या दो भाषाओ से काम चल सकता था । सम्भव यह भी था कि मध्यवर्ती या केन्द्रवर्ती भाषा की आवश्यकता ही न पडती । पर भारतवर्ष एक बडा देश है । इसके विभिन्न भागो मे कुल मिला कर १४ बड़ी भाषायें प्रचलित हैं । इस विभिन्नता मे सर्व-

साधारण को आपस मे कार्य करने और एक दूसरे को समझाने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है[1] ।"

ध्यान देने की बात है कि इस उद्धरण मे आचार्य जी ने सामान्य भाषा की आवश्यकता का कारण देश की भौगोलिक विशालता को माना है । उनका दृष्टिकोण हिन्दी के समर्थको से नितात भिन्न है ।

इसी भाषण मे हिन्दी को राजभाषा बनाये जाने के कारणो को भी उन्होंने बडे सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है

"उन्तीस करोड आदमी इस भाषा को व्यवहार मे लाते हैं, एक हजार वर्षों का इसका साहित्य है, इतिहास की दृष्टि से भी यह केन्द्र की भाषा है । इसलिए यदि इसे राजभाषा बनाया गया तो उचित ही है[2] ।"

यहाँ भी हिन्दी के समर्थन मे आचार्य जी ने सख्या, साहित्य और इतिहास के जो तीन तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे अकाट्य हैं । राजभाषा और राष्ट्रभाषा के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इसी भाषण मे कहा

"राजभाषा उसे कहते हैं जो केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारो द्वारा पत्र-व्यवहार, राजकार्य और अन्य सरकारी लिखा-पढी मे काम मे लाई जाय । राष्ट्रभाषा की कल्पना इससे भिन्न है । उसका पद और भी बडा है । वही राष्ट्रभाषा कहला सकती है, जिसको सब जनता समझती हो । मैं आपसे राजभाषा की नही, राष्ट्र-भाषा की बात करने आया हू । कोई भी व्यक्ति सारी जिन्दगी घर पर नही रह सकता । उसे उत्तर, दक्षिण, पूर्व या पश्चिम कही न कही जाना ही पडेगा । वर्तमान युग ने अपने देश के विभिन्न भागो की दूरी बहुत कम कर दी है। अतएव भारत सरीखे देश के लिए यह आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि एक सामान्य भाषा हो[1] ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य जी हिन्दी को केवल राजभाषा के रूप मे देखकर ही सन्तुष्ट नही हैं । वे उसे राष्ट्रभाषा के रूप मे देखना चाहते हैं । जब तक कोई भाषा नही बनती तब तक वह बिना मूल की वेल की भाति अपने आश्रय-दाताओ की कृपा पर ही अवलम्बित रहती है । उसमे जीवतता का नितात अभाव रहता है ।

---

१ मारआइवानिस कालेज त्रिवेन्द्रम की हिन्दी साहित्य-सभा के उद्घाटन-भाषण से

२ वही

३ वही

आचार्य वाजपेयी जी का यह निश्चित मत है कि अंग्रेजी कभी इस देश की भाषा नही हो सकती। अंग्रेजी का विरोध करते हुए उन्होने कहा है—

"मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि डेढ दो सौ वर्षों मे मुश्किल से एक प्रतिशत से भी कम जनता अंग्रेजी जान पाई है। अंग्रेजी की इस स्थिति के रहते उसे राष्ट्रभाषा नही बनाया जा सकता सच्चे प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक होगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाय[1]।"

दक्षिण की हिन्दी-सम्बन्धी नीति को समझाते हुए उन्होने कहा—

"हिन्दी को राजभाषा का पद देने मे दक्षिण भारतीयो का समर्थन नही विधायक बना आज वे राजभाषा के रूप मे हिन्दी का विरोध कर रहे हैं। यदि हिन्दी सम्बन्धी स्थिति को एक रूपक देकर आपके समक्ष रखा जाय, तो हम कह सकते है कि पाणिग्रहण और अभिषेक के पश्चात् हमारे विचार बदल गये हैं, और हम विवाह-विच्छेद कर डालना चाहते हैं[2]।"

मद्रास के हिन्दी-विरोध पर भी उन्होने कटाक्ष किया—

"मद्रास मे हिन्दी जब आई तो उसे एक अनहोना प्रस्ताव सुनने को मिला। अस्सी वर्ष की आयु के एक सज्जन ने विवाह किया था। नब्बे वर्ष की आयु मे उन्होने दूसरे विवाह का प्रस्ताव किसी बाहर की रमणी के साथ कर दिया। यह बात अधिक हास्यास्पद है, क्योकि अस्सी वर्ष की आयु मे विवाह करने पर जब इन्द्रियाँ अधिक शिथिल हो गईं, तब विदेशी रमणी से विवाह करने पर परिणाम क्या होने वाला है, इसे सभी समझ सकते हैं[3]।"

केरल निवासियो के हिन्दी के प्रति प्रेम की सराहना करते हुए वाजपेयी जी ने बडे सुन्दर ढंग से उन्हे इसके लिए धन्यवाद दिया है—

"स्वयवर के लिए हिन्दी मद्रास से केरल आई तो उन्होने राजभाषा हिन्दी को इसलिए भी अपनाया कि उनके सामने कन्याकुमारी का उदाहरण था। अतएव वे कुमारियो की सख्या बढाना नहीं चाहते[4]।'

महाराष्ट्र और गुजरात के लोगो के आक्षेपो की चर्चा करते हुए उन्होने कहा—

---

१ मारआइवानिस कालेज त्रिवेन्द्रम की हिन्दी-सभा के उद्‌घाटन-भाषण से।
२ युनिवर्सिटी कालेज त्रिवेन्द्रम मे २८-८-५९ को दिये गये भाषण से।
३ वही
४ वही

"महाराष्ट्र और गुजरात के कुछ लोगो ने कहा—"हिन्दी मे कुछ विशेष सौन्दर्य नही विवाहेच्छु व्यक्ति क्या कभी कह सकता है कि हमारे घर के व्यक्ति (माँ, बहिन) अधिक सुन्दर है, अत मैं किसी अन्य नारी से विवाह नही कर सकता[1] ।"

बगाल की बाजारू हिन्दी की माग की आलोचना करते हुए उन्होने कहा—

"जब हिन्दी बगाल मे पहुची तो वहाँ के व्यक्तियो ने कहा कि यदि खूबसूरती नही है तो कोई बात नही है । हम तुमसे एक शर्त पर विवाह कर सकते है कि विवाह के पश्चात् हमे तुम्हारे साथ गलती करने का अधिकार दिया जाय[2] ।"

इस प्रकार हिन्दी के प्रति विभिन्न प्रान्तो का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए आचार्य जी ने कहा—

"सारे देश का सहयोग ही हिन्दी के प्रसार के इस प्रयास को सफल बना सकेगा । हिन्दी आज किसी एक प्रदेश की ही नही है, वरन् समूचे भारत देश के नागरिको का उस पर अधिकार है, साथ ही उसकी उन्नति मे सहयोग देने का दायित्व भी[3] ।"

केरल मे आचार्य जी के भाषण बहुत सरल, सुबोध एव सारगर्भित शैली मे हुए । उन्होने विविध रूपको और दृष्टान्तो से हिन्दी-समस्या को केरलवासियो के सम्मुख प्रस्तुत किया । कही द्रौपदी-स्वयवर के दृष्टान्त तो कही पार्वती-परिणय के आख्यान का आशय लेकर आचार्य वाजपेयी जी ने हिन्दी के आक्षेपो का परोक्ष रूप से बडा ही सुन्दर उत्तर दक्षिण की जनता को दिया । उन्होंने कहा—

"पार्वती जी के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए शकर जी ने दो दूत भेजे । उन्होंने शकर के रूपरग की निन्दा की तथा अन्य देवो की प्रशसा की । पर पार्वती जी विचलित नही हुईं । परिणामस्वरूप दोनो का परिणय हो गया । राष्ट्रपिता गाधी जी ने राष्ट्रभाषा की प्रतीक (शकर जी) का निर्माण किया । उनका वरण करने वाली जनता पार्वती है । गाधी जी सत होने के साथ-साथ विनोदी भी थे । उन्होंने जनतारूपी पार्वती की परीक्षा लेने शकर जी को (उर्दू की) दाढी लगाकर भेजा ।"

---

१. युनिवर्सिटी कालेज त्रिवेन्द्रम मे २८-८-५९ को दिये गये भाषण से ।

२. वही

३. त्रिवाकुर हिन्दी-प्रचार-सभा मे २९-८-५९ को दिये गये भाषण से ।

"दाढी वाले शकर को प्रस्तुत कर दूत आलोचना करने लगे, 'ये शकर तो सत्ताधारी है', 'इनमे कोई गुण नही है','ये तो काले कुरूप हैं','अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के गोरे नही है', पर पार्वती नही मानी तो दूतो ने विवाह के सन् १९६५ के बजाय सन् २००० तक स्थगित कर देने की सलाह दी। यह बात भी विचारणीय है कि जो नारी १९६५ मे विवाह योग्य है उसका विवाह अभी न होकर जब वह साठ वर्ष की हो जाय, तब सम्पन्न हो। कही साठ वर्ष की स्त्रियाँ भी विवाह करती है[1] ?"

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न मत-मतांतरो को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जी ने कहा—

"हिन्दी और हिन्दुस्तानी की बात इसलिए चली कि वे (बापू) मुस्लिम जनता के हितो का भी ध्यान रखते थे। आज भी हिन्दी का अर्थ विशुद्ध हिन्दी नही है। आज भी हम रोजमर्रा के व्यवहार मे उर्दू ही क्या, अन्य भाषाओ के उपयुक्त शब्दो को भी प्रयोग मे लाते है। राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी मे दूसरी भाषा के शब्दो को भी लेना चाहिये। परन्तु हमे यह भी ध्यान रखना होगा कि व्याकरण के क्षेत्र मे हिन्दी की तोड-फोड न हो। विध्वसित करने की कला का मार्ग प्रशस्त नही है[2]।"

भाषाओ के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध मे उन्होने कहा—

"किसी भाषा पर दूसरी भाषा का प्रभाव स्वास्थ्यकारी ही होता है, परन्तु किसी भी वस्तु की अधिकता से अनभीष्ट परिणाम भी हो जाता है। परन्तु समुचित समन्वय होने से मणि-प्रवाल या मणि-काचन सयोग होता है[3]।"

आचार्य वाजपेयी जी ने अहिन्दी-भाषी प्रदेश के लोगो को कुछ सुझाव भी दिये—

१—व्याकरण की अशुद्धियो से यथाशक्ति बचते हुए वे लोग नवीन प्रयोग, मुहावरे, उपमाएँ, जो भाषा के विकासमान अग हैं, हिन्दी मे जोडते रहे। सशोधन का कार्य विद्वानो का है, जिसे वे करेंगे। यह प्रक्रिया चलेगी और भाषा समृद्ध होती रहेगी।

---

१ त्रिवेन्द्रम के एक महिला डिग्री कालेज मे दिनाक २९-८-५९ को दिये गये भाषण से।

२ दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा तिरुवाकूट मे दिनाक ३०-८-५९ को दिया गया भाषण।

३. वही

२—उच्चारण की अशुद्धियाँ एक हद तक क्षम्य होगी। छात्रवृत्तियाँ देकर अहिन्दी-विद्यार्थियो एव शिक्षको को हिन्दी-भाषी प्रदेश मे भेजा जाय। इससे भाषा सीखने-सिखाने मे सुविधा होगी।

३—हिन्दी को यथासभव हिन्दी के माध्यम (डायरेक्ट मैथड) से पढाया जाय।

४—हिन्दी-शिक्षको के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाए जिनमे हिन्दी-अध्यापन-विधि सिखाई जाय।

सबसे ध्यानपात्र बात यह है कि वाजपेयी जी की हिन्दी-नीति स्पष्ट है। चाहे माध्यम के सम्बन्ध मे, चाहे भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे। वे राजनीतिज्ञो की भाति दूहरी. भाषा-नीति का प्रयोग नही करते। माध्यम के सम्बन्ध मे वे कहते हैं

"विभिन्न प्रान्तो मे प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा को होना चाहिए। बी० ए० तक प्रान्तीय भाषा रह सकती है, पर एम० ए० मे स्नातकोत्तर शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए[1]।"

हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी वे स्पष्ट कहते है :

"हिन्दी का अर्थ विशुद्ध हिन्दी नही है। हिन्दी मे दूसरी भाषा के शब्दो को लेना चाहिये[2]।"

साराशत. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य-साधना के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के प्रचार-कार्य मे भी महत्वपूर्ण योग दिया है। उनकी सृजनात्मक साहित्य साधना जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगी, उसी प्रकार उनकी प्रचारात्मक सेवायें भी राष्ट्रभाषा के इतिहास मे स्वर्ण-अक्षरो से लिखी जयेंगी, क्योकि उन्होने विषम परिस्थितियो मे हिन्दी के टिमटिमाते दीपक को अपने स्नेह से सींचा है।

---

१. दक्षिण-भारत-सभा त्रिवान्दुर मे दिनाक ३०-८-५९ को दिये गये भाषण से।
२. वही

पण्डित जी—यात्राओं के मध्य में

—डा० शिवकुमार मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

पण्डित जी के व्यक्तित्व की नाना रेखाओ को एक छोटे से निबन्ध के कैनवेस मे अपनी बहुरंगी छवियो के साथ बाधकर एक समन्वित चित्र का रूप देना सीमित क्षमताओ वाले मुझ जैसे व्यक्ति के लिए असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। उनके सम्पर्क मे बीतने वाली अपने जीवन की इस अवधि मे मैंने उन्हे अनेक रूपो मे, अनेक स्थितियो मे, अनेक प्रकार की मनोदशाओ के बीच देखा है। मैंने जब भी उनके समूचे व्यक्तित्व को आकने की चेष्टा की है, या तो रेखायें उलझने लगी है या फिर सभी रेखाओं को समान भास्वरता के साथ चमकते देख मेरी लेखनी जवाब देने लगी है और यह प्रश्न मेरे समक्ष उपस्थित हो गया है कि मैं किसे प्रधानता दू और किसे न दू? अपनी सीमित क्षमताओ को दृष्टि मे रखते हुए ही यहा मैं उनके व्यक्तित्व के समग्र आकलन का जोखिम न उठाकर केवल उसके एक पक्ष मात्र को, यात्राओ के दौरान मे नजदीक से देखी गई उनके व्यक्तित्व की कुछ रेखाओ को, ही उभारने का प्रयत्न करूंगा।

यात्रायें आज पण्डित जी के जीवन का अभिन्न अग बन गई हैं। यदि कहा जाय कि वे वर्ष मे लगभग ६ माह प्रवासी रहते हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अपनी इस अवस्था मे लम्बी-लम्बी दूरियो को समेटने वाली यात्राओ के दुर्वह भार को वे कैसे सभाल पाते हैं, यह प्रश्न बहुतो के लिये विशेषतः उनकी वय वाले उनके समानधर्म अनेक मित्रो, आत्मीयो तथा अन्य परिचितों के लिए एक पहेली, स्पर्धा, यहाँ तक कि ईर्ष्या का विषय तक बना हुआ है। समान वय वालो की बात छोड़ भी दी जाय तो हम नवयुवको के लिए भी यह एक हर्षमिश्रित आश्चर्य ही है। मैं अपने एकाध ऐसे सहयोगियो को जानता हू जो यात्रा से लौटने के उपरान्त कम से कम दो दिन तक बिस्तर से उठने के योग्य नही रहते, कुछ बिना यात्रा के ही बारहो महीने रोगी बने रहते हैं, यहाँ तक कि मैं स्वतः यात्रा के उपरान्त कम से

कम एक दिन के विश्राम की आकाक्षा तो अवश्य रखता हू, परन्तु जो व्यक्ति वर्ष के ६ माह बहुत थोडे-थोडे अन्तर के साथ यात्राएँ करता हो—यात्राओ के बावजूद इतना प्रसन्न, इतना सक्रिय और इतना ताजा कैसे रह पाता है, यह प्रश्न पहेली हो या और कुछ, यो ही टाला जाने योग्य तो कतई नही है। कुछ लोग इसका कारण बताने का उपक्रम करते हैं—स्थान सुरक्षित कराने के उपरान्त ही पण्डित जी का प्रथम श्रेणी मे यात्राएँ करना, आवश्यकता पडने पर एयर कण्डीशण्ड कक्ष का भी उपयोग करना, साथ मे व्यक्तिगत सहायक के रूप मे एक शोध छात्र की निरन्तर उपस्थिति आदि-आदि। जहाँ तक मेरा विचार है, इन सुविधाओ के बावजूद भी वर्ष भर चलने वाली लम्बी-लम्बी यात्राओ की अपनी थकान तथा एकरसता को भुलाया नही जा सकता। मैं ऐसे बहुत से वरिष्ठ व्यक्तियो को जानता हू जो इन सारी सुविधाओ के होते हुए भी यात्रा करने से कतराते हैं—डरते तक है। ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त कारण इतने महत्वपूर्ण नही बन जाते कि प्रश्न का सही उत्तर दे सकें। फिर पण्डित जी के साथ यात्रायें करने का जो भी थोडा-बहुत अवसर मुझे मिल सका है उसमे मैंने उन्हे विषम तथा विपरीत स्थितियो मे भी समान प्रसन्नता तथा स्फूर्ति के साथ यात्रा करते देखा है। अक्सर स्थान सुरक्षित न होते हुए भी वे अपनी नियमित यात्रा पर चल पडे हैं और कठिनाई से बैठने भर का स्थान प्राप्त कर सके हैं। ऐसे भी अवसर आए है जब उन्हे बैठने तक का स्थान नही मिला है और उन्होने बिना उद्विग्नता दिखाए, सहर्ष अपने गतव्य तक किसी न किसी प्रकार का धैर्य सजोया है। अनेक बार कडकते हुए जाडे मे उन्हें प्रथम श्रेणी के डिब्बे के फर्श मे ही सारी रात बितानी पडी है, परन्तु प्रात काल उनकी प्रसन्न मुद्रा ही देखने को मिली है। विवशता की स्थिति मे वे द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के डिब्बो मे भी हम लोगो के साथ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हैं। बसो मे बैठकर सब प्रकार की सुविधाओ से रहित चार-चार पाँच-पाँच सौ मील की लम्बी, ऊबड-खाबड, कच्ची-पक्की सडको वाली यात्राओ का 'सुख' भी उन्होने धैर्यपूर्वक उठाया है। जहाँ तक मैं समझता हू, इन दीर्घकालीन कष्टप्रद यात्राओ को प्रसन्नतापूर्वक झेल सकने की उनकी सामर्थ्य का प्रधान कारण उनकी स्थिरचित्तता, उनका मानसिक सन्तुलन, दृढ सयम तथा स्पर्धा करने वाला स्वास्थ्य है। कठिनाइयो को प्रसन्नतापूर्वक झेलना वस्तुत उनकी प्रकृति है। बहुत कम अवसरो पर लोगो ने उन्हे बाहर से उद्विग्न, विचलित अथवा परेशान देखा होगा। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ मे, गीता प्रेस अथवा लीडर प्रेस के अपने कार्यकाल के दौरान मे अत्यन्त अल्प साधनो के साथ भी उन्होने उसी प्रसन्नता तथा आत्म-विश्वास के साथ जीवन जिया है, जितना कि अपनी ख्याति और सम्पन्नता के वर्तमान क्षणो मे। वे अपना मानसिक सन्तुलन कभी नही खोते, स्थिरचित्त से सामने आने वाली कठिनाई का सामना करते हैं, धैर्यपूर्वक वस्तुस्थिति के साथ अपना सामजस्य बिठाते हैं तथा यात्राओ के समय कम स कम और हल्का से हल्का भोजन लेते हैं। जितनी प्रसन्नता तथा स्फूर्ति लेकर

वे यात्राओ के दौरान मे घर से रवाना होते हैं, उसी प्रसन्नता तथा स्फूर्ति को लिए हुए वापस भी आ जाते हैं। गर्मियो की लम्बी यात्रायें हो अथवा जाडे या बरसात की, बहुत ही कम अवसर आये हैं जब उनके शरीर पर यात्राओ की थकान के गहरे चिह्न उभरे हो, या वे अस्वस्थ हो गए हो, मन से तो वे ऐसे अवसरो पर भी निरोग ही रहे हैं। यात्राओ के कड़ुवे मीठे अनुभवो को समान प्रसन्नता के साथ सहन करने की अपनी शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओ के प्रति कदाचित् यह उनका आत्म विश्वास ही है जो उन्हे सदैव अपने यात्रापरक दायित्वो तथा रुझानो को पूरा करने की प्रेरणा देता है, उन्हे इस ओर से कतई शिथिल नही करता।

पण्डित जी स्वभाव से ही भ्रमणप्रिय हैं। मुझे स्मरण है कि अपने एक निबन्ध-सकलन के लिए जब मैंने उनसे राहुल जी के किसी निबन्ध का सुझाव देने को कहा था तो उन्होने एक क्षण सोचकर राहुल जी के प्रसिद्ध 'अथातो घुमक्कड जिज्ञासा' निबन्ध का ही नाम लिया था। उनका कहना था कि राहुल जी का यह निबन्ध विद्यार्थियो मे भ्रमण की प्रेरणायें जगाने मे बहुत सहायक होगा। घर-घुसने, आत्म-केन्द्रित विद्यार्थियो का कदाचित् यह निबन्ध ही कायाकल्प करने मे समर्थ हो सके। उनकी प्रिय पुस्तको मे यात्रावर्णन-सम्बन्धी पुस्तको का भी विशिष्ट स्थान है। अज्ञेय की 'अरे यायावर रहेगा याद' पुस्तक उन्हे काफी प्रिय है। कारण, वह अन्तर्मुखी कवि अज्ञेय को एक बहिर्मुखी यायावर के रूप मे अधिक उन्मुक्त रूप मे प्रस्तुत करती है।

पडित जी की यात्रायें भी भिन्न भिन्न उद्देश्यो को लेकर होती हैं, कहा जा सकता है कि उनके कई स्तर हैं। उनकी कुछ यात्राए तो विशुद्ध वैयक्तिक होती हैं। निश्चित कार्यक्रम पहले से ही बना होता है, स्थान भी प्राय पहले से ही सुरक्षित हो जाता है और एक ही यात्रा के दौरान मे कई कार्यों को निपटाते हुए वे वापस आ जाते हैं। कुछ यात्राए सामाजिक तथा साहित्यिक महत्त्व की होती हैं। अपने किसी सम्बन्धी, मित्र अथवा शिष्य के व्यक्तिगत निमन्त्रण पर, किसी साहित्यिक सस्था या साहित्यिक समारोह के आयोजनकर्ताओ के आग्रह पर या फिर सामाजिक शिष्टाचार की कतिपय अन्य बातों को लेकर इनका प्रारम्भ होता है। इन यात्राओ मे प्राय वे बिना रिजर्वेशन आदि की चिंता किए ही, सब प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए स्वभाव तैयार होकर ही घर से निकलते हैं। पहले प्रकार की यात्राओ के कुछ कार्यक्रम स्थगित भी हो जाय, उनमे कुछ व्यतिक्रम भी उपस्थित हो जाय, परन्तु चूंकि यहां प्रश्न साहित्यिक निष्ठाओ तथा व्यक्ति की भावनाओ का होता है, अत इनके प्रति वे सर्वाधिक सजग रहते हैं और यथाशक्ति कष्ट उठाते हुए भी अपने साहित्यिक तथा सामाजिक दायित्वो का निर्वाह करते हैं। तीसरे प्रकार की यात्राए केवल भ्रमण के उद्देश्य से

हिन्दी के अनन्य आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

—आचार्य पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

●

हिन्दी मे आलोचना का आधुनिक विकास ५०-६० वर्षों के भीतर हुआ है। यद्यपि आधुनिक युग मे हिन्दी की सर्जनात्मक शक्ति का विकास भी बडी तीव्र गति से हुआ, तथापि कम समय मे आलोचना का जैसा विकास हुआ वैसा सर्जनात्मक चेतना का नहीं। दिखाई यह देता है कि परिमाण मे आलोचना अधिक लिखी जा रही है। इसका एक कारण तो यह है कि हिन्दी-साहित्य के अध्ययन का विश्वविद्यालय की उच्चस्तरीय पढाई के कारण द्वार खुल गया है। यदि परिमाण को ही दृष्टि-पथ मे रखा जाए तो कहना चाहिए कि साप्रतिक युग आलोचना का युग है। आलोचना के क्षेत्र मे कार्य करने वाले कई प्रकार के व्यक्ति हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्ध नही है, पर वे अपनी अभिरुचि, अध्ययन मनन, विचार-दृष्टि की अभिव्यक्ति करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की आलोचना अधिकतर प्रभाववादी ही होती है। उनके अन्त पटल पर किसी रचना या किसी प्रकार की प्रवृत्ति का जो प्रभाव पडा उसकी अभिव्यक्ति वे बडे रोचक ढग से करते हैं। 'मुझे ऐसा लगता है', 'मेरे मन मे ऐसा आता है' आदि के रूप मे वे बहुत सी नवीन सामग्री देने के प्रयास करते हैं। ऐसे व्यक्ति यह भी मानने लगते है कि वास्तविक आलोचना हमारी ही है। विश्वविद्यालय के माध्यम से जो आलोचना सामने आती है वह उच्च स्तर के छात्रों तथा प्राध्यापक प्रवक्ताओ की आवश्यकता की पूर्ति के लिए होती है। जनता के लिए जैसी आलोचना चाहिए वैसी प्रथम प्रकार के आलोचक देते हैं।

सबसे पहले यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि वास्तविक आलोचना क्या हो सकती है। आलोचना एक प्रकार का दर्शन है। दर्शन के लिए दृष्टि

चाहिए। जिसकी आलोचना मे दृष्टि न होगी वह कितनी ही मनोरजक क्यो न हो, वास्तविक न होगी। अभिव्यक्ति की शैलीमात्र और केवल शैली की प्रभावात्मकता आलोचना नही है। यदि किसी ने किसी तथ्य के ठीक-ठीक दर्शन कर लिए तो फिर उसकी शैली मनोरजक न भी हो तो आलोचना होगी। यदि किसी के दर्शन म अभिव्यक्ति की शैली भी हो तो इससे वह अपनी दृष्टि को ग्राहक के समक्ष आकर्षक रूप मे उपस्थित कर सकता है। साज-सज्जा अच्छी होने से किसी की दूकान पर ग्राहक एकत्र हो सकते हैं, पर यदि उन्हे उपयोग के योग्य वस्तु ही दूकान मे न मिले तो फिर ग्राहक के पल्ले क्या पडेगा। यदि केवल आकर्षण से कोई ग्राहक किसी वस्तु को ले भी जाए और वह थोडे ही दिनो तक टिकने वाली निकले अथवा जो माल उसने लिया है वह बाद मे ऐसा प्रतीत हो कि जो मुझे चाहिए था वह नही मिला, कोई दूसरी ही वस्तु दूसरे नाम पर मेरे गले मढ दी गई है तो उस दूकान की साख उठ जाएगी। ग्राहक उसकी प्रशसा नही करेगा। स्वयम् तो उस दूकान पर जाएगा ही नहीं, दूसरो को भी उस पर जाने से रोकेगा। प्रभाववादी आलोचना को 'मनमानी' आलोचना कह सकते हैं। 'मनमानी' का बुरा अर्थ यहाँ न लिया जाए। वास्तविक आलोचना बुद्धि-बोधित ही होती है। दूकानदार बुद्धि-पूर्वक बढिया, टिकाऊ माल सकलित करता है और जो ग्राहक उसके यहाँ से माल ले आता है वह भी प्रयोग-उपयोग आदि मे बुद्धि लगाता है। देखता है, जैसा दूकानदार ने बताया वैसा ही माल निकला। उस दूकानदार की साख बनी रहती है।

विश्वविद्यालयो के माध्यम से आलोचना का जैसा भी सर्जन-लेखन हो रहा है उसम विभिन्न स्तर, विभिन्न लक्ष्य, विभिन्न विचार-दृष्टियाँ आदि होती हैं। इस प्रकार की सारी आलोचना को सर्वोत्तम नही कहा जा सकता। पर यह अवश्य कह सकते हैं कि स्तर कैसा भी साधारण, लक्ष्य कितना भी सामान्य और विचार-दृष्टि कितनी ही हल्की क्यो न हो, पर ऐसी आलोचना 'मनमानी' तो होती ही नही, बुद्धि बोधित ही होती है। अत कोई आलोचना क्यो न हो, वास्तविक आलोचना के कण इसी मे अधिक मिलेंगे। 'मनमानी' आलोचना का महाकार फटकने पर भी परिमाण मे बहुत कम कण हाथ लगेंगे।

यह कहना भी समीचीन नही कि विश्वविद्यालय के माध्यम से या विश्व-विद्यालयो के उच्च स्तर के लिए प्रस्तुत की गई समग्र समीक्षा केवल छात्रो के लिए होती है। विश्वविद्यालय के सभी प्राध्यापक आलोचक नही हुए। निकट भविष्य मे सबके आलोचक हो जाने की भी आशका नही है। इनमे से बहुत से माने हुए या पहुचे हुए प्राध्यापक हैं। इन्हें भी आलोचना की, वास्तविक आलोचना की अपेक्षा रहती है। इस अभाव की पूर्ति आज तक किसी 'मनमानी' आलोचना के द्वारा नही हुई। यही क्यो, यदि कोई आलोचक भी है तो सार्वभौम आलोचक होने

का दावा नही कर सकता। किसी विशेष युग, किसी विशेष प्रवृत्ति, किसी विशेष रचना-परम्परा का ही कोई विशिष्ट आलोचक होता है। सार्वभौम आलोचक तो असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कोई ही हो सकता है। इनकी संख्या गिनी-चुनी ही होती है। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सार्वभौम आलोचक कहा जा सकता है, पर हिन्दी मे कितने रामचन्द्र शुक्ल हुए। कोई बतलाता है कि अमुक आलोचक शुक्ल जी से बढ गया। केवल इसलिए कि शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे और अमुक आलोचक मानवतावादी है। रस-भूमि से मानवतावादी भूमि विस्तृत है। ऐसो को कैसे समझाया जाए कि रस-प्रक्रिया मे साधारणीकरण मानवतावादी ही भूमि है। जाति, देश, वर्ग आदि की सारी सीमाएँ ध्वस्त हो जाती हैं साधारणीकरण की प्रक्रिया से।

हिन्दी-साहित्य मे जबसे आलोचना होने लगी तबसे समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए तत्तत् समय मे तत्तत् स्वरूप की आलोचना सामने आती रही है। पूरे हिन्दी-साहित्य के प्रमुख रूप से दो विभाग है। एक उसका प्राचीन काव्य है और दूसरा नवीन काव्य। आरम्भ मे आलोचना के माध्यम से प्राचीन काव्य को समझने-समझाने का प्रयास किया गया। नवीन काव्य के प्रवेश के साथ ही नवीन आलोचना की ओर दृष्टि गई। प्राचीन काव्य को सर्वस्व मानने वालो ने नवीन काव्य की कुत्सा की। इसमे सन्देह नही कि हिन्दी का प्राचीन काव्य अत्यन्त समृद्ध है। उसकी समृद्धि को नवीन काव्य के प्रभूत प्रणयन के अनन्तर भी धक्का नही लग सका। पर, प्राचीन काव्य मे जो अभाव थे उनकी पूर्ति की ओर जब नवीन काव्य अग्रसर हुआ तब उसके नवीन प्रयास मे क्या विशेषता है, इसके समझने-समझाने का उद्योग करना पडा। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्' के अनुसार नवीन काव्य भी अपना अनवद्य रूप लेकर सामने आया।

हिन्दी मे काव्य की नवीनता की ओर प्रवृत्ति भी प्राचीन काव्य के भीतर ही दिखाई पडने लगी थी। यह प्रक्रिया हिन्दी-साहित्य के आदि युग से चली आ रही है। पर इन प्रवृत्तियो का लेखा-जोखा लेने वाले आलोचक उस समय नही थे। हिन्दी के आदि युग मे अपभ्रंश साहित्य के साम्प्रदायिक बन्धन से छूट कर जब हिन्दी-काव्य साहित्य की स्वच्छन्द भूमि पर आ खडा हुआ तब उसमे जो विशेषता दिखाई पडी उसके दर्शन करने वाले आलोचक नही थे। स्वयम् कवि ही कुछ अपनी नवीनता की घोषणा कर देता था। पृथ्वीराज रासो मे चद ने जब यह कहा कि 'सस्कृत प्राकृत चैव राजनीति नव रसम्। षडभाषा पुराण च कुराण कथित मया' तो उसने अपने प्रयास की नवीनता का उद्घोष किया। सब प्रकार का समन्वय मेरी रचना मे है, यही वह कह रहा था। अपभ्रंश का साम्प्रदायिक रूप उसने परित्यक्त कर दिया था। पर उसकी रचना मे नवीनता होने पर भी सर्वसमन्वय के कारण हिन्दी का स्वीय स्फुरण पूर्ण रूप मे नही हो सका था। हिन्दी के स्वकीय

स्फुरण की ओर उसी समय के लगभग जो प्रयास हुए वे अधिक आकर्षक थे। विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, केशवदास, मलिक मुहम्मद जायसी आदि ने भाषा के वैभव के साथ ही नए-नए प्रकार की साहित्यिक चेतना से हिन्दी का भाडार भर दिया। अपभ्रश के बन्धन से पृथक् होने पर भी हिन्दी भाषा के माध्यम से स्वकीय साहित्यिक वैभव की पूर्ण और विस्तृत अभिव्यक्ति रासो काव्यो मे नही हो सकी। पर उपरिलिखित कवियो के काव्य मे साहित्य का ऐसा निखार आया कि हिन्दी का भाडार सर्वविध परिपूर्ण हो गया। इन कवियो ने अपनी रचना के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उसका सग्रहजन्य विस्तार इस नन्हे से प्रस्तावना रूपी प्रयास की सीमा को निरर्थक लबायमान करेगा। निष्कर्ष इतना ही है कि आलोचक इन युगो मे थे, वे आलोचना अच्छी-बुरी करते थे, पर वाग्बद्ध रूप मे वह प्राप्त नही होती। एक प्रकार से निर्माता ही अपनी आलोचना कर लेता था और जो उसकी दूसरो के द्वारा मौखिक आलोचना होती थी, उसका उत्तर भी दे देता था। इन कवियो की रचना के टीकाकारो या सग्रहकर्ताओ मे भी कभी-कभी आलोचना की जोत जगती थी, पर वह मडनात्मक ही आलोचना होती थी। कभी-कभी तुलनात्मक स्थिति मे परोक्ष रूप से खडनात्मक आलोचना के बिन्दु भी दृग्गोचर हो जाते थे।

रीतिकाल मे भी ऐसी ही स्थिति थी। अन्तर यह था कि भक्तिकाल मे जो निर्माण हुआ वह सास्कृतिक जीवन के आन्दोलन से अधिक सम्बद्ध था। साहित्य का परिपूर्ण निखार उसमे नहीं आ पाया था। सास्कृतिक धाराओ के टकराने से जो उन्मेष जगता था, उसकी अभिव्यक्ति साहित्यिक माध्यम से करने पर भी उसमे विशुद्ध साहित्यिक प्रयास की पूरी छटा नही आ पाती थी। इसकी पूर्ति रीतिकाल द्वारा हुई। रीतिकाल पूर्ण साहित्यिक वैभव की ओर अग्रसर हुआ। भारतीय सास्कृतिक चेतना को उसने अपने प्रासाद की नीव मे रख लिया। हिन्दी-साहित्य का विकास स्पष्ट सकेत करता है कि साहित्य अनेक प्रकार के तदितर बन्धनो से पृथक् होकर अपने विशुद्ध रूप मे आने के लिए छटपटाता रहा है। रीतिकाल मे पहुँचकर उसने स्वच्छन्दता की भी सास ली। इसी से उसकी सीमा के भीतर रसखानि, आलम, घनआनन्द, ठाकुर, बोधा ऐसे कवि भी दिखाई पड़े। जो सास्कृतिक उत्थान के आवेग के प्रबल प्रवाह के जितना ही निकट था उसमे उसके प्रभाव का उतना ही अश रहा। ज्यो-ज्यो उस प्रवाह का वेग कम होता गया, इनकी साहित्यगत चेतना त्यो त्यो प्रबल होकर ऊपर आई।

सस्कृत मे जैसा निरपेक्ष साहित्य मिलता है वैसा हिन्दी मे भी हो जाए, इसके निरन्तर मानसिक आदोलन का ही परिणाम था रीतिकाल का वैसा निर्माण, जैसा वह अपने विशुद्ध साहित्यिक रूप मे दिखाई देता है। साहित्य की यह विशेषता है कि वह विशुद्ध रूप मे आने का निरन्तर प्रयास किया करता है। उधर जीवन के

आन्दोलनो की यह विशेषता है कि वे साहित्य को सदा सापेक्ष रूप मे लाने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक आन्दोलन होने पर साहित्य को उसकी सापेक्षिता का शासन ओढना पडता है। धार्मिक आन्दोलन होने पर उसे धर्म की ध्वजा फहराने को विवश होना पडता है, सामाजिक आन्दोलन होने पर उसे हँसिया-हथौडा लेना पडता है और वैज्ञानिक आदोलन होने पर उसे नपनो का सहारा लेकर विश्लेषण करना पडता है, प्रयोगशाला मे उसके प्रत्येक प्रयोग की जाँच-पडताल करके तत्वो का प्रतिशत निकालना पडना है आदि-आदि। पर वह सदा अपने निरपेक्ष निर्मुक्त रूप की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्मा जागतिक या ज्ञानात्म बन्धन से जिस प्रकार मोक्ष पाने को छटपटाती है उसी प्रकार साहित्य भी लौकिक आन्दोलनो या साहित्येतर बन्धनो से मुक्त होने के लिए व्याकुल रहता है। इसी एकरूपता के कारण प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों ने साहित्य को दर्शन मान लिया था। अपने निरपेक्ष स्वरूप की उपलब्धि का प्रयास जहाँ भी होगा वहाँ दर्शन होगा, दृष्टि होगी, द्रष्टा होगा।

रीतिकाव्य अनेक बन्धनो से मुक्त होकर बहुत कुछ अपने शुद्ध रूप के निकट आया, पर उसमे कुछ परकीय तत्व बने रह गए थे। उनको निकालने का प्रयास रीतियुग मे ही हुआ। 'जग की कविताई के धोखें रहै ह्यां प्रवीनन की मति जाति जकी' मे 'जग की कविताई' से तात्पर्य उसी प्रकार की रचनाओ से है जो जागतिक आन्दोलन से प्रभावित हैं। 'भाषा प्रबीन सुछन्द सदा रहै' से काव्य के स्वच्छन्द रूप की ओर सकेत है। कहना यह है कि रीतिमुक्त रचना उस युग मे स्वच्छन्दता के प्रयास की थी, यह स्वच्छदता साहित्यिक स्वच्छदता थी। जो भी अतिनिर्बंधता थी उससे मुक्त हो शुद्ध साहित्य भूमि पर आने का उल्लास था उसमे।

आधुनिक युग के प्रवेश के साथ ही फिर बन्धन की कुछ प्रवृत्तियाँ जगी। ये प्रवृत्तियाँ आरम्भ मे उतनी प्रबल नही थी, पर आगे चलकर उनमें प्रबलता भी आई। साहित्य निर्मुक्त रूप मे स्वकीय मुक्तिलोक के अतिरिक्त किसी लोक का कोई बन्धन स्वीकार नही करता, नीति, राजनीति, धर्मनीति, राष्ट्रनीति, समाजनीति सभी से वह घबराता है। इस प्रकार के कुछ बन्धन उसके स्वच्छन्द रूप मे अति अवरोध उत्पन्न करते हैं और कुछ से वैसा अवरोध या बाधा नही होती। हिन्दी मे छायावाद का उदय तत्वत शुद्ध साहित्यिक निर्मुक्त आकाश मे प्रकाशित होने के लिए हुआ था। उसके वितान-प्रतान मे कही-कही वे श्रेय अवश्य थे जो अल्प अवरोध वाले थे, पर अत्यवरोध का उसने एकात त्याग किया। इसमे रहस्यवाद का अल्प अवरोधक तत्व भी मिला था। इसीसे इसका विरोध भी हुआ, पर मूल रूप मे यह उन्मुक्त प्रवाह ही था जागतिक बन्धनो से सुतराम् मुक्त। रहस्यवाद के विरोध का भी मुख्य कारण इतना ही था कि वह 'वाद' के रूप मे भी कही-कही

दिखाई पडा। पर, जहाँ उसने 'वाद' का रूप नही लिया, उसको स्वीकृति किसी न किसी रूप मे सभी ने दी।

आधुनिक युग म आलोचना के जो भी प्रयास हुए, उनमे हिन्दी-साहित्य के प्राचीन और नवीन रूपो और उनके विकास को समझने-समझाने का प्रयत्न था। आरम्भिक आलोचना मे प्राचीनता का आग्रह या पूर्वाग्रह था। फिर दोनो मे समन्वय के प्रयास मे प्राचीन के प्रति विशेष उन्मुखता के साथ ही नवीन के ग्रहण की भी विकसित दृष्टि दिखाई पडी। प्राचीन और नवीन दोनो को शुद्ध साहित्यिक मानदड से मान्य करने का प्रस्ताव भी सामने आया। प्राचीन के प्रति किंचित् उपेक्षा और नवीन के प्रति अधिक झुकाव का उन्मेष जगा। फिर, प्राचीन के प्रति अधिक उपेक्षा और नवीन का पूर्ण अभिनन्दन भी सामने आया। साहित्य नवीनता की ओर बढते-बढते फिर सासारिक स्थूल बन्धनो से बँधने लगा और आलोचना भी इन्ही सासारिक स्थूल 'मूल्यो' के द्वारा की जाने लगी।

ऊपर आलोचना के जिन-जिन रूपो का उल्लेख किया गया है, उनमे साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध साहित्यिक मानदण्ड की मान्यता वाली ही आलोचना साहित्य के लिए सच्ची और अभिनन्दनीय कही जा सकती है। यह कहने की आवश्यकता नही कि प० नन्ददुलारे वाजपेयी इसी शुद्ध सच्ची आलोचना के पक्षपाती आलोचक हैं। तुलना के लिए अन्य आलोचको का नाम लेना ठीक न समझ कर इतना ही कहा जा सकता है कि सप्रति हिन्दी मे आलोचना बहुत हो रही है, आलोचक भी अनेक दिखाई देते है, पर विशुद्ध साहित्य-भूमि पर स्थित यदि कोई सच्चा आलोचक दिखाई देता है तो वह वाजपेयी जी के अतिरिक्त अन्य नही है। उन्होने अपनी आलोचना का विकास विशुद्ध साहित्यिक छायावादी सर्जना के विकास के साथ ही किया है। अत कहना पडता है कि आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनन्तर हिन्दी मे शुद्ध सच्चा प्रौढ़ आलोचक एक ही है। अन्य वर्तमान आलोचको मे किसी न किसी साहित्येतर मानदण्ड का किसी न किसी रूप मे आग्रह दिखाई देता है। वाजपेयी जी की आलोचना मे मतभेद के अवसर भी आते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यह है कि वे किसी कर्ता की कृति की आलोचना केवल साहित्य की दृष्टि से करते हैं। उनकी आलोचना मे कई ऐसे आलोच्य कर्ता हैं जिनकी रचना मे इतना ही कह देने से काम चल सकता था कि इन्होंने नवीन मनोविज्ञान का सहारा लेने के कारण ऐसा किया है, पर उन्होने मनोविज्ञान का नाम नही लिया। दूसरा कारण यह है कि आधुनिक युग के जिन कर्ताओ को उन्होने आलोच्य बनाया वे अब भी वर्तमान है। वर्तमान कर्ताओ की आलोचना करना कठिन कार्य है। हिंदी मे अधिकतर आलोचक वर्तमान कर्ताओं पर लिखते समय केवल उनके सत्पक्ष पर ही विचार करते हैं अथवा प्रशसात्मक समीक्षा लिखते हैं। वाजपेयी जी ने ऐसा नही किया। कभी-कभी उन्हे ऐसे कर्ताओ की भी आलोचना करनी पडी है, जिनको हिन्दी के

आलोचकों ने कोई स्थान नहीं दिया है। यहाँ भी वाजपेयी जी ने अपने ढंग की सावधानी से आलोचना का वर्तन किया है।

वाजपेयी जी की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने किए 'मूल्यांकन' का पुनरवलोकन भी किया है और उसमें सुधार और परिष्कार का भी स्थान दिया है। सामान्यतया किसी वर्तमान कर्ता या समीक्षक पर लिखने में पूरा अंतिम निर्णय कठिन होता है। पर, वाजपेयी जी की आलोचना ऐसे परिपक्व रूप को प्राप्त हो चुकी है कि उसमें अब किसी प्रकार की परिवृत्ति के लिए स्थान नहीं रह गया है।

●

छायावाद के समर्थ आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

—डा० रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

बीसवीं सदी मे हिन्दी-साहित्य का अभ्युत्थान अभिन्न रूप से छायावाद और उसके प्रवर्तको के कृतित्व से जुड़ा हुआ है। पुरानी सामन्ती, रीतिवादी साहित्यिक परपरा को निर्मूल किया छायावाद ने, हिन्दी-काव्य मे ब्रजभाषा के स्थान पर जातीय भाषा खड़ी बोली हिन्दी को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया छायावादी कवियो ने। छायावादी साहित्य के लिए जो घनघोर सघर्ष हुआ उसमे अन्यतम भूमिका है आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की।

अपने तरुण जीवन मे ही वे निराला और प्रसाद के निकट-सपर्क में आये। हिन्दी के तमाम पुरानी-पथी, प्रतिक्रियावादी लेखको के कोलाहल की चिन्ता न करके उन्होने छायावादी कवियो का प्रबल समर्थन किया। इस समर्थन मे उनकी प्रसाद-निराला सम्बन्धी आलोचनाओ का विशेष महत्व है। 'भारत' का सम्पादन करते हुए उन्होने निराला-प्रसाद के विरोधियो पर जमकर प्रहार किये। दिसम्बर १९३२ के 'विशाल भारत' मे सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने वाजपेयी जी के आक्रमणो से "काफी मानसिक पीड़ा" पाने की बात लिखी है। उन्होंने गिन रखा था, कितनी बार, किस-किस प्रसग मे वाजपेयी जी ने उन पर आक्षेप किये अथवा उन पर दूसरो के आक्षेप प्रकाशित कराये। चतुर्वेदी जी ने प्रस्ताव किया कि सद्भावो के प्रचार के लिए प्रकाशक छोटी-छोटी पुस्तिकायें छापें। वाजपेयी जी ने इस पर टिप्पणी की यानी चतुर्वेदी जी के अनुसार उनके विरुद्ध चार कालम का लेख छापा। कालम भी गिने थे चतुर्वेदी जी ने। वाजपेयी जी ने कला-भवन की प्रशंसा मे लेख छापा, उसमे भी 'विशाल भारत' के सम्पादक को धर घसीटा। 'हस' के आत्म-कथाक की आलोचना मे भवानीदयाल सन्यासी लिखित गणेशशकर विद्यार्थी के सस्मरणो की विवेचना मे, रामजीलाल के सस्मरणों मे, श्यामसुन्दरदास पर पद्मसिह

ही होती हैं। वर्ष मे इस प्रकार की दो लम्बी यात्राए तो हो ही जाती है। कार्यक्रम पहले से ही बना लिया जाता है, आवश्यक व्यवस्थाए भी करली जाती है और लगभग अनिवार्य रूप से पूजा-दीपावली के अवकाश मे तथा इच्छा हुई, तो ग्रीष्मावकाश मे भी अपने कुछ विद्यार्थियो, शोधछात्रो तथा दो एक सहयोगी प्राध्यापको के साथ बिलकुल यायावर रूप मे लबा प्रोग्राम बनाकर निकल पडते हैं। इन यात्राओ के माध्यम से एकाध स्थानो को छोडकर अब तक वे समूचे देश का भ्रमण कर चुके है, उसके सुदूरवर्ती अचलो तक जा चुके हैं। स्थानो का चुनाव प्राय वे स्वत ही करते हैं और उसमे उनकी कलात्मक, साहित्यिक तथा सास्कृतिक अभिरुचियो की स्पष्ट छाप रहती है। कभी निकले तो विदिशा, साची होते हुए अजन्ता, एलोरा आदि को छान डाला, कभी उज्जयिनी मे महाकाल के दर्शन करते हुए सीधे काठियावाड-सोमनाथ के मन्दिर तक जा पहुचे, कभी राजस्थान मे मध्यकालीन राजपूती वैभव के ध्वसावशेषो की ओर घूम गए, कभी समस्त दक्षिणावर्त की परिक्रमा करते हुए कन्याकुमारी पर विराम लिया, कभी पुरी और भुवनेश्वर जैसे प्रसिद्ध स्थानो से गुजरते हुए कलकत्ता मे कुछ रुककर सीधे दार्जिलिंग की भव्य प्राकृतिक छटाओ मे विचर गए और कभी विद्या तथा शास्त्र के परम पीठ, धरती के स्वर्ग कश्मीर प्रदेश के कण-कण को नाप डाला। देश के जितने भी साहित्यिक तथा सास्कृतिक महत्त्व के स्थल हैं, देश की विविधरूपा प्रकृति का जहा तक अपनी समूची सुषमा मे प्रसार है, पडित जी अपने छात्रो तथा सहयोगियो को लिए हुये लगभग सभी स्थानो को अपनी भ्रमण-चर्या मे समेट चुके है।

इन समस्त यात्राओ की उनके तथा उनके छात्रो के लिए एक विशेष उपयोगिता भी है। वैसे तो घर पर रहते हुये भी निजी अध्ययन तथा लेखन मे बीतने वाले समय के अतिरिक्त उनका सारा समय विद्यार्थियों तथा शोधछात्रो की भाति-भाति की साहित्यिक जिज्ञासाओ का समाधान करने या फिर अपने सहयोगियो से अध्ययन-अध्यापन-सम्बन्धी चर्चाए करने मे बीतता ही है, परन्तु लगता है जैसे बहुतो को, विशेषकर शोधछात्रो को, अपने विषय से सम्बन्धित और लम्बी चर्चा करने तथा उनके अगाध ज्ञान-भण्डार से अधिक समेट लेने की आकांक्षा बनी ही रहती है। विद्यार्थियो की तो कुछ सीमाए होती हैं; परन्तु शोधछात्र अपेक्षाकृत अधिक स्वतत्र तथा निर्भीक होते हैं। प्रतिदिन प्राप्त होने वाले अवसरो का पूरा उपयोग करते हुए भी, यहाँ तक कि कभी-कभी रात्रि को ग्यारह और बारह बजे तक भी, उन्हे विश्राम का अवसर न देते हुए, वे पडित जी की यात्राओ की बाट भी देखा करते हैं। इधर पडित जी का कार्यक्रम बना, उधर कोई महाशय अपनी लिखी हुई सामग्री लिए पहले से ही स्टेशन पर उपस्थित हैं। और कुछ नही तो कम से कम बीना या कटनी तक उनके साथ जाने की अनुमति तो वे प्राप्त ही कर लेते हैं। इधर गाड़ी रवाना हुई, उधर डिब्बे के भीतर उनका बस्ता खुला और या तो उन्होंने

अपनी जिज्ञासाए शात करना प्रारम्भ किया या फिर लिखे हुए अध्यायो मे से कुछ को सुनाना प्रारम्भ किया । और कुछ नही, तो निर्धारित विषय की रूपरेखा की चर्चा करते-करते पूरी रूपरेखा ही बनवा डाली । यह स्थिति वस्तुत पडित जी की यात्राओ का एक अग-सा बन गई है । यदि साथ चलने वाला कोई न हुआ या पडित जी ने उसे समझा-बुझा कर रोक दिया, तो किसी न किसी के लिखे गए अध्यायो का एक बस्ता तो उनके साथ इस वादे के साथ जाता ही है कि वे मार्ग मे उन्हे पढकर अध्यायो के ऊपर अपने आवश्यक निर्देश अकित कर देंगे । जो पडित जी के साथ चला गया, या जिसकी लिखित सामग्री उनके साथ चली गई, कार्य पूरा हो ही जाता है । अपने शोध छात्रो की भावनाओ का वस्तुत वे इतना आदर करते हैं कि किसी भी स्थिति मे उन्हे निराश अथवा हतोत्साह नहीं करना चाहते, स्वत कष्ट उठाकर भी यात्राओ के क्रम मे आने वाली स्वाभाविक कठिनाइयो के साथ-साथ वे इस अतिरिक्त श्रम को भी सम्पन्न करते हैं । मैंने स्वत यात्राओ के क्रम मे उन्हे अपने लिखे अनेक निबन्ध सुनाए हैं । मुझे स्मरण है कि देहरादून-यात्रा के दौरान मे रात्रि के लगभग बारह—एक बजे तक मैंने उन्हे 'समाजवादी-यथार्थवाद' विषयक अपना २५ पृष्ठो का लम्बा निबन्ध आद्यन्त पढकर सुनाया था और निद्रा के किसी भी लक्षण को सूचित किए बिना उन्होने रुचिपूर्वक पूरा निबन्ध सुनकर उसमे व्यक्त विचारो के प्रति अपनी सहमति व्यक्त की थी । शोध–छात्र के रूप मे भी मैंने अपने शोध-प्रबन्ध के अनेक अध्याय उन्हें यात्राओ के दौरान मे ही सुनाए थे । गाडी के डिब्बे का एकात इस अवसर पर एक विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करता है । बिना किसी बाह्य अवरोध के शोध-छात्र अथवा किसी को पूरा अवसर प्राप्त होता है कि वह अपनी बात उनके सामने रख सके और पूरी तरह से उनकी वृत्ति को अपने विषय पर केन्द्रित कर सके । बहुधा पडित जी अपने अनेक लेख तथा निबन्ध आदि भी इन्ही यात्राओ के दौरान मे तैयार करते हैं । दिन की यात्रा हो अथवा रात्रि की, लिखने की सारी सामग्री उनके साथ रहती है, मेहरा जी को बुलाया और अपनी उँगलियो को बालो पर फेरते हुए, धारावाहिक रूप मे, कुछ-कुछ आखें बन्द किए-से वे बोलने लगते हैं और मेहरा जी की लेखनी चलने लगती है । यात्राओ के दौरान मे वे प्राय उन्ही निबन्धो को तैयार करवाते हैं, जिन पर कई दिनो तक चिंतन-मनन करने के उपरान्त वे बिलकुल लिखने तक की स्थिति मे आ जाते हैं । ऐसी स्थिति मे उनके खुद के लिखे तथा बोले गये निबन्ध मे कोई अतर नही रह जाता । अपने अनेक महत्वपूर्ण वक्तव्य तक उन्होने यात्राओ के दौरान मे बोलकर लिखाए हैं । भारतीय हिन्दी–परिषद के दिल्ली तथा आनन्द अधिवेशनो के प्रसिद्ध अध्यक्षीय भाषण तथा 'आलोचना' पत्रिका के अनेक महत्वपूर्ण सम्पादकीय इसी प्रक्रिया की उपज हैं । कहा जा सकता है कि इन यात्राओ के क्रम मे भी पडित जी अपना पूरा साहित्यिक जीवन जीते हैं । यदि लिखा या लिखाया नही, तो कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रश्नो अथवा समस्याओ की—जो उनके आगामी निबन्धो

का विषय बनती है—प्रारम्भिक रूपरेखा तैयार करने का उपक्रम करते हैं। यदि साथ मे कई लोग हुए—विशेषत पूजा-दीपावली के अवकाश म की जानेवाली यात्रा मे—तो फिर विविध प्रकार के साहित्यिक प्रश्नो पर चर्चाए ही चल पडती हैं। साहित्यिक चर्चाओ के दौरान मे जितनी दृढता तथा सहज आत्मविश्वास के साथ वे अपने विचारो को सामने रखते है, उतनी ही रुचि तथा तल्लीनता से दूसरो के विचारो को भी सुनते है और उन्हे महत्त्व देते है। अक्सर देश-विदेश की राजनीति भी इन चर्चाओ का विषय बनती है और पडित जी समान अधिकार के साथ इन राजनीतिक विषयो पर भी अपने गम्भीर मन्तव्य देते हैं। यहाँ भी दूसरो के विचारो को वे पूरी गम्भीरता से सुनते है। वस्तुत पडित जी सच्चे अर्थो मे बुद्धिवादी हैं। तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरे उतरने वाले किसी भी विचार को स्वीकार करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत रहते है। राजनीतिक विषयो पर उनके अपने अभिमत भी उनके बुद्धिप्राण व्यक्तित्व को ही उभारते है। राजनीतिक विषयो मे भी उनकी कितनी गहरी पैठ है, तत्सम्बन्धी उनके निर्णय तथा मन्तव्य कितनी गहराई मे जाकर समस्याओ तथा प्रश्नो का स्पर्श करते हैं, इन चर्चाओ के दौरान मे सहज ही यह पता चल जाता है। कभी-कभी वे साहित्यिक विषयो का स्पष्टीकरण भी राजनीतिक आधार पर करते हैं। उनके इस प्रकार के वक्तव्य ऊपरी दृष्टि से भले ही एक विनोद या मनोरजन की सृष्टि करें, गहराई से मनन करने पर सत्य के बहुत निकट प्रतीत होते हैं। भारतीय ससद का एक रूपक एक बार उन्होंने ललित कलाओ के आधार पर खडा किया था। सगीत, चित्र, वास्तु कलाओ की चर्चा के पश्चात् जब प्रश्न उपस्थित हुआ कि ससद मे मूर्तिकला की स्थिति किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है, वे तुरन्त ही बोले—"ससद के अनेक सदस्य निरन्तर ५ वर्षों तक मूर्तिवत् बैठे रहते हैं, उनमे मूर्तिकला के उदाहरण को देखा जा सकता है।" इसी प्रकार हिन्दी की वर्तमान काव्य-प्रवृत्तियो को वर्तमान राजनीतिक दलो की सापेक्षता मे रखकर देखना भी उन्ही की सूझ है। इस रूपक मे प्रबन्धकाव्यो की धारा की जनसघ के साथ एकात्मकता बताते हुए उनका प्रयोगवादी कविता को स्वतन्त्रपार्टी का ही साहित्यिक प्रतिरूप सिद्ध करना उनकी साहित्यिक तथा राजनीतिक जागरूकता का ही प्रमाण है। वस्तुत कम से कम शब्दो मे गहरे से गहरे साहित्यिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक तथ्यो का स्पष्टीकरण उनकी अपनी विशेषता है और इसका प्रधान कारण इसके मूल मे निहित उनका गम्भीर चिन्तन तथा वस्तु के समूचे प्रसार को समेटनेवाली उनकी गहरी पकड है। इस प्रकार की चर्चाए निस्सदेह यात्रा का स्वारस्य बढा देती हैं और उसमे एक नई रोचकता आ जाती है, स्टेशन पर स्टेशन गुजरते चले जाते हैं और चर्चाओ की समाप्ति के साथ ही गन्तव्य आ जाता है।

इन यात्राओ के क्रम मे जितना ध्यान वे अपनी सुख-सुविधाओ का रखते है, उससे अधिक अपने विद्यार्थियो तथा सहयोगियो के विषय मे चिंतित रहते हैं। किसे

बैठने को ठीक स्थान मिला, किसे नही, किसने भोजन कर लिया, किसने नही किया किसी के पास द्रव्याभाव तो नही है, आदि-आदि न जाने कितनी बातें वे निरन्तर पूछते रहते है। प्रत्येक को बारी बारी से अपने डिब्बे मे कुछ काल के लिये बुलाकर स्वत उसके मुह से सब बातो की जानकारी करते हैं। उनका यह उदार सरक्षण ही उनके साथ की जाने वाली यात्राओ को अतिरिक्त रूप से सुखद बना देता है और प्राय वे जब कही चलने की तैयारी करते हैं, मन मे उनके साथ यात्रा करने की आकाक्षा बलवती हो उठती है। नाश्ता, भोजन आदि यात्राओ के क्रम मे वे सबके साथ ही करते हैं। अपने डिब्बे या अपने कमरे मे अकेले नाश्ता या भोजन करना उन्हे पसन्द नही। यात्रा के दौरान मे आई तकलीफो को भी वे बाट लेना चाहते हैं। काश्मीर यात्रा के अवसर पर मुझे स्मरण है कि सबके बैठने लेटने का पूरा प्रबन्ध खुद देख लेने के बाद ही वे अपने पलग पर लेटे थे। समूचे भ्रमण मे वे हम लोगो के साथ रहे, यहाँ तक कि टगमर्ग से गुलमर्ग तक की कठिन चढाई भी उन्होने हम लोगो के साथ ही पैदल पूरी की। डा० रामाधार शर्मा तथा डा० प्रेमशकर के बहुत आग्रह करने पर उन्होने कुछ दूर के लिए टट्टू किराये पर लिया। मेरे पूछने पर इतना ही कहा—"व्यक्ति को केवल आदर्शो मे ही नही होना चाहिए, व्यवहार मे भी उसे उतारना चाहिए।'

इतनी अवस्था के बावजूद पडित जी मे युवको-सी स्फूर्ति तथा सक्रियता देख पडती है। काश्मीर-यात्रा के दौरान मे काश्मीर प्रदेश का कोना-कोना हमने छान डाला, विषम से विषम स्थितियो को पार करते हुए भी दर्शनीय स्थलो तक पहुचे, परन्तु एक भी ऐसा अवसर न आने पाया जब पण्डित जी हम लोगो के साथ न रहे हो। मेरे कुछ नवयुवक मित्र सर्दी बुखार से भी पीडित हुये, परन्तु पडित जी यात्रा भर बिलकुल स्वस्थ बने रहे। उनसे कह देने भर की आवश्यकता थी, हम लोगो के सारे कार्यक्रम वे सहर्ष स्वीकार कर लेते थे और खुद चलते भी थे। दार्जिलिंग-यात्रा के समय उनके आत्मविश्वास, धैर्य तथा कष्ट सहन करने की उनकी क्षमता का अद्भुत परिचय हम लोगो को मिला था। यात्रा लम्बी थी। सागर से चलकर बिलासपुर, रायपुर, विजयानगरम्, पुरी, कलकत्ता होते हुए दार्जिलिग और गगटोक तक जाने की योजना थी। बिलासपुर पहुचते-पहुचते उन्हे ज्वर चढ आया। शीघ्र ही खासी तथा जुकाम ने उन्हे जकड लिया। रायपुर तक तो हम उनकी अस्वस्थता का पता ही न चला। रायपुर मे गाडी बदलनी थी। विश्राम-कक्ष में पहुचकर वे लेट गए। हम लोगो को तभी उनके कष्ट का अनुमान हुआ। हम लोग स्वभावत कुछ घबडा से गए, परन्तु उन्होने स्वत हम लोगो को आश्वस्त किया कि वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जायगे। विजयानगरम् पहुचने पर भी उनकी अस्वस्थता लगभग वैसी ही रही। रात मे उन्हें काफी कष्ट भी रहा था, परन्तु उनकी बातचीत म आश्वासन के वही स्वर थे। हम लोगो ने एक बार उनसे सागर वापस लौट चलने का

आग्रह भी किया, परन्तु वे इसके लिये प्रस्तुत न हुए। पुरी पहुचने पर तबियत मे जरा सुधार होते ही उन्होंने हम लोगों के साथ सागर-स्नान भी किया। जिस दिन पुरी से प्रस्थान करना था, उस दिन वहां भयकर वर्षा हुई। सागर तट की वर्षा की भयावहता उसी दिन प्रथम बार देखी। भीगते हुए स्टेशन आए, अन्यथा गाडी छूट जाने का भय था। पडित जी भी काफी भीग गए थे। हम लोग कुछ चिंतित हुए कि कही उनकी तबियत फिर न बिगड जाय, परन्तु कलकत्ता पहुचते-पहुचते वे पूर्ण स्वस्थ हो गए। उसके बाद दार्जिलिंग तक की समूची यात्रा तथा प्रवास मे वे बिल्कुल नीरोग रहे। ३ बजे प्रात काल उठकर टाइगर हिल के लिए प्रस्थान, दस हजार फुट की ऊँचाई मे कचनजघा की हिमधवल पर्वतश्रृखला का स्पर्श करने के कारण हड्डियो को भी शीतल कर देने वाली वायु मे सूर्योदय की प्रतीक्षा, हम लोगो के साथ उन्होने भी की। हम तो कम्बल ओढे हुए भी ठिठुर रहे थे, परन्तु वे अपने पश्मीने के कोट तथा हल्के शाल मे ही प्रसन्नचित्त थे। इतना धैर्य, इतना आत्मविश्वास तथा दूसरो की भावनाओ का इतना अधिक ध्यान उन जैसा व्यक्तित्व ही रख सकता है। वे कदाचित् सागर लौट भी जाना चाहते हो, परन्तु केवल अपने कारण सब लोगो की दार्जिलिंग यात्रा की उमगो को मुर्झाने नही देना चाहते थे। इसीलिए कष्ट सहते हुए भी उन्होंने यात्रा मे कोई व्यक्तिक्रम न आने दिया।

अपनी इन यात्राओ मे पण्डित जी बहुत ही मुक्त तथा प्रसन्न रहते हैं। उनकी प्रसन्न मुद्रा समूची यात्रा को आकर्षक बना देती है। उस समय विभागीय औपचारिकताएँ लगभग समाप्त हो जाती हैं और वे परिवार के बडे-बुजुर्ग की भाति सबसे समान रूप से हँसते-बोलते हुए सारी यात्रा गुजार देते हैं। श्रीनगर तथा पहलगाम के कडकते जाडे मे उन्ही के पलग पर उन्ही के लिहाफ को पैरो पर डाल कर वार्तालाप और हँसी के बीच घण्टो बिता देने का सुख हम सबको मालूम है। शालीमार बाग की पुष्पराशि तथा चश्मेशाही के जल पर दी गई मित्रवर डा० रामाधार शर्मा की विनोदपूर्ण टिप्पणी और उसके बाद लगने वाले ठहाके आज भी मेरी स्मृतियो म सजीव हैं। वस्तुत, इस प्रकार के हँसी-ठहाको मे ही सम्मिलित यात्राओ का बहुत-सा आकर्षण निहित रहता है। पण्डित जी स्वत तो इनमे भाग लेते ही हैं, दूसरो को भी उतनी ही स्वतन्त्रता देते हैं। हर समय विभागीय अनुशासन की तलवार के बल पर विद्यार्थियो पर आतक जमाने वाले, कृत्रिम गम्भीरता को मुख पर लाद कर आचार्यत्व का ढोंग करने वाले, बात-बात मे विद्यार्थियो तथा शोध छात्रो को अपनी अध्यक्षीय गुरुता का छिछला बोध कराने वाले अध्यापको मे वे नही हैं। ऐसे अध्यापको को, जो यात्राओं के मुक्त वातावरण को भी अपने चेहरे की मुर्दनी से बोझिल बना देते हैं, वे सही मानो मे अध्यापक ही नही समझते। मर्यादाओ का स्वत उत्पन्न होने वाला बोध एक बात है और बलपूर्वक विद्यार्थियो को उनका बोध कराना बिलकुल दूसरी बात। पण्डित जी के सम्पर्क

मे आया हुआ प्रत्येक विद्यार्थी तथा शोधछात्र ऐसे वातावरण मे अपने संस्कारो पर शान चढाता है कि मर्यादाओ का बोध स्वत ही उनका अभिन्न अग बन जाता है, उसके लिए किसी को प्रयत्न करने की आवश्यकता नही पडती। और, तभी गुरु के साथ इतने सघन आत्मीय क्षणो का भोग करते हुए भी वह शिष्ट, सुसस्कृत *तथा शालीन ही बना रहता है। पण्डित जी को अपने किसी शिष्य को शालीनता* तथा मर्यादा का पाठ पढाते हुए या उपदेश देते हुए किसी ने नही सुना। उपदेश देने मे उनका विश्वास नही, अतिशय मर्यादावाद उनके प्रजातात्रिक दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं। उनके पास अपने व्यक्तित्व तथा अपने स्वत के आचरणो की वह पूँजी है जो उनके सामने आने वाले किसी भी व्यक्ति को स्वत अपनी सीमाओ मे खीच लेती है। उनका व्यक्तित्व स्वच्छन्द व्यक्तित्व है। वे रूढियो-रीतियो तथा जड-नियमो के बन्धनो से सर्वथा मुक्त हैं और सभी के व्यक्तित्व का इसी रूप मे विकास चाहते हैं, अपने सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक छात्र को ऐसी ही प्रेरणा देते है। यात्राओ के अवसर पर उनके व्यक्तित्व की मुक्त प्रसन्न अभिव्यक्ति भी प्रेरणा *की ऐसी ही एक किरण है जो किसी को मलिन नही करती, उसे प्रकाशित करती* है, उसे अन्धी गलियो की ओर नही मुडने देती—ज्योति के स्रोत तक पहुचने का माध्यम बनती है।

पडित जी के साथ की जाने वाली प्रत्येक छोटी-*बडी यात्रा* मेरे लिए सदैव एक उपलब्धि रही है। मैंने प्रत्येक यात्रा से लौटने के उपरान्त अपने मे कुछ नया अनुभव किया है। इन यात्राओ ने मुझे पडित जी को और भी निकट से देखने के अवसर प्रदान किए हैं और मुझे उनके व्यक्तित्व की कुछ नई रेखाओ से परिचित कराया है। पडित जी के व्यक्तित्व का कोई भी समग्र आकलन इन रेखाओ के बिना अधूरा ही रहेगा।

●

द्वितीय खण्ड

○

साहित्य-परिचय

○

शर्मा के आक्षेपों की चर्चा मे—हर जगह वाजपेयी जी ने श्रद्धेय चतुर्वेदी जी की खिचाई की। चतुर्वेदी जी ने आक्षेपों की गिनती कराने के बाद लिखा—"कहाँ तक गिनावें, श्री नन्ददुलारे जी ने हम पर आक्षेप करने का कोई अवसर नही छोड़ा।"

इसका परिणाम यह हुआ कि चतुर्वेदी जी ने वाजपेयी जी का बदला निराला जी से लिया। ऐसा तो अक्सर होता है कि कवि से बस न चले तो विरोधी दल उसके समर्थक पर टूट पडे, किन्तु चतुर्वेदी जी ने साहित्यिक वाद-विवाद का एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया—समर्थक से वस न चला तो कवि पर टूट पडे। चतुर्वेदी जी दल सगठित करके चक्र-व्यूह कौशल से युद्ध करना जानते थे, पर वाजपेयी जी की छापेमार युद्ध-कला से वे परास्त हो गये। 'भारत' मे निराला जी का लेख छपा—'वर्तमान धर्म'। चतुर्वेदी जी ने उस लेख को अलग से छपवा कर साहित्यकारो के पास भेज कर सम्मतियाँ इकट्ठी की और कई मास की तैयारी के बाद 'विशाल भारत' मे अपना समर-अभियान आरम्भ किया। इस चक्र-व्यूह-रचना का कारण 'भारत'-सपादक वाजपेयी जी थे। 'भारत'-'विशाल-भारत' की टक्कर मे मारे गये बेचारे निराला जी, यह बात चतुर्वेदी जी के शब्दो से ही प्रकट होती है।

काफी समय तक धुआँधार गोलाबारी के बाद भी जब चतुर्वेदी जी को निराला जी की ओर से जवाबी हमला होता न दिखाई दिया, तब उन्होने युद्ध-विराम की घोषणा की और कैफियत भी दी कि उन्होंने गोलाबारी शुरू क्यो की थी। वाजपेयी जी के आक्षेपो का हवाला देने के बाद उन्होने घोषित किया—"यह सब बातें हम इसलिए लिख रहे हैं कि जिससे पाठकों को पता लग जाय कि असह्य उत्तेजना मिलने पर ही हमने उत्तर देने का विचार किया था।" अर्थात् 'विशाल भारत' मे निराला-विरोधी प्रचार वाजपेयी जी को उत्तर देने के लिए प्रकाशित हुआ था।

बहुत से लोगो को यह भ्रम था और अब भी है कि वाजपेयी जी ने निराला जी का समर्थन किया तो इसका कारण व्यक्तिगत राग था, चतुर्वेदी जी का विरोध किया तो इसका कारण व्यक्तिगत द्वेष था। निराला के समर्थक एक विचार-धारा, एक नयी भाव-भूमि, साहित्य की नयी अभिव्यजना-पद्धति के लिये लड रहे थे। इसलिए यह व्यक्तिगत राग-द्वेष का प्रश्न न था। ध्यान देने की बात है कि वाजपेयी जी जैसे लोग स्वय निराला जी के अध-समर्थक न थे। वाजपेयी जी अपने चिन्तन मे स्वतन्त्र, अनुकरण- वृत्ति से दूर रहे हैं। 'माधुरी' (वर्ष ८, खड १, सख्या १) मे निराला जी की रचनाओ की प्रशसा करने के बाद उन्होंने यह भी लिखा था—"जहाँ कहीं निराला जी की रचनाओ मे दार्शनिकता का ही आधिपत्य होने के कारण कवित्व की कमी दिखाई पडती है, वहाँ सहृदयता से तकरार करने वाली वे रचनायें बिल्कुल अच्छी नही लगती।" इस तरह की बात वही व्यक्ति लिख

सक्ता है जिसे अपने सिद्धातो पर दृढ आस्था हो। वाजपेयी जी ने छायावाद का समर्थन करते हुए प्राचीन आलोचना-पद्धति का खडन किया। मेरी जानकारी मे हिन्दी के वे पहले आधुनिक आलोचक हैं जिन्होने रस-सिद्धात की रूढिगत सीमाओ की खुली आलोचना की थी। प्राचीन परिपाटी के काव्य का अनुमोदन करने वाली तथाकथित शास्त्रीय आलोचना की भर्त्सना करते हुए वाजपेयी जी ने 'माधुरी' (वर्ष ११, खड २, सख्या २) मे लिखा था—"इस समस्त अनर्गल प्रलाप के दो ही कारण देख पडते हैं—एक तो रस-सप्रदाय का प्रचलन, दूसरा तज्जन्य रूढिजडित समीक्षा-शैली। यह सारी जिम्मेदारी रस-पद्धति के अनुयायियो पर अवश्य ही पडेगी कि रद्दी-से-रद्दी कविता शताब्दियो तक की जाती रही और वे अकर्मण्य होकर उसे प्रोत्साहन देते रहे।"

रूढिवादी आलोचना का विरोध करके वाजपेयी जी ने मौलिक चिन्तन और नवीन विचार-धारा के लिये मार्ग प्रशस्त किया। उनकी हिन्दी साहित्य की यह सेवा अविस्मरणीय है। कोई आश्चर्य की बात नही कि "गीतिका" मे प्रसाद और निराला के साथ श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की भूमिका छपी है। यह घटना काव्य और आलोचना का दृढ सबध, प्रसाद-निराला-वाजपेयी का दृढ सम्बन्ध और काव्योत्कर्ष मे आलोचना-साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रकट करती है।

●

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी : एक निर्भीक आलोचक

—डा० विनयमोहन शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०

●

साहित्य के गुण-दोषो के विवेचन एव उद्‌घाटन के साथ-साथ स्वमत प्रदर्शन के रूप मे सम्यक दर्शन-क्रिया को समालोचन कहते हैं। भारत मे साहित्य-शास्त्र का अर्थात् उसके विभिन्न अगो के रचना-तन्त्रो के नियमो, शब्दार्थ-सम्बन्धो, अलकारो एव रस-ग्रहण की प्रक्रिया के सिद्धान्तो का जैसा सूक्ष्म विवेचन किया गया वैसा काव्यालोचन का अर्थात् उसके परीक्षणात्मक अग का नही। यहाँ तो उत्कृष्ट काव्य-ग्रथो पर आधारित रचना-तन्त्र रस और अलकार-सम्बन्धी समृद्ध नियमो तथा सिद्धान्तो का ही अनुशासन काव्य-रचना के लिए अनिवार्य-सा रहा और उन्ही की कसौटी पर काव्य-रचनाओ की परख होती रही। फलत. समीक्षण का सैद्धान्तिक पक्ष ही विकसित हो गया—शास्त्रीय या सैद्धान्तिक समालोचना ही काव्य-परीक्षा का एकमात्र अग बन गई। परन्तु योरप मे आलोच्य कृति के सर्वांग परीक्षण के लिए—उसकी आत्मा तक पैठने के लिए—पूर्व-निर्धारित शास्त्रीय मानदण्ड सर्वांशत ग्रहण किये जाँय या अशत शिथिल कर दिये जायँ या सर्वथा उनकी उपेक्षा करके आलोच्य कृति के ही आधार पर उसकी आलोचना की जाय या पूर्व निश्चित सिद्धान्तो के स्थान पर व्यक्तिगत रुचि और इतिहास को ही साहित्यालोचन का मानदण्ड माना जाय आदि अनेक प्रश्नो के विवेचन के फल-स्वरूप सैद्धान्तिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, आत्म प्रधान, प्रभावाभिव्यजक, सौन्दर्यात्मक, प्रशसात्मक आदि अनेक-विध आलोचन-प्रणालियो का आविर्भाव हुआ।

भारत का पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क होने के पूर्व हिन्दी आलोचना अपने शैशव-काल मे उक्ति या सूत्र-रूप मे—गद्याभाववश छन्दोबद्ध ही थी। परन्तु भारतेन्दु के समय से शिक्षा-प्रसार एव वैधानिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण गद्य-प्रचलन के साथ-साथ आलोचना का भी वास्तविक रूप मे सूत्र-पात हुआ और काव्यालोचन की

पुरानी कसौटियों पर शास्त्रीय ढंग से काव्य के गुण-दोष विवेचन का प्रवर्त्तन हुआ। प्रारम्भ में आलोचक की दृष्टि दोषोद्घाटन की ओर ही विशेष रही। परन्तु इस स्थिति में क्रमशः परिवर्तन हो चला। रसालंकार पर आधारित आलोचना महत्त्व-हीन होने लगी। आगे चल कर 'देव-बिहारी' की तुलना को लेकर उत्पन्न तुलनात्मक आलोचना में शास्त्रीय मानदण्डों का अज्ञात परित्याग और व्यक्तिगत रुचि का प्राधान्य दृष्टिगत हुआ। फिर भी आलोच्य कृति की आत्मा को झाँकने की प्रवृत्ति के इस समय भी दर्शन नहीं हुए—कवि की अन्तर्वृत्तियों की विश्लेषणात्मक विवेचना का अभाव-सा ही रहा। परन्तु ज्यों-ज्यों आंग्ल-साहित्य का अध्ययन-परिशीलन बढ़ता गया त्यों-त्यों उस साहित्य के प्रभाव-स्वरूप तथा देश की परिवर्तित राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ऐसा साहित्य-निर्माण होने लगा, जिसके अन्तर्बाह्य परीक्षण के लिए पश्चिम से नया प्रकाश और नई ऊष्मा लेकर साहित्य-प्रांगण में उतरे हुए उदीयमान आलोचकों को प्राचीन शास्त्र विधान बाधक एवं अपर्याप्त प्रतीत हुए। नवीनता के उस युग में वे एक स्वतन्त्र वैधानिक दृष्टिकोण के अभाव का अनुभव करने लगे। फलतः पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों तथा विभिन्न आलोचन-प्रणालियों को अपनाने की प्रवृत्ति उनमें अधिकाधिक बढ़ने लगी और प्राचीन परम्परा-प्राप्त शास्त्रीय आलोचना के स्थान पर विभिन्न पश्चिमीय आलोचन-शैलियों से नवनिर्मित साहित्य की आत्मा को अनावृत्त करने—उसके अन्तःपक्ष का उद्घाटन करने तथा उसकी विशेषताओं का अन्वेषण करने की चेष्टा प्रवर्धित हुई।

इस अवसर पर हिन्दी-साहित्य के उन्नायक एवं उसकी गतिविधियों के पथ-प्रदर्शक शुक्ल जी का अर्द्धजाग्रत साहित्य-चेतना को समयोचित दिशा-ज्ञान हिन्दी-साहित्य-संसार के लिए अतीव शुभकर हुआ। उन्होंने पूर्व-पश्चिम के समीक्षा-सिद्धान्तों को अपनी अनुभूति का अंग बनाकर काव्यालोचना के निजी मनोवैज्ञानिक एवं तर्क-संगत काव्य-सिद्धान्त स्थापित किये, समीक्षा-क्षेत्र में तत्काल प्रचलित एकांगदर्शी आलोचनाएँ एवं व्यक्तिगत रुचियाँ बहिष्कृत कीं, समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास किया और अंग्रेजी आलोचना-पद्धति पर ऐतिहासिक दृष्टि से सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वांगपूर्ण एवं अभूतपूर्व शास्त्रीय आलोचना द्वारा हिन्दी-आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। परन्तु अपने पूर्व निर्धारित काव्य-सिद्धान्तों की कसौटी पर नव साहित्य को कसने में शुक्ल जी सम्यक् न्याय न कर सके, क्योंकि उनकी दृष्टि में जीवन-काव्य के सम्मुख स्फुट काव्य हीनतर था और काव्याधार होने के कारण रोमांचकारी स्वच्छन्द स्फुट रचनाएँ नैतिक जीवन से बाह्य एवं आदर्शविमुख थीं, उन्हें कवि की अनुभूति की सचाई में भी सन्देह हुआ। इसके अतिरिक्त उन रचनाओं में प्राचीन विधान-बंधनों को तोड़ने की भी उन्मुक्त चेष्टा थी। इतनी प्रतिकूल सामग्री की विद्यमानता में

शुक्ल जी उन रचनाओ के प्रति कैसे सहानुभूति धारण करते ? ऐसी स्थिति मे अपनी व्यक्तिगत रुचि और धारणा के अनुसार उन्ही प्राचीन मानदण्डो का उन रचनाओ पर आरोप सम परीक्षण मे बाधक बन बैठा। कहते हैं "नई शराब पुरानी बोतल मे न भरनी चाहिए, वह फूट जाती है।" तद्‌वत् नवीन काव्य के आलोचन के लिए पुरानी कसौटी भी निरुपयुक्त सिद्ध होती है। अत नवीनता के उस अग्रगामी युग मे नव्यतर साहित्यिक कृतियो को नये ही नाप और बाटो से तौलने का कार्य, उन कृतियो के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले तरुण पारखियो द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उन तरुण पारखियो मे प० नन्ददुलारे वाजपेयी का अपना एक स्वतन्त्र स्थान है।

वाजपेयी जी हिन्दी के अध्ययनशील और मननशील विद्वान है। उन्होने काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर कुछ वर्षों तक 'भारत', 'कल्याण' आदि मे अपनी सम्पादन-कला का परिचय दिया। तत्पश्चात् काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे अध्यापन करते हुए यथावकाश 'साहित्य-सुषमा', 'सूर-सागर', 'हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ' आदि पुस्तको का सम्पादन किया, कई ग्रन्थो की पाडित्य प्रचुर भूमिकायें लिखी और सूर तुलसी आदि पर अनेको गवेषणा-पूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये। 'प्रसुमन'[1] काल के विकास दिशा-दर्शक साहित्यकारो एव उनकी कृतियो की खोजपूर्ण समीक्षा के रूप मे नवीन साहित्य के अध्ययन की परिचायिका 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी' उनकी प्रमुख रचना है। स्वतन्त्र रूप मे 'जयशकर प्रसाद' पर लिखी हुई एक विश्लेषणात्मक आलोचना पुस्तक भी है तथा हिन्दी साहित्य की कतिपय मुख्य कृतियो एव प्रवृत्तियो का विवेचन करने वाली 'आधुनिक साहित्य' नामक एक नूतनतम रचना है।[2] वाजपेयी जी हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत होने वाले साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष भी रह चुके हैं। आज वे सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। वे कुछ काल तक फेकल्टी आफ आर्ट्‌स के 'डीन' पद को भी सुशोभित करते रहे।[3] पौर्वात्य एव पाश्चात्य साहित्यो की प्रवृत्तियो के अध्ययन एव सन्तुलन द्वारा उन्होने अपना साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया है। पूर्वीय सिद्धान्तो की अपेक्षा पाश्चात्य सिद्धान्तो का सविशेष प्रभाव होने के कारण अपने आचार्य बाबू श्यामसुन्दरदास जी

---

१ प्र प्रसाद, सु-सुमित्रानन्दन पन्त, म-महादेवी वर्मा, न-निराला

२ इस ग्रथ के उपरान्त वाजपेयी जी के 'नया-साहित्य : नये प्रश्न' 'महाकवि सूरदास', 'प्रेमचन्द : एक साहित्यिक विवेचन' एव 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें' ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

३ इस समय वाजपेयी जी सागर विश्वविद्यालय 'डीन फैक्ल्टी आफ आर्ट्‌स' पुन चुने गए हैं।

के समान उन्होंने भी काव्य को कला मान लिया है, जबकि भारतीय शास्त्र काव्य को कला से पृथक् मानता आया है। तथापि भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के वे उपेक्षक नही है। रस, अलकार तथा नायक-नायिकाओ को ही वे साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्त्व मानते हैं तथा अभिव्यजना को काव्य न मानने मे भारतीय दृष्टिकोण का ही परिचय देते है। तात्पर्य यह कि 'भारत' पत्र के सम्पादकत्व में वाजपेयी जी ने जो समय-समय पर सामयिक साहित्य का विद्वत्तापूर्ण आलोचन किया, छायावाद, रहस्यवाद आदि युग-प्रवृत्तियो पर जो नित नये-नये प्रसून साहित्य-देवता के चरणो मे चढ़ाये, कवि विशेष के अध्ययन प्रस्तुत करने की जो आधुनिक परम्परा स्थापित की तथा वर्तमान युग की वृहत्त्रयी—प्रसाद, पन्त, निराला—की आलोचनाओ मे—उनकी मानसिक भूमियो के विश्लेपण मे जो स्वतन्त्र आलोचना का परिचय देकर अपना गम्भीर एव निर्भीक आलोचक-रूप प्रस्तुत किया उससे समीक्षा-जगत् में उनका शीघ्र ही आतक जम गया।

वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति को व्याख्यात्मक कहा जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप उनकी आलोचना मे पौर्वात्य एव पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है। रचना विशेष के मानसिक एव कलात्मक विश्लेपण के सम्बन्ध मे—वाजपेयी जी का कथन है—"उसका (आलोचक का) पहिला और प्रमुख कार्य है, कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसधान। इस कार्य मे उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धात-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धान्त तो उसमे बाधक ही बन सकते हैं।" उक्त धारणा के अनुसार वाजपेयी जी ने साहित्यालोचन-सम्बन्धी अपनी प्रयास-दिशा का निम्न प्रकार उल्लेख किया है —

१– रचना मे कवि की अतर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic Spirit);

२– रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation),

३– रीतियो, शैलियो और रचना के वाह्यागो का अध्ययन (Study of Technique);

४– समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन;

५– कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेपण),

६– कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन,

७– काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामजस्य और सन्देश का अध्ययन।"

तात्पर्य यह कि वाजपेयी जी की आलोचना पद्धति मे किसी पूर्व-कल्पित सिद्धात का आधार नही है, प्रत्युत आलोच्य कृति को ही वे आलोचना का प्रतिमान मानते हैं और उसके अन्यान्य अगो के विश्लेषण और व्याख्या से तद्‌गत विशेषताओ के उद्‌घाटन एव महत्व-निर्णय करने के पक्ष मे हैं। परन्तु इस प्रकार पूर्व निश्चित सिद्धात के अभाव मे ऐसी समीक्षा-प्रणाली खतरे से खाली नही है, उसमे भटक जाने की सभावना रहती है। प्रतिभा-सपन्न समीक्षक ही उक्त प्रणाली का अवलबन कर आलोच्य कृति के साथ सर्वाधिक न्याय करने मे समर्थ होते हैं। वाजपेयी जी ने नवनिर्मित काव्य-प्रवृत्तियो के विश्लेषण मे अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया है। उन्होंने उपर्युक्त सूत्रो के आधार पर ही 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' मे नवीन काव्य-धारा की अनुसधानपूर्वक पाडित्य-प्रचुर समीक्षा की है—नवीन कवियो की परिस्थितियो को यथोचित रूप से ध्यान मे रख कर तथा पैनी दृष्टि से उनकी भावनाओ की तह मे पहुच कर, साहित्यिक प्रवृत्तियो एव विशेषताओ को अनावृत किया है।

वाजपेयी जी शुक्ल जी के समान आलोचना के क्षेत्र मे विचारात्मकता के ग्रहण एव भावात्मकता के त्याग पर विशेष बल देते हैं, परन्तु पूर्व-निश्चित किसी भी कसौटी पर रचना विशेष की परख करने के सर्वथा विरोधी है। "काव्य को किन्ही भी नीतिवादी या उपयोगितावादी तुलाओ पर तौलना", "समय और समाज की आवश्यकताओ पर आकना" वाजपेयी जी आलोचना की सबसे बडी बाधा समझते हैं। उन्होंने नवयुग-अधिनायक शुक्ल जी को ही लक्ष्य कर बडी निर्भीकता के साथ अपनी साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी धारणा को व्यक्त किया है—"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा मे जो बात हमे सदैव स्मरण रखनी चाहिये, किन्तु जिसे शुक्ल जी ने बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित *दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धात को लेकर उसके आधार पर कला की परख नही कर सकते। सभी सिद्धात सीमित हैं। किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है।* कोई बन्धन नही है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु उस सौन्दर्य की परख किन्ही सुनिश्चित सीमाओ मे नही की जा सकती।" उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयी जी आलोच्य-कृति के सम्यक् सौन्दर्योद्‌घाटन के लिए पूर्वनिश्चित सिद्धातो का समीक्षा क्षेत्र से बहिष्कार चाहते हैं, क्योकि आधारस्वरूप गृहीत सिद्धान्त भ्रामक होने पर अन्तिम परिणाम भी भ्रामक होता है। शुक्ल जी का 'लोकधर्म' सिद्धांत

इसी कारण श्रेष्ठ काव्य की पहिचान मे असफल रहा—"उन्होने राम के निरूपण मे ही रस की सत्ता मानी है, रावण के निरूपण मे नही ।" "वे विश्लेषण का समारोह ऐतिहासिक अध्ययन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता उतनी नही दिखा सके जितनी सामान्य रूप से साहित्यमात्र और विशेष रूप से बीसवी शताब्दी के नवोन्मेषपूर्ण *और प्रसरणशील साहित्य* के लिए अपेक्षित थी ।' "उन्होने स्थूल व्यवहारवाद को निस्सीम बताकर और रहस्यवाद की कनकौए से तुलना कर नवीन कविता के साथ अन्याय किया है ।"

एक तो किसी भी सिद्धात का सर्व-सम्मत होना कठिन है, और दूसरे सिद्धात विशेष से प्रभावित समीक्षक अपने भावो की ही छाया आलोच्य कृति मे देखने लगता है । ऐसी अवस्था मे न्याय-सगत आलोचना की सम्भावना हवाई किले *बाँधने के समान है । इसलिए वाजपेयी जी शुक्ल जी द्वारा काव्यालोचन मे प्रयुक्त* एव समर्थित—लोक-धर्म, जीवन और जगत् के विभिन्न पक्षो का उद्घाटन, शील-सौन्दर्य शक्ति की अभिव्यक्ति का सामजस्य, प्रेम का लोकमगलकारी स्वरूप, प्रवृत्ति-निवृत्ति, काव्य मे प्रकृति-चित्रण आदि—सभी सिद्धान्तो को रचनाकार की हैसियत से उनकी उपयोगिता मानते हुए भी समीक्षक के लिए काव्य-परीक्षण मे असम्पूर्ण एव त्याज्य समझते हैं । प्रत्येक कवि की रचना मे कुछ न कुछ मौलिक विशेषतायें रहती ही हैं जिनका पूर्व-कल्पित सिद्धातो पर उद्घाटन प्राय असभव है । *वाजपेयी जी की सम्मति मे तो आलोचक की* "सौन्दर्य-दृष्टि और सिद्धान्त-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है । (कलाकृति) के सौंदर्य के सम्बन्ध मे कभी दो रायें नही हो सकती ।"

वाजपेयी जी सिद्धात-निरपेक्षता के अतिरिक्त वाद-निरपेक्षता के भी प्रबल पोषक हैं । उन्होने स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया है—"वाद-पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य मे कृत्रिमता बढाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है ।" "किसी राजनीतिक *या आर्थिक या सामाजिक* सिद्धात का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी मे बन्द हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बडी कुठा है, मनुष्य के लिए भी एक पगुकारी रोग है ।" अत विवेचन का *प्रारम्भ आलोच्य विषय के ही अन्तस् के साथ एक रस होकर करना अभीष्ट है, न कि किसी मतवाद के साथ अपने को तादात्म्य करके । वादविमुक्तता के लिए वाज*पेयी जी ने दो शर्तें अनिवार्य मानी हैं—"एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमे कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो ।" समीक्षक को व्यक्तिगत रुचि से भी तटस्थ रहना चाहिए । तटस्थता से वाजपेयी जी का यह मतलब नही है कि "समीक्षक अपनी सामाजिक और सस्कारजन्य इयत्ता खो दे । यह सम्भव भी नहीं है जहाँ

तक काव्य के कलात्मक स्वरूप और मनोभूमि के विश्लेषण का प्रश्न है, समीक्षक को तटस्थता कायम रखनी चाहिए।"

प्रगतिवादी समीक्षक काव्य के सर्व प्रधान अनुभूति पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। इसीलिए वाजपेयी जी को उनके समीक्षा-सिद्धात के प्रति भी सहानुभूति नही है—"मार्क्सवादी सामाजिक आर्थिक सिद्धात का जब काव्य अथवा साहित्य मे प्रयोग किया जाता है तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असगत और असाध्य सी हो जाती है। समाजवादी प्रतिष्ठा के पूर्व का सम्पूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है, अतएव मूलत दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ स्वागत-योग्य है जिस पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की छाया नही पडी। मार्क्सवादियो की यह उपपत्ति सभी दृष्टि से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है।" यदि हम मार्क्सवादियो की साहित्य-समीक्षा की यह परिभाषा मान लें तो वाल्मीकि, व्यास, होमर, मिल्टन, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि महान् नायको की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन तथा अनुभूतियो की उपेक्षा करनी होगी। वाजपेयी जी का विवेचक मन इस प्रकार की मान्यता के साथ कैसे चल सकता है? इसी तरह प्रयोग वादी रचनाओ के सम्बन्ध मे भी उनकी धारणा कभी ऊँची नही रही। 'प्रयोग' शब्द ही कृत्रिमता एव अभ्यास का व्यजक है जो कलापूर्ण बुद्धिजन्य साहित्य भले ही निर्माण करे, परन्तु प्राणप्रद साहित्य का सृजन उससे कैसे भला सभव है? अत वाजपेयी जी का कथन है—"प्रयोगवादी काव्य की इस अधाधुध मे सबसे बडी बुराई यह हुई कि काव्य कला सम्बन्धी स्थिर परिमाणो पर किसी का विश्वास नही रहा और पत जैसे निसर्ग-सिद्ध कवि भी कविता का पल्ला छोडकर वादो का रग अलापने लगे। उससे भी अधिक खेदजनक बात यह हुई कि समीक्षा के क्षेत्र म काव्य-सम्बन्धी विचार-परम्परा सुरक्षित न रह सकी। काव्य और वाद को एक ही श्रेणी मे मिला दिया गया।"

जीवन से हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बडी निर्लज्जता है। वाजपेयी जी भी "साहित्य और जीवन का स्वभावसिद्ध सम्बन्ध सर्वथा मगलमय' मानते हैं, परन्तु उस सम्बन्ध को उन्होंने अत्यन्त व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया है। उनका कथन है—"हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही क्यो न देखें, सम्पूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रूप-रग के भी दर्शन करें। हम जिस हवा मे साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममें प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओ का सग्रह होकर ही नहीं रह सकता।" तात्पर्य यह कि वाजपेयी जी क्षणिक यथार्थ के नाम पर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार नहीं करना चाहते, प्रत्युत् "साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली मे ले चलने का उपक्रम किया जाता है उसकी निन्दा करते हैं।" साहित्य के व्यापक और

क्रमागत स्वरूप को वे किसी भी मतवाद के आग्रह से सहसा छोड़ना नहीं चाहते; परन्तु साथ ही उनका उपयोग और उनकी सहायता अपनी काव्य-धारणाओं के निर्माण में अवश्य कर लेना चाहते हैं। इसीलिए वे काव्य-समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क का आवाहन करते हैं। शुक्ल जी का साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों से तादात्म्य न होने के कारण—उनकी सम्मति में—"नव्यतर सामाजिक प्रगति से (विशेषत राजनीति से) घनिष्ठ सम्बन्ध का अभाव था।" अत उनका आग्रह है—"युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ठ परिचय होना चाहिए। तभी वह युग के साहित्य का आकलन सम्यक् रूप से कर सकेगा। जिन नूतन स्थितियों और प्रेरणाओं से नवीन काव्य का निर्माण हुआ, जिन वादों की सृष्टि हुई है और जो नई शैलियाँ साहित्य में अपनाई गई हैं, उनका जब तक परिचय नहीं, तब तक साहित्य का मूल्यांकन क्या होगा?" वाजपेयी जी साहित्य का प्रयोजन शुक्ल जी की तरह आत्मानुभूति मानते हैं, अत साहित्य में प्रयोगों के खिलवाड़ को "समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम" समझते हैं। "काव्य-कला की मुखर वर्ण-मयता में वर्णभेद, वर्ग-भेद और वाद-भेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनती है।" इस प्रकार वाजपेयी जी ने आलो-चक के रूप में अपने स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

वाजपेयी जी की आलोचन-पद्धति चुस्त और मार्मिक अवश्य है; परन्तु कहीं कहीं, विशेषत उनकी आरम्भिक रचनाओं में, संयम का तोल नहीं रह पाया है। ऐसे स्थानों पर उन्होंने व्यक्ति को ही लक्ष्य बना कर आक्षेपपूर्ण आलोचना की है तथा वाद विवाद में पड़ कर कड़वी-चुभती बातें भी कही हैं—"प्रेमचंद जी एक शब्द को लेकर मजाक करने लगे"—जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है। वह साहित्य नहीं गूँगापन है। "यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास, कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आपकी वाणी चिल्लाया करती है? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहीं की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं।" उक्त उद्धरण से उनकी आलोचना की अन्यान्य विशेषताएँ भी सामने आ जाती हैं। आलोचना करते समय बीच में ही प्रतिपक्षी पर व्यंजक प्रश्नों की बौछार कर पाठकों के मुखमंडल पर मुस्कराहट की आभा विकीर्ण कर देना, वाज-पेयी जी की एक सहजसाध्य कला है। यह प्रसन्नता की बात है कि व्यक्तिगत आक्षेपपूर्ण आलोचना के ऐसे उदाहरण उनकी आलोचना में विरल हैं। दूसरी विशेषता उनकी आलोचना-पद्धति की व्यंग्यात्मकता है। छायावाद-युग प्राचीन नवीन के अर्थात् परम्परा के और नवीनता के पुजारियों के रूप में व्यंग्य के लिए अनुकूल था। एक ओर युग की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा शास्त्र-विधान-सम्मत साहित्य-सर्जन पर जोर दिया जा रहा था, तो दूसरी ओर बुद्धि-प्रसूत एवं कृत्रिम काव्य के

समर्थकों का बड़े शब्दों में कुछ कटुता के साथ विरोध किया जा रहा था। ऐसे ही युग में वाजपेयी जी ने लेखनी उठाई थी। अतः उनकी आलोचना में व्यंग्य का पुट उभर आया है। उनकी लेखनी से मानो पाखण्ड प्रचार-जन्य हृद्गत व्यथा मुखरित होने के लिए उत्सुक हो उठी—"इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। लेखक-गण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचक-गण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक-साहित्यिक के बड़े गुणगान करते हैं।" "इसलिए हिन्दी में इन दिनों लोग एक एक टेक लेकर चलने लगे हैं। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए कोई गरीबी की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते हैं, परन्तु इनके होते हुए भी विचारों का दैन्य छिपता नहीं।" उपरोध एवं उपहास का यह प्रबल स्वर वाजपेयी जी की आलोचना में यहाँ-वहाँ एक दो वाक्यों में ही नहीं समा पाता, सुदूर तक छा जाता है। यहीं उनका व्यक्तित्व भी पूर्णतः प्रस्फुटित होता है। कहीं-कहीं तो वे मार्मिक व्यंग्य की चोट करते-करते हताश भाग्यवादी जैसे बन जाते हैं—"स्वच्छंदता की प्रकृत प्रेरणा से प्रकट हुई 'पल्लव' जैसी रचना को शुक्ल जी सरीखे समीक्षक भी हेठी देते हैं और 'युगवाणी' सरीखे कोरे बुद्धिप्रसूत पद्यों को स्वच्छन्दता के अन्दर शुमार करते और प्रवर्धना देते हैं। तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्य सृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।"

शुक्ल जी में संयत, सुमधुर और यथावसर व्यंग्य का पुट है, परन्तु वाजपेयी जी के व्यंग्य में अधिक कड़वाहट आ गई है—वह कुछ अधिक तीखा हो गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने असम्मत मान्यताओं की प्रायः सर्वत्र व्यंग्यात्मक विवेचना की है, परन्तु आलोचना के मर्मस्पर्शी स्थानों पर वे भावात्मक भी हो गये हैं। ऐसे अवसर पर अपने आचार्य-द्वय के समान वे भी छोटे-छोटे, पर चुस्त वाक्यों का व्यवहार कर पाठकों के मनोराज्य में एक प्राञ्जलता का वातावरण निर्माण कर देते हैं—वाक्यों की लघुता एवं चुस्ती से एक विचित्र प्रकार की रमणीयता का उद्भावन होता है—"जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की यह भाव-भूमि है। जहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नहीं छापे जाते, वहाँ वाणी मौन रहती है। गाथा गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्तर से जितने क्रिया-कलाप होते हैं, आत्म प्रेरणा से होते हैं।" किसी विषय के स्पष्टीकरणार्थ वाजपेयी जी ने व्याख्यानात्मक रीति को अपनाया है और छोटे छोटे वाक्यों से भाव विशेष का निदर्शन विचारों को बार-बार दोहराकर किया है—"जीवन-सम्बन्धिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय। हम मृत्यु के अथवा अशान्ति के उपासक न बन जायँ। निराशा और आत्म-पीडन को अर्घ्य न देने लगें।"

डा० नगेन्द्र ने वाजपेयी जी की आलोचना मे कुछ अस्पष्टता का विचार कर एक दोष की ओर इगित किया है—"परन्तु इनके विवेचन मे एक दोष था । इन्होने छायावाद के ऊपर दार्शनिक आवरण इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो वह स्वय ही अपना आशय बिलकुल स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका । इसका कारण यह था कि इन्होने छायावाद की अधिकाश मूल प्रवृत्तियो का उद्‌गम प्रसाद जी की तरह भारतीय दर्शन को ही माना । विदेशी रोमांटिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुठाओ का, विशेषकर सेक्स सम्बन्धी कुंठाओ का प्रभाव यह उचित मात्रा मे स्वीकार न कर सके । इसके अतिरिक्त कला-पक्ष मे इन्हे जैसे कुछ कहने को ही न था ।" डा० नगेन्द्र पर स्वय फ्रायड के सिद्धातो का आतक छाया हुआ है । अत वे उसी दृष्टि से साहित्य का मूल्याकन करते हैं । यह सच है कि दार्शनिकता के आयोजन से वाजपेयी जी की आलोचना सहसा बोधगम्य नही बन पाती—(देखिये 'सगम' के 'प्रसाद-अक' मे प्रकाशित 'प्रसाद के नाटक' नामक लेख) प्रतीत होता है, उक्त लेख जीवन की अधिक भाग-दौड के अवसर पर लिखा गया है । इसलिए यह स्पष्ट नही हो पाता कि वे प्रसाद के नाटको को वास्तव मे किस कोटि के नाटक समझते है । कभी-कभी वाजपेयी जी आलोचना की सुदीर्घ भूमिका भी बाँधते है । इतना सब कुछ होने पर भी वाजपेयी जी के निष्कर्ष साहित्य-ससार मे समादृत हैं । आधुनिक हिन्दी-साहित्य की स्वतत्र वैज्ञानिक व्याख्या करने मे उन्होने जो श्रम उठाया है, उसका साहित्य-जगत् मे स्थायी मूल्य रहेगा, इसमे सन्देह नही ।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल का इतिहास अभी तक ठीक तरह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नही लिखा गया है और जितने भी इतिहास आज दिन प्रति दिन रचे जा रहे है, वे अधिकाशत शुक्ल जी के ही इतिहास पर आधारित हैं। किन्तु शुक्ल जी ने जिस समय इतिहास–रचना की थी, उस समय से आज तक वह कितना समृद्ध हो चुका है तथा कितनी अप्राप्त प्राचीन सामग्री उप-लब्ध हो चुकी है, यह साहित्य-पाठको से छिपा हुआ नही है । वाजपेयी जी शुक्ल जी के शिष्यो मे अपनी गणना साभिमान करते हैं और मानते हैं—"उनका शिष्यत्व तो है उनके किए हुए काम को आगे बढाने मे, जिस प्रकार स्वय उन्होने पिछले किए हुए काम को आगे बढ़ाया ।" यह प्रसन्नता की बात है कि वाजपेयी जी शुक्ल जी के अवशेष कार्य को, आधुनिक हिन्दी साहित्य का अप-टु-डेट इतिहास लिखकर 'आगे बढाने' के लिए उद्यत हुए हैं । इसी तरह हिन्दी मे एक और आवश्यकता प्रतीत हो रही है । पौर्वात्य और पाश्चात्य समीक्षा-प्रणालियो के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन का ग्रन्थरूप मे अभाव ही है । ज्ञात हुआ है कि वाजपेयी जी इस दिशा की ओर भी अग्रसर हो चुके हैं । उनकी अध्ययन-परायणता एव उद्यमशीलता निश्चय ही उद्‌बोधक हैं ।

सर्वश्रेष्ठ मर्मी, विद्वान समालोचक : आचार्य वाजपेयी

—डॉ० शिवसहाय पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०

—१—

आचार्य प० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने शुक्ल जी के प्रमुख शिष्यो मे अपनी गणना करते हुए साभिमान कहा है कि "उनका शिष्यत्व तो है उनके किए हुए काम को आगे बढाने मे–जिस प्रकार स्वय उन्होने पिछले किए हुए काम को आगे बढाया।" हिन्दी के सौभाग्य की बात है कि शुक्ल जी द्वारा "किए गए कार्य को" बहुत आगे तक बढा देने का युगीन कार्य किया है वाजपेयी जी ने। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि "हिन्दी का यह पहला आलोचक था जिसने निर्भीक और निर्भ्रान्त होकर छायावाद के महत्व को स्वीकृत और अधिष्ठित किया। वे बडे गम्भीर और विद्वान् आलोचक है। उन्होने बडी गहराई तक जाकर अन्ततंत्वो को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है।"

"वाजपेयी जी छायावाद-युग के प्रथम प्रभावशाली समीक्षक हैं, आधुनिक हिन्दी के शुक्लोत्तर समीक्षको मे उनका ऊचा स्थान है। वे शुक्ल जी के अन्यतम शिष्य हैं—ऐसे सुयोग्य शिष्य, जो अपने स्वतन्त्र-शक्तिमान व्यक्तित्व द्वारा शुक्ल जी का विरोध कर सकते हैं। वर्तमान हिन्दी के कम आलोचको ने अपनी प्रतिभा का इतना साहसपूर्ण परिचय दिया है। वस्तुत. यदि वाजपेयी जी मे साहस और प्रतिभा का मणि काचन सहज सयोग न होता, तो वे शुक्ल जी का इतना दृढ विरोध न कर *पाते और नवोदित छायावादी काव्य को वह बौद्धिक अवलब न दे पाते जो उन्होने* दिया।"

शुक्ल जी का मन वर्तमान युग के अधिकाश साहित्यकारो मे नही रमा है। वाजपेयी जी सम्पूर्ण अर्थ मे अपने युग के प्रतिनिधि समीक्षक हैं। इस दृष्टि से उन्होंने (१) नयी प्रतिभाओ को अपना समर्थन एव प्रोत्साहन दिया है। (२) आधुनिक हिन्दी के पाठकों का रुचि-परिष्कार किया है और (३) आलोचना-क्षेत्र मे नई

दृष्टियो के सम्प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया है। वाजपेयी जी द्वारा लिखित सैंकडो निबन्धो तथा अनेक कृतियो की जो गुणात्मक विषमता है, उसका बहुत कुछ कारण उनका परिवेश तथा परिस्थितियाँ हैं। वाजपेयी जी को 'एक महान् स्वच्छन्दतावादी या सौष्ठववादी समीक्षक ठीक ही कहा गया है।'[1] उनकी समीक्षा का महत्त्व इस बात में भी है कि उन्होंने हिन्दी समीक्षा को 'प्रबन्ध-काव्यवाद' तथा 'मर्यादावाद' के कठिन दायरो से मुक्ति पाने मे मदद दी और उसे प्रगीत-काव्य के सौष्ठव से मुक्त होने का उत्साह दिया।

वाजपेयी जी को आधुनिक हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कराने मे 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है। इसका प्रथम संस्करण १९४०-१९४१ ई० मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इसके प्रारम्भ मे ही उन्होने अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। साथ ही उन्होने इस युग की प्रवृत्तियो का विश्लेषण भी किया है। इस पुस्तक मे उन्होने पूर्वाग्रह-रहित भाव से निर्णायक और युगद्रष्टा समीक्षक के रूप मे आलोच्य साहित्यकारो के सम्बन्ध मे नि सकोच अपनी विवेकपूर्ण सम्मति प्रकट की है। वे शुक्लयुगीन नैतिकता और मर्यादावादिता को ही काव्य-समीक्षा का व्यापक रूप न मानकर उसके स्वच्छन्दता-मूलक सौन्दर्यवादी आयामो को भी दृष्टिपथ मे रखना आवश्यक मानते हैं। उस युग के मानदण्डो को देखते हुए इन नये प्रतिमानो का आनमन करने के कारण वाजपेयी जी का समीक्षको मे विशेष महत्वपूर्ण स्थान स्पष्ट हो जाता है। वे काव्य का महत्व काव्य के ही अन्तर्गत मानते हैं। वे काव्य की स्वतन्त्र सत्ता के कायल हैं। "उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है, उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है।"[2] उन्होंने साहित्य या समीक्षा के सात सूत्रो का उल्लेख किया है.—

(१) रचना मे कवि की अन्तर्वृत्तियो का (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष का) अध्ययन।
(२) रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।
(३) रीतियो, शैलियो और रचना के बाह्यागो का अध्ययन।
(४) समय तथा समाज एव उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन।

---

१ द्रष्टव्य : आधुनिक साहित्य : डा० देवराज, पृ० ११५-११६
हिन्दी आलोचना : डा० भगवत्स्वरूप

२ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (प्र० स०), पृ०, ८

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)
(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन
(७) काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन ।[1]

निश्चय ही वाजपेयी जी का यह सप्तसूत्री सिद्धान्त समीक्षा के क्षेत्र में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग । सचमुच 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में संकलित समीक्षात्मक निबन्ध उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं के भव्य निदर्शन हैं । उनके आचार्यत्व के प्रतिष्ठापक उनके शास्त्रीय निबन्ध तो हैं ही, पर व्यावहारिक समीक्षा में विशेष रूप से उनका असाधारण व्यक्तित्व प्रकट हुआ है । वाजपेयी जी के निबन्धों को समझने के अतिरिक्त यह सप्तसूत्री सिद्धान्त किसी भी आलोचक के लिए उपादेय है । वे काव्य में अनुभूति और कलात्मक सौष्ठव को सर्वोपरि महत्ता प्रदान करते हैं । सम्भवतः इन्हीं बातों को दृष्टि में रख कर कहा गया है कि "व्यावहारिक समीक्षा में वाजपेयी जी की असाधारणता शुक्ल जी से किसी भी अंश में कम नहीं है । उन्होंने शुक्ल जी की इस शैली को अद्भुत रूप से आगे बढ़ाया है । सचमुच आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समीक्षा का प्रतिनिधित्व वाजपेयी जी को ही प्राप्त है ।"[2] 'बीसवीं शताब्दी' से लेकर 'नया साहित्य नये प्रश्न' पर्यन्त उनकी जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनसे वाजपेयी जी की विकासमान महनी प्रतिभा और तत्वाभिनिवेशी विवेक-शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । "आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व वाजपेयी जी ने साहित्य को जिस सौष्ठव-विधान और सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से ग्रहण कर बीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों का समीक्षण बिना किसी प्रकार के मतवाद का आधार लिए नवीन प्रतिमानों द्वारा किया था, वह शुक्ल-युग की विचारधाराओं से अधिक विकसित और गम्भीर था । साहित्य के अनुसन्धाताओं से यह बात छिपी नहीं है कि यह वाजपेयी जी की ही प्रतिभा का चमत्कार था जिसने द्विवेदी-युग में कर्दथित किए जाने वाले छायावादी कवियों को साहित्य-जगत में उच्च स्थान प्रदान किया, और उनके काव्य-परीक्षण के लिए समीचीन और अपेक्षित प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की । इसीलिए वे सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं ।"[3] इस क्षेत्र में उन्होंने अकेले ही कार्य किया है । सन् १९३०-३२ के आसपास लिखे गये उनके निबन्धों से एक निश्चित दिशा-दृष्टि और समीक्षा-सरणि का सूत्रारंभ होता है और आज यह पद्धति समीक्षा-क्षेत्र में आकाश की तरह आच्छादित है और इसके श्रीगणेशक और विकासक वाजपेयी जी ही हैं । उनका प्रवेश स्वच्छन्दतावादी

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी पृ० ३१ (१९६३)
२ डा० शंकरदेव अवतरे—'हिन्दी साहित्य रूपों के प्रयोग'
३ आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, डा० वेंकट शर्मा, पृ० ३७७

कवियो के समीक्षक के रूप मे हुआ था, पर सैद्धान्तिक—व्यावहारिक दोनो क्षेत्रो मे उन्होने हिन्दी समीक्षा को विचारो का एक निकाय और आस्वाद की एक परिभाषा के साथ ही समीक्षा की एक नई पद्धति और पूरी परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे एक नया सश्लेषण भी दिया है। उनकी समीक्षा काव्य मे भावाभिव्यक्ति और सप्रेषण की सारभूत सत्ता का समादर करते हुए उसकी द्वन्द्वात्मक एव प्रतीकात्मक धारणाओ को लेकर चलती है। वे काव्य को शुद्ध सौन्दर्य के धरातल पर परखते है। उनकी समीक्षा को हम प्रभाव और अभिव्यजना, रचना और निर्णय, व्यापक सवेदनीयता और अनुभूति-अभिव्यक्ति-रसास्वाद और सौन्दर्यमूलक आह्लाद तथा भारतीय एव पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियो का उत्तम सश्लेषण मान सकते हैं।

— २ —

वाजपेयी जी के पूर्ववर्ती आलोचको की समीक्षाओ मे छायावाद के विषय मे आक्रोश का स्वर प्रधान था। उन समीक्षको द्वारा छायावादी काव्य का सौन्दर्य अनुद्घाटित ही रहा। द्विवेदीयुगीन आलोचको के लिए तो छायावादी काव्य व्यग्य-विनोद की वस्तु बन गया था।[1] शुक्ल जी ने छायावाद का बादरायण सम्बन्ध 'फँटस्मँटा' और ब्रह्मसमाज और ब्राह्मो से जोड दिया था। उनके दृष्टिपथ मे मुख्य रूप से "छायावाद की केवल आध्यात्मिक कविताए ही थी।"[2] शेष कविताओ को वे शैली-मात्र मानते थे। ऐसी पृष्ठिका मे वाजपेयी जी ने पहिली बार छायावादी काव्य का दृढतापूर्वक वास्तविक मूल्याकन करके उसके सौन्दर्य से हिन्दी साहित्य को परिचित कराया। इस प्रकार वे छायावाद के प्रथम समर्थक-प्रशसक-समीक्षक एव अधिकारी विद्वान् है।

उनका मत है कि "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"[3] उन्होने पहिली-पहिली बार छायावादी कविता का गौरवाख्यान किया है—"प्रसाद, निराला और पन्त जैसे महान् कवियो की एक साथ अवतारणा किसी भी साहित्य के इतिहास मे कोई साधारण घटना नही है। इसके कल्पनाशील सौन्दर्योन्मुख काव्य के अन्तरग मे नये युग की चेतना के साथ सस्कृति के गहनतर तत्वो का भी योग है। उन्मुक्ति की आकाक्षा, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के

१ द्रष्टव्य 'सरस्वती', जून १९२१ (हिन्दी मे छायावाद . सुशीलकुमार) और सरस्वती, मई १९२७ (आजकल के हिन्दी-कवि और कविता: लेखक—सुकवि-किंकर महावीरप्रसाद द्विवेदी)

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८

३ हिन्दी साहित्य: बीसवी शताब्दी—'महादेवी वर्मा' शीर्षक लेख, पृ० १६३-६४।

समस्त जन-समाज को एकान्वित करने वाली मानवतावादी भूमिका यहाँ विद्यमान है। अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करने मे इन कवियो ने भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का उपयोग किया है।"[1] "भाषा की लाक्षणिकता, *अभिव्यक्ति की कल्पना प्रचुर शैलिया, इस युग के नये आविष्कार हैं। यह नवीन* अलङ्कृति और रमणीय अभिव्यजना-शैली अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखती है।"[2] विषय की मौलिकता भाषा की प्रौढतम अभिव्यक्ति भी छायावादी काव्य को द्विवेदी-*युगीन काव्य-प्रवृत्तियो से अलग कर देती है।* छायावादी काव्य ने नूतन मानवतावादी आदर्शों को युग के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत किया है। "पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य ने जिस प्रकार मानव-चेतना की उच्चतम भाव-भूमियो को परिदर्शित *कराया था, उसी प्रकार भारतीय और हिन्दी छायावादी काव्य मे भी मानव* अनुभूतियो का सूक्ष्मतम अनुसन्धान किया गया है। इस काव्य की प्रक्रिया युग-चेतना मे एक गम्भीर और मूल्यवान अनुभूति बन कर स्थिर हो गई है।"[3] छायावाद का *प्रबल ऊर्जस्वित दार्शनिक पक्ष उसकी मूलभूत प्रवृत्तियो मे रस की भाँति सम्प्रेषित* है। वाजपेयी जी ने छायावादी काव्य को मध्यकालीन काव्यधारा से इस अर्थ म विशेष रूप से भिन्न माना है कि "वह किसी क्रमागत साप्रदायिकता या साधन-*परिपाटी का अनुगमन नही करता।"*[4] उनके अनुसार "छायावाद नवीन जीवन-प्रगति मे आत्म-सौन्दर्य का चितेरा और प्रकृति की चेतन सत्ता मे पुरुष या आत्मा का अधिष्ठानकर्ता है जिसकी मूल चेतना अत्यन्त भव्य और अद्वितीय है।"[5] उन्होने *अपने इस वक्तव्य का समर्थन छायावादी कवियो की आत्मानुभूति का विवेचन* करते हुए किया है। उनकी छायावाद विषयक विवेचना मे प्रभावाभिव्यजन-प्रणाली भी द्रष्टव्य है। उनके विचार से छायावादी काव्य की एक बडी उपलब्धि का प्रमाण तो *यह है कि इस काव्य को "जिन लोगो ने केवल सौन्दर्यवादी अथवा* स्वप्नलोक का विषय" बनलाया है या जो लोग इसे "विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की न्युरोटिक प्रतिक्रिया मानते हैं, वे भी छायावादी कवियो के व्यक्तित्व और प्रतिभा के प्रशसक हैं।"[6] सच तो यह है कि "छायावाद के विरोधी समालोचक अपनी भौतिकवादी दृष्टि के कारण उसकी अध्यात्म-भावना को नही समझ पाते और उन्हे इस धारा के कवियो मे विद्रोह और स्वातन्त्र्य तथा निष्ठा और सजगता का स्वर नही मिलता।"[7]

---

१ हिन्दी-अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक), पृ०, ५२७।
२ आधुनिक साहित्य, पृ० ३४२।
३ *ना० प्र० पत्रिका, अक ३४, सं० २०१५* ("आधुनिक काव्य चिन्तन")
४ आधुनिक साहित्य (द्वि० स०), पृ० ३७४
५ वही, पृ० ३७५।
६ वही, पृ०, ३९५।
७ वही, पृ० ३९५।

छायावादी काव्य की प्रेरणा विषयक उनकी मान्यता है कि "छायावादी काव्य की मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सास्कृतिक है। वह भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियो मे एक सक्रिय प्रयत्न है। वह मानव-जीवन, सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न रूप मानता है।"[1]

छायावादी काव्य-सरणी अध्यात्मवादी सीमा निर्देशो से आबद्ध नही है। वह भावना के क्षेत्र मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नही करती।[2] दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप कथावस्तु का चयन करने मे छायावादी कवियो ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।[3] इसीलिए इस काव्य के स्वरूप के विषय मे उन्होंने लिखा है कि "समग्र रूप से छायावादी काव्य मानव अथवा *प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान कराता है।"*[4] वह "चेतना का एक उज्ज्वल वरदान" है। "विजयिनी मानवता का महासन्देश ही उसका उच्चतम आदर्श है।"[5] विश्व-सौन्दर्य की परख छायावादी काव्य ने सांस्कृतिक भूमियो से की है, अपने अद्वैतवादी रहस्यवाद से की है। यह कोरी भावुकता नही है। नवीन जीवन-प्रगति मे ही छायावादी काव्य ने आत्मसौन्दर्य की झलक देखी है। वाजपेयी जी ने छायावादी काव्य को युग-सापेक्ष्य दृष्टिकोण से परखा है। उस युग को वे मुख्यत साहित्यिक और सामाजिक परम्पराओ के विरुद्ध विद्रोह का युग मानते हैं। व्यक्ति का नवीन स्वातन्त्र्य, मानव के नव महत्व की अनुभूतियाँ, गाधी द्वारा जगाई युगचेतना का वेग, व्यक्तिमुखी काव्य-नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा *आदि बिन्दुओ को उन्होने अपने दृष्टिपथ मे रखा है।*[6] उनकी इस विवेचना के मूल मे पाँच सूत्र हैं—(१) छायावाद की विद्रोहनिष्ठ वाणी व्यक्ति निष्ठ है। (२) उसमे करुणाकलित विहागराग, आशा और उल्लास के मनोरम स्मृतिचित्र हैं। (३) उसमे राष्ट्रीय चेतना का उद्दाम वेग है। (४) उसमे मानवजीवन के उदात्त पहलू हैं (५) उसमे अतीत-गौरव-गान, मानवता की विजय-गाथा का आख्यान एवं उद्‌घोष भी है।

आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार छायावादी कलाकार मानवीय उपलब्धियो को चिन्तन, कल्पना एव अनुभूति के रूप मे स्वीकार करता है। इसे वे बीसवी शती

१ आधुनिक साहित्य, (२०१३ वि०), पृ०, ३१९-२०।
२ वही, पृ०, ३२२।
३ वही, पृ०, ३२३।
४ हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ०, १५६।
५ *जयशंकर प्रसाद, पृ०, ६९।* -
६ नया साहित्य . नये प्रश्न, पृ०, १४८

की वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी प्रगति की प्रतिक्रिया एवं भारत के परम्परागत अध्यात्म-दर्शन की नव प्रतिष्ठा का सक्रिय प्रयत्न मानते हैं।[1] "छायावाद के कल्पनाशील सौन्दर्योन्मुख काव्य के अन्तरग म नये युग की चेतना के साथ संस्कृति के गहनतर तत्वो का भी योग है। उन्मुक्ति की आकाक्षा, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के समस्त जन-समाज को एकत्रित करने वाली मानवतावादी भूमिका यहाँ विद्यमान है। अपने जीवन-दर्शन का निर्णय करने मे इन कवियो ने भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का ही उपयोग किया है।"[2] उनकी इस मान्यता से स्पष्ट है कि छायावादी कवि की स्वानुभूति जन्य अभिव्यक्ति मे युगात्मा और युगदर्शन की पुकार मुखरित है। वाजपेयी जी की मान्यता है कि छायावादी कविता मे वैयक्तिक मानस का सम्प्रसार हुआ है। अनुभूति एव कल्पना की व्यापकता के साथ ही राष्ट्रीय-सास्कृतिक मानवतावादी भूमिकाए भी इस काव्य मे द्रष्टव्य हैं—

"गतिमान मुख्य तत्व अनुभूति ही है जो कल्पना के विविध अगो और मानस-छवियो का नियमन और एकान्वयन करती है। यह काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है जिसका क्षरण और विन्यास काव्य-कल्पना और काव्यात्मक अभिव्यक्ति मे होता है।"[3] छायावादी शैली के विषय मे उनकी मान्यता है कि "छायावाद की प्रतिनिधि काव्य शैली यद्यपि प्रगीतो का ही आश्रय लेती है, परन्तु उसका विस्तार प्रसाद के भावप्रधान नाटको और 'कामायनी' के समृद्ध आख्यान तक देखा जा सकता है।"[4] वे छायावादी समीक्षा मे कल्पना तत्व को और छायावादी शैली के मूल्याकन म अभिव्यजना तत्व को मुख्य मानते हैं।[5] वाजपेयी जी ने अपने इन्ही मूलभूत सिद्धान्तो के निकष पर छायावाद के कवियो (प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी) और उनके कृतित्वो को व्यावहारिक समीक्षा के रूप मे मूल्याकित किया है। उनकी छायावाद की इस समीक्षा जैसी समग्र सौन्दर्योद्घाटिनी विवेचना हिन्दी का कोई इतर आचार्य नही कर पाया है।

—३—

प्रगतिशील साहित्य के प्रति वाजपेयी जी का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक है। यह अवश्य है कि मार्क्सवादी विचारधारा अथवा वर्गभावना के विश्लेषण मे उनकी

१ आधुनिक साहित्य पृ०,३१९।
२ हिन्दी-अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक, पृ० ५२७।
३ नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १४६।
४ वही।
५ द्रष्टव्य, हिन्दी-साहित्य - बीसवी शताब्दी, पृ०, १३२, १६८।

आस्था अधिक नही है। उन्होने स्वय काशी मे रहकर प्रगतिशील सघ का सुसगठन किया था। वे उसके सभापति भी मनोनीत किए गए थे। हिन्दी-परिषद् के पूना-अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने प्रगतिशील साहित्य के विविध विवादास्पद पक्षो का तात्विक विवेचन किया है। वे प्रगति को जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया मानते है। वे प्रत्येक युग मे उसकी सस्थिति को भी अनिवार्य मानते है। उनका मत है कि "वाह्य सघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक सघर्ष का प्रगतिशील साहित्य मे विशेष महत्त्व है।"[१] प्रगतिशील साहित्य को समझाने के लिए उन्होने एक त्रिसूत्री सिद्धात का प्रतिपादन किया है—(१) आत्मचेतना या जीवन चेतना—जिसके अभाव मे साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण ही नही हो सकता[२] (२) प्रगतिशील साहित्य परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओ के सपर्क मे आए, और नये ज्ञान का उपयोग करना जाने। और (३) कला-निर्माण का पक्ष। इन्हे स्वीकार करके चलने मे साहित्य मे किसी प्रकार की रूढि का सचार नही हो सकता।

—४—

वाजपेयी जी ने प्रयोगवाद की भी सविस्तार व्याख्या और समीक्षा की है। उनके मत से हिन्दी साहित्य मे प्रयोगवादी शैली अधिक सम्मानसूचक नही रही है। "प्रयोग शब्द से प्राय नये अभ्यास, नवीन प्रयास या नवीन निर्माण-चेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी रचना मे कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम विकास या सुनिश्चित व्यक्तित्व नही मिलता। ऐसा साहित्यकार अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही उत्पन्न करता है। वह मात्र प्रणेता और प्रवक्ता होता है, स्रष्टा नही"[४]। वाजपेयी जी की रसग्राही और सौन्दर्यवादी समालोचक मनीषा को प्रयोगवादी काव्य मे मानसिक उलझनो और बौद्धिक चेष्टाओं की अधिकता दिखाई देती है—"उलझी हुई सवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अभेद्य क्षेत्रों मे जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरो, सीधे या उल्टे अक्षरो आदि का उपयोग करते हुये कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियो की रचना, प्रयोगवादी काव्य की परिभाषा है।"[५] प्रयोगियों का प्रयोग बाहुल्य उनकी कलाविहीन असाहित्यिक रुचि का परिचायक है,[६] साथ ही वह वास्तविक साहित्य-

१ आधुनिक साहित्य (स० २००७) पृ०, ३२६-४२
२ वही (द्वि० स०) स० २०१३, पृ०, ३८१।
३ वही, पृ० ३८४।
४ वही, , पृ०, ६९ (२०१३ स०)
५ वही, पृ०, ७५-७६।
६ वही, पृ०, ७६।

सृजन का स्थान प्राप्त करने मे असमर्थ माना जाएगा।[1] ऐसे अन्वेषियो की समाज-विषयक उपेक्षा-वृत्ति के प्रदर्शन से समाज के कल्याण की कोई आशा नही की जा सकती।[2] वाजपेयी जी की ही इस साहसिक आलोचना का फल है कि इधर अनेक प्रयोगवादियो मे परिवर्तन आ गया है। उन्ही के शास्त्रानुशासन का परिणाम है कि आज बडे-बडे प्रयोगियों की उच्छृ खलता समाप्त-सी हो गई। इधर आकर ये लोग टी० एस० इलियट की शैली मे आधुनिक जीवन का खोखलापन प्रदर्शित कर रहे हैं।[3]

—५—

वाजपेयी जी ने अनुकृतिवाद का परिचयात्मक विश्लेषण किया है। उन्होंने अभिव्यजनावाद की पृष्ठिका मे योरोपीय सौन्दर्यमूलक और कला-व्यजक विविध मतो का भी स्पष्टीकरण किया है।[4] पाश्चात्य क्लैसीसिज्म (शास्त्रीय) और रोमैंटिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) जैसे वादो को भी उन्होने स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार "प्रथम प्रकार की शैली मे वस्तु और शैली दो पृथक् सत्ताए हैं जबकि द्वितीय प्रकार की शैली मे काव्य की मूल वस्तु भावना है जिसके अन्तर्गत उसके अन्य उपादान सन्निविष्ट किए जा सकते हैं।"[5] उन्होने आदर्शवादिनी और यथार्थवादिनी मनोदृष्टियो का भी विवेचन किया है। इनका विश्लेषण भारतीय एव पाश्चात्य साहित्य के अनुक्रम से हुआ है। इन वादो से सम्बद्ध योरोपीय साहित्यकारो का सामान्य परिचय देकर उन्होंने आधुनिक साहित्य को समझाने के लिए एक पृष्ठिका प्रस्तुत करदी है। उन्होने मार्क्स, फायड, एडलर, जुग आदि के भी मतो की कमियो और अतिवादी छोरो का उल्लेख किया है। उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य वाजपेयी जी ने अपने प्रतिमानो और अपनी व्यापक सारग्राहिणी दृष्टि के अनुसार छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, आदर्शवाद, स्वच्छदतावाद, यथार्थवाद, परम्परावाद, अनुकृतिवाद, अभिव्यजनावाद प्रभृति साहित्य-क्षेत्र के विविध मतो का सम्यक् विश्लेषण-विवेचन किया है। इन विश्लेषणो मे उनकी चिन्तनशील प्रज्ञा और अध्ययन-जन्य उत्तम विचारणा के व्यापक, गम्भीर और प्रौढ रूप द्रष्टव्य हैं।

---

१ आधुनिक साहित्य पृ०, ७७।

२ वही, पृ०, ७८।

३ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ०, २१।

४ द्रष्टव्य, 'आधुनिक साहित्य', पृ०, ४२०-२२।

५ वही, पृ०, ४४४ (२०१३ सं०)।

—६—

साधारणीकरण के विषय म वाजपेयी जी का सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण है। उनकी समीक्षा के मूल मे भारतीय रस-सिद्धात का प्राधान्य है। और, यह रसवाद भावसत्ता पर आधृत है। उन्होंने 'आधुनिक साहित्य'[1] और 'नया साहित्य : नये प्रश्न'[2] दोनो ग्रन्थो मे 'रस-निष्पत्ति' की व्याख्या की है। उन्होने इस प्रश्न को आदि से उठाया है। 'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् रस निष्पत्ति' से सम्बद्ध चारो विशिष्ट मतो का उन्होने तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका मत है कि "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव मे कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नही। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे है।"[3] वाजपेयी जी ने भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतो और प्रतिपादनो को आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा सौन्दर्यशास्त्र-सबधी दृष्टि से भी देखा है। उनका वक्तव्य है कि ये चारो मत क्रमश काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं। इनमे से प्रत्येक मत समस्या के एक एक पहलू को लेकर आगे बढता है। शुक्ल जी ने "आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण" माना था। प० केशवप्रसाद मिश्र और श्यामसुन्दरदास ने इसके लिए "मधुमती भूमिका" की बात कही थी। वाजपेयी जी ने इन विद्वानो से आगे बढकर इस विषय मे भारतीय और पाश्चात्य परम्परा से सम्बद्ध एक मौलिक स्थापना की है।

—७—

वाजपेयी जी ने काव्य मे आह्लाद और हृदयस्पर्शिता को प्रधान माना है। वे रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हैं; पर उसकी अलौकिकता और ब्रह्मानन्द सहोदरता से वे सहमत प्रतीत नही होते, क्योकि इसी सम्बद्ध अलौलिकता के पाखड से काव्य का बड़ा अनिष्ट हुआ है।[4] रस-सिद्धात को वे बडा व्यापक मानते हैं। उसे वे सारी साहित्य-समीक्षा का मूलाधार और मानदण्ड तक बनाने को प्रस्तुत हैं। वे काव्य मे सम्वेदन और अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं। उनके मत से अभिव्यजना रस से निम्न स्तर की वस्तु है।[5] वे अलकारो को वहीं तक स्वीकारते हैं, जहाँ तक वे रस-सिद्धि के साधक बनकर आते हैं। कविता अपने उच्चतम वैभव-

१ आधुनिक साहित्य : (२००७ स०), पृ०, ३५३-३७१।
२ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ०, ११४-१२३।
३ वही, पृ०, १२२।
४ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ०, ६७।
५ वही, पृ०, ५६।

शिखर पर पहुचकर अलंकार विहीन हो जाती है ।[1] उनका अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण विश्वनाथ, अभिनवगुप्त आदि के मतो से साम्य रखता है । उन्होंने रस-सिद्धांत को राष्ट्रीय सवेदन से सम्बद्ध करके उसे एक व्यापक एव प्रौढ आधार दिया है । साथ ही समीक्षा-क्षेत्र मे व्याप्त अराजकता के अपीकरण के लिए एक सशक्त मानदण्ड भी प्रस्तुत किया है ।

क्रोचे के मत मे अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है । पर, वाजपेयी जी के अनुसार अनुभूति का सम-रस या सम-रूप होना अनिवार्य है ।[2]

वाजपेयी जी ने काव्य-विवेचना मे रचना या अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । उनका मत है कि "काव्य तो मानव-अनुभूतियो का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र मे स्वभावत अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है । इसी सौन्दर्य-सवेदन को रस कहते हैं । सार्वजनिक होने के कारण कविता का सौन्दर्य-तत्व नित्य और शाश्वत है ।"[3]

सम्भवतः इसीलिए वे साहित्य मे वाद-निरपेक्षता के प्रबल पोषक है । वस्तुत वाद तो जीवन-सम्बन्धी धारणाओ और प्रवृत्तियो के बौद्धिक निरूपण हैं । वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवनदृष्टि है और काव्य मूलत जीवन-व्यापी अनुभूति है । काव्य सवेदना की सृष्टि करता है और वाद ज्ञान-विस्तार । इन दोनो का मूल उत्स मानव-जीवन है, पर दोनों का क्षेत्र पृथक् है ।[4] इसीलिए उन्होने वादो की बेमेल ठूसठास को अनुचित माना है और यहाँ तक कहा है कि मार्क्सवादी सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य मे प्रयोग किया जाता है तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असगत और असाध्य-सी हो जाती है ।[5] वे साहित्य का मूल प्रयोजन आत्मानुभूति मानते है—"आत्मानुभूति की ही प्रेरणा से साहित्य की सृष्टि होती है । रस की प्रक्रिया से भी स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव, सचारीभाव आदि काव्य के उपादानो के मूल मे भी अनुभूति या भावना कार्य करती है ।"[6] वे काव्यगत

---

१. हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ६८ ।

२ द्रष्टव्य, आधुनिक साहित्य, पृ० ४१२-१८ ।

३. वही, पृ० ४०८-९ ।

४ वही, पृ० ४१०-११ ।

५. वही, पृष्ठ ४६५ :

६. वही, पृ० ४६५ (सं० २०१३)

अनुभूति की व्यापकता भारतीय साहित्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धात से भी निरूपित करते है—"काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा के मर्म मे आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है। यह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।"[1] वे अनुभूति के क्षेत्र मे वैयक्तिकता, वस्तुपरकता, आत्माभिव्यजन हीनता अभिव्यजकता आदि की भेदक नीति को अनुचित मानते हैं।[2] उसे उन्होने स्वत एक अखण्ड आत्मिक व्यापार माना है।[3] उनके *अनुसार समीक्षा मे यह अत्यन्त उपादेय है।*

वाजपेयी जी के मतानुसार "साहित्य सामाजिक इतिहास का अगमात्र नहीं, *अपितु वह एक स्वतन्त्र कलावस्तु है जिसे वाणी और मानव-भावना का ऐसा* साकार वैभव कहा जा सकता है जिसमे सामाजिकता-मात्र का निर्वाह ही सब कुछ नही होता।"[4] वे साहित्य से समाज और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध 'अनुवर्ती' रूप मे ही मानते हैं। वे साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता के समर्थक है। इसीलिए उन्होंने काव्य की परिभाषा करते हुए उसे "प्रकृत मानव-अनुभूतियो का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण माना है जो मनुष्य-मात्र मे स्वभावत अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है। इस सौन्दर्य सवेदन को ही भारतीय पारिभाषिक शब्दावली मे 'रस' की सज्ञा दी गई है।"

उन्होने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध बड़े व्यापक अर्थ मे माना है। इसको समझने के लिये वे देश-काल की भेदकता का आग्रह समीचीन नही मानते। *उनकी मान्यता है कि जीवन एक ऐसे उच्छल धारा प्रवाह सदृश है जिसकी* प्राणदायिनी और रमणीय बूँदें साहित्य मे एकत्र की जाती हैं।[6] "जीवन के अनन्त आकाश मे साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते है।"[7] उनके अनुसार साहित्यकार को मात्र युगीन परिवेश मे ही कारावद्ध होना उचित नहीं है, क्योकि वह वर्तमान मे रहता है और अतीत भविष्य को अकस्य किए रहता है। महान् कलाकार की कृति मे सामाजिक जीवन विराट् और सार्वकालीन यथार्थ जीवन की

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ४६६ (२०१३ स०)
२ वही, पृ० ४६८ (२०१३ स०)
३ वही, पृ० ४७०।
४ वही, पृ० ४५८।
५ वही, पृ० ४५९।
६ वही, पृ० ४५५।
७ वही, पृ०, ४५५।

कल्पना मे सहायक ही होता है। साहित्य और जीवन के अन्योन्य
उनका मत बडा ही मनोमय है —"साहित्य मे मनुष्य का जीवन ही
वे कामनाए, जो अनन्त जीवन मे भी पूरी नही हो सकती, निहित रहती।
यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य मे उस अभिव्यक्ति की आ
भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है, तो साहित्य उसके सहित है,
तभी तो उसका नाम साहित्य है, तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान
और परिपूर्ण है, तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी रहता आया है।"[1]

वाजपेयी जी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा मे व्यक्ति-चिन्तन और समाज-मगल दोनो का समन्वय द्रष्टव्य है। इसमे व्यष्टि-समष्टि और आनन्द-लोकमगल मे एकसूत्रता स्थापित हुई है।

डा० इन्द्रनाथ मदान का मत था कि "वाजपेयी जी की समीक्षा के मूल मे व्यक्तिवादी विचारधारा है और यही वैज्ञानिक और विकसित होकर मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का रूप धारण करती है।" उन्हे प्रतीक्षा थी कि "कोई अवतारी आलोचक ही व्यक्ति-चिन्तन और लोक-मगल मे समन्वय स्थापित करेगा।" डा० मदान के सौभाग्य से हिन्दी मे यह कार्य आचार्य वाजपेयी जी द्वारा ही पूरा किया गया।

—८—

वाजपेयी जी ने अपनी समीक्षा के मानदण्ड भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से ग्रहण किए है। स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी समीक्षा के वे प्रमुख आलोचक है। यद्यपि उनकी रुचि व्यावहारिक समीक्षा मे अधिक रमी है; तथापि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनो पद्धतियो का सम्यक् सुगुम्फन इनकी समीक्षा की विशेषता है। उनका दृष्टिकोण रसवादी भी है। उनकी आलोचना प्रौढ काव्य-दर्शन का सहारा लेकर चलती है। सास्कृतिक-सामाजिक प्रेरणाओ को यथावत् महत्व देने पर भी इनकी विवेचना के मूल्य साहित्यिक रहते है।[2] सास्कृतिक, कलात्मक, सौन्दर्यवादी और अनुभूति-अभिव्यक्तिपरक मूल्यो का अत्यन्त सुष्ठ रूप पहिली बार हिन्दी मे वाजपेयी जी की ही समीक्षा मे निखार पा सका है। उनकी स्वतन्त्र वैज्ञानिक और सौन्दर्यमूलक व्याख्याओ का स्थायी मूल्य है।

उनकी समीक्षाओ मे व्याख्यात्मक पद्धति का भी चरम निदर्शन मिलता है। उनका कथन है कि "आलोचक का पहिला और प्रमुख कर्त्तव्य है कला का अध्ययन

१ आधुनिक साहित्य पृ०, ४५६ (२०१३ सं०)
२ भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, स० डा० नगेन्द्र, पृ० ६३८-३९

और सौन्दर्यानुसन्धान। इस कार्य मे उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और उसकी सिद्धान्त निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है। सिद्धान्त तो उसमे बाधक ही बन सकते है।" हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परीक्षा नही कर सकते। वाजपेयी जी के अनुसार आलोच्य कृति के सम्यक् सौन्दर्योद्घाटन के लिए पूर्व निश्चित सिद्धान्तो को विशेष महत्व नही देना चाहिए। 'आलोचक की सौन्दर्य-दृष्टि और सिद्धान्त-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है। वे प्रारम्भ से ही समीक्षा के क्षेत्र मे अभिनव दृष्टिकोण के समर्थक और प्रवर्तक रहे है। इसी कारण उन्होने द्विवेदी-युगीन स्थूल निर्णयात्मक समीक्षा का विरोध भी किया है। उन्होने अपने गुरु के लोक रजन-रक्षण और शक्ति-शील के प्रतिमानो का भी विरोध किया है। प्रारम्भ से ही उन्होने मौलिक प्रतिमानो, स्वच्छन्दता और सौष्ठव के आदर्शों के साथ समीक्षा क्षेत्र मे पदार्पण किया। उन्होने शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक पद्धति को आगे बढाकर पूर्णत निगमनात्मक कर दिया है। साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण के सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर सास्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित किया है। उन्होने भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य सवेदनीयता से सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप मे स्वीकार कर लिया है। शुक्ल जी की निधि को प्राप्त करके और अपने मौलिक प्रतिमानो के माध्यम से उन्होने हिन्दी मे एक नये अध्याय का प्रारम्भ किया है। सचमुच "वाजपेयी जी की समीक्षा समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से विकास के आगे की अवस्था मानी जा सकती है।"[1] उनकी समीक्षा सम्बन्धी समन्वयवादिनी दृष्टि की यही महत्ता है। काव्य-शास्त्रीय तत्वो से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।'[2] उसमे तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मानदण्ड होगे।"[3] वे स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के प्रवर्तक और सर्वश्रेष्ठ समीक्षक हैं। प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणात्मक और इगितिमूलक समीक्षा-सरणिया भी उनकी आलोचना मे द्रष्टव्य हैं। उनकी आलोचनायें बडी मार्मिक और प्रेरणा-दायक है। आलोचना करते समय बीच मे ही प्रतिपक्षी पर व्यग्यपूर्ण प्रश्नो की बौछार करके पाठको के मुख मण्डल पर मन्द-स्मिति की आभा विकीर्ण कर देना उनकी सहज-साध्य कला है। यह अवश्य है कि ऐसे प्रसग विरल ही हैं। व्यग्यात्मकता भी उनकी आलोचना पद्धति की एक विशेषता है। ऐसे व्यग्य कि प्रतिपक्षी धूल झाडकर चल देने अथवा सुधर जाने के अतिरिक्त कुछ बोल तक नहीं

१ आलोचना, वर्ष ३, अक १, पृ०, ११०-११।
२ हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ०, ७४।
३ जयशकर प्रसाद, पृ०, ११-१२।

पाता। उनके मार्मिक व्यग्य बडे ही प्रभविष्णु बन पडे हैं, जैसे—"स्वच्छन्दता की प्रकृत प्रेरणा से प्रकट हुई 'पल्लव' जैसी रचना को शुक्ल जी सरीखे समीक्षक हेठी देते है।" असमीचीन, असम्मत मान्यताओ की उन्होने प्राय व्यग्यात्मक विवेचना की है। इसका परिणाम भी साहित्य मे फैली अराजकता पर कभी-कभी अकुश-सदृश ही हुआ है। उनकी समीक्षाओं के प्रहार से कई असयत प्रयोगवादी राह पर आ गए। कुछ बडे लेखक-कथाकार तिलमिलाते ही रह गये।

आलोचना मे मर्मस्पर्शी स्थलो पर पहुचते ही वाजपेयी जी भावप्रवण भी हो उठते हैं। ऐसे स्थलो पर वे प्राजल वातावरण और रमणीय भावनाओ की उद्भूति करने मे सिद्धहस्त हैं। वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की ही भांति मानवतावादी समीक्षक हैं। वे काव्य मे जीवन की प्रेरणा, सास्कृतिक चेतना, और भावनाओ के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। उनका कथन है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील नही हो सकता। बाहरी रूप मे यदा कदा ऐसा हो भी जाए, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमे नही हो सकता। वे साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना मानते है।[1]

वाजपेयी जी की आलोचना का परिवेश बडा व्यापक है। वेदकालीन विषय ('भक्ति का विकास' द्रष्टव्य है) से लेकर अद्यावधिक कृतियो, कृतिकारो और वादो पर उन्होंने लिखा है। जिस किसी भी विषय को उन्होंने समीक्षित किया है, उस पर वह युगीन कार्य बन गया है। उन्होने अपने समय के आगे-पीछे समसामयिक प्राय सभी साहित्यकारो और आचार्यों पर लिखा है। ऐसे बहुत से लेख निबन्ध के रूप मे हैं और पुस्तक के रूप मे भी। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रेमचन्द, महादेवी, पन्त, बच्चन, अचल, अज्ञेय, लक्ष्मीनारायण मिश्र, द्वारिका प्रसाद मिश्र, प्रभृति अनेक साहित्यकारो पर उन्होने अपनी लेखनी उठाई है। ये लेख उनकी विभिन्न पुस्तको मे सगृहीत हैं। उनकी इन समीक्षाओं मे उलझन अथवा अस्पष्टता का लेश भी नही है। उन्होंने अनगिन पारिभाषिक शब्दो का अनजाने ही निर्माण कर दिया है। उनकी सस्कृतनिष्ठ भाषा बडी सजीव, प्राजल और निखरी हुई है। कहीं-कहीं कथ्य की स्पष्टता के लिए उन्होने अग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है। सचमुच उनकी भाषा मे स्फटिक-तुल्य पारदर्शिता है और है सगत विचार-सुगुम्फन।

'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' (१९४०-४१ ई०) का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे एक ऐतिहासिक घटना है। उसमे एक अत्यन्त प्रौढ विचारो वाले, निश्चित प्रतिमानो को लेकर आने वाले, निर्भीक नवयुवक के युगीन कृतित्व

---

१ जयशकर प्रसाद पृ०, २३ (भूमिका)

का आकर्पण द्रष्टव्य है । उसमे पहिली बार हिन्दी मे शुक्ल जी के विचारो के विरोध का विनीत तूर्यनाद है । उसके द्वारा उन्होने नवजागरण की नव्यतम साहित्य-विधाओ को प्रकाश मे लाने एव हिन्दी के लिए दिशा इगिति का कार्य किया है । विगत ४० वर्ष के हिन्दी साहित्य का समग्र विवेचन इस कृति का प्रतिपाद्य है । 'महाकवि सूरदास' उनकी व्यावहारिक समालोचना का भव्य प्रतीक है । सूर-साहित्य पर उन्होने हिन्दी मे सर्वाधिक कार्य किया है । 'महाकवि सूरदास' नामक ग्रन्थ शोधको के लिए एक आदर्श प्रबन्ध है । 'भक्ति का विकास', 'दार्शनिकता', 'प्रतीक-योजना' और 'काव्य-सौंदर्य' शीर्षक अध्यायो मे उनकी विश्लेषण पद्धति और व्याख्यात्मक मनीषा का उत्तम रूप पठनीय है । यह ग्रन्थ प० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'सूरदास' के विवेचन से भी अधिक पुष्ट, व्यापक, शोधपूर्ण और पाण्डित्यपूर्ण बन पडा है । इस विवेचना मे उनकी मौलिकता, सारग्राहिणी दृष्टि और सौन्दर्यानुशीलन का उत्तम कौशल बडे ही मनोमय रूप में प्रस्तुत है । इस ग्रन्थ के अनुशीलन से भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी समालोचना मे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्षो का सुन्दर गुम्फन हुआ है । उनके अनुसार 'कला रूप और अरूप दोनो के चित्रण मे समर्थ है' । साथ ही उन्होने उसे एक श्री-सपन्न नारी के रूप मे देखा है जिसके मोहिनी वेश मे भावो की प्रतिभा सौन्दर्य राशि से अलकृत होकर प्रकट होती है ।[1] 'सूर के काव्य की तात्विक उपलब्धि रसिक-पारदर्शी जनो को तो हो ही जाती है, साथ ही उनके इस विवेचन से उस काव्य का 'आनन्द सामान्य जन-सुलभ' भी हो गया है ।'[2] सूर-काव्य के जिस सास्कृतिक और नैतिक पक्ष का उद्घाटन वाजपेयी जी ने किया है, वह उनके पूर्ववर्ती या समकालीन आलोचको के दृष्टिपथ मे आया ही नही था । उन्होने सूर-काव्य के भाव-पक्ष की कमनीयता की बडी ही सुन्दर विवेचना की है । विशुद्ध कलात्मक पृष्ठिका पर वे सूर के काव्य को तुलसी के काव्य से रचमात्र भी घटतर नही मानते, क्योकि विषय की परिमितता के होने पर भी उसमें अनुभूति और सवेदना की तीव्रता और तन्मयता तुलसी से किसी भी रूप मे कम नही है ।[3] सूर के इस विवेचन में नूतन-तत्व विधायिनी दृष्टि ही प्रमुख है । शुक्ल जी के अनन्तर उन्होने बडे ही व्यापक स्तर पर सूर के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन करते हुए उसके भावो की प्रभविष्णुता का वास्तविक मूल्याकन किया है । सूर-काव्य के सम्पादन एव सर्वागीण विवेचन, तुलसी पर लिखे गए निबन्ध और रामचरितमानस का सम्पादन प्रभृति उनके कार्यों से स्पष्ट है कि वे समान गाभीर्य, विद्वता एव अधिकारपूर्वक मध्यकालीन साहित्य का भी सौन्दर्यानुशीलन करने मे पूर्णत सफल-समर्थ हैं । आधुनिक हिन्दी के प्रमुख वादो की प्रामाणिक

१ महाकवि सूरदास, पृ०, ८८ ।
२ वही, पृ०, ८८ ।
३ वही, पृ०,

व्याख्या के साथ ही उन्होने प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, प्रेमचन्द प्रभृति साहित्यकारो का भी सम्यक् सौन्दर्यानुशीलन किया है। आज के अनेक शोधको के ग्रन्थो मे उन्ही के सूत्रो को आख्यात-व्याख्यात किया गया है। निश्चय ही वे आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ मर्मी, विद्वान् समालोचक है। इधर उनकी दृष्टि राष्ट्रभाषा की समस्याओ पर भी पडी है। वे सचमुच राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के महान् सेवक और पारदर्शी अन्वीक्षक हैं।

'नया साहित्य नये प्रश्न' जैसी अत्यन्त प्रौढ़ कृति हिन्दी-साहित्य की एक अद्वितीय उपलब्धि है। इसे आधुनिक समीक्षा की बाइबिल कहा गया है।[1] सचमुच विश्व-साहित्य के किसी भी सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-ग्रंथ से यह घटतर नही है। विभिन्न दृष्टिकोणो से साहित्य की विभिन्न धाराओ का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियो का, उनके महत्व का, साहित्य को उनके योगदान का, उनकी परिसीमाओ, स्थापनाओ और निष्पत्तियो का जो विद्वत्तापूर्ण प्रामाणिक विवेचन उन्होने किया है, वह उनकी प्रकाण्ड प्रतिभा और महती सूझ-बूझ का द्योतक है। 'आधुनिक साहित्य' के व्यापक परिवेश के अतर्गत उन्होने एक साथ ही वर्तमान हिन्दी के पाच प्रतिनिधि काव्यो, नयी कविता और प्रयोगवादी रचनाओ, कहानी-उपन्यास के तात्विक विवेचन के साथ ही तीन प्रतिनिधि कथाकारो और उनकी प्रतिनिधि कृतियो, नाटक, उसके तात्विक विवेचन के साथ ही प्रसाद के नाटको, कतिपय निबन्धों के साथ ही साहित्य-धाराओ और मत-सिद्धातो का उन्होंने बडा ही प्रमाणिक, विद्वत्तापूर्ण सूत्रात्मक मूल्याकन किया है। इन दोनो ग्रन्थो मे शतश सूत्र ऐसे हैं जिनको लेकर अथवा जिनको विस्तार देकर पोथे लिखे गए हैं। ये सूत्र आधुनिक हिन्दी के शोधार्थियो और विद्वानो के लिए बडे ही प्रेरणादायक हैं।

वास्तव मे वाजपेयी जी शुक्लोत्तर समालोचना के श्रेष्ठतम आलोचको मे अग्रगण्य ज्योति-पुरुष हैं। वे अपनी मौलिक स्थापनाओ और साहित्यिक महिमा-मडित व्यक्तित्व की परिव्याप्ति के कारण आधुनिक साहित्य शास्त्र के एक निर्माता के रूप मे भी समादृत है। यदि विश्व के वृहत्तर सहृदय-समाज के सौभाग्य से उनकी समीक्षाओ और मान्यताओ का आग्ल, रशन, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओ मे रूपान्तर हो जाएगा, तो निश्चयमेव वे विश्व की महान् मनीषाओ मे गिने जाएगे।

●

१ डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त, पृ०, २१५।

सौष्ठववादी समीक्षक : वाजपेयी जी

—डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतियाँ समानान्तर होते हुए भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं। इस प्रकार उनका विकास होता रहता है और कभी-कभी दोनों मिलकर एक नवीन तीसरी धारा मे परिणत हो जाती हैं। हिन्दी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदी जी, मिश्र-बन्धु आदि की प्रणालियों का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन, प्रौढ और शास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा-सम्बन्धी निर्णयात्मक, तुलनात्मक तथा नीतिवादी आदि पद्धतियाँ एक-दूसरे के कुछ समानान्तर चली, लेकिन शुक्ल जी मे इन सबने मिलकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसाद जी आदि मे जिस स्वच्छदतावादी विचार-धारा का विकास हो रहा था, उसने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति से आदान-प्रदान किया, भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। इससे कलाकार और कलाकृति मे सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्लेषणात्मक भावना नवीन समीक्षा-पद्धति के रूप मे विकसित हो गई। इस प्रकार इस पद्धति ने शुक्ल जी की पद्धति का पूरा उपयोग किया। उनकी शैलियो को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति मे इस सामजस्य की अवस्था के दर्शन होते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढाकर पूर्णत निगमनात्मक कर दिया है। उनके वर्ण-व्यवस्था वाले नीतिवादी दृष्टिकोण को कल्याण और लोक-मगल मे बदल दिया। साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण के सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर सास्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित कर दिया। भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य सवेदनीयता से सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप मे स्वीकार कर लिया। रस की यह व्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित थी। वाजपेयी जी की उपज्ञता तो उसके ग्रहण करने मे ही है। वाजपेयी जी शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर, जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढते हैं और हिन्दी-साहित्य

मे नवीन अध्याय प्रारम्भ करते हैं। इस अध्याय का उपक्रम प्रसाद जी मे कुछ पहले ही हो चुका था। पन्त जी, निराला जी, इलाचन्द्र जोशी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गयाप्रसाद पाण्डेय आदि अनेक व्यक्तियो ने इसके विकास मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, पर इसका पूर्ण विकास वाजपेयी जी मे ही मिलता है। आज फिर हिन्दी-साहित्य मे समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐतिहासिक, प्रगतिवादी, फ्रायड-वादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभी शैलियाँ कुछ दूर तक सामान्यत पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर मिल रही हैं। इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है। यही प्रगति का लक्षण है। अन्य पद्धतियो की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन और विकास हुआ है इस समन्वय का बहुत अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है। इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से विकास के आगे की अवस्था मानी जा सकती है।

वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन बहुत कम किया है। प्रयोगात्मक आलोचना मे प्रासगिक रूप से जितने विवेचन की आवश्यकता हुई है, उतने के आधार पर ही उनकी काव्य-सिद्धात-सम्बन्धी मान्यताओ का परीक्षण करना पडता है। उन्हे भारतीय रसवाद का सिद्धान्त मान्य है। पर, पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तो का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होने उसकी व्याख्या शास्त्र के शब्दो मे नही की है, वस्तुत वे काव्य मे हृदय-स्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्द सहोद-रत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते। उन्होंने कहा है कि रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है।[1] उससे वैयक्ति-कता की वृद्धि हुई और सास्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह भी मान्यता है कि रस सिद्धात को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। इसके लिए उसमे पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त और प्रणालियो के आकलन की अत्यधिक आवश्यकता है। इस प्रकार से वह साहित्य-मात्र की समीक्षा का मान-दण्ड हो सकता है। इस सबका तात्पर्य केवल रस को वेद्यान्तर-सस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानन्दसहोदरत्व आदि विशेषणो द्वारा प्राप्त सीमित अर्थ से युक्त करके उसे केवल आह्लादकता का सूचक मानकर भाव, रसा-भास, भावाभास, अलकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि सबके आनन्द का प्रतीक मानना और कला-मात्र के आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है। रस की अलौकिकता की बाढ मे बहुत से असास्कृतिक चित्र उपस्थित किए गए हैं तथा रस की परिधि

---

१ हिन्दी-साहित्य बीसवी-शताब्दी, पृष्ठ ६७।

को इन विशेषणो से सकुचित करके बहुत-सा सत्साहित्य भी उपेक्षित हुआ है। इसलिए रस के सम्बन्ध मे एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध मे वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण है। वाजपेयी जी के रस सम्बन्धी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यजनावादी नही हैं। वे काव्य मे अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं। वे अभिव्यजनाओ को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं। "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानस-वृत्तियो से है, जबकि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यजना के अनावश्यक महत्त्व का ही विरोध करते हैं। अनुभूति की तीव्रता और हृदय स्पर्शिता से सामजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है। उनकी यह मान्यता उनके अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलकारो को रस-सिद्धि का साधक-मात्र मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सर्वमान्य है। अलकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बँधे हुए प्रकारो से ही प्रतीत होता है, शब्द की भगिमा से नहीं, जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्त्व है। वाजपेयी जी का कथन है कि कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुच कर अलकार विहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुच कर अलकार-विहीन हो जाती है वहां वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह मे अलकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि न जाने कहां बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।[2] वाजपेयी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही कार्य करते हैं जो दूध मे पानी।[3] अलकार-शास्त्र ने काव्य-तत्त्वो और कवि-कर्म की जो बँधी हुई प्रणाली बताई है, उसके सम्बन्ध मे यह धारणा सर्वथा समीचीन है। पर, अभिनवगुप्त आदि ने इन्हें जिस व्यापक अर्थ म ग्रहण किया है, वहाँ इनका पृथक् अस्तित्व ही नही रह जाता। वहाँ अलकार कवि-प्रयत्न-सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अग हो जाते हैं। आलोचक भी इनमे आह्लाद की वृद्धि की क्षमता ही देखता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णत सौष्ठववादी है, जिसमे अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामजस्य मात्र है। उनके अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनव गुप्त आदि के मतो से पूर्ण सामजस्य है।

---

१ हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी, पृ० ५९।

२ वही, पृ० ६८।

३ वही, पृ० ६९।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नही है। वे जीवन को प्रेरणा, सास्कृतिक चेतना और भावनाओ के परिष्कार की क्षम ... हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नही है, पर वे काव्य पर नैतिक सिद्धान्त का नियन्त्रण परोक्ष ही मानते है। उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचार-धारा का साहित्य की उत्कृष्ठता से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध उन्हे बिलकुल मान्य नही है। फिर भी, वे काव्य के सम्बन्ध मे उठाये गए श्लील-अश्लील के प्रश्न की नितान्त अवहेलना नही करते। उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील नही हो सकता। पर, उनकी श्लील और अश्लील सम्बन्धी धारणाएँ रूढ नही है। वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते है, धर्म-शास्त्र की सीमित परिभाषाओ के आधार पर नही। "मेरी समझ मे इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नही हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप मे यदा-कदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो, और क्रान्ति-काल मे ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमे नही हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।"[1] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निरुद्देश्यता के समर्थक नही हैं, वे विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते हैं। साहित्य मे निर्बल भावनाओ का चित्रण केवल अपर पक्ष के लिए ग्रहण करना चाहिए। उसी को आदर्श मान लेना साहित्य के उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश-वृत्ति को भी साहित्य नही मानते। उनकी दृष्टि मे जीवन-सन्देश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनायें भी साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं।[2] काव्य-शास्त्र के तत्वो से ऊपर उठ कर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।[3] "उसमे तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य माप-दण्ड होगे।"[4]

सौष्ठववादी समालोचक भावो के उदात्त, सार्वजनिक स्वरूप और उनकी साहित्यिक मार्मिकता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ़ क्षमता और भाव-पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की वास्तविकता और उदात्त मार्मिकता का उद्घाटन करता है, तब वह स्वय तो असीम, अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करता ही है, साथ ही पाठक को भी अपने

१ हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी, भूमिका-भाग, पृ० २३।
२ जयशकर प्रसाद, पृ० २४-२५।
३ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ७४।
४ जयशकर प्रसाद, पृ० ११-१२।

साथ उस भाव-भूमि मे ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य मे इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक जाने का प्रयत्न करते हैं। कवि के भाव-सौन्दर्य के मार्मिक उद्घाटन मे कवि का व्यक्तित्व भी उद्घाटित हो जाता है। साथ ही भावो की मार्मिकता की अनुभूति और चित्रण मे आलोचक को विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है। उसी का थोडा आभास नीचे की पक्तियों मे मिलता है। लेखक की इन पक्तियो मे पाठक के हृदय मे अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस भाव-सौष्ठव का अनुभव कराने का सफल प्रयास है "रास की वर्णना मे सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल श्रीमद्भागवत की परम्परागत अनुकृति कवि ने नही की है, वरन् वास्तव मे वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, *जिस प्रशान्त और समुज्जल वातावरण का निर्माण किया है*, पुन रास की जो सज्जा, गोपियो का जैसा सगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण कराया है और रास की वर्णना मे सगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के *साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और* दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये गये हैं, वे कवि की कला कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।"

वाजपेयी जी मे हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उनकी आलोचना पूर्णत निगमनात्मक और इगित शैली की कही जा सकती है। उन्होने भारतीय अलकार-शास्त्र से तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है, उन दोनो के सम्मिलित तथा समन्वित रूप को आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति भी रस-सिद्धान्त के व्यापक और विशद स्वरूप को अपनाकर चली है, इसलिए वह पश्चिम के स्वच्छन्तावादी की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नही कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नही कहा जा सकता। इसलिए मैंने इसे सौष्ठववादी कहना अधिक समीचीन समझा है। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनव गुप्त, पण्डितराज आदि *द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है, यह हम पहले कह चुके* हैं। वाजपेयी जी मे इसी के प्रयोगात्मक रूप के दर्शन होते हैं। इस पद्धति का हिन्दी मे पूर्ण विकास हो गया है, यह नही माना जा सकता। वाजपेयी जी मे इसके विकसित और प्रौढ रूप के दर्शन अवश्य होते हैं। उनमे भी विकास हुआ है। वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिचायक थे और धीरे धीरे काव्य-सौष्ठव के परीक्षक बने हैं। अभी इस समन्वय मे विकास की क्षमता है। वाजपेयी जी मे इसके तत्त्व विद्यमान हैं। इस समीक्षा-पद्धति के सभी आलोचक जीवित हैं, इसलिए अभी यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इसका इत्थभूत रूप

यही है। अभी यह विकासशील है, स्थिर नहीं हुई है। वाजपेयी जी की आलोचना का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है पर अभी विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की ओर भी उनका ध्यान गया है, पर उन शैलियों मे उनके सत्य का आशिक रूप ही दिखाई पडता है। इनमे काव्य के सार्वजनिक और सार्वकालिक भाव-सवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावो की सार्वजनिकता तथा जीवन-सन्देश की सर्व व्यापकता से लेते है, पर उनका यह रूप अभी पूर्णत स्पष्ट नहीं है।

रसवादी आचार्य वाजपेयी जी

—डॉ० रामाधार शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

—१—

प० नन्ददुलारे जी वाजपेयी रसवादी आचार्य है। उनके समीक्षा सिद्धान्त 'रस' का मूल और स्थायी तत्त्व भावना, अनुभूति या सवेदन है। उनके 'काव्य-सवेदन' के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-सौन्दर्य और अभिव्यक्ति-सौष्ठव का समावेश हो जाता है। *यह काव्य-सवेदन रस ही है। इसी को वे काव्य की आत्मा मानते है और इसे* 'मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियो का सकलन' घोषित करते हैं। रस की परिभाषा देते हुए उन्होने लिखा है—'काव्य तो प्रकृत, मानव अनुभूतियो का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र मे स्वभावत अनुरूप भावोच्छवास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-सवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली मे रस कहते है। यह काव्य-सवेदन या सौन्दर्य-सवेदन असाधारण विरल और कुछ अशो मे रहस्यात्मक बतलाया गया है। प्राचीन आचार्यों ने रस का जो स्वरूप बतलाया था उसे सर्वांशत स्वीकार कर वाजपेयी जी ने नवयुग के अनुरूप विकसित भी किया है। प्राचीन रस-मत मे भाव-तत्त्व अगी रूप मे स्वीकार किया गया है, अन्य तत्त्व गौण हो गये हैं। वहाँ रस का राजतन्त्र प्रतीत होता है, वाजपेयी जी की समीक्षाओ मे रस का प्रजातन्त्र अकित हुआ है, जिसमे भाव के साथ ही बुद्धि और कला को भी प्रधानता दी गई है। इतना ही नही, वे रस की सत्ता मे तल्लीन भी हो जाते हैं।

वाजपेयी जी का मत है कि रस वैयक्तिक अनुभूतियो के प्रकाशन मे नही है। वैयक्तिक सुख-दु ख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दु ख की भूमि पर पहुच कर ही काव्य सार्थक बनता है, व्यक्तित्व की आत्म-सीमित परिधि का अतिक्रमण करने मे ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि होती है। यही रस का साधारणीकरण व्यापार है। उनके अनुसार 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि

और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव मे कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नही।'

रसानुभूति सुखात्मक है या दुखात्मक, इस सम्बन्ध मे भी वाजपेयी जी का निजी विचार है। उनका मत है कि रसानुभूति मे सुखात्मक और दुखात्मक दोनो प्रकार के दृश्य स्वीकार किये गये है, परन्तु इन दृश्यो की योजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त होती है। रसानुभूति से सदैव सुन्दर जीवन लक्ष्यो के प्रति हमारी आस्था बढती है, हमारा उन्नयन होता है। भवभूति की करुणा शक्तिहीनता और निर्बलता नही उत्पन्न करती। भारतीय आचार्यों की रस-धारणा अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म थी। जीवन के सुख और दुख के परे पहुच कर उसे शक्ति प्रदान करने वाला रस अलौकिक बतलाया गया है। रसानुभूति की इस अलौकिकता मे जीवन की नतिक और व्यावहारिक भूमियाँ—लौकिकता पहले ही आत्मसात् हो जाती हैं। वाजपेयी जी रसानुभूति को अलौकिक मानते हैं, परन्तु उनकी अलौकिकता मे लौकिकता भी अन्तर्भूत है, दोनो मे अगागी भाव है।

सुख और दुख मे समन्वय स्थापित करने वाला रस का यह स्वरूप आध्यात्मिक स्तर की वस्तु है। रस-सिद्धान्त मानवीय जीवन के सूक्ष्मतम एव अत्यन्त उदात्त तत्व—आत्मा की भूमि पर प्रतिष्ठित है। रस का साधारणीकरण व्यापार वह साहित्यिक पारस-प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जीवन का शिव और अशिव, सत् और असत् सब सुन्दर बन जाता है, आनन्दमय हो उठता है। साहित्य की रस भूमि मे और भारतीय दार्शनिको की आत्म-भूमि मे अन्तर नही है। रस का साधारणीकरण-व्यापार व्यक्ति का उन्नयन है, वस्तु से व्यक्ति की ऊँचाई है। वह पाश्चात्य निर्व्यक्तीकरण के समान वस्तु से व्यक्ति की समानान्तर दूरी या तटस्थता नही है। वाजपेयी जी के रस-सिद्धान्त मे भारतीय साहित्याचार्यों की इसी आत्मिक भूमि को मुख्यत स्वीकार किया गया है। सम्प्रति हिन्दी मे कतिपय समीक्षक है, जिनकी रस-व्याख्या मे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान प्रमुख है, 'परम्परागत भारतीय दृष्टि गौण होती जा रही है।' वाजपेयी जी के रस-सिद्धान्त का अतरग और बहिरग दोनो, उनके ही समान भारतीय हैं। इसीलिए निवेदन है कि वाजपेयी जी का 'रस' राष्ट्रीय भूमि की वस्तु है।

हाल ही मे देश की राजधानी दिल्ली मे रस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे इस उद्देश्य से चर्चा की गई थी कि उसे आज के लिए अनुपयुक्त ठहरा कर बाहर निकाल दिया जाय। बतलाया गया है कि रस सिद्धान्त की दो मूल प्रतिज्ञायें हैं—आस्तिकता और अद्वन्द्व की स्थिति, परन्तु आज के काव्य मे द्वन्द्व और नास्तिकता प्रमुख हैं, उसमे रस निष्पत्ति नही होती, इसलिए रस-सिद्धान्त व्यर्थ है। दूसरी बात यह कही गई है कि रस-काव्य अनिवार्यतया अतीतोन्मुख था, प्रगतिवादी काव्य की

दृष्टि भविष्य पर थी 'और नया कवि मानता है कि अगर हमे कुछ पाना है काव्य से, तो वर्तमान के सन्दर्भ मे पाना है, न भविष्य मे और न अतीत मे।' नये कवि का यह आग्रह भारतीय काव्य के इतिहास मे पहले कभी नही था। इस सदर्भ मे तीसरी बात यह कही गई है कि परम्परा मे काव्य सदा सीमित समाज की वस्तु रहा और आज भी है। पर, सिद्धान्तत उसे ऐसा नही होना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे वाजपेयी जी का निश्चित मत है। वे मानते हैं कि श्रेष्ठ काव्य द्वन्द्व की भूमि से ऊपर उठकर ही लिखा जा सकता है। जहाँ पर सामाजिक सघर्ष का चित्रण करना हो, वहाँ भी कवि को वैयक्तिक आग्रह से ऊपर उठने की आवश्यकता रहेगी और वह सदैव आशा और आस्था के सूत्रो से बँधा रहेगा। जो सदैव सबके स-हित (साहित्य) है, उसमे नकार और नास्तिकता के लिए स्थान कहाँ होगा ? आज जो लोग द्वन्द्व और नास्तिकता की बातें करते हैं तथा साहित्य की परम्पराओ पर कुठाराघात करना चाहते हैं, उनमे एक ओर तो विदेशीपन की बू अधिक है और दूसरी ओर वे अपनी ओछी वस्तु के अनुरूप नाप को ही बनाने-बिगाड़ने की चिन्ता मे है। हमारी तो धारणा है कि अद्यतन हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठ उपलब्धि रस-भूमि (अद्वन्द्व और आस्तिकता) की ही वस्तु है।

वाजपेयी जी रस का सबन्ध अतीतोन्मुख जीवन से ही नही मानते। उनके अनुसार तो रस काव्य की सीमा मे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो कालो का समावेश हो जाता है। काव्यानुभूति शाश्वत सार्वजनीन अनुभूति है। मनुष्य की भावनाएँ चिरन्तन हैं। अतएव उन पर आधृत 'रस' को किसी काल विशेष तक ही सीमित नही किया जा सकता। दूसरी बात यह बतलाई गई है कि अपनी कलात्मक प्रकृति के कारण भी रस शाश्वत और सार्वभौम वस्तु है। केवल इन्ही गुणो के कारण 'रस' का सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान से जुड जाता है। परन्तु, *इनके साथ ही वाजपेयी जी मानते हैं कि साहित्य सामयिक प्रेरणाओ को भी ग्रहण* करता है। वह युग-सत्य की उपेक्षा करके नही चल सकता। इस प्रकार वे मानते हैं कि साहित्य सामयिक गुण (वर्तमान जीवन) से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध है और *दूसरी ओर वह शाश्वत वस्तु भी है।* साहित्य के शाश्वत और सामयिक स्वरूपो मे किस प्रकार का सम्बन्ध है ? वाजपेयी जी का मत है कि समाज मे दो प्रकार के आदर्श दिखलाई पडते हैं। कुछ आदर्श स्थायी कोटि के होते हैं। इनके सम्बन्ध मे हमारे मन मे कभी शका नही उठती। समाज के कुछ आदर्श ऐसे होते हैं, जिनमे परिवर्तन हुआ करता है। ये नए सामाजिक परिवेशो मे नया रूप-रग ग्रहण करते हैं। ये ही दोनो आदर्श समाज के अक्षर और क्षर तत्त्व, सम्वादी और विवादी स्वर कहे गये हैं। साहित्य युग के क्षर तत्व को छोड देता है और अक्षर तत्व का सग्रह करता है। इस प्रकार साहित्य युग-विशेष के सर्वश्रेष्ठ सामाजिक और सांस्कृतिक

जीवन का प्रतिनिधि होता है और उस जीवन-दर्पण मे मानवता अनन्त युगो तक अपना प्रतिबिम्ब देखा करती है। 'प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओ, स्वरूपो और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का रूप देना उसका (कवि का) कार्य है। *आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड सकता है, किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-*तारो को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछडता नही।' युग के चिरन्तन सौन्दर्य-तारो का स्पर्श करने के कारण साहित्य का सम्बन्ध युग से भी है और युग-युगो से भी। युग सत्य की पहचान साहित्यकार के लिए आवश्यक बतलाई गई है, आज की आलोचना का अनिवार्य आधार कहा गया है। वाजपेयी जी के अनुसार सामयिक समस्याएँ वह कच्ची सामग्री (रा मेटीरियल)—चूना, गारा, मिट्टी है, जिस पर साहित्य की सुन्दर इमारत बनती है। वाजपेयी जी के समीक्षा-सिद्धान्त मे 'वर्तमान' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे 'रस' को केवल व्यतीत की वस्तु नही मानते।

रस-सिद्धान्त का भाव-पक्ष उसका शाश्वत सार्वभौम तत्त्व है। वह गीता के 'अव्यक्त' की भाँति, काव्य के आरम्भ और अंत मे विद्यमान रहता है। काव्य का उपक्रम और उपसहार वही है। मध्य मे 'व्यक्त' वर्तमान की सत्ता है, विभाव-पक्ष की स्थिति है, जिसके बिना अभिव्यक्ति असम्भव है। रस के विभाव-पक्ष का सम्बन्ध सामयिक-स्वदेशी जीवन से है। रस-निष्पत्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। दूध के बिना मलाई नही निकलती, दही के बिना माखन नही मिलता और विभाव-रहित भाव और रस की कल्पना नही की जा सकती। वाजपेयी जी की समीक्षाओ मे सामयिक जीवन के प्रति जो अतीव आग्रह दिखलाई पडता है, उसका सैद्धान्तिक आधार यही है। हिन्दी-समीक्षा मे अतिवादी प्रवृत्तियाँ अधिक दिखलाई पड रही हैं। कभी सामयिक जीवन के प्रति समीक्षा मे इतना आग्रह दिखलाया जाता है कि वह उसके दूसरे पक्ष के प्रति अनिवार्य विरोध बन जाता है और कभी उसके शाश्वत-सार्वभौम स्वरूप को इतनी चर्चा की जाती है कि उसके सामयिक-स्वदेशी स्वरूप की उपेक्षा होने लगती है। साहित्य के सामयिक और शाश्वत, स्वदेशी और सार्वभौम रूपों में घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह वाजपेयी जी के पहले स्पष्ट नही था। वाजपेयी जी ने लोकोत्तर रस की लोकांतर्गत लुप्त पृष्ठभूमि को प्रकाशित कर उसके दोनो स्वरूपो का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य का व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध नहीं मानते। उनके अनुसार साहित्य सामाजिक वस्तु है और उसमे समाज की सजग, सशक्त और स्वस्थ चेतना व्यक्त होती है। साहित्य मे जिस समाज का चित्रण किया जाता है वह आज का समाज है और प्रगतिशील है। वे नए और प्रगतिशील समाज का साहित्य मे स्वागत करते हैं, प्राचीन और स्थिर समाज का नही। सामयिक जीवन का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध उन्हें सदैव स्वीकार रहा है।

उनका मत है कि गौरवपूर्ण अतीत के भी अनुकरण पर लिखा हुआ साहित्य सुशोभन एवं गौरवास्पद हो सकता है, युग का अनिवार्य काव्य नही बन सकता और 'उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है।'

सामयिक सामाजिक जीवन के भी एक कदम आगे वाजपेयी जी ने साहित्य का राष्ट्र-जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया है। वे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सास्कृतिक मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य राष्ट्रीय चेतना का दीपक होता है। वे साहित्य-निर्माण के लिए राष्ट्रीय इतिहास और राष्ट्रीय परम्परा का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि 'भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय सस्कृति की उपज है, अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथासभव राष्ट्रीय ही होने चाहिए।' पश्चिमी अधानुकरण की प्रवृत्ति को वे अनुपादेय और असास्कृतिक मानते हैं, ऐसे लोगो मे मौलिक दृष्टि-दोष देखते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य की सत्ता ध्वनि मे है, प्रतिध्वनि मे नहीं; अतएव साहित्य-समीक्षा के मौलिक सिद्धात भी राष्ट्रीय ही हो सकते हैं। उनके मत के अनुसार आज हिन्दी-साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य का दायित्व पूरा करना है, अतएव आवश्यक है कि हिन्दी के लेखक अपने राष्ट्रीय दायित्व को समझें। आज हिन्दी के प्रत्येक लेखक का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की विकासोन्मुख गतिविधि का चित्रण करे। आज यही साहित्य का महदुद्देश्य माना जा सकता है। जिन लेखको मे राष्ट्रीय चेतना नही है, राष्ट्रीय जीवन और उसकी प्रगति मे जिन्हे अविचल आस्था नहीं है, ऐसे लेखको के प्रति उन्होंने कडी चेतावनी दी है। उन्होने लिखा है—"यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियो को नहीं समझते तो वे किसी भी वर्ग के हो—अथवा *किसी भी वर्ग के न हो—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिए जाने* चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगो की आवश्यकता नही है, जो किसी भी रूप मे हमारी राष्ट्रीय शक्ति और सघटन का विनाश करने पर तुले हों।" वे साहित्य की परख के लिए राष्ट्रीय मूल्य-मान आवश्यक मानते हैं। आज की स्थिति में ये ही उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताएँ हैं।

राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे भी वाजपेयी जी की कतिपय मान्यताएँ हैं। उनके *अनुसार राष्ट्रीयता का अर्थ राजनीति नही है। केवल और कोरी राजनीति* से वे साहित्य को दूर रखना चाहते हैं। उनकी राष्ट्रीयता स्थूल और सकीर्ण नहीं है, सूक्ष्म और व्यापक है। राष्ट्रीयता से उनका आशय स्वदेश-प्रेम की व्यापक भावना से है, जो मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम है। 'रस' शब्द से भी उनका आशय मौलिक और मूल्यवान मानव भावना से है जिसकी श्रेष्ठ काव्य मे सृष्टि होती है। इस प्रकार वाजपेयी जी की राष्ट्रीयता और उनके रस-सिद्धान्त मे मानवतावाद का समावेश है। मानवतावाद वाजपेयी जी के साहित्य-सिद्धात का अग है। परन्तु,

आज साहित्य मे जिस रूप में विश्व-स्तर पर चर्चा की जा रही है और साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने का प्रयास हो रहा है, उसका भी वे विरोध करते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य पहले राष्ट्रीय वस्तु है, फिर वह अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता है। राष्ट्रीय माध्यम से ही साहित्य सार्वभौम बनता है। राष्ट्रीयता से ही साहित्य को व्यक्तित्व मिलता है। बिना इस विशिष्ट व्यक्तित्व के साहित्य वह 'विश्व-नागरिक' बन जायगा जिसे कोई भी देश रखने के लिए तैयार नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीयता की एक सीमित धारणा के अनुसार पश्चिमी यूरोप ही अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रतीक है। वाजपेयी जी इस सीमित अन्तर्राष्ट्रीयता से भी साहित्य को बचाना चाहते हैं। साहित्य तो वट-वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें देश की भूमि में जमी हुई हैं तथा जो विश्व के अनन्त आकाश मे फैला है। वट-वृक्ष आकाश का आलोक लेकर पुन अपनी जड़ें पृथ्वी की ओर लौटा देता है। यही गुण साहित्य मे भी है। वाजपेयी जी साहित्य के इसी स्वरूप के समर्थक हैं। उनका साहित्य-सिद्धात राष्ट्रीय भाव-सत्ता पर आधृत है।

वाजपेयी जी ने रस सिद्धात को प्राचीन रूढियों से मुक्त कर एक दृढ उदात्त तथा व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उनका 'रस' शास्त्र की ऊहापोह से सर्वथा स्वतन्त्र है। एक ओर तो वाजपेयी जी ने 'रस' को प्राचीन साहित्य-शास्त्र के बन्धनो से छुड़ाया है और दूसरी ओर वे उसे किसी नवीन शास्त्र के पाश से भी मुक्त रख सके हैं। हिन्दी-समीक्षा मे कतिपय विद्वानो ने प्राचीन रूढियो को तोडने की प्रवृत्ति दिखलाई है, परन्तु वे प्राचीन के स्थान पर नवीन शास्त्रीय बन्धनो का स्वागत करते हुए दिखलाई पडते हैं। इस अर्थ मे उनकी समीक्षाएँ शास्त्रीय ही कही जायँगी। वाजपेयी जी की समीक्षा शास्त्रीय नही, सब प्रकार से स्वच्छद है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस की प्रतिष्ठा नैतिक भूमि पर की थी, परन्तु वाजपेयी जी ने उसे सूक्ष्म आत्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। यहाँ आत्मिक स्तर का अर्थ 'रस' की सवेदनात्मक भूमि भी है और उसकी द्वन्द्वातीत स्थिति भी। वाजपेयी जी के रस-मत मे नैतिक, व्यावहारिक अथवा बौद्धिक भूमियो का निषेध नहीं है। रस की व्याप्ति मे इन सबका सहज समावेश हो जाता है। वाजपेयी जी के रस सिद्धात के तो ये अनिवार्य अग हैं। अतर केवल इतना है कि जहाँ अन्य समीक्षक इन तत्वो को अगी रूप मे ग्रहण करने लगते हैं, वहाँ वाजपेयी जी साहित्य के क्षेत्र मे उन्हे अग रूप मे ही स्वीकार करते हैं। जहाँ उन्होंने नैतिकता या बौद्धिकता का विरोध किया है, वहाँ वे उसकी साहित्य पर प्रधानता, उसके अगी रूप का ही विरोध करते हैं। परन्तु जहाँ ये तत्व अग रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ वाजपेयी जी ने इनकी प्रशसा भी की है। वे अतिवाद का सदैव विरोध करते रहे हैं।

रस-निष्पत्ति के सबन्ध मे वाजपेयी जी ने एक ऐतिहासिक महत्त्व का निर्णय दिया है। सस्कृत के साहित्य-शास्त्र मे रस-सूत्र के सम्बन्ध मे विभिन्न और विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। इनमे आचार्य चतुष्टय का मत बहुत प्रसिद्ध है। इनके मत एक दूसरे के विरोध मे स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किए गए हैं। वाजपेयी जी ने इन्हे विकास की एक ही भूमि पर रख कर चारो मतो मे समन्वय कर दिया है। अब ये मत एक दूसरे के विरोधी नही रहे। वे रस विकास के सम्बद्ध सोपान हो गए हैं। वाजपेयी जी के अनुसार भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है, शकुक का अनुमितिवाद अभिनय-योजना द्वारा नायक-नायिका के रस को सार्वजनिक बनाने का उपक्रम करता है, भट्ट नायक का भुक्तिवाद साधारणीकरण द्वारा दर्शक की सामर्थ्य का उद्घाटन करता है तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य की ध्वन्यात्मकता का परिचायक है। इस प्रकार ये चारो मत काव्य की प्रेषणीयता और रसास्वाद की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं। वाजपेयी जी ने इन चारो मतो मे काव्य की एक अत्यन्त व्यापक समस्या के उद्घाटन की क्रम-बद्ध योजना के दर्शन किए हैं, जो खडन-मडन के वाग्जाल मे उलझ गई थी। वाजपेयी जी ने भरत मुनि से लेकर आचार्य शुक्ल तक बहने वाली रस-धारा का मार्ग प्रशस्त कर आगे बढाया है तथा उसे नया बल और नई गति दी है।

—२—

वाजपेयी जी रसवादी आचार्य है और उनका 'रस' राष्ट्रीय भूमि की वस्तु है। 'रस' के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य की सम्यक् समीक्षा की है। एक ओर तो वे रस-सूत्र द्वारा मध्ययुगीन काव्य की अतल गहराइयो का परिचय कराते हैं, दूसरी ओर इसी के सहारे वे आधुनिक मूल्याकन करते हैं। सूरदास हो अथवा तुलसीदास, प्रसाद हों अथवा निराला—रस-सिद्धात का वे सभी कवियों पर अबाध प्रयोग करते हैं। इन कवियो का काव्य रस-भूमि पर अवतरित हुआ है, ये रस-भूमि के कवि हैं, इसीलिए इन कवियों के प्रति वाजपेयी जी ममत्व का भाव लेकर चले हैं। इन पर लिखते समय वे तन्मय हो जाते हैं। रस-सिद्धात को पूर्णत चरितार्थ करने वाले जितने भी कवि या लेखक होंगे, उन सबके प्रति वाजपेयी जी का यही भाव होगा। जो कवि या लेखक रस-सिद्धात से जितना दूर होगा, उसके प्रति वाजपेयी जी की समीक्षा उतनी ही विरोध-पूर्ण होगी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रसाद और निराला ही ऐसे कवि हैं जिनसे उन्हे पूर्ण सतोष है। शेष कवियो और लेखको के प्रति उनकी समीक्षाओ मे बराबर असतोष दिखलाई पडता है।

काव्य ही नही, गद्य-साहित्य की परीक्षा करते समय भी उन्होंने रस-निकष का प्रयोग किया है। समीक्षको एव समीक्षा-धाराओ पर उन्होंने जो विचार व्यक्त

किए हैं, उनसे इसी बात की पुष्टि होती है। नाट्य-विवेचन और कथा-साहित्य के मूल्यांकन का भी यही आधार रहा है। काव्य की समीक्षा करते समय वाजपेयी जी रस की सूक्ष्म और आन्तरिक भूमि पर विचरण करते हैं तथा गद्य-साहित्य का मूल्यांकन करते समय वे उसके व्यक्त और व्यावहारिक स्तरो को छान बीन करते हुए दिखलाई पडते हैं। वाजपेयी जी की समीक्षाओ मे रस-भूमि के अनेक स्तरो का उद्घाटन हुआ है। कही पर उनकी समीक्षा अत्यन्त आतरिक और आध्यात्मिक है, कही पर विशुद्ध मनोवैज्ञानिक, कही वह व्यावहारिक सूत्र को लेकर चली है, तो कभी कला-सूत्र को। इस प्रकार वाजपेयी जी का रस-सिद्धात अनेक रूपात्मक है और अटूट भी।

सप्रति हिन्दी-साहित्य मे साहित्यिक और साहित्येतर सिद्धान्तो की बहुत चर्चा की जा रही है। कभी-कभी यह भी दिखलाई पडता है कि एक ही विचारक एकाधिक सिद्धातो के जाल मे उलझ गया है और उनसे निकलने के असफल प्रयास भी कर रहा है। स्थिति उस समय और भी चिन्ताजनक हो जाती है जब एक ही व्यक्ति विरोधी सिद्धातो का प्रयोग करता है और किसी केन्द्रीय आधार के अभाव मे व्यर्थ हाथ-पैर पटकता हुआ अपने आपको हास्यास्पद बनाता है। सिद्धात की एकता हिन्दी के इने-गिने समीक्षको मे ही दिखलाई पडती है। जिन समीक्षको ने किसी सिद्धात के प्रति आरम्भ से अत तक आस्था दिखलाई है, उनके साथ कठिनाई यह है कि वे साहित्येतर सिद्धांतो का पल्ला पकडे हुए हैं। वे किसी न किसी ऐसी विचार-धारा से प्रभावित हैं जो साहित्य का शासन करना चाहती है और साहित्य के क्षेत्र मे ही साहित्य को अपदस्थ करने का लक्ष्य लेकर चली है। वाजपेयी जी हिन्दी के अनन्य आचार्य हैं जिन्होने अपनी समीक्षाओ मे साद्यत एक ही सिद्धान्त का प्रयोग किया है और उनका यह सिद्धान्त पूर्णत साहित्यिक है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नही कि उनकी यह सैद्धातिक एकता विविधतापूर्ण और अत्यन्त व्यापक है। उनके रस-सिद्धान्त से प्राचीन और नवीन काव्य की परीक्षा होती है, प्रबन्ध-काव्य और प्रगीत काव्य के सौन्दर्य का उद्घाटन होता है, गद्य और पद्य की उसके द्वारा एक सी मीमांसा की जा सकती है, यहाँ तक कि देश और विदेश का, भूत और भविष्य का सम्पूर्ण साहित्य उसकी इयत्ता मे आ जाता है।

सैद्धान्तिक एकता वाले हिन्दी के प्रधान समीक्षको के साथ एक दूसरी बडी भारी कठिनाई यह है कि उनका सिद्धान राष्ट्र की अवहेलना करता है। प्रगतिवादी समीक्षको मे अपने मतवाद के प्रति अतिशय आग्रह मिलता है। परन्तु उनका यह मतवाद राष्ट्रवाद का विरोधी है, राष्ट्र का शत्रु है। हमें ऐसा कोई भी मतवाद और मतवाला नही चाहिए जो हमारे देश से दुश्मनी रखता हो तथा जिसकी श्रद्धा-भक्ति का आधार कही बाहर हो। जो लोग गगा की अपेक्षा वोल्गा के गीत गाना

पसन्द करते हैं, देश के सैकडो दार्शनिको मे जिन्हे कोई तथ्य नही दिखलाई पडता और जो मार्क्स की बात-बात मे दुहाई देते रहते हैं, भारत की अपेक्षा जिन्हे रूस और चीन प्रिय रहे हैं, हमे यह समझ में नही आता कि ऐसे लोगो ने इस देश में कैसे अवतार ले लिया ?

हिन्दी म कुछ समीक्षक ऐसे भी दिखलाई पडते है जिनके विचार राष्ट्रवाद के विरुद्ध तो नही हैं, परन्तु जिनमे इसके प्रति पर्याप्त उपेक्षा का भाव आ गया है। वे राष्ट्र से भी ऊपर मानवता को स्थान देते है और उनकी यह मानवता अन्तत इतनी उदार बन जाती है कि उसमे मित्र और शत्रु का, अपने और पराए का कही भेद-भाव नही रहता। उसके चक्कर मे हम अपनेपन को ही भूल सकते है। स्वामी विवेकानन्द जी ने एक बार कहा था कि बहुत ऊँचे आदर्श राष्ट्र को कायर बना देते हैं। हम साहित्य मे भी इतनी ऊँचाई नही चाहते कि पृथ्वी पर हमारे पैर ही न टिकने पाएँ। साहित्य और साहित्य का सिद्धान्त ठोस भूमि की अपेक्षा रखते हैं। जो व्यक्ति, साहित्य और समाज को दिशा-निर्देश देता हो, वह अधिकांशत ऊर्ध्वमुख कैसे चल सकता है ? हिन्दी मे कतिपय समीक्षाएँ ऐसी भी प्रस्तुत की गई हैं जो अन्तत व्यक्ति पर आकर केन्द्रित हो जाती हैं। इन समीक्षाओ मे व्यक्ति ही सर्वोपरि बन जाता है। ऐसी समीक्षायें मनोविज्ञान का आश्रय लेती है। इनमे भी राष्ट्र के प्रति एक अनिवार्य उदासीनता झलकती है। अधिकतर देखा गया है कि इनमे समीक्षा अधोमुखी हो जाती है। हमारी समीक्षा, राष्ट्रीय जीवन की ही भांति, न तो ऊर्ध्वमुखी है और न अधोमुखी ही। वह सम्मुख दृष्टि रख कर ही चल सकती है। इस दृष्टि मे यह अपने आस-पास, आगे पीछे, चारो ओर, दूर और समीप सब दिशाओ का निरीक्षण कर लेती है। रसवादी राष्ट्रीय समीक्षा देश के राजमार्ग पर चलती है और उसका गतव्य है पृथ्वी और आकाश का वह मिलन बिन्दु जो मार्ग के प्रत्येक स्थल से स्पष्ट दिखलाई पडता है। कहना न होगा कि वाजपेयी जी की समीक्षा इसी प्रकार की है। हमने यहाँ उस रसवादी समीक्षा की चर्चा नही की जो शास्त्रीय है और पृष्ठमुखी है। रसवादी शास्त्रीय समीक्षा से वाजपेयी जी की रसवादी राष्ट्रीय समीक्षा भिन्न है।

'रस' हमारा राष्ट्रीय समीक्षा सिद्धान्त है। उसकी एक विशाल परम्परा है। वह स्वदेशी वस्तु है। साथ ही धुँधले अतीत से आज तक उसका अस्तित्व अक्षुण्ण रहा है। वह एक जीवन्त सिद्धान्त के रूप मे हमे प्राप्त हुआ है। रस के द्वारा अधिकतर विकासोन्मुख जीवन के स्वस्थ साहित्य का शासन हुआ है। 'रस' भारतीय सांस्कृतिक जीवन का साहित्यिक प्रतिमान है। ऐसी और इतनी क्षमता किसी दूसरे सिद्धान्त मे नहीं दिखलाई जा सकती। सुदूर अतीत मे भरत मुनि ने एक बीज बोया था। आचार्य चतुष्टय ने उसे सींचा। मम्मट के प्रयत्नो से वह बीज प्रकाश मे

आया। आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने उसे इतना बडा बना दिया कि वह समस्त साहित्यिक प्रयत्नो का दर्पण दिखलाई पडा और अपनी महानता मे गगाधर शिव की समता करने लगा। परन्तु, समय की विपरीत गति के कारण यह पौधा सूख चला था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे पुन: सींच कर हरा-भरा कर दिया। आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने इसी पौधे को अपनी प्रतिभा के बल से सीच-सीच कर एक पूर्ण वृक्ष के रूप मे परिणत कर दिया है, जिसमे अनेक शाखा-प्रशाखायें हैं और जो फल-फूलो से परिपूर्ण होकर आह्वान-मन्त्र पढ रहा है। यह रस का वृक्ष है। इसे किसी मार्क्स ने, किसी फ्रायड ने या किसी इलियट-सार्त्र ने नही बोया था। यह हमारे पूर्वजो की, हमारी भूमि पर उगायी हुई वस्तु है। इसलिए यह पूर्णत राष्ट्रीय है, उससे हमे ममत्व है। यही राष्ट्रीय वस्तु वाजपेयी जी का समीक्षा-सिद्धान्त है। वाजपेयी जी इसी रस-परम्परा के नवीन आचार्य हैं।

— ३ —

वाजपेयी जी को अनेक समीक्षको ने व्यक्तिवादी कहा है। परन्तु, निवेदन है कि वाजपेयी जी व्यक्तिवादी नही हैं। व्यक्तिवाद ही क्यो, वे किसी भी साहित्येतर-वाद की सीमा मे नही आते, चाहे फिर वह वाद कितना ही बडा क्यो न हो। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र मे वादो का बडा विरोध किया है। उनका मत शुद्ध साहित्यिक है। 'रस' साहित्य का निजी सिद्धान्त है। वे इसी रस-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता आचार्य हैं। उन्होंने रस को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। रस-सिद्धान्त और व्यक्तिवाद मे मौलिक विरोध है। रस की उदात्त भूमि पर वैयक्तिकता निश्शेष हो जाती है, वहाँ व्यक्ति का अपना कुछ भी नही बचता। व्यक्तिवाद पश्चिमी विचार-धारा है। जो लोग वाजपेयी जी को व्यक्तिवादी कहते हैं वे जाने अथवा अनजाने उस षड्यन्त्र के अग हैं, जो वाजपेयी जी को भारतीय परम्परा से अलग सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है और आये-दिन उन पर व्यक्तिगत प्रहार करने से भी नही चूकता।

कुछ दिन पूर्व एक पत्रिका मे यह शिकायत की गई थी कि वाजपेयी जी शुक्ल जी की कक्षा के समीक्षक नही जान पडते, क्योंकि शुक्लोत्तर काल के प्राय. सभी आलोचक न्यूनाधिक मात्रा मे ऐसे सिद्धान्तो या समीक्षा-सूत्रो का प्रयोग करते हैं, जो उनके साहित्यिक अनुभव पर आधारित नही हैं, जो उनके आत्मसात् किए हुए सत्य नही है। यह चर्चा 'कमाया हुआ सत्य' शीर्षक के अन्तर्गत हुई है। वैसे तो इस लेख मे और भी ऊलजलूल बातें मिलेंगी, परन्तु यहाँ वे सब उद्धृत नही की जा सकती। ऊपर जिस बात की शिकायत हुई है उसे जरा ध्यान से देखने पर विदित होगा कि उसमे इस बात का रोना है कि वाजपेयी जी व्यक्तिवादी नही है। अब प्रत्येक आलोचक सत्य का अनुभव करने लगेगा, जब प्रत्येक समीक्षक का निजी

'कमाया हुआ सत्य' होगा, तब निश्चय ही सत्य की सम्पत्ति का ढेर लग जायगा *और नए ऋषियो के नए अनुभवो का एक नया वेद बनेगा। हम उस समय की* प्रतीक्षा करेंगे। वस्तुत सत्य की यह कमाई 'अपनी ढपली अपना राग' के अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसका वाजपेयी जी ने साहित्य मे कभी स्वागत नही किया।

वाजपेयी जी के सम्बन्ध म हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र म जो विचार-विमर्श हो रहा है, वह दो भिन्न दिशाओ से आता हुआ दिखलाई पडता है। जिन लोगो पर पश्चिमी मनोविज्ञान का प्रभाव अधिक है, उनकी यह शिकायत है कि वाजपेयी जी व्यक्तिवादी नही हैं। दूसरी ओर वे लोग है जो मार्क्स के विचारो की छाया मे पले है, देश के स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त भी जिनकी विचार-शक्ति कही रेहन रखी हुई है। *ऐसे लोगो का विचार है कि वाजपेयी जी का साहित्यिक मत पूँजीवादी* विचार-धारा स उत्पन्न हुआ है और वाजपेयी जी व्यक्तिवादी है। ये दोनो मन सत्य से अत्यन्त दूर है। वाजपेयी जी रसवादी आचार्य है और उनका रस सिद्धान्त राष्ट्रीय भूमि की वस्तु है। वाजपेयी जी ने अपने मत का निर्माण, भारतीय नीव पर, स्वतन्त्र साहित्यिक चेतना के बल पर किया है। वे किसी भी विदेशी विचार-धारा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नही देते।

कुछ ऐसे लोग भी वाजपेयी जी को व्यक्तिवादी कहते हुए दिखलाई पड रहे है जो उपर्युक्त वर्गों म नही आते। ये लोग अनुमान के आधार पर ऐसा कहते है। *छायावादी काव्य और कवियो का वाजपेयी जी ने समर्थन किया है, और छायावाद* के मूल मे व्यक्तिवाद है, इसलिए वाजपेयी जी व्यक्तिवादी हो सकते हैं। उनके अनुमान का यही आधार प्रतीत होता है। सबसे पहले तो छायावाद के मूल मे व्यक्तिवाद है, यही विचार चिन्तनीय है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय तो केवल छायावाद के समर्थन से वाजपेयी जी व्यक्तिवादी नही बन जाते। अपनी समीक्षाओ मे वाजपेयी जी ने व्यक्तिवादियो को कितना लथेडा है, यह सब जानते है। तब उन्हें ही व्यक्तिवादी बतलाना कुछ समझ मे नही आता।

कुछ लोगो का कहना है कि वाजपेयी जी ने छायावादोत्तर साहित्य के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित नही की है (यद्यपि यह बात सही नही है), प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के प्रति वे असहनशील रहे हैं। इसलिए साहित्य की नवीनतम प्रगति का वे नेतृत्व नहीं कर सके। 'हम छायावादोत्तर साहित्य, विशेषकर नई कविता के, हिमायतियो से पूछना चाहते हैं कि इसके प्रति सहानुभूति क्यो प्रदर्शित की जाय ? इसमे ऐसी कौन-सी वस्तु है जो पाठक को आकृष्ट करती है ? इसमे ऐसी *कौन-सी प्रगति हुई है जो अभी तक अनुपलब्ध थी ? छायावाद-युग मे साहित्य* प्रगति के जिन सोपानो पर पहुँच गया था, आज वह वहाँ तक भी नहीं दिखलाई पड रहा है। इन कुछ वर्षों मे साहित्य की प्रगति नही, दुर्गति हुई है। क्या इसी

कार्य के लिए नए कवियो और लेखको के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की जाय ? नई कविता के एक समर्थक ने अभी हाल ही मे कहा है कि छायावाद ने यदि बीस वर्षों मे परम्परा बना दी थी, तो नये साहित्य को भी अब बीस वर्ष होने मे आये, उसकी भी एक परम्परा बन गई है। परन्तु बीस वर्षों मे 'छायावाद ने प्रसाद, निराला, पत, और महादेवी' जैसे साहित्यकार दिए है, जब कि नई कविता में आज तक एक भी ऐसा व्यक्तित्व नही दिखलाई पड रहा है। छायावाद के उपरान्त जो प्रगतिवादी साहित्य लिखा गया, उसकी ईमानदारी सदिग्ध है, जिस प्रयोगवादी साहित्य की रचना की गई, उसका निकम्मापन असदिग्ध है। देश का कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसी बातो को सहन नही करेगा।

हिन्दी-समीक्षा की सम्पूर्ण उपलब्धियो को बिना देखे अथवा किसी पूर्वाग्रह-वश कभी-कभी ऐसे विचार भी व्यक्त किए जाते हैं कि आचार्य शुक्ल के उपरान्त हिन्दी की समीक्षा ने कोई उल्लेखनीय प्रगति नही की है। ऐसे विचार अत्यन्त भ्रामक हैं। यदि छायावाद की चतुष्टयी के उपरान्त काव्य के क्षेत्र मे कोई महत्त्व-पूर्ण व्यक्तित्व अवतरित नही हुआ, यदि प्रेमचन्द जी के उपरान्त कथा के क्षेत्र मे उतना समर्थ लेखक नहीं आया, यदि प्रसाद जैसे नाटककार की आज भी हिन्दी को प्रतीक्षा हो तो इसका यह अर्थ नही हो जाता कि समीक्षा-क्षेत्र भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त व्यक्तित्व-रहित है। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएँ इस समय समीक्षा-क्षेत्र मे प्रकट हुई हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की बागडोर दृढता से सम्हाली है। वाजपेयी जी आधुनिक समीक्षा के अनन्य आलोक-स्तम्भ है।

●

सृजनशील समीक्षक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

—डा० गंगाधर झा एम० ए०, पी-एच० डी०

●

समीक्षा' शब्द अनेक ऐसी प्रक्रियाओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो बहुत अंशों में परस्पर स्वतन्त्र हैं। इनमें से प्रथम इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि कला अथवा साहित्य क्या है? इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया जाता है। प्लेटो ने उसे अपने समग्र तत्व चिन्तन की भूमिका में देखा और निष्कर्ष दिया कि कला अनुकृति की भी अनुकृति है। अब, इसे आधार बनाकर क्या किसी रचना विशेष की समीक्षा की जा सकती है? इस वक्तव्य का सम्बन्ध कला की समष्टि से है, उसकी विशिष्ट इकाइयों से नहीं। कला की यह समष्टि स्वयं भी तत्व चिन्तन की पारमार्थिक भूमिका और समग्रता में अंतर्भुक्त है। ऐसी ही भूमिका पर अन्य दार्शनिकों ने इस प्रश्न के बहुत भिन्न उत्तर भी दिए हैं। भिन्नता का कारण प्रत्येक के तत्वचिंतन के मौलिक स्वरूप में निहित है। ऐसे मनीषियों के कार्य में यद्यपि निखिल अस्तित्व की समीक्षा आधारभूत होकर व्याप्त है, तथापि उन्हें हम तत्वचिंतक या दार्शनिक ही कहेंगे, समीक्षक नहीं।

कला के नियम या सूत्र प्राप्त करने के उद्देश्य से रचनाओं का विश्लेषण और वर्गीकरण दूसरी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से उस वस्तु का उद्भव होता है जिसे हम काव्यशास्त्र कहते हैं। अरिस्टाटिल ने इसी पद्धति को अपनाकर कला को मूलतसगठन के रूप में देखा। साहित्यिक वस्तु पर उनका कार्य प्रत्यक्ष रूप में आश्रित होने के कारण उन्हें साहित्य-समीक्षक कहा जा सकता है, यद्यपि यह स्मरण रखना होगा कि रचनाएं उनके लिए केवल दृष्टान्त थीं और उनका उद्देश्य उनके विशिष्ट उत्कर्ष पर प्रकाश न डालकर सर्वसामान्य नियम प्राप्त करना था। तत्व-चिन्तन की प्रक्रिया यदि पारमार्थिक धरातल पर परिभाषाओं का निर्माण करती है, तो शास्त्रनिर्माण का यह कार्य व्यावहारिक धरातल पर परिभाषाओं का आकलन और विधान करता है।

एक बार शास्त्रनिर्माण हो जाने पर तृतीय प्रक्रिया के द्वार खुल जाता है। उस प्रक्रिया के युग को हम शास्त्रियों का युग कह सकते हैं। शास्त्री का अर्थ यहा शास्त्र का वेत्ता या ज्ञाता है, शास्त्र का निर्माता नही। इस वर्ग के प्रतिनिधि शास्त्र-निर्माण मे निहित रचनाओ के प्रत्यक्ष विश्लेषण और वर्गीकरण के कार्य को तो भूल जाते है, किंतु उससे उपलब्ध नियमो और परिभाषाओ को देशकाल के परिवर्तनो से अप्रभावित, स्वयभू और स्वयसिद्ध तत्व मान लेते है। वास्तविक साहित्य के मर्म से निरे शास्त्री का कितना सम्बन्ध होता है, यह तो ईश्वर ही जाने; परन्तु स्वय को साहित्य के व्यवस्थापक या नियन्ता के पद पर आरूढ करने मे उसे कोई झिझक या ग्लानि नही होती। कवि जब अपना कार्य कर लेता है तब शास्त्री उसे अपने नियमो की कसौटी पर कसकर निर्णय देता है कि उसकी श्रेणी प्रथम है या द्वितीय या तृतीय या एकदम 'फेल'। उसे न विश्व के विस्तार का बोध होता है न काल की गति का। वह नही जानता कि भिन्न समय और भिन्न जलवायु मे भिन्न विशेषताओ का साहित्य भी उत्पन्न हो सकता है और उसके नियम उस साहित्य की सापेक्षता मे ही सार्थक है जिससे उनका उत्कलन किया गया है।

जीवन के ज्योतिप्रवाह को पीठ देकर नियमान्ध शास्त्री शास्त्रनिर्माण की एक उपप्रक्रिया मे भी सलग्न होता है। शून्यशायी तर्क-वितर्क के आश्रय से वह मूल नियमो के अन्तर्गत भेदोपभेदो का विराट् आयोजन करता है और कवियो से आशा रखता है कि वे तद्रूप वाग्यसृष्टि करेंगे। कभी-कभी अपने लक्षणो के अनुरूप पद्य रचकर वह विदग्ध कवि होने का दावा भी करने लगता है। भगीरथ प्रयत्न के पश्चात् उसे केवल साहित्य के व्याकरण को व्यवस्थित और मार्जित करने का श्रेय दिया जा सकता है। उसे समीक्षक कहना भाषा को अनर्गल प्रलाप मे पर्यवसित कर देना है। शास्त्रीय समीक्षा या सैद्धातिक समीक्षा नही होती, होते है समीक्षाशास्त्र या समीक्षा-सिद्धात; शास्त्रीय समीक्षक या सैद्धातिक समीक्षक नही होते, होते है समीक्षाशास्त्रवेत्ता या समीक्षा सिद्धान्तवेत्ता। मनुष्य की जिस जाति का मूल गुण इस प्रकार का 'वेत्ता' होना है, वह सदा भूतकाल मे जीती है, वर्तमान से कभी उसका सम्पर्क स्थापित नही होता।

उपयोगी होते हुए भी अरिस्टाटिल की पद्धति से साहित्य की केवल सामान्यीकृत भूमिकाए प्राप्त हो सकती है। अपनी सीमा मे यह भी तत्वचिंतन के समान एक स्वतत्र और महत्वपूर्ण कार्य है, परन्तु प्रत्येक रचना के अपने वैशिष्ट्य और उत्कर्ष-विन्दु से उसका योग नही होता। प्रत्येक रचना सृजन है और सृजन कभी किसी पूर्वनिर्धारित नियम का अनुगमन नही करता। अनुगमन यान्त्रिकता है और सृजन अपना नियम अपने साथ उत्पन्न करता है। अत: इस वैशिष्ट्य को पकडना और उद्भासित करना समीक्षा शब्द से द्योतित चतुर्थ प्रकार की प्रक्रिया है। यह कार्य

क्या समीक्षा किसी पूर्वनिर्धारित नियम या सिद्धान्त के आधार पर कर सकती है ? नही, उद्भावना और सृजन के साक्षात् की क्षमता केवल उद्भावना और सृजन मे सम्भव है। यही कोरी शास्त्रीयता और साहित्य-समीक्षा मे अतर है। साहित्यिक समीक्षा यदि अनवरत अभूतपूर्व से साक्षात् की क्षमता का नाम है तो कोरी शास्त्रीयता अणुबम के युग मे लाठी भाँजने की योग्यता पर गर्व करने का।

साहित्यिक समीक्षा अपने मूल मे व्यावहारिक है। उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं "साहित्य, काव्य या किसी भी कलाकृति की समीक्षा मे जो बात हमे सदैव स्मरण रखनी चाहिए यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नही कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं, परन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नही है। कोई बन्धन नही है जिसके अतर्गत आप उसे बाधने की चेष्टा करें। (सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु उस सौन्दर्य की परख किन्ही सुनिश्चित *सीमाओ मे नही की जा सकती।) इसका यह मतलब नहीं कि काव्यालोचक* अपनी आलोचना मे कुछ निष्कर्षों तक नही पहुच सकता, मतलब यह है कि आलोचक अपनी आलोचना के पहले किसी निष्कर्ष विशेष का प्रयोग नही कर सकता। इस कार्य मे *उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि और उसकी सिद्धान्त*-निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है। सिद्धान्त तो उसमे बाधक ही बन सकते है। अवश्य प्रत्येक कलावस्तु मे सौन्दर्य-सज्जा के अलग-अलग भेद होंगे, उनकी भिन्न भिन्न कोटिया होगी और सम्भव है, उन कृतियो के भिन्न-भिन्न दार्शनिक आधार भी हो, किन्तु हमारा काम यह नही कि अपनी अलग रुचि और अलग मत बनाकर *काव्य-समीक्षा मे प्रवृत्त हो, क्योकि तब हम उसका सौन्दर्य न देखकर अपने मन की* छाया उसमे देखने लगेंगे। यह कला-आलोचना की बहुत बडी बाधा है। हमें यह कभी नही भूलना होगा कि किसी भी सिद्धात के सम्बन्ध मे कभी मतैक्य नही हो सकता, किन्तु (कलाकृति के) सौन्दर्य के सम्बन्ध मे कभी दो रायें नहीं हो सकती।"[1]

समीक्षा के सम्बन्ध मे वाजपेयी जी के अभिमत का यह पूर्ण वक्तव्य है। इसकी प्रथम स्थापना है कि समीक्षा का सृजनशील होना आवश्यक है, क्योकि स्वय कला सृजनशील होती है। समीक्षा को किसी भी सिद्धान्त से बाधना उस कला को बाधने का प्रयत्न है जो निर्बन्ध और असीम है। *यही कारण है कि वाजपेयी जी ने* आजीवन वादो का घोर विरोध किया है। उनकी धारणा है कि वाद परिस्थितिजन्य हैं और परिस्थिति के बदलते ही पुराने पड जाते हैं। इसके विपरीत, कला की सृष्टिया बहुत दूर तक देशकाल के व्यवधानो का अतिक्रमण करती हैं। श्रेष्ठ रचना

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी : पृ० ७९

कभी पुरानी नहीं होती। जिस कला का यह मौलिक गुण है, उसे केवल सामयिक और सीमित प्रतिमानों से अथवा किसी पूर्वागत लक्षणावली से कैसे मापा जा सकता है ? इसके अतिरिक्त सिद्धान्त विशेष का आग्रह होने पर समीक्षक उन कृतियों के साथ न्याय नहीं कर पायेगा जो उसकी मान्यता की परिधि के बाहर सचरण करती हैं। भावकता उसमें हो भी तो वह विशेष आग्रह के कारण कुण्ठित हो जायगी। दूसरे शब्दों में, निरन्तर अकुण्ठित रहने वाली भावकता या सौन्दर्य-दृष्टि समीक्षक होने की अर्हता का प्रथम और मौलिक उपकरण है।

सूक्ष्म सौन्दर्यदृष्टि और सिद्धान्त निरपेक्षता के साथ व्यापक अध्ययन को भी उन्होंने समीक्षक के लिए अनिवार्य बतलाया है। इस व्यापक अध्ययन का आशय क्या है ? क्या वह मुख्यत समीक्षा के सिद्धान्तों का अध्ययन है ? जिस व्यापक विधि से वाजपेयी जी ने पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों का अध्ययन किया है, उससे यह सम्भव प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ कुछ बातें स्मरण रखनी होंगी। वाजपेयी जी एक अध्यापक भी हैं। अपने शिष्यों की चेतना के निर्माण के लिए इस वस्तु को उन्होंने आवश्यक समझा। भारतीय समीक्षा के साथ पाश्चात्य समीक्षा को भी पूर्ण महत्व के साथ रखना यह सूचना देता है कि वे एकदेशीय आग्रहों से मुक्त करके साहित्य की एक सार्वभौम चेतना का प्रसार करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त, आधुनिक जीवन के परिवेश में जिन जिन नवीन रूपों और प्रवृत्तियों का उद्भव साहित्य में हुआ है, उनके परिचय के लिए भी साहित्य और कला सम्बन्धी पाश्चात्य विचारों का परिचय बहुत आवश्यक है। इसका यह उद्देश्य नहीं है कि पश्चिम की वस्तु को यथावत् उठाकर हम अपनी समृद्धि का इजहार करें, परन्तु यह अवश्य है कि चेतना की समानान्तर और अज्ञात प्रेरक भूमियों से सम्पर्क स्थापित करने का लाभ हम उठा सकें। फिर, जिसे हम आधुनिक भारत कहते हैं उसकी चेतना का विकास क्या पश्चिम के साथ गहन विनियोग से नहीं हुआ है ? यह सच है कि अपने आधारों से हम पूर्णतया नहीं उखड सकते, परन्तु आधुनिकता के रूप में जो नव्य जीवन-विकास पश्चिम के ससर्ग के कारण हममें उन्मेष पा सका है उसे काटकर अलग कर देना भी तो घातक होगा।

प्रश्न उठ सकता है कि आधुनिक दृष्टिकोण का कार्य यदि पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन से चल जाता है तो हिन्दी की अपनी आधुनिक समीक्षा के लिए स्थान कहाँ ? उत्तर है कि पश्चिम की वस्तु का यथावत् ग्रहण और अपने साहित्य पर प्रयोग उद्दिष्ट नहीं। ऐसा अध्ययन तो मुख्यत मानसिक क्षितिज के विस्तार का एक उपकरण है। यदि यह प्रभाव है, तो प्रभाव की कल्पना से ही जो जन आतक-विमुग्ध हो जाते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि प्रभावित न होना जडत्व की सूचना है, सचेतनता या सजीवता की नहीं। योरोप का इतना प्रभाव पडने पर भी हम योरोपियन तो नहीं हो गए। हमारा नवीन साहित्य भी भारतीय

भूमिकाओ पर दृढता के साथ अधिष्ठित है। विशेषत छायावादी काव्य की व्याख्या करते हुए स्वय वाजपेयी जी ने पूर्ववर्ती आधुनिक काव्य की तुलना मे उसकी गहनतर राष्ट्रीय चेतना और सास्कृतिक भूमिका का उद्घाटन किया है। ब्लेक और वर्ड्सवर्थ, शैली और कोलरिज से सिद्धात-वाक्यो की उद्धरणी देकर यह समीक्षा उन्होने नही की। उन्होने भारत की राष्ट्रीय चेतना के उन सदर्भो का प्रयोग किया, जिनका सृजन उन्नीसवीं शताब्दी मे राजा राममोहनराय के समय से आरम्भ हुआ था। यह है पाश्चात्य ज्ञान के सृजनात्मक प्रयोग का स्वरूप। हम केवल लेते नही, अपने भावन और चिंतन की प्रक्रिया मे उसे रूपान्तरित भी कर देते हैं।

रूपान्तरित करने की यह प्रक्रिया क्या भारतीय काव्य शास्त्र पर आश्रित है? नही, भारतीय काव्य-शास्त्र भी चेतना-निर्माण का एक उपकरण ही है। एक और भी प्रक्रिया है जिस पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र तो क्या, स्वय भारतीय काव्यशास्त्र भी आश्रित है। वह प्रक्रिया जीवन की है, नए राष्ट्र-निर्माण की, नए राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण की। वह न तो अरिस्टाटिल-प्लेटो के शास्त्र निर्माण और चिन्तन की अनतमुख निबद्धकर अनुगता है और न भरतमुनि-अभिनवगुप्त के शास्त्र-निर्माण और चिन्तन की। स्वय हमारी सृष्टि तो तब हुई जब इन सबको अपनी भूमिका पर आत्मसात् करके हम विकसित हो। यह छोटी माग नहीं है, परन्तु एक नए राष्ट्र के रूप मे जीवित हम कहे जाएगे जब हम अपने साहित्य और अपनी कला का विकास करें। ऐसी सर्जना ही भारतीयता हो सकती है, पूर्वजो के छिल्को मे अपना फलत्व अनुभव करना नही। इसके अतिरिक्त, जो केवल पूर्वजो का प्रेत पूजते हैं वे केवल प्रेतो के पूर्वज हो सकते है।

सृजन की भूमिकाए बहुत व्यापक होती हैं तथा बदलती हुई परिस्थितियो की सवेदना और अनुभूति उसमे केन्द्रीय होती है। वाजपेयी जी की समस्त आरम्भिक समीक्षा प्राचीन और नवीन के अतर की इस गहरी अनुभूति पर आश्रित है। 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' मे सकलित निबन्धो के सम्बन्ध मे वे कहते हैं "यह समस्त लेखन मेरी अपनी ही स्फूर्ति का परिणाम है। इन्हें लिखते हुए जैसे नयी भूमि का उद्घाटन कर रहा था।"[1] सृजन-कार्य के लिये ऐसी ही आतरिक स्फूर्ति की आवश्यकता होती है। उसके योग्य उत्साह तभी सचित होता है जब चेतना आश्वस्त हो कि उसमे उभरती हुई गतिया और आकृतिया अभिनव और मूल्य-सम्पन्न हैं। सिद्धान्त (या अन्य सामग्री) की सार्थकता ऐसी चेतना के साथ परिणय मे ही है। केन्द्रीयता इस अनुभूति की है, सिद्धान्त की नही। एक कवि जैसे अनुभूति की शक्ति से सर्जना करता है उसी प्रकार 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के निबन्ध भी अनुभूति की शक्ति से लिखे गये हैं। उनका विषय समीक्षा

---

१. 'नई धारा' मे प्रकाशित श्री नर्मदाप्रसाद खरे को दिए गये इटरव्यू से

है और तदनुरूप विश्लेषण के द्वारा कवि की मानसिक गतियो, उत्कर्षापकर्ष की भूमियो, शिल्प और शैली के नए आरोहो का निदर्शन उसमे स्वभावत विस्तारपूर्वक किया गया है, यथास्थान आवश्यक खण्डन-मण्डन भी उसमे प्रचुरता से है, परन्तु उसकी प्रक्रिया सृजन की है। जो सिद्धान्त भी है मानो वे इस ऊर्जस्वित तन्मयता मे गलकर तदाकार हो गये हैं और नये निष्कर्षों के रूप मे यत्र-तत्र उनका पुनर्करण हुआ है। इस दृष्टि से 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' केवल प्रायोगिक समीक्षा का दृष्टान्त उपस्थित नही करती, उसके अतरग से नए काव्यशास्त्र के उपकरणो का उत्सर्जन भी करती है।

ऐसी चेतना के मूल मे अध्ययन की स्थिति क्या है है ? स्पष्ट ही वह केवल काव्यशास्त्र का अध्ययन नही है। अनेक विधाओ और विशेषत उन विषयो का अनुशीलन भी उसमे समाहित है जो आधुनिक जीवन और आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। कवि-मानस मे प्रवेश पाने के आग्रह के साथ वाजपेयी जी ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन पर बारम्बार जो जो जोर दिया है, वह अध्ययन के ऐसे ही आशय का परिचायक है। अनेक प्रसग सूचित करते है कि वाजपेयी जी अध्ययन को 'व्युत्पत्ति' के सर्वोत्तम अर्थ मे ग्रहण कर रहे हैं। कहने की बात नही कि व्युत्पत्ति स्वय मे समीक्षक बनाने की क्षमता के कारण स्वीकार नही की गई, वह निश्चित रूप से प्रतिभा और अनुभूति की परिष्कारक और साध्य है।

अध्ययन का तीसरा अर्थ स्वय कलावस्तु का अध्ययन है। एक प्रश्न के उत्तर मे वाजपेयी जी ने कहा था कि उनका अध्ययन यद्यपि पूरे समीक्षा-साहित्य को स्पर्श करता है तथापि प्रारम्भिक वय मे उन्हे विशेषत वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स के काव्य तथा मैथ्यू आर्नल्ड की समीक्षा ने प्रभावित किया। यह एक प्रकार से उनके अग्रिम विकास का 'न्यूक्लियस' है। उन्हे स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना बहुत अशो मे ठीक है, परन्तु उनकी प्रेरणा का स्रोत तथाकथित स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त न होकर स्वच्छन्दतावादी काव्य-कृतिया थी। यह ध्यान देने योग्य है, क्योकि श्रेष्ठ काव्य का परिचय समीक्षक के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान से कही अधिक महत्वपूर्ण है। सिद्धान्त केवल बौद्धिक व्यक्तित्व का सस्कार कर सकते हैं, परन्तु काव्य अन्ततम मे प्रविष्ट होकर समग्र व्यक्तित्व का सस्कार करता है। वाजपेयी जी के द्वारा इस प्रसग मे मैथ्यू आर्नल्ड का उल्लेख विचारणीय है। आर्नल्ड की सारी वृत्तिया प्राचीन भव्यता की ओर उन्मुख थी। सस्कृति के प्रसार द्वारा श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण निर्मित करने का सन्देश देते हुए यह कहकर आधुनिक युग की भर्त्सना उन्होने की थी कि नैतिक भव्यता की सम्भावनाओ से वह विरहित है। दूसरी ओर, स्वच्छन्दतावादी कवि आधुनिकता के प्रथम और विद्रोही गायक थे। अत आर्नल्ड के उल्लेख का कारण उनका यह दृष्टिकोण नही हो सकता। आर्नल्ड ने परिष्कृत अभिरुचि के निर्माण के लिए देशकाल की सीमा से

मुक्त श्रेष्ठ रचनाओ के अनुशीलन की सलाह भी दी है और यह प्रदर्शित किया है कि काव्य-समीक्षा मे श्रेष्ठ काव्याशो का प्रयोग किस प्रकार निकष के रूप मे किया जा सकता है। हमारी समझ मे वाजपेयी जी ने आर्नल्ड का उल्लेख इसी आशय से किया है। सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि के निर्माण मे सिद्धान्त-निरपेक्ष जो वस्तु सबसे अधिक सहायक हो सकती है, वह ऐसा ही व्यापक अध्ययन है।

वाजपेयी जी के वक्तव्य के इस अश पर सन्देह किया जा सकता है कि 'सौन्दर्य के सम्बन्ध मे कभी दो रायें नही हो सकती।' हम देखते हैं कि आए दिन कुछ लोग किसी रचना को बहुत उत्कृष्ट घोषित करते हैं और अन्य एकदम अपठनीय। यही क्यो, छायावाद के सम्बन्ध मे शुक्ल जी की राय उससे बहुत भिन्न थी, जिसकी स्थापना वाजपेयी जी ने इतनी शक्ति के साथ की है। अपनी सम्मति के विरुद्ध इस प्रत्यक्ष प्रमाण के वाजपेयी जी दो उत्तर दे सकते हैं। एक तो यह कि 'लोक मगल' और प्रबन्ध काव्य की मूलभूत श्रेष्ठता के अपने आग्रहो के कारण शुक्ल जी की सौन्दर्य-दृष्टि बाधित हुई और, द्वितीय यह, कि सौन्दर्य के सम्बन्ध मे एकमत होना यदि सम्भव न होता तो अनेक रचनाए कैसे देशकाल की सीमा को लाघ कर जीवित बनी रहती हैं ?

यह हुआ वाजपेयी जी का साहित्यिक समीक्षा-सम्बन्धी आदर्श। उनके अनुसार यह प्राथमिक है। अन्य किसी दृष्टि से किसी रचना का विवेचन इसके बाद ही किया जा सकता है। यह केवल 'साहित्यिक' आग्रह नही, क्योकि किसी भी 'दृष्टि' से देखने के पूर्व आतरिक सामजस्य के आधार पर रचना के वास्तविक आशय को समझ लेना आवश्यक है और आशय साहित्यिक समीक्षा के द्वारा ही उद्घाटित होता है। 'कुकुरमुत्ता' सम्बन्धी समीक्षाए इस अभिमत की पुष्टि करती हैं। आरभ मे प्रगतिवादी यह सोचकर बहुत प्रसन्न हुए थे कि कुकुरमुत्ता को सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर उसके द्वारा शोषक वर्ग के प्रतिनिधि गुलाब की आबरू उतारकर निराला जी ने एक प्रगतिवादी काव्य की सृष्टि की है। किन्तु क्रमश यह उद्भासित होने पर उन्हें विकलता हुई कि स्वय कुकुरमुत्ता निराला जी के द्वारा नाटकीय व्यग्य का केन्द्र बनाया गया है। यह कहकर उन्होंने सन्तोष किया कि रचना विपर्यस्त है, उसकी कोई निश्चित दिशा नहीं। ऐसे निराधार निष्कर्ष का कारण यह है कि कुकुरमुत्ता की निर्मिति मे व्याप्त अन्त सूत्रो और आशयो की ओर ध्यान दिए बिना ही, अर्थात् उसकी साहित्यिक समीक्षा किए बिना, एक विशेष सामाजिक दृष्टि से उसके विवेचन का प्रयत्न किया गया है। अपने लेखो और भाषणो तथा अपने निर्देशन मे लिखित 'निराला का परवर्ती काव्य' के द्वारा वाजपेयी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि कोई आन्तरिक असगति या आशयगत दिग्भ्रम 'कुकुरमुत्ता' मे नही है, एक वक्र और विलोम पद्धति से निराला जी ने सस्कृति-विषयक अपनी धारणा उसमे व्यजित की है।

एक स्थान पर वाजपेयी जी ने लिखा है कि "संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होने वाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।"[1] प्रकारान्तर से इसमे वही बातें कही गई हैं जिसकी विस्तृत व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ हम इस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि काव्य-समीक्षा के आधार मे जो 'रसानुभूति' शब्द आ गया है उसे लेकर कतिपय सज्जनो ने वाजपेयी जी को 'रसवादी समीक्षक' घोषित कर दिया है। ऐसा व्यग्य भोले मनुष्य अनजाने मे कर जाते हैं। जिस समीक्षक ने प्राचीन के विरुद्ध नवीन भावबोध और मान्यताओ की स्थापना के लिए इतना कठोर और सफल सघर्ष किया उसे 'रसवाद' मे आमूल-चूड निबद्ध कर देना क्या नियति के व्यग्य जैसा नही प्रतीत होता? 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी' का प्रत्येक निबन्ध रूढ मान्यताओ को एक चुनौती है, बधिरता का श्रुतिवेध कर निनादित होनेवाला सचेतन आधुनिकता का प्रथम मन्त्र-गान है। शक्ति का यह उद्रेक हिन्दी साहित्य को नए विकासो, नए सूर्योदयो के देश मे प्रवेश देने के लिए अनिवार्य था। 'यशोधरा' और 'आंसू' की प्रकाशन तिथि सन् १९२५ है, 'साकेत' और 'कामायनी' की क्रमश १९३३ और १९३६। कालगत अवधि की दृष्टि से द्विवेदी युग और छायावाद युग की सीमाए दूर तक एक दूसरे को ढँकती हैं। ये दोनो युग केवल तिथि और वर्ष मे भेद नही, चेतना के दो स्वतन्त्र स्तर हैं। साथ रह कर भी वे एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। ऐसी विपर्यस्त-सी स्थिति म नयी चेतना का उद्घाटन करना, उसके व्यक्तित्व उभारकर रख देना, सामान्य कार्य नही है। हम कह सकते है कि वाजपेयी जी केवल एक आन्दोलन के पुरस्कर्ता और व्याख्याता नही, वे उस युग के अगभूत हैं। प्रसाद-निरालादि के साथ उनका नाम जुडने पर ही उस युग का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट होता है। स्वाभाविक और गहन भिन्नताओ का ध्यान रखते हुए कहा जा सकता है कि हिन्दी-स्वच्छन्दतावाद के साथ वाजपेयी जी वैसे ही अनुस्यूत हैं, जैसे कवि के रूप मे छोड देने पर भी अंग्रेजी स्वच्छन्तावाद के साथ कोलरिज।

यह सब क्या 'रसवादी' के लक्षण है? प्रस्तावको का आशय कदाचित् यह हो कि वाजपेयी जी पहले रसानुभूति कर लेते है और तब समीक्षा लिखते हैं। बात पते की है, परन्तु इसका अर्थ क्या है? वाजपेयी जी क्या रसाभास, भावाभास और भावसबलता के प्रसगो मे भी रसानुभूति कर लेते हैं? रसाभास मे आखिर 'रस' है तो, और भाव मे अभाव क्यो होगा? वाजपेयी जी क्या यथार्थवाद, प्रकृतिवाद इत्यादि के प्रसगो मे भी रसानुभूति कर लेते हैं? यहां कुछ कठिनाई है। तब कदाचित् आशय यह हो कि वाजपेयी जी रस-पद्धति का अनुसरण करते हुए समीक्षा

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी', पृ० ५६

ा होता तो वाजपेयी जी का मुख्य कार्य विवेच्य रचनाओ मे स्थायी भाव, सचारी भाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन इत्यादि के स्वरूप और नियोजन का निदर्शन करते हुए उनके उत्कर्षापकर्ष का निर्णय करना होता। किन्तु जो उन्होंने किया है, वह इससे बहुत भिन्न है। कोई कहे, इससे क्या ? पद्धति कुछ आधुनिकता लिए हो सकती है, परन्तु रस-काव्य को उन्होने सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है, तो यह भी असत्य होगा। अनेक नयी भूमियो और रूपो मे जो अनन्त विस्तार आधुनिक युग के काव्य या साहित्य मे मिलता है, वह रस की सीमा मे नही समाता। इन प्रशस्त भूमियो के भावबोध से जो समीक्षक निर्मित हुआ है, जिसका मुख्य कार्य इस नवीन भावबोध का व्याख्यान और सस्थापन रहा है और जो केवल इसलिए आधुनिक नही है कि उसने आधुनिक काव्य की आलोचना की है, वह रस-काव्य की सर्वोपरिता से मुग्ध होकर कृतकार्यता का अनुभव कैसे कर सकता है ? करना भी चाहे तो अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध एक विशेष प्रकार के काव्य को काव्य के अन्य रूपो से अधिक महत्वपूर्ण मानकर 'वादी' बनने के लिए उसे बाध्य होना पडेगा।

कदाचित् इस विषय मे वाजपेयी जी के अनेक वक्तव्यो की ओर ध्यान देना उपादेय होगा। सिद्धान्तत रस अलौकिक है, इसका उल्लेख करके वाजपेयी जी कहते हैं "रस की अलौकिकता का पाखण्ड केवल यही तक रहता तो एक बात थी। यह जिस असत्य आधार पर स्थित हुआ है उसने साहित्य का बडा अनिष्ट किया है। हमको स्पष्ट कर देना चाहिए कि इस अलौकिकता का पल्ला पकड कर कविगण साधारण जन समाज के सिर पर चढ गए और वहाँ से स्वय अनियन्त्रित रहकर हमारा नियन्त्रण करने लगे। इस प्रकार जन-समाज का नियन्त्रण न रहने के कारण कविता व्यक्तिगत हो गई, और यही कारण है कि मध्यकाल की सस्कृत कविता मे ह्रासोन्मुख भारतीय जीवन की छाप देख पडती है।"[1] रस के ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व की इस गति के पश्चात् उसकी लौकिकता मे सन्तोष करना चाह तब भी त्राण नही। 'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास' से आगे बढकर जब 'देव नभ मण्डल समान है कवीन मध्य' का प्रचलन हो चला, उस समय की 'चिन्ताजनक स्थिति' का उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं "इस समस्त अनर्गल प्रलाप के दो ही कारण देख पडते हैं। एक तो रस सम्प्रदाय का प्रचलन, और दूसरे जीवनमय समीक्षा-शैली का अभाव।"[2] रस और जीवन मे आत्यन्तिक विरुद्धता यहा देखने योग्य है।

लोग कह सकते हैं यह सब रसवाद का नही, उसके दुरुपयोग का दोष है, शुद्ध रूप मे ग्रहण करने पर रससमीक्षा भी उससे हो सकती है। प्रायोगिक समीक्षा

---

१ 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी', पृ० ६३

२ वही, पृ० ६७

मे आज रसवाद की उपयोगिता पर विचार करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं : "रस-पद्धति की विश्लेषण क्रिया से आधुनिक समीक्षाकार विशेष लाभ नही उठा पाता। एक-एक पक्ति अथवा चार-चार पक्तियो मे रस ढूँढने की क्रिया अब पुरानी पड गई है। सैकडो सहस्रो नायक नायिकाओ के भेदो को जन-जीवन से अलग करके देखने मे क्या रक्खा है ?"[1] ऐसी निरर्थक रसवादी समीक्षा के विरुद्ध जिस सप्राण आधुनिक समीक्षा का उदय हो रहा है उसके विषय मे उनका कथन है "आधुनिक युग मे कवि के मस्तिष्क एव कला का क्रमबद्ध विकास जानने की, उसके व्यक्तित्व एव परिस्थितियो से परिचित होने की और उसकी कृति का एक सश्लिष्ट चित्र खींचने की चेष्टा की जाती है। काव्य-समीक्षा के दृढ सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की गई है और समीक्षा-विज्ञान की भी सृष्टि हो रही है। सामयिक जीवन का अध्ययन किया जाता, युग के प्रधान आदर्शों और समस्याओ का पता लगाया जाता और साहित्य पर उसके प्रभाव का अन्वेषण और निरीक्षण किया जाता है। मनोविश्लेषण शास्त्र ज्यो ज्यो प्रौढ होता जा रहा है त्यो त्यो वह काव्य-विवेचन मे अधिकाधिक उपयोगी प्रमाणित होता जा रहा है।"[2] क्या यही रसवादी समीक्षा का स्वरूप है ! 'समीक्षा-विज्ञान' की चर्चा अवश्य यहाँ की गई और रसवाद की सीमाओ का चतुर्मुख उल्लघन किया गया है।

प्रश्न है कि आधुनिक समीक्षा के आधार मे वाजपेयी जी ने रसानुभूति का उल्लेख किया ही क्यो है ? जिस प्रसग मे यह शब्द प्रयुक्त है वहाँ वह सवेदना शब्द के साथ और उसके बाद लगभग पर्यायवाची के रूप मे आया है। तब कहीं सवेदना ही तो रसानुभूति नहीं है ? स्मरण रखना चाहिए कि रसानुभूति शब्द शास्त्रीय है। मतभेदों के होते हुए भी उसकी एक रूपरेखा रूढ हो गई है। इसके विपरीत सवे-दना शब्द अधिक व्यापक अर्थ-सकेत करता है। इन बातो का आशय यह हुआ कि रसानुभूति शब्द का प्रयोग वाजपेयी जी ने उसके शास्त्रीय अर्थ मे नही किया है और इसकी सूचना उसे सवेदना शब्द के साथ रख कर दी है। वाजपेयी जी ने यत्र-तत्र आह्लाद उत्पन्न करने के गुण को काव्य का मुख्य गुण कहा है। आह्लाद, आनन्द, सुख सबको एक ही वस्तु समझने वाले सहजता के साथ इसके सहारे 'रसो वै स' के धरातल पर पहुच गए हैं। रसानुभूति मे जिस आनन्द की चर्चा है उसे यदि इतना व्यापक बना दिया जाय तो रस सिद्धान्त का अपना रूप कहाँ रहा ? कही ऐसा तो नहीं है कि वाजपेयी जी के द्वारा रसवाद के अनुसरण के बदले रसवाद के द्वारा वाजपेयी जी का अनुसरण ही साध्य हो ? कतिपय प्रसगो मे वाजपेयी जी ने सौन्दर्य को आह्लाद का कारण बतलाया है। भारतीय 'रस', और पाश्चात्य 'सौन्दर्य'

---

१ हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी, पृ० ६८।

२ वही, पृ० ६८

तथा दोनो से जुडा हुआ आह्लाद । क्या रसवाद यही है ? आह्लाद वास्तव मे केवल एक सूचन है । वह सूचना देता है कि रचना प्रभाव या काव्यानुभूति उत्पन्न करने मे समर्थ हुई । इसके अतिरिक्त यह भी उसमे निहित है कि यह गहरे मूल्य की अनुभूति है, उस स्थिति की अनुभूति, जिसमे कहा गया है कि मनुष्य अपनी त्वचा के बाहर फलांग जाता है । लान्जाइनस ने उसका सबन्ध महानता और भव्यता या औदात्य के साथ जोडा था । वाजपेयी जी का आशय कुछ ऐसी ही भूमिकाओ से सम्बद्ध है, किसी सिद्धान्त-विशेष मे इस शब्द को उन्होंने बाधा नही है।

विशुद्ध सिद्धान्त-विवेचन के प्रसग मे वाजपेयी जी ने सर्वोपरि स्थान रस को दिया हो, ऐसी बात भी नही है । भारतीय काव्यशास्त्र की परिधि के बाहर जाकर क्रोचे की स्थापनाओ का भी उन्होंने बहुत सम्मान किया है । भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत यदि अपनी मौलिक व्याख्या के साथ रस के स्वरूप पर प्रकाश डालने का कार्य उन्होंने किया है तो 'सौन्दर्यमलकार' की गहन अर्थ-सभावनाओ का सकेत करते हुए उन्होंने इस मत की काव्य-मर्म-गम्यता स्थापित करने की चेष्टा भी की है । वाल्टर पेटर की शैली-विषयक स्थापना की अनुरूप दिशा मे रीतिवाद के महत्व-प्रतिपादन का भी प्रयास है । इस विषय मे उनका 'भारतीय काव्यशास्त्र का पुन-र्निर्माण' निबन्ध पठनीय है । सिद्धान्त के क्षेत्र मे उनका मौलिक चिंतन प्रतिफलित होना इस निबन्ध मे केन्द्रीय है । किसी विशिष्ट वाद के प्रति अपनी ऐकान्तिक निष्ठा समर्पित करना इसका उद्देश्य कदापि नही । अलकार सप्रदाय पर सारा दोष मढ़कर जो लोग रसवाद का स्तवन करते हैं उन पर टिप्पणी करते हुए वाजपेयी जी ने कहा है—"आधुनिक कुछ आलोचको ने रस सम्प्रदाय और अलकार सम्प्रदाय के बीच यथार्थ से कही बडा काल्पनिक भेद खडा करने की चेष्टा की है और आपस मे तू-तू मैं-मैं का लग्गा लगाया है, पर इसमे उनका उत्तरदायित्व कम नहीं होता । रसवाद ने अपने सरक्षण मे निम्न से निम्न कवियो को प्रश्रय दिया है ।"[1] वाजपेयी जी का आशय यहां यह है कि सारगर्भ सिद्धान्त-वाक्य से आरम्भ होकर भी अलकार सम्प्रदाय रीतिबद्ध होकर जीवन- सपर्क से दूर चला गया, उसी प्रकार की रीतिबद्धता तथा उसके परिणाम से रस सम्प्रदाय भी अपनी रक्षा न कर सका । इन परिस्थितियों मे वाजपेयी जी को रसवादी कहने का आग्रह अगत आसक्ति और अगत सुविधा का परिणाम प्रतीत होता है । आसक्ति यह कि आधुनिकता के उत्साह मे वाजपेयी जी कहीं 'अभारतीय' न हो जाए, और सुविधा यह कि चिट चिपका देने पर मसालो के डब्बे पहचानने मे कोई तकलीफ नही होगी ।

कुछ अन्य लोगो ने वाजपेयी जी को 'सौष्ठववादी' कहने का निश्चय किया है । हिन्दी-समीक्षा के जगत् मे यह अभागा शब्द नवागतुक है । कहां से और कैसे

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी,' पृ० ६७

आशा, इसका भी पता नही। परम्परा से मुक्त होने की सुविधा उसे हो, किन्तु सस्कारविहीन की अगतिकता भी उसमे है। 'सौष्ठव' शब्द विधान की यन्त्रगतिकता से अधिक सबद्ध है, सृजन के मौलिक उन्मेष से कम। उसके द्वारा सुडौलता, व्यवस्था, अवयव-सगीत जैसे आदर्शो का बोध होता है। इन सबमे विशुद्ध बहिरग की गध है। कदाचित् इसीलिए वाजपेयी जी के साथ उसका सबन्ध जोडते हुए लोगो ने उसे बहिरग सामजस्य और सौन्दर्य तथा अन्तरग सामजस्य और सौन्दर्य के अर्धनारीश्वर का रूप देने का प्रयत्न किया है। अन्तरग और बहिरग को अलग मानकर फिर सप्तपदी से उन्हे एकाकार करने की यह प्रक्रिया यह ध्यान नही देती कि 'उसे' दो मानकर उसने आरम्भ किया है जो मूलत एक है। कदाचित् पश्चिमी काव्यशास्त्र के सौन्दर्य शब्द का यह भारतीय सस्करण है। किन्तु क्या 'सौन्दर्यवादी' भी वाजपेयी जी को कहा जा सकता है? सीमित अर्थ मे यह सम्भव है, परन्तु तब अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनो दोषो से बचना कठिन हो जायगा। अतिव्याप्ति इसलिए, कि सौन्दर्यशास्त्र समस्त काव्यशास्त्र का पर्यायवाची है, और अव्याप्ति इसलिए कि सौन्दर्य शब्द कलावाद से अनुस्यूत होकर वास्तविक जीवन-व्यापारो के सस्पर्श से दूर चला गया है। वाजपेयी जी की स्थापनाओ म यह जीवन सस्पर्श कला के प्राण-रस के रूप मे स्वीकृत है। कदाचित् इसीलिए सौष्ठववाद के अन्वेषको ने प्राचीन और नवीन चेतनाभूमियो को समतल पर लाते हुए वाजपेयी जी के प्रसग मे जीवन-सस्पर्श का समावेश भी उसमे कर लिया है। रह गई शास्त्रीयता। उसकी पूर्ति यह कहकर कर ली गई है कि "रस की जो प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त, पडितराज, द्वारा हुई वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है।"[1] धन्यवाद है उन प्रतापी पूर्वजो को, जो प्रस्ताव सामने आने के पहले ही उसका समर्थन कर गए!

सौष्ठववाद इस प्रकार रसवाद से भी प्रचण्डतर कुछ है। नवागन्तुक वह हो, पर कहाँ उसकी गति नही? देखते ही देखते अन्तरग और बहिरग, प्राचीन और नवीन, शास्त्र और अशास्त्र, रस और जीवन-सस्पर्श समस्त को पदाचिह्नित करके अपनी इयत्ता मे उसने आत्मसात् कर लिया है। नारद के समान त्रिलोक मे स्वैर चक्रमण के लिए उन्मुक्त इस शब्द ने किन-किन वस्तुओ का समन्वय अपने अन्दर नही कर दिया! नारद के तो सुनिश्चित सस्कार हैं और व्यक्तित्व है, 'सौष्ठववाद' उतना ही असस्कारी और व्यक्तित्व-विहीन है। इसीलिए उसे उपयोगी बनाने मे सब तरह की इतनी खीचतान करनी पडी है कि पहले तो एक सीमित अर्थ वह रखता था; किन्तु अब एकदम निरर्थक हो गया है जिसका जो जी चाहे, उसे कहे, जो जी चाहे, उसके साथ करे, वह बेचारा तो बस सह सकता है।

---

1. डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, 'हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास।'

'सौष्ठववाद' के अन्वेषक कह सकते हैं कि शब्द से क्या, जो कुछ उसकी छत्रछाया मे वाजपेयी जी के समीक्षकत्व को लेकर उन्होंने प्रदर्शित किया है, वह तो ठीक है। परन्तु गलत शब्द का प्रयोग आशय को भी गलत कर देता है तथा प्रयोक्ता के विचारो की अस्पष्टता की सूचना देता है। उदाहरण के लिए वह ऐसी निष्पत्ति का सकेत करता है कि—जो सौष्ठववाद है उसे वाजपेयी जी ने किया, ऐसा नही, जो वाजपेयी जी ने किया वही सौष्ठववाद है। वाजपेयी जी की जितनी सभव विशेपताए हैं उनमे एक के बाद-एक सौष्ठववाद को घटित करने का और अर्थ ही क्या हो सकता है? दूसरा अर्थ तो हम तव समझते जब सौष्ठववाद नाम की निश्चित रूपाकार वाली कोई वस्तु पहले से होती अथवा, यदि वह नया प्रयोग है तो, सौष्ठव शब्द मे अर्थ की इतनी क्षमता होती कि जो कुछ उसमे बतलाया गया है वह सब उसमे समा सके। अभी तो उसकी स्थिति ऐसी है जैसे किसी निर्धन को दान मे हाथी मिल गया हो।

ऐसे शब्दो के प्रयोग के कारण ही समीक्षा का वह मूल गुण उभर कर नही आता जिसे हमने सृजनशीलता कहा है। अपनी सुविधा के लिए और ऐतिहासिक सदर्भों से युक्त करने के लिए कुछ कहना यदि आवश्यक है तो अधिक तात्विकता के साथ वाजपेयी जी को हम स्वच्छदतावादी समीक्षक कह सकते है। उनकी भूमिकाओ को देखते हुए यह शब्द इतना उभरा हुआ है कि उसे छोडकर नामकरण की समस्या से व्याकुल धरती-पाताल एक कर देने का प्रयत्न चमत्कारपूर्ण लगता है। स्वच्छदता का मौलिक अर्थ रूढ पद्धतियो का परित्याग करके अपनी अनुभूति और चिंतन के सहारे विकास की नई दिशाओ मे चलने का सकल्प और प्रयत्न है। बहुत अशो मे वह रूढ शास्त्रीयता के विरोध मे जन्मी। उसने कवि के अपने अनुरूप सृजन का अधिकार स्वीकार करते हुए विद्रोहपूर्वक नवयुग की चेतना का प्रतिनिधित्व किया। कहा गया है कि स्वच्छन्दतावाद कला का आदोलन उतना नही था जितना जीवन का आदोलन था। ऐसी विशेपताए किसी 'रसवाद' या 'सौष्ठववाद' मे कैसे समाहित हो सकती हैं? और वाजपेयी जी के कार्य मे यही विशेपतायें प्रमुख हैं। प्राचीन मान्यताओ का बोझ फेंक कर नवीन जीवन और नवीन काव्य के अथाह मे डूबने या तरने के लिए उन्होंने स्वय को निर्विकल्प फेंक दिया। यह केवल उनके युग या उनके समीक्षा-कार्य की विशेपता नही, यह उनके व्यक्तित्व का मर्म है।

वाजपेयी जी के निबन्धो मे इस स्वच्छन्दतावादी या सृजनशील नयी समीक्षा-पद्धति एव उनके द्वारा विवेचित रसादि सिद्धान्तो का परस्पर-सम्बन्ध अध्ययन के योग्य है। हम देखेंगे कि यह नवीन समीक्षा-दृष्टि सस्कारक है और प्राचीन सिद्धान्त सस्कार्य। प्रथम 'दृष्टि' है, अन्य उसके द्वारा प्रकाश्य, स्वय दृष्टि नही। यह स्वच्छदतावादी समीक्षक का प्रामाणिक परिचय है। यहाँ हम स्पष्ट कर

देना चाहते है कि वाजपेयी जी को स्वच्छदतावादी कहने का आशय यह नही है कि वे केवल स्वच्छदतावादी कवियो के समीक्षक है अथवा तथाकथित स्वच्छदतावादी काव्य को वे जातिभेद की भारतीय प्रथा के अनुसार जन्मना काव्य की अन्य शैलियो के शीर्ष पर आरूढ करते है। प्राचीन काल मे जिस प्रकार रसवाद के अन्तर्गत श्रेष्ठ और निम्न दोनो कोटियो के काव्य को रचना की गई, उसी प्रकार स्वच्छदतावादी काव्य मे भी उत्कर्ष और अपकर्ष के अनेक स्तर है। इसीलिए समीक्षक का कार्य किसी 'वाद' की दुहाई न देकर कृति के उत्कर्षापकर्ष का विवेचन करना होता है। अपनी समग्रता मे सम्पूर्ण साहित्य के साथ न्याय करना ही उसका आदर्श हो सकता है। अपने समय की शैलियो और प्रवृत्तियो से गहन विनियोग यदि उसकी सजीवता का प्रमाण है तो प्राचीन काव्य की शैलियो तथा प्राचीन कवियो के अपने काव्यादर्शों का अध्ययन करते हुए उनकी सौष्ठवभूमियो को परखने की चेष्टा करना उसके कला-सवेदन की व्यापकता तथा ऐतिहासिक-सास्कृतिक अर्जन से विच्छिन्न न होने का प्रमाण है।

लोग प्रश्न कर सकते है कि तब 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक' का अर्थ क्या है ? एक उत्तर है कि कोई अर्थ नही। यह ठीक भी है। साहित्यिक समीक्षक बस साहित्यिक समीक्षक होता है। ठीक होकर भी यह उत्तर अधूरा है। पूरा वह तब होगा जब ऐतिहासिक सदर्भो की सूचना भी उसमे मिले। नितान्त देश-कालातीत स्थापनाए तत्वचिंतन का शिखर छू सकती हैं, पर व्यावहारिक बोध से जरा दूर ही रह जाती है। हम कहेंगे कि जैसे कोई रसवादी नवीन काव्य को भी प्राचीन दृष्टि (या रूढ़ि) से देख सकता है (क्योकि वह 'दृष्टि' कहा), उसी प्रकार आधुनिक समीक्षक या चिंतक अपनी नयी दृष्टि से प्राचीन काव्य को भी देख सकता है। बस यही अतर है। किन्तु यह गहरा अतर है। रसवाद भी किसी समय सृजन था। वह उन मनीषियो का सृजन था जिन्होने उसके आकार मे अपनी काव्यानुभूति या काव्य-सवेदन का रूपायन किया था; किन्तु वह हमारी जीवन-प्रक्रिया का परिणाम या हमारा सृजन नही है। हमारे सृजन की भूमि हमारा परिवेश, हमारी जीवन-प्रक्रिया एव तज्जन्य हमारी चेतना है। इस भूमि को हम प्राचीनो की उच्छिष्ट वस्तुओ के प्रेतनाट्य से स्थानापन्न नही कर सकते। इसका अर्थ क्या प्राचीन से निरन्तर टूटते जाना हुआ ? नही, तब मनुष्य का विकास कहा ? परन्तु प्राचीन को बोझ की तरह पीठ पर लादे चलना भी तो विकास नही है। विकास तब होता है जब अपनी जीवनानुभूति से स्पदित चेतना मे हम समस्त प्राचीन को अनूदित कर लेते हैं, अर्थात् सृजन करते हैं। सृजन की इस भूमिका पर प्राचीन और नवीन आत्यन्तिक भेद नही रह जाते। स्वच्छदतावाद से आरम्भ होनेवाले कार्य की परिणति की दशा मे इसे समझना चाहिए।

वाजपेयी जी के पूर्ववर्ती और परवर्ती कार्य मे अतर दिखाई देता है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' उनके महत् आत्मदान और उत्सव का क्षण है।

उसकी ऊर्जस्विता उस वाहिनी के समान है जो अवरोधों से क्षुब्ध होकर केवल उन्हे ढहाती नही, प्रत्युत इस कार्य मे एक उन्मत्त उल्लास का अनुभव करती हुई, शत-शत प्रपातो की वन्य गिरा मे द्रुतभैरव गान गाती हुई, पग-पग पर वेग के अपने ही प्रतिमान का उल्लंघन करती है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' एक सफल चुनौती, एक नवीन स्थापना, एक मर्मगामिनी समीक्षा तो है ही, वह लेखक का निगूढ आत्मनिवेदन भी है। उसकी 'विज्ञप्ति' मे आधुनिक साहित्यिक इतिहास का सूक्ष्म चित्रपट है, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्बन्धी निबन्धो मे द्विवेदी-युग की उपलब्धियो और सीमाओ का आलेख है, रत्नाकर पर लिखित निबन्ध मे प्राचीन और नवीन की विभाजक रेखा का सूक्ष्म निदर्शन है, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी विषयक निबन्धो मे एक सम्पूर्ण युग के काव्योत्कर्ष का, एक अभिनव बसन्त की पुष्पराशि का, सशक्त और सानुभूति उन्मीलन है, शेष निबन्धो मे कथा साहित्य और काव्य के उस समय लिपिबद्ध होते हुये कुछ पृष्ठ निरूपित हैं। वह इतिहास ग्रंथ नही है, फिर भी आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिविधि का एक संकेतगर्भ मानचित्र उपस्थित करती है। इतिहास की प्रक्रिया से प्राणान्वित और प्रकाशित होते हुये वह स्वयं हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक बहुमूल्य अध्याय बन गई है। हिन्दी-समीक्षा-जगत् मे यह पुस्तक अपने ढंग की आज भी अकेली है।

उन्मेष का वातावरण व्याप्त होते हुए भी 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि पर आश्रित विश्लेषण के द्वारा काव्य और साहित्य मे उत्कर्ष की भूमियो, वहाँ पहुचने मे व्याघात उपस्थित करनेवाली कवियो और लेखको की मौलिक सीमाओ एवं महानता के शिखर के समीप पहुचकर रुक जाने वाली शिल्प की गतियो का प्रामाणिक परिचय देती है। प्रसाद मे उत्कर्ष का कारण अपनी केन्द्रीय अनुभूति मे सब कुछ पचाकर निरन्तर विकसित होते हुए एक समग्र व्यक्तित्व और समग्र जीवन-दर्शन मे परिणत हो सकने की क्षमता है। अनुभूति और विचारण-का पार्थक्य उनमे किसी स्थिति पर नहीं हुआ। इस एकाग्रता और सघनता को केन्द्र मे रखते हुए वाजपेयी जी ने उन अंत सूत्रो के आधार पर उनकी उत्तरोत्तर विकास-स्थितियों का निरूपण किया जो उत्कर्ष की दृष्टि से उनके प्रारंभिक और परवर्ती काव्य मे इतना चमत्कारपूर्ण अंतर उपस्थित करते हैं। निराला मे दार्शनिक चेतना की वह ऊर्जा निदर्शित है जो स्वयं काव्य बन जाने मे समर्थ थी। उनमे उत्कर्ष की भूमियाँ शृंगार-चित्रण मे भी प्राप्त उनके व्यक्तित्व की निस्संगता और वस्तुमूलक रूपायन मे घटित होनेवाली उनकी सचेत शिल्पनिष्ठा पर आश्रित करते हुए यह निष्कर्ष है कि कलापक्ष की उपेक्षा करके उद्गार को ही कविता समझने वाले कवियो को (जो स्वच्छन्दतावाद के युग मे स्वभावत. विद्यमान थे) निराला जी ने श्रेष्ठ काव्य के संतुलन की शिक्षा दी। शब्द-चयन और कल्पनाओ का

सौन्दर्य होते हुए भी व्यापक भूमिका पर न उठ सकने वाली वैयक्तिक अनुभूतियो के कारण उत्कर्ष के समीप पहुचकर भी उससे वचित रह जानेवाली पन्त जी की कविताओ के विश्लेषण के साथ इस दुर्बलता से मुक्त हो जाने पर 'परिवर्तन' का उत्कर्ष निरूपित है। उनकी कल्पनाओ की शक्ति प्राचीन कवियो के स्थूल फोटोग्राफ की तुलना मे उनके सयोग श्रृगार के परिष्कार मे प्रमाणित है।

समीक्षा के लिए उक्त कवि उस समय नये ही थे। उन्हे अपने अधिकारी पद पर स्वीकार करना आवश्यक था। द्विवेदीयुगीन प्रतिष्ठाओ के अतिमूल्यन को सयत करने की भी उतनी ही आवश्यकता थी। अत मैथिलीशरण गुप्त के सविस्तृत इतिवृत्तो मे उत्कर्ष की सम्भावनाओ का पारिवारिकता और पद्धतिबद्ध भावुकता से परिसीमन विवेचित है, प्रेमचन्द के उपन्यासो मे इतिवृत्त की बोझिलता और प्रतिनिधि पात्रो से ऊपर वास्तविक व्यक्ति के सृजन की अक्षमता से उत्पन्न उत्कर्ष-सीमा का स्पष्टीकरण है, अपने नैतिक प्रतिमानो और एक रामचरितमानस से उत्थित समीक्षा पद्धति के आग्रह से शुक्ल जी जैसे समीक्षक की मर्मज्ञता बाधित होने के प्रकरणो का उद्घाटन है।

शिल्प की दुर्बलता किस प्रकार उत्कर्ष की पूर्णता मे बाधक हो सकती है इसका निदर्शन वाजपेयी जी ने अन्यत्र प्रकाशित 'गोदान' की समीक्षा म किया है। एक महान् उपन्यास की सम्पूर्ण सामग्री उसमे है और उसकी मुख्य दिशा भी तदनुरूप है। किन्तु एक तो इतिवृत्त का अनावश्यक विस्तार उसकी भाव-सघनता को न्यून करता है और दूसरे नागरिक जीवन के प्रसग उसकी मुख्य वस्तु मे समन्वित न होकर एक स्वतत्र उपन्यास की दिशा मे अग्रसर हो गये हैं। परिणामत यह रचना महानता के शिखर को छूते छूते रह जाती है।

वाजपेयी जी साग्रह स्मरण दिलाते हैं कि 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' पुस्तक न होकर एक निबन्ध-सग्रह मात्र है। इसका आशय यह सूचना देना है कि उसका प्रत्येक निबन्ध स्वतन्त्र और स्वय मे सम्पूर्ण है, किसी बडी पुस्तक का अध्याय नही। किन्तु, व्यापक आलोचना निबन्ध के माध्यम से भी की जा सकती है। जो वह विस्तार मे होता है उसे तीव्रता और घनत्व मे पुन प्राप्त कर लेना है। ये निबन्ध समीक्षा तो हैं ही, वैयक्तिक निबन्धो या ललित निबन्धो की एक शृखला भी हैं। इस दृष्टि से पढने पर भी इसके स्वारस्य मे कोई बाधा नही। समीक्षा उनकी वस्तु है और निबन्ध स्वरूप। 'निबन्धात्मक आलोचना' का नमूना उन्हें हम कह सकते हैं। निबन्धकार व्यक्तित्व और समीक्षक कृतित्व का अविभाज्य समागम उनमें हुआ है। वाजपेयी जी की यह विशेषता 'प्रसाद की एक झलक' जैसे निबन्धो मे भी मिलती है। यह सस्मरण है, परन्तु इसकी भावशासित प्रक्रिया मे भी चिंतन और समीक्षा की क्रियाए नही छूट पाई। इन कारणो से वाजपेयी जी की समीक्षा को सृजनशील कहना और भी उचित प्रतीत होता है।

वाजपेयी जी के परवर्ती कार्य मे एक स्तर वह है जिसमे हिन्दी के आधुनिक विद्यार्थी की आवश्यकताओ की पूर्ति की गई है। इस प्रकार के निबन्ध न्यूनाधिक मात्रा मे कक्षा मे दिये हुये अभिभाषणो से निर्मित है। द्रष्टव्य यह है कि मौलिक उद्भावनाओं की स्फूर्ति उनमे भी पाई जाती है। वाजपेयी जी चाहकर भी पुनरावृत्ति नही कर सकते, प्रत्येक आवृत्ति मे कोई नया ही क्षितिज खुल जाता है। दूसरे स्तर पर वे निबन्ध हैं जिनमे *छायावाद को व्यापक परिप्रेक्ष्य* मे रखकर देखने का प्रयत्न किया गया है। तृतीय स्तर पर कतिपय मुख्य परवर्ती रचनाओ और हिन्दी साहित्य की सामयिक प्रवृत्तियो की समीक्षा उपस्थित करने वाले निबन्ध हैं। वाजपेयी जी यद्यपि अनेक विधियो और माध्यमो से हिन्दी साहित्य की दैनन्दिन प्रगति से अपना सम्बन्ध बनाये हुये हैं, तथापि चिंतन का परिमाण उनके कार्य मे क्रमश बढ़ता जा रहा है। उनकी परवर्ती रचनाओ का यह चतुर्थ स्तर है। इस स्तर के निबन्ध विभिन्न साहित्यिक सिद्धान्तो के विवेचन का सहारा लेकर मौलिक चिन्तन का आधार बन गये हैं। इनकी रूपरेखा और विशेषता 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' के निबन्धो से बहुत भिन्न है। इनमे ज्योति, है, ज्वाला नही। ज्योति भी कोमल और स्निग्ध है। चिन्तन के लिए ऐसी प्रशान्त मनोभूमि कदाचित् अनिवार्य है। यह समीक्षा-कर्म से पूर्णत या अशत विमुख हो जाना नही है, यह समीक्षक के विकास की सहज परिणति है। यह वह भूमिका है जिस पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। यह भी सृजन है क्योकि मौलिक *चिन्तन, मौलिक वैज्ञानिक उद्भावना, मौलिक काव्य-सृष्टि, सबमे सर्जना* की जो प्रक्रिया विद्यमान है वह मूलत एक है, अन्तर केवल उनकी परिणति के रूपाकार का है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तीनो चिन्तन और सृजन की क्षमता मे सम्पन्न प्रतिभाएँ हैं। सृजनशील समीक्षा कह कर जिस वस्तु का संकेत हमने करना चाहा है उसका निदर्शन इनके और इनके समान मनीषियों के कार्य मे मिलता है। सृजन की प्रवृत्तियाँ और स्वरूप तीनो मे भिन्न हैं किन्तु उद्भावना तीनों की मौलिक शक्ति है। शुक्ल जी स्थापत्य के अद्वितीय शिल्पी हैं। सुनिश्चित अनुबधो से जुडे हुए अगो से एक विराट व्यवस्था की योजना उनके मस्तिष्क की गति का मूल लक्षण है। वे आधुनिक हिन्दी के प्रथम काव्यशास्त्र के निर्माता है। उनके पूर्व दिग्भ्रम है और उनके पश्चात् आलोकित राजपथ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन तीनो मे अधिक कल्पनाप्रवण हैं। केवल दो एक पुरानी ईटो के सहारे किसी विगत शताब्दी, किसी विस्मृत युग, को अपने हास-विलास और उत्सव-अवसाद के साथ रूपायित कर देने मे अपनी क्षमता के वे अकेले हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के खोये हुए पृष्ठ यथासभव अनुसधान के पश्चात् उनके द्वारा इसी प्रकार पुनर्लिपिबद्ध किये गये हैं। आचार्य

नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी सवेदनप्रवणता के द्वारा रचना की सूक्ष्म से सूक्ष्म निहित गतियो के सहयात्री बनने मे सहज अद्वितीय हैं। स्थापत्य के शिल्पी वे नही, विस्मृत अतीत के पावस और वसन्त का मन्त्रबल से आवाहन करने वाले वे नही, वे उस सूक्ष्मग्राहिणी और अविफल सहज मेधा के अधिपति है जो अपनी अजलि के जल मे सूर्य के प्रतिबिंब को पकडकर उसके गोपनतम रहस्य का उद्घाटन कर लेती है। ऐतिहासिक बोध से उनका व्यक्तित्व दीप्त है। शुक्ल जी के स्थापत्य की व्याप्ति मे समय की गतिमानता का परिचय नही मिलता। विस्तार और व्याप्ति वाजपेयी जी के निबन्धो मे केवल निहित तत्व हैं, क्योंकि समय एव अन्य प्रकार की गतियो का उनमे अनवरत प्रवाह है। हिन्दी-समीक्षा को सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध की उस दूरी पर उन्होंने पहुचा दिया है जहाँ से मृत रूढियो के कारागार मे लौटना सम्भव नही।

समन्वयशील आलोचक—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

डा० रामचन्द्र तिवारी एम० ए०, पी-एच० डी०

'सूर' और 'प्रसाद' की प्रसिद्ध समीक्षाओ के अतिरिक्त 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी' तथा 'आधुनिक साहित्य' वाजपेयी जी की प्रौढ आलोचनात्मक कृतिया हैं। वाजपेयी जी ने समीक्षा-सिद्धान्त का कोई पृथक् ग्रन्थ नही लिखा है, फिर भी इन कृतियों के आधार पर उनके सिद्धान्तो का स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी' की भूमिका मे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए आपने आलोचना-सम्बन्धी अपनी सात चेष्टाओ की ओर सकेत किया है। कवि की अन्तर्वृत्तियो का अध्ययन कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन, टेकनीक (शैली) का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन, कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो का अध्ययन, और काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामन्जस्य और सन्देश का अध्ययन। विशेष बात यह है कि इन चेष्टाओ मे ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है। इस प्रकार वाजपेयी जी मूलत कवि की अन्तर्वृत्तियो और कलात्मक सौष्ठव पर बल देते हैं।

वाजपेयी जी का दृष्टिकोण समझने के लिए 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका भी द्रष्टव्य है। इसमे आप पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य—प्रकाशित चार प्रमुख समीक्षा पद्धतियों से बचने की बात कहते हैं—

(१) वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित (फ्रायड, जुग और एडलर से प्रभावित)

(२) समाजवादी समीक्षा (मार्क्सवादी),
(३) कलाविज्ञानवादी पुरानी परम्परा, तथा
(४) उपयोगितावादी या नीतिवादी (आइ०ए० रिचर्ड्स द्वारा उद्‌घाटित)

इस ग्रन्थ मे आपका एक और महत्त्वपूर्ण वाक्य है, जिसका हमे ध्यान रखना होगा। आपने विश्वासपूर्वक कहा है कि 'पिछले पचास वर्षों से हिन्दी-साहित्य की जो मर्यादा बन गई है, उसे हम किसी भी स्थिति मे टूटने न देंगे।'[1] वाजपेयी जी को भारतीय साहित्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान ही नही, सम्यक् बोध भी है। यह उनके 'भारतीय काव्य-शास्त्र का नवनिर्माण' शीर्षक निबन्ध से तथा अन्य प्रयोगात्मक समीक्षाओ से सुस्पष्ट है। 'रस' को आप भारतीय काव्य-शास्त्र का अतरग तत्व मानते हैं। अलकार को सौन्दर्य का उद्‌घाटक तथा वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि को काव्य के अभिव्यजनापक्ष से सम्बद्ध मानते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र के नव-निर्माण के लिये आप इन प्राचीन मान्यताओ को व्यापक अर्थ मे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। साथ ही काव्य-शास्त्र के आधुनिक इतिहासकारो द्वारा प्रयुक्त दो प्रकार की सामग्रियो का आप सन्तुलित उपयोग करना चाहते हैं—एक तो 'युग विशेष की प्रमुख सामाजिक और सास्कृतिक धाराओ का विवरण' और दूसरे 'मुख्य विषय के साथ कला और साहित्य के क्षेत्र मे होने वाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का परिचय।'

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी परिचय के अतिवादो से बचते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्यताओ को समुन्नत एव व्यापक अर्थ मे प्रतिष्ठित करके उसके आधार पर कवि की अन्तर्वृत्तियो का सामाजिक भूमि पर विश्लेषण करना चाहते हैं।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण :—वाजपेयी जी का समीक्षात्मक दृष्टिकोण समझने के लिए उनकी 'सूर' और 'प्रसाद' की प्रयोगात्मक समीक्षायें भी ध्यान देने योग्य हैं। सूर की आलोचना मे आप लिखते हैं "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाती जायें, यह विशेषता हमे कवि सूरदास मे ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग कथात्मक हैं, किन्तु उन कथाओ को भी सजाकर सुन्दर भाव-गीतो मे परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह नही समझ पाते कि कथानक मे भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियो के चित्र देख रहे हैं; अथवा मनोगतियो और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं।" स्पष्ट है कि वाजपेयी जी सौन्दर्य-बोध पर अधिक बल देते हैं। घटना-क्रम तथा स्थिति विशेष को आप पृष्ठभूमि मे उपस्थित करना अधिक समीचीन मानते हैं। कदाचित् इसीलिए आधुनिक कवियो मे 'प्रसाद' आपको

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ५०

सर्वप्रिय हैं। घटनाओ की विसदता उनमें नहीं है। वाजपेयी जी रूप का स्थूल चित्रण भी नहीं चाहते, चेतन चेष्टाओं की झलक देखना चाहते हैं। कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि यदि आचार्य शुक्ल के काव्य सिद्धान्त 'तुलसी' के आधार पर निर्मित हुए हैं तो वाजपेयी जी की मान्यतायें 'प्रसाद' से प्रभावित हैं। प्रसाद जी रसवादी (आनन्दवादी) कलाकार थे। वाजपेयी जी रसवादी समीक्षक, किन्तु प्रसाद जी का 'रसवाद' नैतिकता या स्थूल उपयोगिता का आधार लेकर नहीं चला है। वाजपेयी जी भी नैतिकता का बन्धन स्वीकार नहीं करते। 'सौन्दर्य स्वत शिव है,' ऐसा आपका विश्वास है। इसीलिए आप कहते हैं 'मेरी समझ मे इसका सीधा उत्तर यह है कि महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती।' और सौन्दर्य असत्य तो हो ही नहीं सकता। वह तो चेतना की झलक है। नैतिकता और स्थूल उपयोगिता के आग्रह से वाजपेयी जी को एक खतरा दिखलाई पड़ता है। वे कहते हैं कि 'इसम साहित्य और समाज की विविध ऐतिहासिक स्थितियों और कवियों की रुचि और परिस्थिति से बनने वाले काव्य-व्यक्तियों का आकलन नहीं किया जा सकता।'[१] अपनी इसी मान्यता के कारण आपने आई० ए० रिचर्ड्स तथा उनके समर्थक आचार्य शुक्ल दोनों से अपना पथ अलग कर लिया।

वाजपेयी जी के विषय मे कहा गया है कि 'यह बतलाना कि उनका अमुक दृष्टिकोण पर आग्रह है कठिन है, क्योंकि उनका स्वय का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है।'[२] वस्तुत. ऐसी बात नहीं है। कलाकारों के विषय में उनकी धारणायें अवश्य बदली हैं, किन्तु उनकी आलोचना का मानदण्ड नहीं बदला है। उसमे गहराई आ गई है। वे सच्चे भावक हैं। सौन्दर्य के प्रति उनका आग्रह पहले भी था और आज भी है। प्रेमचन्द की आलोचना मे उन्होंने कहा है, 'इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझ कर निकाल देना चाहते हैं। 'सत्य' और 'सुन्दर' पर्याप्त हैं।'[३] वाजपेयी जी न तो प्रभाववादी आलोचकों की भांति हृदय की क्षणिक प्रतिक्रिया को आलोचना मानते हैं और न वादग्रस्त प्रचारों को। उनका विश्वास है कि 'सुन्दरतम साहित्यिक रचनाओं मे सार्वजनिकता होती है, युग का प्रतिबन्ध या वाद का वितंडा नहीं होता। यह असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों तथा प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव पड़ता है। ये दोनों मत नितान्त विरोधी नहीं हैं।'[४] अपनी इन्हीं मान्यताओं को लेकर आप आगे बढ़ रहे हैं।

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ५३

२ समीक्षा की समीक्षा, पृ० २३६

३ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १११

४ आधुनिक साहित्य, पृ० २८२

समीक्षा शैली —शैली की दृष्टि से आपकी समीक्षा व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक है। आपके विवेचन मे गहराई, संयम एव शालीनता है। कही-कही आप किसी कृति के सम्बन्ध मे नवीन बातो का उल्लेख करते समय क्रमश नम्बर देते हुए पहली, दूसरी, तीसरी, विशेषताओ का उल्लेख करते है। यह पद्धति अपने को पूर्णत स्पष्ट करने के लिए ही अपनाई गई है। शुक्ल जी की तरह आप किसी एक तथ्य को सूत्र रूप मे उपस्थित करके उसकी व्याख्या नही करते वरन् बराबर एक के बाद दूसरे तथ्यो का उल्लेख करते जाते है। व्याख्या को पूर्ण एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आप तुलना का आधार भी ग्रहण करते है। 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आप 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी से उसकी तुलना कर जाते है। प्रसाद की आलोचनाओ मे कही-कही अधिक रस मग्न हो जाने के कारण आप आह्लादित से हो जाते है और प्रभाववादी आलोचना की झलक-सी आ जाती है। 'सूर' की आलोचना मे भी यह स्थिति कही-कही आ गई है, किन्तु बहुत कम। वैसे वाजपेयी जी ने इस प्रकार की आलोचना की निन्दा की है। वे कहते हैं, "जिन्हे छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठ-पोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिलकुल कोरे थे। वे समीक्षक नाम धारी अपना स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने मे लगे हुए थे, जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठको का भावुक दल उन्हे समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था।"[1] कही-कही अपनी आलोचनाओ मे आवाञ्छित स्थल आ जाने पर आप आवेश मे आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न कर जाते हैं। 'शेखर एक जीवनी' की आलोचना मे आप कहते हैं—

"शशि दुखिनी है, शेखर दुखी है। शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रित हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। सस्कार के लिए ? समाधान के लिए ? शान्ति के लिए ? नही, आत्म-प्रवचना के लिए, विषाद-तृप्ति के लिए, अह पूर्ति के लिए।"[2]

यथास्थान वाजपेयी जी व्यग्य करने से भी नही चूकते। प्रसाद जी के कुछ आलोचको पर व्यग्य करते हुए आपने लिखा है "हमारे विश्वविद्यालयो के गम्भीरता-वादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तो का सग्रह करने मे महाराज दश की लक्षणा का लक्ष्य-भेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान बछुए के मुँह के समान सदैव काया-प्रवेश ही किए रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बडे हिस्सेदार हैं।"[3]

१ जयशकर प्रसाद, भूमिका, पृ० ३
२ आधुनिक साहित्य, पृ० १८४
३ जयशकरप्रसाद, पृ० ७०

भाषा —वाजपेयी जी की भाषा पूर्ण सयत तथा गम्भीर है। उसमे सूक्ष्मताओ के ग्रहण की अद्भुत शक्ति है। वाक्यो मे विचार गुम्फित रहते हैं। आवश्यकतानुसार आप अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग भी करते है, किन्तु उसके समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू के शब्द ढूँढने पर भी नही मिलते। जहाँ कोरे तथ्यो का उल्लेख करना होता है, वहाँ वाक्य बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं, जहाँ भावो का प्रवाह रहता है, वहाँ वाक्य बडे हो जाते है।

वस्तुत, शुक्ल जी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे अनेक वादो से बचते हुए भारतीय रसवादसम्मत सौष्ठववादी समीक्षा की स्थापना मे वाजपेयी जी सर्वश्रेष्ठ हैं। गुलाबराय जी के उदार दृष्टिकोण ने सौन्दर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था, किन्तु एक तो वे शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे, अत उसके पृथक् मानदण्ड की स्थापना न कर सके, दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र मे उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ। साहित्य के वर्तमान गत्यवरोधो मे इसकी क्या स्थिति होगी ? यह तो भविष्य ही बता सकता है।

●

भारतीय काव्य-सिद्धांत और आचार्य वाजपेयी

—डा० राममूर्ति त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०

'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा' प्रस्तुत करते हुए आचार्य वाजपेयी ने यह लक्षित किया है कि पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने अपने साहित्यालोचन की परम्परा का जैसा क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है, वैसा प्रयास अपने साहित्यालोचन की परम्परा के उल्लेख में आधुनिक भारतीय विद्वानों ने नहीं किया। दृष्टिभेद के कारण इस प्रकार के कार्य की आशा आधुनिक भारतीय विद्वानों से ही करना युक्तियुक्त है। दृष्टिभेद से हमारा अभिप्राय है, पूर्णतावादी और अपूर्णतावादी या विकासवादी दृष्टिकोण। निश्चय ही इस दिशा में प्रयत्नशील आधुनिक विद्वानों में कदाचित् पहला वैज्ञानिक प्रयास डा० डे का है। हिन्दी में यह श्रेय आचार्य वाजपेयी को और मराठी में डा देशपांडे को प्रमुख रूप से दिया जा सकता है। यों तो इतिहास अनेक लिखे गये हैं, परन्तु उनमें व्यक्त प्रयास विशिष्ट प्रकृति का है, संश्लिष्ट प्रकृति का नहीं।

डा० डे ने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा प्रस्तुत करते हुए क्रम विकास के जो चरण निष्कर्ष रूप में निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं—Formative stage, Creative stage, Definitive stage, एवं Scholastic stage इसी संदर्भ में आगे चलकर प्राग्ध्वनि, ध्वनि एवं पश्च ध्वनि जैसे तीन खण्डों में भी उसे विभक्त किया है। आचार्य वाजपेयी ने अपनी प्रस्तावित रूपरेखा में विकास के जो चरण निर्धारित किये हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) उद्भवकाल या निर्माण काल, (२) अन्वेषण या विदग्ध विवेचन का युग, (३) काव्य तत्वचिंतन का वास्तविक युग, (४) समन्वय युग पांडित्य युग, (५) विघटन और विकलन का युग और (६) आधुनिक युग (नवजागरण काल)। इस विभाजन के अतिरिक्त आचार्य वाजपेयी ने आलोचक समष्टि के अन्तर्जगत् की साहित्यशास्त्रीय विवेचन सम्बन्धी प्रक्रिया को ध्यान में रखकर अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के अनुरूप भी साहित्या-

लोचन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का विकासक्रम निर्धारित किया है। सैद्धातिक पक्ष की दृष्टि से उन्होने तीन चरण बताये है—(१) अन्तरग (रस) तत्त्व और उसके भावन-पक्ष का प्राधान्य, (२) उपेक्षित सर्जन-प्रक्रिया मे रूपयोजनात्मक मानस-सृजन-प्रक्रिया तथा (३) अभिव्यजना की स्थिति। पहले मे रस, दूसरे मे अलकार और तीसरे मे रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि की स्थिति मानी है। इसी सदर्भ मे समुद्रबध के वर्गीकरण से उक्त विवरण की तुलना भी प्रस्तुत की है। डा देशपाडे के अनुसार 'रस' को केन्द्र मे रखकर नाट्य-पक्ष से उसके विभावक रूप मे जहाँ एक ओर अभिनय की चर्चा की गई, वहाँ श्रव्यकाव्य के पक्ष से रस का विभावन करने वाले उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्वो का अनुसधान होता गया—जिनमे से कुछ रस के स्वरूपाधायक और कुछ उत्कर्षाधायक धर्म थे। वस्तुत, काव्य-पक्ष से विचार करने वालो ने काव्यात्मक शब्दार्थ का शास्त्रीय शब्दार्थ से व्यावर्तक धर्म 'सौंदर्य' पाया। भामह से रुद्रट तक के किये गये प्रयासो से क्रमश यह स्थापित किया गया कि सौंदर्य 'रस' मे है और शब्दार्थो से रसनिष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस पर ध्वनिकार ने विचार किया। इस प्रकार रस को ही केन्द्र मे रखकर नाट्य-पक्ष और श्रव्य पक्ष से प्रवाहित होती हुई विभिन्न धाराएँ ध्वनिसम्प्रदाय मे एकाकार हो उठी।" अत देशपाडे ने जो विकास का सविस्तार अध्ययनपूर्वक प्रतिपादन किया है, उससे ये चरण निर्धारित हुए हैं—(१) क्रियाकल्प, (२) काव्यलक्षण, (३) काव्यालकार, (४) साहित्य तथा (५) साहित्यपद्धति। आचार्य वाजपेयी की भाति स्वसम्मत विकास की रूपरेखा निर्धारित करने में समुद्रबध को इन्होने भी उद्धृत किया है। इस प्रकार आपातत पृथक् प्रतीत होते हुए काव्य सिद्धातो मे एक अन्त स्थित सम्बन्ध-सूत्र ढूढ निकालने के ये ही प्रमुख प्रयास हैं। अन्य कुछ विद्वान् भी हैं, पर उन लोगो ने इस सम्बन्ध-सूत्र का उद्घाटन न कर उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण मात्र किया है।

इस सन्दर्भ मे आचार्य वाजपेयी जी के प्रयास की कई विशेषताएँ उद्घाटित होती हैं। यह सही है कि डा डे अथवा देशपांडे ने अपने निष्कर्ष पर पहुचने से पहले आधारभूत सामग्री का विशद अध्ययन भी प्रस्तुत किया है, पर आचार्य वाजपेयी के स्वच्छदतावादी समीक्षक मानस का सघटन उन्हें बाह्य वस्तु-विवेचन की अपेक्षा अन्तर-विश्लेषण की ओर कहीं अधिक रुचि के साथ प्रवृत्त करता है। यही कारण है कि विभिन्न सिद्धान्तो के अन्त सम्बन्ध का बहुत ही आकर्षक उद्घाटन हो सका है। दूसरी विशेषता इस उद्घाटन की यह भी है कि उनके प्रयास के मूल में आग्ल साहित्यालोचन की समृद्ध ऐतिहासिक परम्परा के गहन अध्ययन और तज्जनित सस्कार से निर्मित निर्मल पैनी दृष्टि विशेष सक्रिय है। इसीलिए वे साहित्यालोचन-प्रवण समष्टि-मानस के क्रमिक आतरिक व्यापार का मार्मिक उपस्थापन कर सके हैं। कवि मानस का प्रथम व्यापार भाव से उमग उठना है, द्वितीय

व्यापार अखण्ड व्यापार की हृदयान्तर सक्रान्ति के निमित्त कल्पना में सखण्ड म्प-योजना है और फिर वाह्य अभिव्यक्ति की चरम स्थिति आती है। इसी क्रमिक प्रयास के फलस्वरूप रसवाद, अलकारवाद, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिवाद की प्रतिष्ठा होती है। डा डे की विवेचना मे प्रभूत अध्ययन पर आधारित वैज्ञानिक वर्गीकरण उपलब्ध है, पर सिद्धान्तो म स्थित साहित्यिक सम्बन्ध का ऐसा सूक्ष्म उन्मेष नही है। श्री देशपाडे ने साहित्य सिद्धान्तो की विभिन्न धाराओ में जो सम्बन्ध-सूत्र प्रदर्शित किया है, वह अविरोधी क्रमिक विकसित रूप है—रस को केन्द्र म रख कर नाट्यपक्ष एव काव्य-पक्ष स उस सम्बन्ध-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। डा डे एव अन्यान्य लोगो ने इन सिद्धान्तो को पारस्परिक विरोध मे गतिमान या धावमान बताया है। आचार्य वाजपेयी का अभिमत है कि काव्य के भावन और निर्माण-पक्ष से किये गये विचारों के वे सहज परिणाम हैं। इन तीनो विचारको म से दो, देशपाडे की इस विचारधारा के अनुरूप नहीं है कि एकमात्र इसको ही केन्द्र मे रखकर विभिन्न सिद्धात प्रवाहित हुये हैं। मेरा भी विचार इसी पक्ष का है और ऐसा होने का कारण यह है कि जब स्पष्ट रूप में वामन, कुतक आदि रीति और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कह रहे हैं, तो उस पर धूल किस प्रकार डाली जा सकती है? दूसरे रस को कान्तिगुण का स्वरूप मानकर भी 'कातिमती-गौडीया' का अतत्वभूत कहने वाला वामन रस को केन्द्रीय वस्तु किस प्रकार मान सकता है? आचार्य जी के विवेचन की एक और बडी विशेषता यह है कि उसमे सिद्धान्तो का पारस्परिक सम्बन्ध विरोधात्मक प्रवृत्ति के द्वारा नहीं, बल्कि साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। साहित्यिक प्रकृति यह कि पहले सम्भवत भारतीय आचार्यों ने काव्य के भावन-पक्ष पर बल इतना दिया कि निर्माण-पक्ष उपेक्षित-सा हो गया। अत निर्माण-पक्ष से विचार आरम्भ हुआ और तरह-तरह के सिद्धान्त क्रमिक रूप से विकसित होते गये।

उपर्युक्त तीनो आचार्यों के द्वारा निर्धारित साहित्यालोचन की ऐतिहासिक प्रगति के विभिन्न चरणो की जहाँ तक बात है, बहुत दूर तक वे मिलते-जुलते से हैं। फिर भी, जहाँ डा. डे एव डा देशपाडे ने विकास के चरणो की सीमा पण्डितराज तक ही सीमित रखी है, वहाँ पण्डित जी ने दो चरण और आगे के दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय समीक्षाधारा अभी प्रवहमान है। तीनो का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए उसे हम यो रख सकते हैं—

डा डे	आचार्य वाजपेयी	डा देशपाडे
Formative Stage	उद्भव या निर्माण युग (भरत तक)	क्रियाकल्प
Creative Stage	भामह से मम्मट तक अन्वेषण विदग्ध विवेचन युग	काव्य लक्षण काव्यालकार

Definitive Stage	काव्य तत्त्व चिंतन युग	साहित्य
Scholastic Stage	समन्वयी युग	साहित्य-पद्धति

विभाजन या वर्गीकरण के मूल म निहित जिन दृष्टियों का ऊपर उल्लेख *किया गया है, वही इनमे भासित वैषम्य का मूल है। डा डे की दृष्टि वैज्ञानिक है–* मूलभूत सामग्री के अध्ययन के आधार पर बनी है। आचार्य वाजपेयी का उससे विरोध नही है, फिर भी उसी चीज को इन्होंने ज्यादा साहित्यिक ढग से प्रस्तुत किया है। इन्होंने रस के विरोध मे अल्कारवाद आदि का उन्मेष हुआ–इस पद्धति को ग्रहण नही किया। विपरीत इसके और गहराई मे जाकर, यह स्थिर किया कि *काव्य के भावना-पक्ष पर अतिरिक्त बल देने के फलस्वरूप यदि रस-सिद्धात आया,* तो उस सन्दर्भ मे उपेक्षित निर्माण पक्ष पर बल देने से शेष सिद्धात आविष्कृत हुये। डा देशपाडे की दृष्टि की असारता का विचार ऊपर किया जा चुका है। पडित जी की निम्नलिखित वर्गीकरण प्रक्रिया भी नितात साहित्यिक और मार्मिक है—

किन्तु यह सब 'पश्चिमी दृष्टि' से है, 'भारतीय दृष्टि से नही। यद्यपि ज्ञान के क्षेत्र मे पडित जी का स्वच्छन्द व्यक्तित्व पूर्व एव पश्चिम की सीमा से ऊपर उठा हुआ है और वे इसे ही पसन्द करते हैं। दूसरी बात यह है कि पडित जी स्थूल ऐतिहासिक ब्योरो मे न पड कर साहित्यिक और आन्तर विश्लेषण की ओर कही अधिक उन्मुख रहते हैं।

भारतीय चिंतन को पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र के गहन अध्ययन और मनन से जनित निर्मल दृष्टि से देखकर जो अपना मत प्रकट किया है, वह एक व्याख्याकार का नही, मौलिक चिन्तक का है। 'रस की नई व्याख्या' का भी महत्त्व इस दृष्टि से कही ज्यादा है। यही बात उक्त वर्गीकरण के भी सम्बन्ध मे कही जा सकती है।

Thesis, Antithesis एव Synthesis जैसा वर्गीकरण भी 'पश्चिमी दृष्टि' को ही सूचित करता है। यह पश्चिमी दृष्टि ही है कि समस्त आतर सर्जन-प्रक्रिया को 'रूपयोजना' तक ही सीमित रखा गया है और उसे 'अलकार' से अनतिरिक्त बताया गया है, अथवा, यह कहा जा सकता है कि रूप पक्ष के ही आपेक्षिक महत्त्व पर बल दिया गया है।

हिन्दी के अन्य मनीषियो ने ऐतिहासिक नही, सिद्धान्तो के वर्गीकरण पर अवश्य विचार किया है। शुक्ल जी ने रस के अग रूप मे ही अन्य सिद्धान्तो की चर्चा की है। प्रसाद जी का आधार ऐतिहासिक नही, दार्शनिक है। वस्तुवादी और आत्मवादी कहने वाले भी भी साहित्यिक से अधिक दार्शनिक है। अन्तरग और बहिरग वाले भी उन्ही के नजदीक हैं। भारतीय दृष्टि यह अवश्य है कि अखड (रस) सखड (रूप) होकर ही दूसरे तक (सहृदय ग्राहक तक) पहुच सकता है, पर मानस म या प्रतिभा मे केवल रूप-योजना नही होती, अपितु अनुरूप शब्द स्फुरण भी होता है। पण्डितराज ने 'प्रतिभा' की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है—'काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति प्रतिभा'—। इस प्रकार जहाँ एक ओर भारतीय दृष्टि से 'रूपयोजना' मे अलकार और अलकृत दोनो है, वही मानस-सर्जन-प्रक्रिया मे वे समस्त काव्योपकरण घटित हैं, जो अभिव्यक्तिकाल मे बाहर आते है। इस स्थिति म उक्त तीन स्थितियो के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तो को रखना और फिर उसे समुद्रबध से मिलाना अनुरूप नही है।

सम्प्रति, उनके द्वारा विवेचित एक-एक काव्य सिद्धान्त को लेना चाहिए।

अलकार सिद्धान्त :

आचार्य जी मानते है कि अलकारवादियो ने जिस अलकार को काव्य की आत्मा माना है, उसका प्रयोग उन लोगो ने दो अर्थों मे किया है : (१) काव्य-सौन्दर्य या कल्पना-सौन्दर्य, तथा, (२) कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ सम्बन्धी चमत्कार। पहला अलकार का व्यापक अर्थ है और दूसरा सीमित। पहला उसका अतरग पक्ष है और दूसरा बहिरग। पहले के अन्तर्गत समस्त सौन्दर्य स्रोत (गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस) अतर्भूत है और दूसरे को वक्रतामूलक अभिव्यक्ति प्रणाली के रूप मे स्वीकार करके कतिपय अलकार ही।

जहाँ तक अलकार के उपर्युक्त द्विविध रूप की बात है, उस विषय मे कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। भारतीय दृष्टि से 'अलकार' शब्द के अलकार-वादियो द्वारा कथित द्विविध अर्थों को समझाया जाय, तो कहा जायगा कि उन लोगो ने 'अलकार' शब्द का दो प्रकार की व्युत्पत्तियो के माध्यम से अर्थ किया है—भावव्युत्पत्ति (अलकरणम् अलकार) तथा करण व्युत्पत्ति (अलक्रियतेऽनेनेति

अलकार)। पहली दृष्टि से वह सौन्दर्यपरक अर्थ मे भी प्रयुक्त हो सकता है और दूसरी दृष्टि से व्यापक एव सीमित सौन्दर्य साधन के अर्थ मे। व्यापक अर्थ में समस्त सौन्दर्यस्रोत अलकार होगे तथा सीमित अर्थ मे कतिपय अलकार ही। पण्डित जी ने 'सौन्दर्यपरक' अर्थ को व्यापक और अभिव्यक्ति-प्रणालीपरक अर्थ को तथा समाहित-कल्पनाकृत रूप-सृष्टि को सीमित अर्थ मे अलकार कहा है। Image Making Faculty के रूप मे पश्चिमी दृष्टि कल्पना का कार्य केवल रूप-सृष्टि मान सकती है, और उसी दृष्टि से पडित जी की इस उक्ति की भी सार्थकता है पर यदि काव्यीय-कल्पना का स्थान भारतीय दृष्टि से कारयित्री प्रतिभा ग्रहण कर सकती है, तो उसकी सृष्टि के अतर्गत मूल भाव को हृदयान्तर तक पहुचाने के अनुरूप समस्त उपकरण सन्निविष्ट हैं। इस स्थिति मे केवल अलकार की बात गले के नीचे नही उतरती। यदि यथाकथञ्चित् इस पक्ष को स्वीकार भी कर लिया जाय कि कारयित्री प्रतिभा या कल्पना केवल रूप-सृष्टि ही करती है, तो भी यह विचारणीय है कि क्या समस्त रूप-सृष्टि सीमित अर्थ मे अलकार का पर्याय है ? उस रूप-सृष्टि मे अलकार ही है या अलकृत भाव-व्यजक सामग्री भी ? हाँ, यदि उस *लाक्षणिक अर्थ मे अलकार (कलापक्ष के लिए) कहना अभीष्ट हो*, तो कोई आपत्ति नही। रहा कल्पनाकृत रूप सृष्टि मे—शब्दालकार का अप्रवेश, तो उसे बहिरग मानकर उपेक्षित कर दिया गया हो।

रीतिवाद .

निस्सदेह, पडित जी के इस निर्णय से मैं शतश सहमत हू कि रीतिसम्प्रदाय भी अलकार का ही एक अग माना जा सकता है। काव्य के सर्जन-पक्ष से विचार करने पर मुख्यत दो ही काव्यात्मवादो की स्थिति जो विद्वान् स्वीकार करते हैं, उनसे मैं पूर्णत सहमत हू। जब वामन 'सौन्दर्य' को काव्य का शास्त्रव्यावर्तक तत्व स्वीकार करते हैं और उसे अलकार से अभिन्न तथा एकमात्र अलकार—साध्य मानते हैं, तो उन्हें अलकारवादी कहने मे हमे हिचक ही क्या हो सकती है ? पर यह अलकारवाद रीतिमुखी अलकारवाद है। जहाँ पूर्ववर्ती अलकारवादी समस्त सौन्दर्यस्रोत को अलकार के अन्तर्गत रखते थे, वहाँ ये लोग उन्हे 'रीति' के अतर्गत रखते हैं। रीति को गुणमय मानते हैं और अलकार को गुण की अपेक्षा काव्य का बहिरग तथा अप्राथमिक शोभावर्द्धक (शोभाधायक नहीं) धर्म मानते हुए इतर कतिपय तत्वो को इसी मे (गुण मे) समेट लेते हैं। अस्तु।

रीति का जो स्वरूपगत विकास और ह्रास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसम अनेक आवश्यक ऐतिहासिक तथ्य छूट गये हैं। उदाहरणार्थ रीति का स्वरूपगत विकास प्रान्तीय, वैषयिक और वैयक्तिक जैसी इतिहास-सम्मत भूमियो पर प्रस्तुत नही किया गया। रीतियों की सख्या के विकास और ह्रास के कारणों पर

अनुमान करते हुए पण्डित जी ने जो तर्क दिया है, वह उनके मौलिक चिन्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। उन्होंने बहुत ही सही कहा है कि वामन ने नये-नये नाम साहित्यिक शैलियों के लिए चलाये और उन्हीं की देखादेखी रुद्रट एवं भोज ने भी नये-नये प्रान्तीय नामों से अभिहित कर रीतियों की संख्या बढ़ा दी। इसी प्रसंग में ह्रास के कारण पर जो विचार किया गया है, वह भी कम महत्व का नहीं है। वामन ने पूर्वागत वैदर्भ एवं गौड के अतिरिक्त एक 'पांचाल' नाम भी आविष्कृत किया। साथ ही रीतियों का सम्बन्ध जहाँ एक ओर प्रांतों से स्थापित किया, वहीं दूसरी ओर गुणों से भी। संख्या, प्रांतों की भी और गुणों की भी बढ़ाई। परवर्ती आचार्यों ने प्रांतों से सम्बन्ध हटाकर केवल गुणों (विषय और व्यक्ति से) से जोड़ा, फलतः संख्या घटती गई। अततः तो गुणों से भी रीति का सम्बन्ध समाप्त हो गया। मम्मट तक आते-आते रीति अनुप्रास अलंकार के भेद के रूप में और गुण रस के धर्म में सिमट गया। पण्डित जी के इस अनुमान में भी कुछ सार जान पड़ता है कि रीति और अलंकार सम्प्रदाय के बीच किसी समय स्पर्द्धा रही होगी। रीतिवादियों ने गुण काव्य का अनिवार्य और प्राथमिक शोभाधायक धर्म माना और अलंकार को आनुषंगिक उत्कर्षाधायक धर्म बताया। अलंकारवादियों ने तो नहीं, ध्वनिवादियों ने अवश्य बीस गुणों को भिन्न-भिन्न काव्यतत्वों में अंतर्भूत कर लिया। जयदेव तक अलंकारवादी आचार्य वामन-सम्मत गुणों का पृथक् उल्लेख करता रहा। हाँ, यह अवश्य दिखाई पड़ता है कि अलंकार के अन्तर्गत, गुण की तो कौन कहे, गुण के बाप रीति को भी एक भी शब्दालंकार (अनुप्रास) के भीतर संकुचित कर दिया। पर यह अभी विचारणीय है कि रीति का यह संकोच अलंकारवादियों के प्रयास का फल है या ध्वनिवादियों के विवेचन का आनुषंगिक परिणाम है। ध्वन्यालोककार के विवेचन तक यह दिखाई पड़ता है कि रीति का आधार गुण की जगह 'समास' हो गया था। आगे चलकर कर मम्मट-कृत विवेचन से यह निर्णीत होता है कि तब 'समास' को हटाकर कटु-मधुर एवं मिश्र वर्ण हो गये थे। इस प्रकार आधार के क्रमिक परिवर्तन से वृत्ति एवं रीति-अभिन्न हो गई और रीति अलंकार के एक भेद अनुप्रास—में सिमट गई और सिमट कर 'रस' निष्पत्ति में परम्परया साधक हो गई।

रीति-मत से पृथक् गुण-सम्प्रदाय की बात इधर हिन्दी के विभिन्न मनीषियों ने चला रखी है, लेकिन मुझे कम-से-कम यह ज्ञात नहीं है कि गुण सम्प्रदाय का प्रवर्तक कौन है ?

वक्रोक्ति :

इस मत पर बहुत अच्छे ढंग से विचार किया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम से देखा जाय तो यह मत ध्वनिमत के बाद आता है, पर सर्जनात्मक से

किए गए विचार के फलस्वरूप अलकार और रीतिमत के बाद इसी का क्रम आता है। पण्डित जी ने वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए बहुत ही ठीक कहा है कि वैदग्ध्यभगीभणिति द्वारा कुतक ने रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की सज्ञा देने के पश्चात् उसका विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है। हाँ, प्रभेद की चर्चा करते हुए *वाक्य-वक्रता* की ओर गजनिमीलिका अवश्य द्रष्टव्य है।

ध्वनिमत :

ध्वनि-सिद्धात के उद्भव के मूल मे पण्डित जी इतना ही स्वीकार करना चाहते हैं कि काव्य मे अब तक नाट्य के समकक्ष 'रस' तत्व की मूर्द्धन्य स्थिति स्वीकृत नही थी। ध्वनि-सिद्धांत के द्वारा एक तरफ काव्य का परम प्रतिपाद्य रस को ठहराया गया, तो दूसरी ओर उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई। निस्सदेह, ध्वन्यालोककार की कई पक्तियाँ यह सिद्ध करती है कि वे काव्य मे 'रस' को ही मूर्द्धन्य और परमप्रतिपाद्य मानते हैं और उसके आस्वादन का माध्यम व्यजना या ध्वनन व्यापार स्थापित हैं। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने एक जगह 'काव्य की आत्मा ध्वनि' का प्रतिपादन किया है; तथापि परवर्ती विवेचन पर गम्भीर दृष्टि-निक्षेप से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका मान्य सिद्धात 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ' ही है, जिसका अभिप्राय अभिनव गुप्त ने भी यही लगाया है कि आनदवर्द्धन द्वारा प्रस्तुत क्रौंचवध की घटना के माध्यम से काव्य का इतिहास तथा उक्त उद्धरण काव्य की आत्मा 'रस' को ही सिद्ध करते हैं। एक जगह तो आनन्दवर्द्धन ने यह भी कहा है कि *ध्वनि-स्थापन का इतना विस्तृत ब्योरा देखकर कोई यह न समझे* कि वे ध्वनि को काव्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। वे तो 'रस' को ही काव्य का मूल प्रतिपाद्य मानते है। कहा ही है कि 'रसादिमय एकस्मिन् कवि. स्यादवधानवान्'। इस प्रकार पण्डित जी की यह स्थापना बिलकुल सही है कि आरम्भ मे ध्वनि-सिद्धात द्वारा काव्य मे रस की महत्ता और उसके आस्वादन की प्रक्रिया समझाई गई है। इसी तथ्य को 'जयशकर प्रसाद' मे बडी ही पैठ पूर्वक प्रस्तुत करते हुए आनन्द एव अभिनव के साथ उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वस्तु एव अलकार ध्वनि भी अतत रसपर्यवसायी होने के कारण ही उपचारत. काव्य की आत्मा कहे गये हैं।

पण्डित जी की दूसरी स्थापना यह है कि परवर्ती ध्वनि सम्प्रदायानुयायियो ने ध्वनि एव रस की काव्य मे व्याप्ति की दृष्टि से तारतम्य का भी विचार आरभ किया। इस स्थापना से भी पूर्णतः सहमत हू। स्वय अभिनव गुप्त ने रसाध भट्टनायक की समीक्षा करते हुए सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है कि सर्वत्र काव्य व्यवहारोचित चारुता का भार 'रस' पर ही केन्द्रित नहीं होता; ध्वनि के अन्य प्रभेद भी उदग्र रहते हैं। अन्य उद्ग्रीव तत्व के बावजूद, कवि प्रतिभा का

सरम्भ अन्य होने के बावजूद भी अव्यक्त और अनुद्ग्रीव 'रस' तत्व पर ही काव्य व्यपदेशोचित चारुता का टिकाव स्वीकार करना केवल आग्रह है, विवेक नही। निष्कर्ष यह कि 'रस' की अपेक्षा 'प्रतीयमान' या 'ध्वनि' की व्याप्ति की अधिकता पर अवश्य इन लोगो ने बल दिया। हाँ, इसी प्रसग मे एक तीसरी बात पडित जी ने कही है कि ध्वनि की व्याप्ति की आपेक्षिक अधिकता स्वीकार करने वालो ने ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य एव चित्र काव्य जैसे वर्गीकरण के बीच कही रस का उल्लेख नही किया। यह इसीलिए ठीक भी है कि स्पष्ट रूप से कही 'रस' पर आधारित वर्गीकरण नही है, पर इसलिए विचारणीय भी है कि असलक्ष्यक्रम ध्वनि के रूप मे यहाँ भी उसका नाम है। पण्डित जी की इस स्थापना मे भी सार है कि ध्वनि की आपेक्षिक विस्तृत व्याप्ति मानने वाले केवल एक भेद के रूप मे रस की स्थिति मानने लगे। पडित जी के इस वक्तव्य से भी हम सहमत है कि इन ध्वनि सम्प्रदायानुयायियो ने फिर भी 'रसात्मक वाक्य काव्यम्' के द्वारा 'रस' की प्रतिष्ठा प्रवहमान रखी और उसकी व्याप्ति मानने वालो का सर्वथा लोप नही हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के प्रसग मे 'ध्वनि से सम्बद्ध कुछ रोचक प्रश्न भी खड़े किये गये हैं। "हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी'-मे 'निराला' जी पर लिखते हुए उन्होंने कहा है कि "प्राचीन शास्त्र कहते हैं कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ हैं, पर इस आग्रह को हम हद के बाहर लिये जा रहे हैं, क्योकि ध्वनि और अभिधा काव्य-वस्तु के भेद नही हैं, केवल व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं, जो काव्य-वस्तु को देखते हुए छोटी चीज है"। इन विवेचनाओ मे हमे आनन्दवर्द्धन की छाया दिखाई पडती है। साथ ही, कालिदास के श्री हर्ष से आपेक्षिक महत्व का समाधान मिल जाता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के चौथे अध्याय मे यह स्पष्ट सिद्ध किया है कि ध्वनि-भेद प्रणाली है और अभिव्यक्ति की एक प्रणाली भी है। एक ही वक्तव्य को ध्वनि की विभिन्न प्रणालियो से वर्णित होने के उदाहरण दिये है। दूसरी बात यह कि ध्वनि और अभिधा मे स्वरूपत ध्वनि बडी और अभिधा छोटी है, मै भी नही मानता। केवल ध्वनि और अभिधा के सम्पर्क से कोई चीज छोटी-बडी नही हो जाती, किसी वर्ण्य का महत्व घट-बढ नही जाता। यह तो कहने का ढग है जो वक्तव्य को आकर्षक और अनाकर्षक बना देता है। कालिदास उपमा के कवि हैं, अत उपमा को उन्होने शतश अभिधा मे कहा है और नैषधकार उत्प्रेक्षा सम्राट् है, इसलिए वहाँ उपमा व्यग्य रहती है। यदि अभिधा और व्यजना मे सिद्धातत व्यजना के महत्व को हम बेहद मान लें, तो फिर कालिदास से भी हर्ष बडे कवि हो जाते हैं, पर क्या सहृदय समीक्षक वर्ग इसे स्वीकार करता है ?

'प्रसाद' की कामायनी की विवेचना के अवसर पर पण्डित जी ने ध्वनि के कतिपय प्रभेदो की भी सोदाहरण विवेचना की है, पर वहाँ यह स्पष्ट नही किया

है कि कौन-सी वस्तु और कौन-सा अलकार किस प्रकार ध्वनित हो रहा है ? सभव है, इसके मूल मे उनकी स्थूल विवरण की ओर से विमुख रहने वाली मनोवृत्ति सक्रिय हो। पर यह बात केवल इस कृति के पूर्ववर्ती सस्करण तक ही सीमित है। अपने परवर्ती सशोधित सस्करण मे इस प्रकार के असतोष का अवसर उन्होने नहीं रहने दिया है। उसमे समुचित उदाहरणो एव काव्योचित तथा साहित्यशास्त्र समर्थित विश्लेषण और विवेचन से उस स्थल को अधिक प्रस्फुटित कर दिया है।

रस-सिद्धात

पडित जी ने 'रस-सिद्धान्त' की-परम्परागत व्याख्या और मौलिक व्याख्या-दो प्रकार की व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। परम्परागत व्याख्याओ के प्रसग मे कुछ सशोधन भी प्रस्तुत किये हैं।

जहाँ तक भट्टलोल्लट की व्याख्या का सम्बन्ध है, उत्पत्तिवादी (नायक के पक्ष से) और आरोपवादी (प्रेक्षक के पक्ष से) दोनो ही प्रकारो के अनुरूप उपपत्तिया प्रस्तुत की गई हैं। शकुक का अनुमितिवादी मत भी ठीक-ठीक ढग से सारगर्भित रूप मे प्रस्तुत किया गया है। भट्टनायक के मत को प्रस्तुत करने के लिये बडी ही सुन्दर शैली मे पीठिका प्रस्तुत की गई है। भट्टलोल्लट एव भट्टशकुक की व्याख्या अपर्याप्त बताई गई है। भट्टनायक की अपनी व्याख्या से पूर्व, पूर्वागत व्याख्याओं द्वारा प्राप्त निष्कर्ष से दो बातें इस प्रकार की आ उपस्थित होती हैं कि जिनका उत्तर दिये बिना आगे बढा ही नही जा सकता। पहली बात तो यह कि जो सामग्री मच पर है, उसे प्रेक्षक के भावोद्बोध मे कारण क्यों न मान लिया जाय ? उत्तर है कि मान लिया जाता, यदि उसका नायक से सम्बद्ध रूप मे ज्ञान न होता। परन्तु (अन्य-सम्बद्ध रूप) परकीय बोध एक ऐसा प्रतिबधक है, जिसके कारण इस सामग्री का उपयोग प्रेक्षक के 'आस्वाद'-बोध मे तो नहीं हो सकता। पडित जी ने उन लोगो का तर्क भी बहुत ही ठीक उठाया है, जो यह मानते हैं कि नाटकीय प्रयोगवश एक ऐसा भ्रमात्मक वातावरण तैयार हो जाता है कि प्रेक्षक अपने को नायक से अभिन्न मान लेता है। इस स्थिति मे परकीयबोध का प्रतिबन्ध हट जाता है। पर इस पक्ष मे भी एक अनिवार्य प्रतिबन्ध यह है कि नायक के साथ प्रेक्षक का तादात्म्य हो जाने पर प्रेक्षक की अनुभूति भी नायक की लौकिक अनुभूति-सी सुखात्मक (रसात्मक प्रवृत्ति से भिन्न) के साथ दु खात्मक भी हो सकती है। अत 'तादात्म्य' और 'ताटस्थ्य' का मार्ग छोडकर भट्टनायक ने प्रेक्षकगत अनुभूति के रसात्मक प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिये काव्य के तीन व्यापार कल्पित किये-अभिधा, भावना एव भोग।

भट्टनायक द्वारा आविष्कृत 'भावना' और 'भोग' पर लोगो ने पर्याप्त विचार किये हैं। आचार्य वाजपेयी ने भावना या भावकत्व को 'भाव' का गुण माना

है और बताया है कि यह और कुछ नहीं, बल्कि 'भावना' करने का सामर्थ्य ही है। अपने पक्ष के समर्थन मे भरतनाट्यशास्त्र की उस पंक्ति का आशय भी उद्धृत किया है, जिसमे यह कहा गया है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे, वही भाव है (काव्यार्थान् भावयन्ति-इति भावा)। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि काव्यार्थ रस का-भावक है। इन उद्धरणो और विवेचनो को जोड़कर यदि आचार्य जी का मतव्य स्पष्ट किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि 'भावना' एक व्यापार है और ('भावकत्व' रूप मे) वह 'भाव' का गुण है भावना करने की सामर्थ्य है। भाव मे भावना करने की सामर्थ्य है किस विषय की ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य जी ने कहा है कि भावना का विषय है-काव्यार्थ। अभिनवगुप्त ने भी बिलकुल यही बात कही है कि 'काव्यार्थ' का अर्थ यहाँ 'रस' है, 'काव्य मे वर्णित अर्थ'-नही। इन विवेचनाओ मे स्वाभाविक चिन्तन के माध्यम से पण्डित जी वहाँ पहुच गये हैं, जहाँ अभिनव गुप्त। पर इस प्रसग और विवेचन के सन्दर्भ मे केवल एक ही उक्त वाक्य 'काव्यार्थ रस का भावक' कुछ सगत नहीं लगता। यदि काव्यार्थ का अर्थ, काव्य मे वर्णित अर्थ, लिया जाय, तब तो अवश्य सगति लगाई जा सकती है। पर तब 'काव्यार्थ' भी भावक अर्थात् 'भावन' व्यापार का आश्रय हुआ और 'भाव' को भी भावकत्व या भावना का आश्रय कहा गया है, अत इस भासमान असगति का परिहार किस प्रकार हो सकेगा ? हा, यदि काव्यार्थ का अर्थ काव्य मे वर्णित 'भावात्मक' अर्थ ले लिया जाय, तो सगति लगाई जा सकती है। फिर भी, इस विवेचन के सदर्भ मे 'काव्यार्थ' शब्द का, 'रस' 'भाव' एव काव्य वर्णित 'व्यजक अर्थ', तीनो अर्थों मे प्रयोग करना तो विचारणीय हो ही जाता है। यो 'भावन' या 'भावना' पर इधर डा० नगेन्द्र तथा अन्य विचारको के भी ऐसे बहुरूपी विचार आये हैं कि उन सबके सन्दर्भ मे आचार्य जी के विचारो का मूल्यांकन किया जा सकता है, पर वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय होगा।

'भावना' के अनतर 'भोग' पक्ष की व्याख्या मे भी पण्डित जी ने दार्शनिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से विचार किया है। कतिपय अन्य मूर्द्धन्य समीक्षक काव्य के इस भोगात्मक आस्वाद और तदर्थ अपेक्षित व्यापार दोनो पर अनपेक्षित स्वर तक मनोविज्ञानशास्त्र का सहारा लेने लगे हैं। पण्डित जी स्वय प्रयोग-काल मे पड़े हुए का सहारा दूसरे के निर्णय मे लेना नही चाहते।

परम्परानुसार उन्होंने भोग के दार्शनिक रूप का सक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस क्रिया के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का रस रूप मे उपभोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं—रजस और तमस् विहीन सात्विक मन ही काव्य-रस का भोग करता है। आगे उसी का (पश्चिमी) साहित्यिक दृष्टि से स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है, "इस स्थिति मे सासारिक दृश्य और सवेदनायें

तिरोहित हो जाती हैं। शुद्ध साहित्यिक (कल्पनाजन्य) आनन्द उपलब्ध होता है। यह आनन्द इसीलिये ब्रह्मानन्दसहोदर कहलाता है।

भोग के उपर्युक्त दार्शनिक रूप पर अभिनव की अपेक्षा मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है। मम्मट ने ही कहा है कि 'सत्त्वोद्रेकवशात् प्रकाशमान प्रकाशानन्दमय-संविद् विश्रान्ति' ही 'भोग' का स्वरूप है और इसी भोग द्वारा भाव्यमान स्थायी का आस्वाद किया जाता है। साहित्यिक दृष्टि से उन्होंने इस आस्वाद को वह कल्पना-जन्य आनन्द बताया है जिसमें आस्वाद्य सामग्री के व्यवहारोपयोगी पक्ष और तज्जन्य संवेदनायें तिरोहित हो जाती हैं तथा सामग्रीगत आनन्दोद्रेकानुरूप पक्ष कल्पना-गृहीत होकर काव्यास्वाद का अनुभव करता है। [एडिसन ने भी कल्पना जनित आनन्द की कुछ ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है।] भारतीय दृष्टि से पण्डित जी यह स्वीकार करते हैं कि वह आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है और 'निकष' की भूमिका में भी उन्होंने यह भी कहा है कि इस आनन्द को लौकिक या अलौकिक कहा जा सकता है। पण्डित जी के इस वक्तव्य को कुछ लोग बचाव की कौशलपूर्ण पदावली समझते हैं, पर मैं यह नहीं मानता। इस आस्वाद को इस दृष्टि से 'लौकिक' भी कहा जा सकता है कि लोक में रहने वाले सहृदय उसका आस्वाद करते हैं, पर साथ ही कहीं यह प्रश्न न हो जाय कि अन्यविध लोकगत ऐन्द्रिय अनुभूतियों की क्या संज्ञा दी जाय ? क्योंकि एक ही संज्ञा से दोनों का बोध कराना ठीक न होगा। इसलिए उसकी विलक्षणता द्योतित करने के लिए उसे 'अलौकिक' भी कहना ही होगा। जिस प्रकार केवल 'लौकिक' संज्ञा भ्रामक है, उसी प्रकार केवल 'अलौकिक' संज्ञा भी भ्रामक है। केवल 'अलौकिक' कहने से यह भ्रम पैदा हो सकता है कि रसानुभूति कोई लोकेतर भूमिका की चीज तो नहीं है ? अतः पण्डित जी ने दोनों ही शब्दों का प्रयोग करके दोनों रूपों से होने वाली भ्रान्तियों की जैसे नाकाबन्दी सी कर दी है।

अभिनवगुप्त की रस-व्याख्या को उपस्थित करते हुए उन्होंने भी परम्परागत प्रसिद्धि के अनुरूप यह स्वीकार किया है कि अभिनवगुप्त का भट्टनायक से वैशिष्ट्य महज ही इस बात में है कि जहाँ भट्टनायक भावना और भोग नामक दो पृथक्-पृथक् व्यापार काव्यरसास्वाद के लिये स्वीकार करते हैं वहाँ अभिनवगुप्त इन दोनों के कार्य को एक मात्र व्यंजना-साध्य मान लेते हैं इसीलिए वे अवश्य स्वीकार्य व्यंजना से भिन्न दो नवीन काव्य शक्तियों की कल्पना अनावश्यक मानते हैं। परवर्ती व्याख्याकारों ने एक अन्तर और लक्षित किया है और वह यह है कि भट्टनायक के यहाँ भी जो स्थायी भाव भोग-गोचर होता है वह 'तटस्थ' (नायक) का ही है, प्रेक्षक का अपना नहीं। अतः भट्टलोल्लट एवं शंकुक की भाँति 'ताटस्थ्य' वाला आक्षेप इनके मत में भी सिर उठा सकता है। रसप्रदीपकार ने इसके परिहार के लिये

मीमांसकों के 'विवेकाग्रह' वाला पथ पकड़ा है। पर 'बालप्रिया' कार एवं बालबोधिनी' कार ने साधारणीकरण की प्रक्रिया को ही इस ताटस्थ्य निवारण के लिये पर्याप्त समझ लिया है, अतः इस ताटस्थ्य का उल्लेख करते हुए भी उसके समाधान का अतिरिक्त प्रयास नहीं किया है।

जहाँ एक ओर पंडित जी ने रस-व्याख्या सम्बन्धी इन चार मतों को प्रस्तुत किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने यह भी बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा किया है कि जब लोचन में १२-१३ मतों का और रसगंगाधर में कुल ११ रस व्याख्या से सम्बद्ध मतों का उल्लेख किया गया है, तो क्या कारण है कि उनमें से केवल चार को ही विशेष महत्त्व दिया गया—उन्हीं का लोगों ने केवल या विशेषतः उल्लेख किया ? जब अभिनव गुप्त के अतिरिक्त शेष तीन व्याख्याकारों के मत और लोगों के मतों की ही तरह निस्सार थे, तो इनको भी क्यों नहीं उपेक्षित कर दिया गया ? पण्डित जी का अनुमान है कि इन तीन मतों की आपेक्षिक अतात्विकता भले ही हो, दार्शनिक दृष्टि से इनका महत्त्व भले ही अपेक्षाकृत न्यून, न्यूनतर हो, पर सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से यदि इन व्याख्याओं का महत्त्व पुनः समझने की चेष्टा की जाय, तो ऐसा स्पष्ट ज्ञान पड़ेगा कि इन मतों में भी कुछ तत्त्व है, वे निरी भौंडी और अस्वीकार्य व्याख्यायें नहीं हैं। निस्सन्देह पण्डित जी के मौलिक चिन्तन से प्रसूत इस सौंदर्यशास्त्रीय नई व्याख्या का अपना महत्त्व है, भले ही शास्त्र-सम्मत विचार से रच मात्र न हटने वाले इस पर टीका टिप्पणी करें। चिंतन की इस लम्बायमान विचार-परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से हटकर सम्भवतः पहली बार पण्डित जी ने सौंदर्यशास्त्रीय-एक नई-दृष्टि से इन अवास्तविक करार दिये गये मतों का पुनर्मूल्यांकन किया है।

पण्डित जी का विचार है कि ये चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। भट्टलोल्लट के मत का सम्बन्ध काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से है। इन्होंने नायक में रस की स्थिति स्वीकार कर इस बात पर बल दिया कि कवि की प्रतिभा में, कल्पना जगत् में, उपस्थित नायक में (नायक-नायिका के व्यवहार द्वारा), रसात्मक स्थिति नहीं रही, तो काव्य द्वारा वर्णित होकर भी वह पाठक या प्रेक्षक में रसात्मक बोध कैसे करा सकेगा ? इस प्रकार निर्माण पक्ष से विचार करने पर भट्टनायक के मत का भी महत्त्व प्रतीत होता है। भट्टशंकुक के अनुमितिवादी व्याख्यान का महत्त्व इस बात में है कि वह नायक-नायिका के निर्माण में निहित कवि की सौंदर्य-साधना को सहृदयों तक पहुँचाने की दिशा में किया गया प्रयास है। मध्यवर्ती नट की स्थिति द्वारा उसका महत्त्व बताने वाले शंकुक की व्याख्या का सम्बन्ध काव्य-कला की अपेक्षा अभिनय कला से ज्यादा है। भट्टनायक ने एक सीढ़ी और आगे

बढ कर 'भावना'—व्यापार के आविष्कार द्वारा काव्य और सहृदय के सम्बन्ध और सामर्थ्य को स्पष्ट किया । अभिनवगुप्त ने उनसे भी आगे बढकर काव्य की ध्वन्यात्मकता का रस प्रतीति कराने की सामर्थ्य का विश्लेषण किया । इस प्रकार ये चारो मत जैसे एक क्रमबद्ध योजना के क्रमिक सोपान हैं । साथ ही इस दृष्टि से अपनी-अपनी जगह चारो का महत्व है ।

रस-प्रक्रिया से सम्बद्ध आचार्य जी के 'साधारणीकरण' सम्बन्धी विवेचन का मूल्यांकन अभी अवशिष्ट है । इस विषय से सम्बद्ध उनके सारगर्भित विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धात केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है । (२) इस प्रसग मे आचार्यों की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियो या देव के रतिभाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नही हो सकता । जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भाव-सृष्टि प्रेक्षक या पाठक मे क्यो कर न हो सकेगी ? (३) साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है (४) साधारणीकरण वास्तव मे कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है—केवल किसी पात्र विशेष का नही ।

जहाँ तक पहला पक्ष है यह तो स्पष्ट ही है कि भट्टनायक ने 'भावना' को काव्य का एक व्यापार या सामर्थ्य माना ही है । लेकिन पाठक में भी भावना की क्षमता होनी आवश्यक है, अन्यथा अक्षम पाठक को भी रसास्वादकर्ता मानना होगा। दूसरी दलील को असाहित्यिक कहना भी बिलकुल संगत जान पडता है । सगत इसलिए जान पडता है कि यदि अरसोचित तत्व उभाड दिया जाय, तभी साधारणीकरण न होगा और ऐसा करना असाहित्यिकता ही तो है । फिर उसके लिये दी गई दलील भी असाहित्यिक कही जाय, तो इसमे अनौचित्य क्या है ? तीसरे सूत्र का भी अर्थ यही है कि रचयिता की अनुभूति रचयिता मात्र की अनुभूति न होकर, असाधारण न रहकर उपभोक्ता या सहृदयमात्र की हो जाय—साधारण हो जाय । और ऐसा होने के लिए समस्त कवि कल्पित या रचयिता द्वारा उपस्थापित रसोपकरण को निर्विशेष हो जाना पडेगा, यही बात चौथे सूत्र से पडित जी ने कही है । भारतीय आचार्यों ने तो रसोपकरण को ही नही, रसयिता की भी सकुचित प्रमातता का विगलन स्वीकार किया है ।

इन काव्य सिद्धातो की चर्चा करते हुए पण्डित जी ने क्षेमेन्द्र के औचित्य मत का भी उल्लेख किया है और कहा है कि यह कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, इसमे तो केवल विभिन्न काव्यतत्वो के समन्वय की योजना है । औचित्य सम्बन्धी उनका एक सारगर्भित लेख 'साहित्यालोचन' मे प्रकाशित हुआ है, जिसका सारांश इस

प्रकार है-(१) इनका औचित्य सम्बन्धी विवेचन कोई नया सिद्धान्त नही है, वह तो व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिये हुए है। (२) औचित्य मत के दो मुख्य आधार हैं-कला सम्बन्धी और नीति सम्बन्धी (३) औचित्य का नियामक लोक ही नहीं, काव्य और शास्त्र की भी अलोकोपलब्ध सरणियाँ हो सकती है। (४) औचित्य मत पश्चिमी अग-सगति की अपेक्षा व्यापक है।

औचित्य के सम्बन्ध मे इधर तीन प्रकार के विचार मिलते हैं—कुछ एक लोग यह मानते हैं कि अलकार, रीति आदि के समान यह भी एक नूतन वाद्यात्मवाद है। आचार्य जी इस विचार से कतई सहमत नही है, और न होना ही मेरी दृष्टि मे भी सही है। कारण यह है कि औचित्य अपने आप मे कोई निरपेक्ष तत्व नहीं है, वह तो काव्य के किसी मूर्द्धन्य (रस) तत्व की दृष्टि से निहित और परीक्षित होता है, अत यह स्वत आत्मस्थानीय हो ही नहीं सकता। दूसरे दल वाले यह मानते हैं कि आनन्द एव अभिनव गुप्त की परम्परा से हटकर क्षेमेंद्र ने औचित्य के अग रूप मे 'रसौचित्य' का विचार किया है, जबकि आनन्द एव अभिनव 'रस' के अग रूप मे 'औचित्य' की समीक्षा करते हैं। इसके विरोध मे तीसरे लोग यह स्वीकार करते हैं कि क्षेमेंद्र है आनन्द और अभिनव की ही परम्परा मे (मुझे यही अभिमत है), पर जो वह 'रस' का औचित्य के अग या काव्याग रूप मे विचार करते हैं, उसका मूल रहस्य है आनन्द और क्षेमेन्द्र के विचार का दृष्टिभेद। आनन्द या अभिनव ग्राहक की दृष्टि से 'रस' को मूर्द्धन्य और उसकी निष्पत्ति के लिए अग रूप मे औचित्य का विधान करते हैं, जबकि क्षेमेंद्र व्यावहारिक-समीक्षा की दृष्टि से औचित्य का विचार रस-निर्वाह के प्रसग मे करते है। आचार्य जी भी यही स्वीकार करते हैं कि क्षेमेंद्र अपने औचित्य का विवेचन करने मे व्यावहारिक समीक्षा का आश्रय लिए हुए हैं। उनकी दृष्टि यहाँ सैद्धातिक नही, व्यावहारिक है और व्यावहारिक होने पर काव्य के समस्त अग या अगी औचित्य-विचार की दृष्टि से परीक्षित होंगे ही। यही कारण है कि रस को सैद्धातिक दृष्टि से आनन्द और अभिनव की भाति मूर्द्धन्य मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने 'औचित्य' का प्रयोग 'रस' पर भी किया है।

प्राय औचित्य पर विचार करने वाले लोग या तो उसके कला-पक्ष पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हुए 'सदृश-नियोजन' मे ही सीमित कर देते हैं या वर्ण्य-पक्ष से विचार करते हुए नैतिक-सामाजिक मान्यताओ तक ही परिमित कर देते है। पडित जी ने औचित्य के इन दोनो पक्षो पर अपने सतुलित विचार प्रस्तुत किये हैं। कई लोग भरत आदि को उद्धृत करते हुए इस औचित्य का निर्धारक स्रोत एकमात्र 'लोक' को ही मानते हैं—और नि सदेह 'औचित्य' की समय के साथ बदलती हुई धारणा लोकप्रवृत्ति द्वारा ही निर्धारित हो सकती है, पर काव्य एव शास्त्र के भी कुछ अपने आदर्श और अपनी रीतियाँ होती हैं, कवि-सम्प्रदाय मे दीक्षित व्यक्ति को

इन औचित्यनियामक स्रोतो से भी परिचित होना चाहिए। यद्यपि क्रांति-प्रेमी इसका विरोध करेंगे, पर परम्पराविच्छिन्न गगनवेलि जैसी क्रांति स्वस्थ क्रांति नही हो सकती। हाँ, उसके साथ यह भी है कि परम्परा भी वही स्वस्थ हो सकती है, जो निर्जीव कीटाणुओं को पहचाने और उन्हे जीवनी शक्ति के अनुरूप न समझ कर उनका त्याग करे तथा जीवन्त धारणाओं के साथ बढती चले। पण्डित जी का व्यक्तित्व इन्ही आदर्शों के अनुरूप प्राचीनता के प्रति आस्थावान है, साथ ही प्रगतिशील और दकियानूस वातावरण को फोडकर विकास के अनुरूप स्वच्छदता का स्वागत करने वाला है।

●

आचार्य वाजपेयी का सैद्धान्तिक समीक्षादर्श

—डा० चंद्रभूषण तिवारी एम० ए०,पी-एच० डी०

आचार्य वाजपेयी जी का समीक्षक-व्यक्तित्व उन आलोचको की पंक्ति मे परिगणनीय है, जो युगीन सौन्दर्य-चेतना का उसकी समस्त विशेषताओ के साथ साक्षात्कार करते हुए नये आदर्शो से उसका अभिषेक करते हैं। ऐसे आलोचको को टी० एस० इलियट ने 'क्रांतदर्शी' कहा है, जो उसी के शब्दो मे 'उन आलोचकों से सर्वथा भिन्न होते हैं जो साहित्य-मीमासा के क्षेत्र मे अतिम आचार्य की मान्यताओ की आवृत्ति-मात्र करते हैं (Parrot the opinions of the last of criticism) ।[1]

लेकिन साहित्य-मीमासा अथवा विचार-धारा के अन्य रूपो मे 'क्रातदर्शिता' का अर्थ परम्परा का परित्याग ही नही है, परम्परा से बँधना तो है ही नहीं । साहित्य-मीमासा के क्षेत्र मे 'क्रातदर्शिता' का अर्थ है, समीक्षक की सौन्दर्यमूलक दृष्टि का एक साथ सवेदनशील तथा सास्कृतिक होना, जो मानवीय चेतना के स्वस्थ सौन्दर्य-मूल्यो को अविकल प्रवाह के रूप मे ग्रहण करते हुए नूतन की अभ्यर्थना के साथ पुरातन का परिशोध भी कर सके, साथ ही उनके बीच नये सम्बन्ध सूत्रो की स्थापना भी कर सके। आचार्य वाजपेयी का समीक्षक-व्यक्तित्व क्रातदर्शी है, तो इसी अर्थ मे।

हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे, उनके आविर्भाव के पूर्व जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वच्छदतावादी प्रवृत्ति का उन्मेष हो चुका था। 'पल्लव' के 'प्रवेश' के साथ—'कविता हमारे प्राणो का संगीत है, छन्द हृत्कपन' अथवा 'हमारे अंतरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है' प्रभृति भावात्मक उक्तियाँ परिवर्तित दृष्टि की पर्याप्त

---

१ पृ० १०८, टी० एस० इलियट—The use of poetry and the use of criticism

व्यजना कर चुकी थी। प्रसाद जी के काव्य तथा कला-विषयक निबन्धो मे भी काव्य के आत्मिक आदर्शो का उल्लेख हो चुका था और अपेक्षित सीमा के साथ उनका विश्लेषण भी। लेकिन कुल मिलाकर ये स्थापनायें एक प्रकार का 'दृष्टिमोह' ही व्यजित कर सकी थी, स्वच्छदतावादी आदर्शों के तटस्थ और तात्विक धरातल का निर्माण-कार्य अभी शेष था। स्थापना का यह कार्य आचार्य वाजपेयी जी द्वारा सपन्न हुआ—प्रथमत', उनकी प्रायोगिक समीक्षा के माध्यम से, पुन. उसी के क्रम मे अथवा स्वतन्त्र रूप से विवेचित उनके कलादर्शों द्वारा।

प्रायोगिक समीक्षा के धरातल पर जैसा कि उन्होंने स्वय कहा है, 'साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन–जिसमे कवि की अतर्वृत्तियों के अध्ययन (Analysis of the poetic spirit) को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है–उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है।[1] स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का यही प्रस्थान-बिन्दु है भी। वस्तु-धर्म की विशेषताओ का आकलन तथा अभीप्सित प्रभावो का विश्लेषण इसके विपरीत, समीक्षा के क्षेत्र मे एक बाह्यार्थवादी पद्धति है, जिसका निषेध करते हुए आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"काव्य का महत्त्व तो काव्य के अतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु मे नही। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो का निर्माण कर सकती है, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियो के साथ हम यह अस्वीकार नही कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन है।" काव्य और साहित्य की यह प्रकृत भूमि ही जहाँ रचयिता की मूलवर्ती सवेदनायें अथवा उसकी अतर्वृत्तियाँ ही प्रमुख रूप से ध्वनित होती हैं, स्वच्छदतावादी

---

१ पृ० २७, विज्ञप्ति, हिन्दी साहित्य . बीसवीं शताब्दी—
समीक्षा मे मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टायें हैं—जिनमे क्रमश. ऊपर से नीचे की ओर—

१ रचना मे कवि की अतर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।
२ रचना मे कवि की मौलिकता शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव)' का अध्ययन (Aesthetic apprecation)
३ रीतियो, शैलियो तथा रचना के बाह्यांगो का अध्ययन (Study of technique)
४ समय और समाज तथा उसकी प्रेरणाओ का अध्ययन।
५ कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव काअध्ययन (मानस-विश्लेषण)
६ कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।
७ काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामजस्य और सदेश का अध्ययन।

समीक्षक की आधार-भूमि है। इससे परे हट कर न तो वह वस्तु-धर्म की सत्ता स्वीकार करता है, न कृति तथा कृतिकार से अधिक उसके प्रभाव-पक्ष का महत्व ही। कृति के आत्मिक और सौन्दर्यमूलक स्थापत्य का जिसे फ्रेडरिक श्लेगेल ने Spiritual and aesthetic architectonic की संज्ञा दी है, विश्लेषण ही उसका प्रधान उद्देश्य रहता है। आचार्य वाजपेयी की समीक्षा में चूँकि उक्त उद्देश्य की ही—साहित्य के मानसिक तथा कलात्मक उत्कर्ष की ही—भूमिका शीर्ष स्थानीय है, अतः उनका स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण स्वतः सिद्ध है। काव्य अथवा कला के मानसिक उत्कर्ष से उनका अभिप्राय कृति-विशेष के निर्माण में 'कृतिकार की चैतन्य आत्मा' का योग है। इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है—'अभिव्यक्ति मात्र के लिए यह प्रारम्भिक आवश्यकता है कि कलाकार के मानस पटल पर उसका स्वरूप प्रकट हो, बाह्य जगत् को दिखाने के पहले स्वयं ही उसका दर्शन करो।'[1] अन्तर्साक्षात्कार की भूमिका पर सपन्न यह प्रक्रिया ही कृति को कलात्मक उत्कर्ष अथवा रसात्मक क्षमता भी प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हुए उन्होंने कहा है—"प्रत्येक कलावस्तु को बाहर से चाहे जितना भी रसमय बनाने का प्रयत्न किया जाय, जब तक उसके अन्तर में कृतिकार की चैतन्य आत्मा नहीं झलकती तब तक क्या सम्यक् अर्थ में कलाकृति कह सकते हैं?"[2] प्रेमचन्द जी की कला में जो स्थूलता आ गई है, रसाभिनिवेश विषयक जो अस्वाभाविक उपक्रम लक्षित होता है, जिसका उल्लेख करते हुए वाजपेयी जी ने कहा है—'वर्णन द्वारा वे प्रसंगों को रसमय बनाते हैं चित्रण द्वारा कम,' उसके मूल में भी रचयिता की अन्तर्निहित चेतना-धारा का अभाव ही व्यंजित है।[4] इसी प्रकार, 'साकेत के कवि' के सम्बन्ध में उनका यह कथन कि उसमें भक्ति-भावना का आतिशय्य नहीं, बल्कि कमी है," जिसके कारण काव्य के संगठन तथा चरित्र-निर्माण के सूत्र शिथिल पड़ गये हैं, वर्ड्सवर्थ के सम्बन्ध में कही गये मिल के उस कथन की याद दिलाता है—The well is never so full that it over flows[5]

काव्य अथवा कला के मानसिक आधार ग्रहण करने की यह असाधारण क्षमता ही उनके समीक्षात्मक निबन्धों को एक गुणात्मक विशेषता—एक सहज प्रज्ञात्मक (Intuitive) दीप्ति प्रदान करती है। उनके प्रायोगिक विवेचन का धरातल इसीलिए स्वस्थापना के आग्रह से मुक्त, व्यंजना-मूलक तथा विशिष्ट है। उसमें समीक्षक के मन की छाया नहीं, रचनाकार के मन का प्रकाश है। अत्युक्ति

१ पृ० ८७, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी। प्रेमचन्द।
२ वही
३ वही
४ पृ० ४९, वही। श्री मैथिलीशरण गुप्त।
५ उद्धृत एम० एच० अब्राम्स, पृ० २८ The mirror and the lamp,

कवियो तथा काव्य-प्रवृत्तियो के विकास की जो रूप-रेखा उन्होने प्रस्तुत की है, उसमे रचना के मानसिक आधार अथवा आतरिक सूत्रो को ही आवश्यक उपादान के रूप ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिये प्रसाद तथा निराला के काव्यात्मक विकास सम्बन्धी उनके निष्कर्षो को हम देख सकते हैं—एक मे, प्रारम्भिक रति तथा जिज्ञासा की भावना से आंसू की साहसिक आत्म-स्वीकृति तक को रेखांकित किया गया है; दूसरे मे, बुद्धि तत्त्व से बुद्धि और भावना के समन्वय की क्रमिकता का निदर्शन है। विवेचन की यह प्रक्रिया आधुनिक कवियो तथा काव्य-प्रवृत्तियो तक ही परिसीमित नही है। इस आशय के साथ कि 'हम कवि की आत्मा मे अपनी आत्मा को मिला कर–विकास की प्रत्येक दिशा मे उसके साथ तन्मय होकर–उसका अध्ययन आरम्भ करें,' 'सूर की आत्मपरक भूमि' का उन्होने विशद विवेचन किया है।[1] रचना के इस अन्तर्वर्ती स्रोत—रचयिता की भावना, अनुभूति और कल्पना के परिपार्श्व मे स्थित होकर कृति के कलात्मक उत्कर्ष का आकलन ही आचार्य वाजपेयी की प्रायोगिक समीक्षा-भूमि को स्वच्छदतावादी चरित्र प्रदान करता है।

कलात्मक उत्कर्ष के आकलन की दृष्टि से उनके अनुसार कृति के मूल्याकन का 'सौन्दर्य, एक सामान्य और सर्वग्राह्य प्रतिमान हो सकता है—यद्यपि 'उस सौन्दर्य की परख किन्ही सुनिश्चित सीमाओ मे नही की जा सकती है।'[2] शुक्ल जी की आलोचना करते हुए उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कला-कृति की समीक्षा मे जो बात हमे सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु शुक्ल जी ने जिसे बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नही कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं, किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नही है, कोई बन्धन नही है, जिसके अन्तर्गत आप उसे बांधने की चेष्टा करें [सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है]"[3] अत 'आलोचक का पहला और प्रमुख कार्य है, कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसधान।'[4] आचार्य वाजपेयी की समीक्षा मे उक्त आदर्श की पूर्ति अथवा कला के सौन्दर्य तत्व का अनुसधान जिस विधि से किया गया है, इसके लिए शब्द और अर्थ के सीमित प्रतिमान—परम्परागत आदर्शों अथवा अलकरण-विधियों की ओर नही, विभिन्न कलाओ के अन्तर्सम्बन्ध (Inter relatian) अथवा परस्पर सामजस्य की व्यापक भूमिका की ओर मुडना होगा।

---

१ पृ० ८१, महाकवि सूरदास।

२ पृ० ७९, हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी।

३ वही।

४ वही।

शास्त्रीय शब्दावलियाँ यहाँ पीछे छूट गई हो, अथवा जान-बूझ कर उनकी उपेक्षा कर दी गयी हो, ऐसी बात नहीं है, यथासम्भव जीवन तथा समर्थ सूत्रों को सामने लाने का प्रयत्न किया गया है—उन्हें नए स्तर पर विकसित करने का उपक्रम भी लक्षित होता है, संक्षेप में, काव्य के नए रूप अथवा नूतन विधाओं की व्याख्या करने में अथवा नये सौन्दर्य-सम्बन्धों (Aesthetic relations) से सामञ्जस्य स्थापित करने मे जहाँ तक वे समर्थ हैं, वाजपेयी जी ने उन्हें यथेष्ट मान्यता प्रदान की है, लेकिन जहाँ उनकी सीमा अथवा अव्याप्ति लक्षित हुई है, वहाँ पूरी साहसिकता तथा स्वच्छन्दता के साथ पाश्चात्य समीक्षा के नये सूत्रों को ग्रहण करने तथा नूतन शब्दावलियों को गढ़ने का उन्होंने प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में पूर्ववर्ती समीक्षकों द्वारा निर्धारित काव्य और कला अथवा विद्या और उपविद्या की सीमा समाप्त हो गई है—इसके विपरीत, 'छन्दों की प्रतिमा,' उनके 'आवर्त-विवर्त' और उनके माध्यम से प्रस्तुत 'चित्र-योजना' आदि के विवेचन में विभिन्न कला-तत्त्वों का एकत्र समाहार व्यक्त हुआ है। रत्नाकर के कवित्तों के संगीत पर जो उन्होंने टिप्पणी की है [यह केवल शब्द-सौन्दर्य की बात नहीं है। छन्द के गठन-जन्य सौन्दर्य की, पंक्ति-पंक्ति की एक दूसरे से सन्निधि की और सन्निधि में सन्निहित संगीत की बात है][1] तथा साकेत के प्रथम आठ सर्गों की चित्र-योजना के संबंध में भी उन्होंने ऐसा ही अभिमत प्रस्तुत किया है [उनमें जितने चित्र हैं प्रायः सब निकट से खींचे गये हैं। निकट से होने के कारण वे छोटे जान पड़ते हैं। मस्तिष्क पर उनका यह प्रभाव पड़ता है कि वे म्रियमाण हैं महाकाव्य में ऐसे चित्र शोभा नहीं देते। कैनवस उन सर्गों में बड़ा न होने के कारण रेखायें उचित से अधिक मोटी हो गयी हैं चतुर चित्रकार आधार के अनुरूप आधेय की सृष्टि करता है।][2] वे उनकी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से व्यापक सौन्दर्य-दृष्टि का—जो काव्य कला के सौन्दर्य को संगीत तथा चित्र के परिपार्श्व में लाकर स्थित कर देती है—अद्भुत अभिनिवेश दर्शाते हैं।

सौन्दर्यानुसन्धान विषयक उनकी दूसरी प्रक्रिया है—कृति को समग्र, संश्लिष्ट तथा आर्गेनिक तथ्य के रूप में ग्रहण करना। यान्त्रिक विधि की तुलना में, जो खण्डित इकाइयों को ही सौन्दर्य-विवेचन का आधार मानती है, स्वच्छन्दतावादी विचारकों ने कृति के समग्र तथा संश्लिष्ट रूप का विशेष महत्त्व दिया है। पाश्चात्य समीक्षा में इस पद्धति का सर्वोत्तम विकास कालरिज के चिन्तन में मिलता है। साउदी को लिखे पत्र में वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—'A p"et's heart and intellect should be combined-intimately combined and unified with the great appearance of nature. काव्य अथवा

---

१ पृ० ७७, हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी।

२ पृ० ४५, वही।

ना की उक्त अन्विति को आचार्य वाजपेयी ने 'निसर्ग-सिद्ध साम्य' की सज्ञा दी है। प्रेमचन्द की कला में इसका अभाव दर्शाते हुए उन्होंने कहा है—'बहुत कम रचनाओ मे प्रेमचन्द जी स्थिर-बुद्धि होकर पात्रो, घटनाओ और घटनाओ के बीच 'निसर्ग-सिद्ध साम्य' स्थापित कर सके हैं, बहुत कम कहानियाँ, स्वत प्रसूत, स्वत विकसित तथा स्वत समाप्त हो सकी हैं।'[1]

पुन पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी विचारको की तरह काव्य अथवा कला का आर्गेनिक तथ्य से सादृश्य स्थापित करते हुए है—'पुष्प के विकास के समय जैसे उसके सब दल एक साथ खुल पडते हैं, जैसे उसके अग-अग समान रूप माधुरी से कमनीय हो उठते हैं, उस रूप के दर्शन प्रेमचन्द जी ने कम ही किए हैं।'[2] यह समग्रतावादी दृष्टि ही उनके सौन्दर्य-विवेचन मे प्राय सर्वत्र व्यजित है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि रूप-प्रसाधनो की ओर—रीतियो, शैलियो तथा रचना के बाह्यागो की ओर उनकी दृष्टि ही नही गयी है। उनके साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी सूत्रो के अन्तर्गत इनका भी अध्ययन परिगणित है। सापेक्षिक स्वाधीनता की दृष्टि से भाषा की स्वतन्त्र प्रकृति तथा छन्दो के निजी चरित्र-भाव-प्रकाशन-विषयक उनकी क्षमता-अक्षमता आदि के सम्बन्ध मे उन्होंने जो स्वतन्त्र अभिमत प्रस्तुत किए हैं, उनका पर्याप्त महत्त्व है। हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के अन्तर्गत समकालीन कवि चिन्तको के तद्विषयक दृष्टिकोण पर्याप्त हैं, इसका उल्लेख मैं कर चुका हू—लेकिन भाषा और छन्द के प्रश्न पर अतिरिक्त बल देने तथा निजी निरपेक्ष सत्ता को विश्लेषित करने का इनका उपक्रम एक प्रकार के Ontological analysis मे परिणत हो गया है—प्रसाद के चिन्तन मे जो पक्ष सर्वथा उपेक्षित रह गया है, पन्त तथा निराला ने उस पर अतिरिक्त बल दे दिया है। फिर भी काव्य की नयी धारा को अधिक प्रशस्त पथ देने के लिए उनका उपक्रम सामयिकता के सन्दर्भ मे अधिक अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। आचार्य वाजपेयी के तद्विषयक निष्कर्ष स्वच्छन्दतावादी चिन्तन के अन्तर्गत हैं और इनका महत्त्व भाषा, छन्द, रीति अथवा काव्य के बहिरग की उस प्राण-शक्ति के उद्घाटन मे निहित है, जो मूलत भावना तथा अनुभूति से सम्बद्ध और समृद्ध होते हुए भी अभिव्यक्ति की सम्भावना को निजी तौर पर प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए भावना का प्रसार अथवा पौरुष की अभिव्यक्ति के लिए गुप्त जी की छन्द-योजना मे कवित्त छन्द से भी अधिक प्रलब वर्ण-सगठन के अभाव की ओर सकेत करते हुए खडी बोली की जिस अपर्याप्तता का उन्होंने उल्लेख किया है, वह इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य है—"एक ही त्रुटि जो खडी बोली मे अपरिहार्य है, दूरी की अभिव्यक्ति

---

१ हिन्दी-साहित्य . बीसवी शताब्दी, पृ० ८८

२ वही

(Long perspective) करने वाले छन्दो का अभाव है। खडी बोली मे छन्दो का कैनवस वैसा करने मे समर्थ नही हो रहा। यह सम्भवत हमसे उसकी निकटता के कारण है।"[1] इसके पूर्व तुलसी की चौपाइयो के स्थैर्य तथा प्रवाह का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा है—"उस छोटी-सी छद पूर्ति मे अद्भुत शक्ति है। अन्तिम दोनो गुरु मात्राओ के पैरो पर खडी होकर चौपाई मानो अपने दृढ अस्तित्व की घोषणा करती हैं। प्रत्येक स्वत स्वतन्त्र है, चैतन्य आत्मा की भाति। यही चौपाई का स्थिरता है। फिर उसमे प्रवाह भी है। लम्बी भावनाओ की धारा मे चौपाई अपनी एक गुरु मात्रा समेटकर जैसी फुर्तीली होकर चलती है, भावना के क्षिप्र अथच समन्वित रूप के प्रदर्शनार्थ अद्भुत कला-मर्मज्ञ गोसाईं जी ने ऐसी चौपाइयो का प्रचुर प्रयोग किया है।"[2] अन्यत्र, सामयिक सौन्दर्य-रुचि से निराला की अभिधा-विशिष्ट काव्य-शैली का सामजस्य दर्शाते हुए उसके निजी चरित्र तथा व्यजना की शैली से उसके पार्थक्य का जो उन्होने विश्लेषण किया है,[3] वह भी अभिव्यक्ति के माध्यमो तथा प्रकारो से उनकी सूक्ष्म और अन्तस्पर्शी अभिज्ञता का द्योतक है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत उनके व्यावहारिक विवेचन की 'नूतनता' शास्त्रीय धरातल से हट कर विभिन्न कलाओ के अन्तर्सबंध से गृहीत सूत्र और निर्मित शब्दावली मे है, इसकी ओर मैं सकेत कर चुका हू। लेकिन उसकी प्रमुख विशेषता, सार्थकता की दृष्टि से, भाव-सत्ता के सन्दर्भ की सार्वत्रिक सूचना है। छायावादी कवियो की कतिपय प्रतिनिधि रचनाओ से, विशेषतया पन्त के परिवर्तन से दृष्टात प्रस्तुत करते हुए उन्होंने रूप-योजना तथा भाव-समृद्धि का जो तारतम्य दर्शाया है, उसे डा० भगीरथ मिश्र के शब्दो मे हम कह सकते हैं—"जिस भाव-सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास सहृदय पाठक को कभी होता है, उसका विशद और स्पष्ट अनुभूतिमय निरूपण करके आलोचक ने एक अस्पष्ट मानसिक आकाक्षा की परितृप्ति की है।"[4] नियोजन की दृष्टि से उसकी प्रमुखता उसका निसर्ग-सिद्धि का आग्रह

---

१ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ४८।

२ वही, पृ० ४६।

३ वही, पृ० १३२—"अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है। जहा तक हम समझ सके हैं व्यजना की प्रणाली मे यदि कुछ विशेषता है तो यही कि उसमे काव्य को मूर्त आधार अधिक प्राप्त होता है। व्यजना का अर्थ ही है संकेत आदि। परन्तु अभिधा मे स्पष्टता अधिक है।"

४ हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास, पृ० ४७३।

है। प्रेमचन्द की कहानियो म इसके अभाव विषयक उनके अभिमत का उल्लेख किया जा चुका है। उनके उपन्यासो म भी यह अपर्याप्तता किस प्रकार जुडी हुई है' गोर्की से उनकी तुलना करते हुए उन्होने इस ओर भी सकेत किया है—गोर्की के उपन्यासो 'टेकनीक' उनके अनुसार कितनी सुगठित, प्रौढ और सप्रयोजन है, साथ ही सासो की भांति सहज और बेपहचान है, प्रेमचद की वैसी नही।"[1] रीति तथा शैली का अथवा कला के रूप-धर्मी तत्त्वो का सासो की भांति सहज और बेपहचान होना ही वस्तुत उनकी 'निसर्ग सिद्धि' है, जिसकी उद्‌भावना मानसिक माध्यम से ही सम्भव है, इतर स्रोतो से नही। तभी तो काव्य और कला के अतरग तथा बहिरग मे एक अपार्थक्य की स्थापना होती है और जहाँ माध्यम भिन्न पड जाते है, वहाँ असन्तुलन का विकसित होना स्वाभाविक है। इस तथ्य पर पर्याप्त बल देते हुए उन्होने कहा है—"सार्थक पद विन्यास केवल निघण्टु का विषय नही है। उसमे हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दो की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है।"[2] सार्थक सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द ये सब उनके अनुसार भावो के अभिन्न अग हैं। बाह्य और अतरग यहा कुछ नही।[3] प्रणेता की दृष्टि से, अभेदत्व की यह स्थिति प्रगीत-काव्य जैसे सश्लिष्ट साहित्य रूप मे ही मूर्त होती है—चूँकि 'प्रगीत काव्य की निर्मात्री भावना मे और इस भावना द्वारा निर्मित प्रगीत भाजन मे तात्त्विक एकता होती है।" छोटी कहानियो मे भी—विशेषतया नई कहानी की विशेषता भी, उनके अनुसार, इसी तथ्य मे निहित है कि उसके अन्तर्गत 'व्यग्य' और व्यजक का भेद मिट जाता है।[4]

वस्तुत रूप प्रसाधनो की दृष्टि से किये विवेचन की सार्थकता भी तभी है, "जबकि काव्य-शैलियाँ और बदिशें आदि सब अपना पृथक् अस्तित्व खोकर इन सबसे निर्मित होने वाले 'काव्य-सौन्दर्य' मे परिणत हो जाती हैं, जिसका सम्यक् सवेदन ही काव्यालोचना प्राण है।" आचार्य वाजपेयी के शब्दो मे "यह माप कदापि माप हीनना नही है, यह काव्यालोचना का दीर्घ-फल है, जो निरन्तर काव्याभ्यास द्वारा और अत्यन्त परिमार्जित, सजग, सूक्ष्म, व्यापक चेतना के योग से प्राप्त होता है।"[6] उनके प्रायोगिक विवेचन के अन्य सूत्र—समय और समाज तथा उसकी प्रेरणाओ का अध्ययन और वैयक्तिक सस्कारो तथा विचारो का विश्लेषण भी अतत

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ३०५।
२ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० १३।
३ वही, पृ० १४६।
४ आधुनिक साहित्य, पृ० २५।
५ वही, पृ० ११३।
६ वही, पृ० ३०६।

रचयिता के सृजनशील व्यक्तित्व से ही सबद्ध है। काव्य तथा कला मे उनका नियोजन प्रत्यक्ष न होकर मानसिक माध्यम से ही सम्भव है, तथा उनकी सार्थकता भी रचयिता के मानसिक माध्यम को उसकी भावना, अनुभूति तथा कल्पना को अधिक सघन तथा समृद्ध करने मे ही है नियत करने मे नही। पाश्चात्य चिंतन म पाजिटिविस्ट विचारकों न इस मूलवर्ती सत्य की उपेक्षा कर रचयिता के व्यक्तित्व को इन वस्तु तत्वों से नियत मान लिया था।[1] दूसरी ओर स्वच्छदतावादी कलासमीक्षा की वह दार्शनिक परिणति भी सामने आयी जो कृति के मानसिक माध्यम को स्वत पूर्ण तथा निरपेक्ष मानकर समय तथा समाज की प्रेरणाओ को सर्वथा भुला बैठी। लेकिन इन अतिवादो के बीच से कला समीक्षा की एक ऐसी भी धारा विकसित हुई जो युग-जीवन के सत्य तथा उसकी प्रेरणा को स्वीकार कर भी मूलत स्वच्छदतावादी आदर्शों से ही निष्पन्न थी। शेली से रस्किन, टाल्सटाय और बेलिंस्की तक यही परम्परा दिखायी देती है। विश्व-साहित्य की भूमिका पर वाजपेयी जी की गणना इन्ही प्रगतिशील स्वच्छदतावादी विचारकों की पंक्ति मे की जा सकती है, जिन्होने काव्य तथा कला के आत्मिक आधार को मान्यता देते हुए भी सामाजिक जीवन से उनकी अपरिहार्य सापेक्षता स्वीकार की है। अपनी प्रारम्भिक कृति मे जैसा कि उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, समीक्षा के ये आधार उनके प्रायोगिक विवेचन मे प्रमुखता के अधिकारी नही हो सके है, यद्यपि उनकी महत्ता कई स्थलो पर व्यजित है। श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी की कृतियो का विवेचन करते हुए उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—'वह परिपूर्ण कला जो अगति या शून्य का चित्रण करती है, हमे उतनी नही भाती जितनी वह कला जो जीवन का जाग्रत कलरव हमारे कानो को सुनाती है।'[2] यह कलरव बहुतो के लिए अश्रुत तथा अश्रव्य रहा है। उस 'स्वच्छदतावाद' के लिए जो आन्तरिक अनुभूति पर केन्द्रित होने के लिए बाह्य जीवन से तटस्थ रहना आवश्यक मानता है—गेटे जैसे विचारक ने, जो प्रथमत इस नवजागरण के साथ था, रुग्ण तथा अस्वस्थ मनोवृत्ति की सज्ञा दी है। वाजपेयी जी को स्वच्छदतावादी दृष्टि ने इस रुग्णता तथा अस्वस्थता को प्रश्रय नही दिया है, यह स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नही है। महादेवी ने काव्य की वैयक्तिक सीमा-भूमि पर दृष्टिपात करते हुए उन्होने जो यह प्रश्न उपस्थित किया है—'साहित्यिक रचना का एकदम स्वतन्त्र मूल्य है अथवा उसके सामाजिक सपर्क और प्रभाव मे है, और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवन स्रोत से अपना रस ग्रहण करना छोड देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक सवेदना की

---

१. उद्धृत गिल्बर्ट और कुहन, पृ० ४७९। A History of Aesthetics 'The work of Art is a product of its environment and nothing else.'

२ हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी, पृ० १७६।

भूमि पर की गयी रचना का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आँका जाय।'[1] यह मत उनकी विकसित दृष्टि का पर्याप्त व्यंजक है। कृति का कलात्मक आधार ही स्वयं में, अपनी निरपेक्षता में, पर्याप्त नहीं है, उसके साथ *सामाजिक और सांस्कृतिक आधार की भी समवेत स्थिति है, वाजपेयी जी की पर-*वर्ती कृतियों का यही प्रमुख स्वर है। इससे विमुख प्रयोगवादी कवियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—"ऐसा दिखाई देता है कि प्रयोगवादी अभी से ऊब बैठे हैं। *समाज, साहित्य और उसके समस्त सांस्कृतिक आधारों से, तभी तो* इतनी उतावली के साथ सबकी भर्त्सना और परिहास करने की शून्यगामी योजना उन्होंने अपना ली है। सम्भव है, मध्य वर्ग की सांस्कृतिक सत्ता के समाप्त होने, नए निर्माण में उस सत्ता की रंचमात्र उपयोगिता न रह जाने का इजहार किया जा रहा हो। पर प्रश्न यह है कि शून्य का स्तवन करने वाली काव्य-सृष्टि किस वर्ग का कल्याण करने का उद्देश्य रखती है?"[2] अपने प्रति, अपनी अनुभूतियों के प्रति, काव्य के प्रति और समय और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भूल कर प्रयोग नहीं किये जा सकते। 'उन प्रयोगों का अर्थ', उनके अनुसार, 'होगा शून्य पर दीवाल खड़ी करना।'[3] अब प्रश्न यह है कि काव्य तथा कला में समय और समाज की प्रेरणा का अभिव्यक्त रूप क्या हो, क्या उनका नियोजन कवि व्यक्तित्व की स्वतन्त्र मानसिक भूमि की उपेक्षा करके संभव है, क्या सामयिक जीवन साहित्य-रचना में सीधे प्रतिबिंबित होता है? वाजपेयी जी ने इसका उत्तर राष्ट्रीय आंदोलन के उन्मेष-काल में रची गयी काव्य-कृतियों का विवेचन करते हुए दिया है—"किसी भी राष्ट्रीय आंदोलन के कतिपय पहलुओं को ज्यों का त्यों चित्रित कर देना अथवा उस आंदोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया में कोई रचना प्रस्तुत कर देना कवि की भावना, कल्पना का अधूरा आयास कहा जायगा। इतनी 'प्रत्यक्षता' काव्य-साहित्य के लिए लाभकर नहीं होती। इस प्रक्रिया में न तो कवि-कल्पना का पूरा पाचन हो पाता है, न रचयिता के भावों के साथ उसके सांस्कृतिक और साहित्यिक सामर्थ्य का पूरा योग हो पाता है। साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वासमात्र है। साहित्य वास्तव में कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।"[4] यह ठीक है कि कवि के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के संस्कार उसके काव्य पर भी पड़ते हैं, किन्तु कविता समय और समाज के घेरे में बँधे हुये कवि की स्वतन्त्र जीवन कल्पना है। वह उसकी

---

१ भूमिका आधुनिक साहित्य, पृ० ३३।

२ आधुनिक साहित्य, पृ० ३७।

३ वही, पृ० ४१।

४ भूमिका, आधुनिक साहित्य, पृ० १७।

असाधारण अनुभूति है। साधारण जीवन-वस्तु से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कवि जितना ही महान् होगा उसकी कल्पना समय के स्थूल प्रभावों से उतनी ही मुक्त रहेगी।[1] यह भी सत्य है कि सामान्य व्यक्ति की तुलना में कवि की संवेदनायें अधिक तीव्र हुआ करती हैं। अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण ही वे नये युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते हैं। नयी जीवन-स्थितियाँ उन पर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती हैं। लेकिन इसके साथ ही सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का स्वरूप भी देना आवश्यक है[2], यह भी वाजपेयी जी का अभिमत है। अन्यथा कला का वह सहज स्वाभाविक धरातल अनिर्मित ही रहेगा, जहाँ सामाजिक मूल्यों की अवतारणा सौन्दर्याभिनिविष्ट होकर ही प्रस्तुत होती है। इन तत्वों की एकत्र स्थिति ही वस्तुतः अभिव्यक्ति की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इन्हें अलग करके देखने का प्रयास वाजपेयी जी के शब्दों में, "वैसा ही है, जैसे स्वर्ण-कुण्डल में से कोई सोना निकालने का प्रयत्न करे।" यही बात कलाकार की जीवन और जगत सम्बन्धी धारणाओं के नियोजन के संबंध में भी कही जा सकती है। कवि के वैयक्तिक तथा सामाजिक संस्कारों की तरह उसकी धारणायें भी उसकी कृतियों में प्रतिफलित होती हैं, लेकिन कला-रूप में इनकी भी प्रतिष्ठा मानसिक माध्यम में ही संभव है—'यदि मानसिक माध्यम समुन्नत नहीं है' तो वाजपेयी जी के अनुसार, 'कोई भी वाद श्रेष्ठ कला के निर्माण में सहायक नहीं होगा।'[3]

संक्षेप में, इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—"हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचार-धाराओं का, वादों का सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु अनुवर्ती रूप में। साहित्य का अपनी सत्ता के अन्तर्गत, उसके निर्माण में इनका स्थान है। ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं। साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है। जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धांत है।"[4]

वाजपेयी जी का यह आदर्श जहाँ एक ओर उन्हें उन कलावादियों अथवा सौन्दर्यवादियों से भिन्न करता है, जो कला के निर्माण तथा विवेचन के लिए जीवन-व्यापार से तटस्थ होना आवश्यक मानते हैं,[5] जो सामूहिक जीवन से यह याचना

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १७
२ निरूप, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ७
३ आधुनिक साहित्य, पृ० ३३६
४ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १८
५ क्लाइव बेल, आर्ट (Art) पृ० ६

करते हैं कि वह कलाकार को अकेले छोड दे[1], वहां उन मार्क्सवादी विचारको से भी उन्हे पृथक् करता है जो 'सामाजिक विकास क्रम मे आर्थिक व्यवस्था को सर्वोपरि मानकर साहित्य तथा अन्य उपकरणो को उसका अनुवर्ती सिद्ध करते है, 'जो काव्य और *कलाओ को समय विशेष की वर्गीय स्थिति' मे आबद्ध तथा उससे नियन्त्रित* होने का दावा करते हैं।[2] नये मार्क्सवादी समीक्षको मे, उनके अनुसार, साहित्य की सामाजिक भूमिका के अनुशीलन मे ऐसे ही तथ्यो पर प्रकाश डाला है जिनसे साहित्यिक प्रतिमानो को बल मिलता है और ऐसे कवियो के कृतित्व पर अधिक उज्ज्वल प्रकाश पडता है जो साहित्यिक दृष्टि से भी अग्रणी माने गये हैं। इस प्रकार की समीक्षा से, जैसा कि उन्होने स्वीकार किया है, 'किसी का विरोध नही हो सकता।' लेकिन वाजपेयी जी के स्वच्छदतावादी चिन्तन को प्रगतिशील की सज्ञा देते हुए मेरे *समक्ष मार्क्सवादी कला-दर्शन नही, न हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा है,* बल्कि जैसा कि मैंने इसके पूर्व कहा है—स्वच्छदतावादी चिन्तन की वह आदर्शवादी समाजोन्मुखी धारा है, जो कलाकार की वैयक्तिक क्षमता तथा उसकी अन्तर्भेदी कल्पना को मान्यता देते हुये भी यह स्वीकार करती है कि उस क्षमता का विकास सामाजिक जीवन से तटस्थता की स्थिति मे सभव नही है,[3] जो कलाकृति को जातीय जीवन का प्रतीक मानते हुए उसे सामान्य जीवन-स्तर का ही नही, बल्कि उसके सूक्ष्म जीवन स्तरो का भी प्रकाशक मानती है।[4] 'नया साहित्य नये प्रश्न' के 'निकष की ये पक्तियाँ—"*यदि हमारी काव्य सस्कृति समृद्ध होती, तो हम समझते* कि अतिम विश्लेषण मे कविता का यह श्रेष्ठत्व उसके मूल म स्थित जीवन चेतना का हो श्रेष्ठत्व है"[5]—वस्तुत इसी दृष्टि विशेष की व्यजना करती है।

---

१ क्लाइव बेल, आर्ट पृ० १५७
The one good thing the society can do for the artist is to leave him alone

२ निकष, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ९

३ गिल्बर्ट और कुहन, पृ० ४१३
A history of Aesthetics, The faculty of art can neither be cultivated, nor exercised in isolation

४ पृ० २२०–२१
V. G Belinsky, Selected Philosophical Works He who can grasp only the stark shades of the rude common life, without being able to grasp the more subtly and intricate shades of concord life will never be a great poet, and still less can we lay claim to the proud little of national poet.

५ निकष, नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० २९

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य वाजपेयी के स्वच्छन्दतावादी चिंतन का विकास दो स्तरों पर देखा जा सकता है—(क) प्रथम स्तर कला-विवेचन के उन मूलभूत प्रश्नों से सम्बद्ध है, जिनकी व्याप्ति काव्य के स्वरूप-निर्धारण से लेकर उसके विभिन्न आंतर तत्त्वों की व्याख्या, कल्पना के माध्यम से उसके भावाश्रित रूप की सृष्टि तथा कवि कल्पित समस्त व्यापार के साधरणीकरण तक है। (ख) दूसरा स्तर उनकी भाववादी दृष्टि के सामाजिक और सांस्कृतिक संश्लेषण तथा साहित्य के रचनात्मक आदर्शों का है। कला-विवेचन की दृष्टि से यद्यपि इनका पृथक विश्लेषण सम्भव नहीं, फिर भी उनके कलादर्शों को, जिनमें से कई की उद्भावना आनुषंगिक रूप से इसी स्तर पर हुई, इससे पृथक् भी नहीं रखा जा सकता। उदाहरण के लिए उनकी काव्य-विषयक परिभाषा तथा उसके आंतर तत्त्वों की व्याख्या को ही लें—यद्यपि इसका उद्देश्य काव्य की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन है, फिर भी साहित्य और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध विश्लेषण-क्रम में ही विवेचित है। अस्तु। "काव्य" उनके मत से, "प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में अनुकूल भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सम्वेदन उत्पन्न करता है।"[1] 'प्रकृत मानव अनुभूति' आचार्य वाजपेयी के अनुसार, एक सार्वजनिक वस्तु है—उसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है,[2] तथा जिसकी परिणति काव्य को उसके प्रकृत धरातल से पृथक् कर साम्प्रदायिक धरातल पर नियोजित करने में होती है।[3] यह अस्वाभाविक उपक्रम काव्य अथवा कला को सर्वजन-संवेद्य न रख कर विशिष्ट आदर्शों से परिचालित व्यक्तियों के बीच परिसीमित कर देता है। इस प्रकार के काव्य को व्युत्पत्तिजन्य मानते हुए मिल ने उसे प्रकृत काव्य से उसे निम्नतर सिद्ध किया है, जिसमें काव्य के मूलवर्ती उपादान मानव अनुभूति का सर्वाधिक योग रहता है। Natural poetry is in a far higher sense ,than any other, since that which constitutes poetry, human feeling enters far more largely in to this than into the poetry of culture[4]

इसका अर्थ यह नहीं कि कवि की अनुभूति में वैयक्तिक तथा वर्गीय आदर्शों का योग ही नहीं रहता है, लेकिन निर्वैयक्तिक भावना के धरातल पर प्रसार पाकर ही। तभी उसमें उस मानवीय गुण की भी अधिष्ठा होती है, जिसे लक्ष्य करते हुए

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न पृ० १८

२ वही

३ वही

४ उद्धृत, एम० एच० अब्राम्स, पृ० २४, The Mirror and lamp

कान्ट ने कहा है—*What pleases me impersonally, pleases me as a member of humanity.*[1] लेकिन निर्वैयक्तिकता का अर्थ आत्म-तत्त्व का निषेध नही है, बल्कि उसका प्रकाशन है। आचार्य वाजपेयी के अनुसार, आत्मनुभूति और विभावन-व्यापार एक ही स्थिति के द्योतक हैं—'काव्य की सपूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है।'[2] कृत्रिम अनुभूतियाँ इसके विपरीत, व्युत्पत्तिमूलक होने के कारण विभेद को ही प्रमुख रूप से सामने लाती हैं; आत्म-निर्भरता के तत्त्व उसके अन्तर्गत आच्छन्न रहते हैं।

तात्त्विक दृष्टि से इसी प्रकार, प्रकृत मानव-अनुभूति तथा आत्मानुभूति भी भेद रहित हैं—दोनो मे समरस तथा समरूप मानवीय चरित्र पर ही प्रकारातर से *बल दिया गया है जो काव्यानुभूति को सामान्य अनुभूति से भिन्न करती है।* यो स्वभावत किसी भी अनुभूति मे आचार्य वाजपेयी के अनुसार, निम्नलिखित तत्त्वो का योग आवश्यक है—

(क) वह वस्तु जो अनुभव का विषय है।
(ख) विषयी या आत्मा जो अनुभव करती है।
(ग) *विषय या विषयी के सघात से उत्पन्न अनुभव या सम्वेदना।*[3]

यह अनुभव या सम्वेदन ही अपनी उच्चतर स्थिति मे काव्यानुभूति की सज्ञा ग्रहण करता है। व्यक्ति तथा वस्तु भेद के कारण सामान्य अनुभूति मे असख्य भेदो का होना स्वाभाविक है। 'परन्तु काव्यानुभूति अत्यन्त उच्चतर स्थिति का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस या समरूप हुआ करती है। उसमे देशकाल के *अनुसार गतिशीलता का तत्त्व भी होता है और मानवात्मा की विकासावस्था के* अनुरूप उसमे व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्रायें रहती हैं।'[4] सक्षेप मे समरसता तथा गतिशील मानवीयता, आचार्य वाजपेयी के अनुसार, काव्य अथवा कला मे नियोजित कवि की अनुभूति के मूलभूत चरित्र है।

परिभाषा का दूसरा पक्ष कवि की अनुभूति के सौन्दर्यमय चित्रण का है। *आचार्य वाजपेयी के अनुसार यह कार्य नैसर्गिक कल्पना के माध्यम से सम्भव है।* 'कला-दर्शन मे कल्पना शब्द,' उनके मत से, 'उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है जो काव्य-सृष्टि में आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति

---

१ उद्धृत, गिल्बर्ट और कुह्न, पृ० ३३५, A history of Aesthetics
२ आधुनिक साहित्य पृ० ४१४
३ नया साहित्य : नये प्रश्न पृ० १४७
४ *नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४८*

है और उसकी परिणति है, काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। इस प्रकार, कल्पना अनुभूति से अभिव्यंजना तक विस्तृत है।[1] अनुभव तथा सम्वेदना के स्तर पर कल्पना की व्याप्ति का जहाँ तक प्रश्न है, पाश्चात्य चिंतन मे इसकी ओर प्रथम संकेत एडिसन ने किया था। लेकिन उसकी कल्पना-विषयक धारणा वस्तु-समुच्चय के मानस प्रत्यक्षीकृत रूप का ही द्योतन कर सकी थी। उसके अन्तर्गत किसी निर्माणात्मक तत्त्व का उल्लेख नहीं था।[2] इस अभाव की पूर्ति कालरिज द्वारा हुई। कल्पना के उभय स्वरूप, प्राथमिक तथा माध्यमिक को विश्लेषित करते हुए एक ओर जहाँ उसने इसकी व्याप्ति समस्त मानवीय सम्वेदनो के स्तर पर स्वीकार की, वहाँ उसने इसके लोकोत्तर निर्माणकारी स्वरूप की भी स्थापना दी। आचार्य वाजपेयी की कल्पना विषयक धारणा व्याप्ति की दृष्टि से कालरिज के अनुरूप है, लेकिन तत्वत उससे भी भिन्न भी है। कालरिज की कल्पना प्राथमिक धरातल पर उपलब्ध सम्वेदनो को उपादान के रूप मे भले ही स्वीकार करे, पुनर्सर्जना की सिद्धि के लिए उनका विघटन तथा विलयन भी[3] लेकिन अपनी सक्रियता मे वह बहुत स्वायत्त तथा उनसे स्वतन्त्र भी है अगर वह किसी अर्थ मे सीमित है भी तो मानव-मन की चेतना और इच्छा से,[4] न कि रचयिता की मूलवर्ती भावना तथा अनुभूति से आचार्य वाजपेयी की कल्पना, इसके विपरीत, न केवल रचयिता की मूलवर्ती भावना या अनुभूति से निष्पन्न है बल्कि उसके द्वारा नियत भी। उसके विविध अगो और मानस-छवियो का नियमन और एकान्वय, उनके अनुसार, अनुभूति के माध्यम से ही सम्भव है।[5] इस अर्थ मे, वह भारतीय दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक सामजस्य स्थापित कर सकी है, जिसे विश्लेषित करते हुए उन्होने कहा है—"भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भावसत्ता को हृदयग्राही बनाता है। भाव-विरहित कल्पना कवि-कल्पना नही है। मानसिक विश्लेषण और बौद्धिक चेष्टायें निरर्थक हैं यदि वे मुख्य भाव या अनुभूति का पोषण नही करती।[6] आचार्य वाजपेयी के अनुसार भी कल्पना वस्तुत अनुभूति का ही क्रियाशील रूप है।

---

१ नया साहित्य नये प्रश्न पृ० १८

२ वही, पृ० ७७

३ समालोचक, द्वितीय वर्ष, अक-१, डा० राम अवध द्विवेदी-कल्पना और यथार्थवाद, पृ० ३३

४ समालोचक द्वितीय वर्ष, अक-१, डा० रामअवध द्विवेदी-कल्पना और यथार्थवाद पृ० ३३

५ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४७

६ आधुनिक साहित्य, पृ० ७२

अत वह 'उन समस्त विशेषताओं से समन्वित रहती है, जो अनुभूति की विशेषतायें है। कभी-कभी काव्य में कल्पना-व्यापार अनुभूति या भावना से अनुशासित न होकर *स्वतन्त्र रूप से मानस-बिम्बो और मानस छवियो का आकलन करने लगती है, ऐसी* रचनायें काव्य दृष्टि से असन्तुलित हो जाती हैं।'[1] लेकिन अपर्याप्तता का एक दूसरा स्तर वह भी है 'जहाँ कल्पना का नितात अभाव हो और केवल शब्द चित्र या अर्थ-चित्र ही प्रस्तुत किया जा सका हो।' आचार्य वाजपेयी के अनुसार 'वह निकृष्ट काव्य का उदाहरण है।'[2] अत यह स्वीकार करते हुए भी कवि की अनुभूति या भावना ही काव्य की मूलवर्ती सत्ता है, कल्पना के माध्यम से उनका सौन्दर्यपरक होना भी वे आवश्यक मानते है। *'अनलङ्कृती पुन क्वापि'* की तरह सौन्दर्य को *वे वैकल्पिक वस्तु नहीं मानते, अनुरूप भावोच्छ्वास या* व्यापक सवेदन के लिए उसे अपरिहार्य मानते हैं। उनकी स्थापना का यह अन्तिम पक्ष है। यहाँ अवश्य ही उनके तथा कालरिज के बीच सादृश्य-सूत्र देखा जा सकता है।

काव्य को परिभाषित करते हुए कालरिज ने भी सम्यक् भावोद्रेक के लिए सौन्दर्य को अनिवार्य माध्यम माना है—काव्य मे आह्लाद तत्त्व उसके अनुसार, स्वतन्त्र नहीं है, सौन्दर्य के माध्यम से वह कल्पना पर आश्रित है।[3] आचार्य वाजपेयी भी यह स्वीकार करते हैं—"कवि की कल्पना जितनी ही नैसर्गिक तथा प्रशस्त होगी, उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ जायेगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ उसका सवेदन होगा।[5] प्रकारान्तर से यहाँ भी *उस सौन्दर्य मे ही काव्योत्कर्ष की स्वीकृति है—कवि की नैसर्गिक कल्पना जिसका* माध्यम है और व्यापक मानवीय धरातल पर सवेद्य होना जिसकी परिणति है। फिर भी समग्रता मे, मूलवर्ती भावना तथा अनुभूति पर भी सदृश बल देने के कारण आचार्य वाजपेयी की परिभाषा मे अपेक्षाकृत अधिक व्याप्ति जुड आयी है। काव्य के निर्माण तथा प्रभाव-पक्ष दोनो का यहाँ एकत्र समाहार व्यक्त हुआ है।

कला-विवेचन के क्षेत्र मे, आचार्य वाजपेयी का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रदेय भावाश्रित रूप की दृष्टि से किया गया साहित्य विषयक विवेचन है। यो जैसा कि हम देख चुके हैं, भावाश्रित रूप-सम्बन्धी धारणा अपनी मूल निष्पत्ति मे पश्चिमी कला-दर्शन की देन है। इसके प्रवर्तन *का श्रेय* सुप्रसिद्ध कलावादी विचारक

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४७
२ आधुनिक साहित्य, पृ० ७४
३ *नया साहित्य : नये प्रश्न पृ० ७७*
४ वही, पृ० १८
५ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १८

क्लाइव बेल को है। भावाश्रित रूप से बेल का अभिप्राय कला के माध्यमो (रेखाओ तथा रगो) का वह विशिष्ट नियोजन है, जो सौन्दर्यात्मक रीति से हमे प्रभावित कर सके—'When I speak of significant form, I mean a combination of lines and colours that moves me aesthetically'[1] भावाश्रित रूप ही उसके अनुसार, कला का स्थायी तथा मूलवर्ती उपादान है, इसके अभाव मे कला की सत्ता सम्भव नही है।[2] आचार्य वाजपेयी का भावाश्रित रूप बेल से भिन्न अर्थ का द्योतक है। भावाश्रित रूप से उनका अर्थ कला तथा साहित्य म वस्तु और रूप का वह अभिन्न सम्बन्ध है, जिसका नियोजन कवि-कल्पना के माध्यम से ही सम्भव है। साहित्य को 'विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अशो की अभिव्यक्ति'[3] के रूप मे परिभाषित करते हुए उन्होने यह मान्यता प्रस्तुत की है कि मानव-जीवन के विविध रूपो का समाहार कल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से सम्भव नही है।[4] 'कल्पना का स्वरूप सर्वसम्मति से रूपात्मक माना गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अत साहित्य भी भावाश्रित रूप ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य मे कोई दूसरी वस्तु-सत्ता रह ही नही सकती। साहित्य मे रूप ही वस्तु है, वस्तु ही रूप है । वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सम्बन्ध को समझना ही सबसे बडी साहित्यिक साधना है।'[5] अत प्रकारान्तर से यहाँ भी आचार्य वाजपेयी ने कलाकृति के विशिष्ट नियोजन को ही भावाश्रित रूप की सज्ञा दी है यद्यपि उनका नियोजन वर्ण प्रदीप्ति नही है, रेखाओ के सामजस्य मे ही परिसीमित नही है, उसके अन्तर्गत वस्तु-सत्ता के कल्पना-परक नियोजन पर ही विशेष बल दिया गया है। कला की वस्तु-सत्ता जो प्रथमत जीवन-सवेदना अथवा जीवनानुभूतियो के रूप मे सामने आती है, कल्पना के माध्यम से ही रूपात्मक नियोजन ग्रहण करती है। यद्यपि इस प्रक्रिया मे रचयिता की दृष्टि वस्तु की ओर नहीं, कलात्मक वस्तु की ओर लगी रहती है और यह कलात्मक वस्तु ही *सही अर्थों मे भावाश्रित* रूप है।

पश्चिमी कला-दर्शन मे, वस्तु और रूप की अभिन्नता की ओर सर्वप्रथम स्वच्छदतावादी विचारको ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। प्रथमत A. W. Schlegel ने इस सम्बन्ध मे *अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था—किसी भी*

---

१ क्लाइव बेल, Art, पृ० १२
२ वही
३ निकष, नया साहित्य नये प्रश्न
४ वही
५ वही, पृ० ३

कला-कृति मे वस्तु और रूप इस प्रकार अत प्रविष्ट रहते हैं कि उन्हें पृथक् करना सभव नही है। शरीर और आत्मा की भाँति वे अविभाज्य हैं। इसी आधार पर उसने रूप के दो भेद किये थे—यान्त्रिक और जैविक। यान्त्रिक रूप का नियोजन, इसके अनुसार, वाह्य तत्त्वो पर आधारित है, जबकि जैविक रूप अन्त स्फूर्त होता है। उसका नियोजक तत्त्व उसी के अन्तर्गत विद्यमान रहता है।[1] लेकिन वह नियोजक तत्व क्या है, उसकी सक्रियता किस प्रकार व्यक्त होती है—श्लेगेल की दृष्टि इस ओर नही गयी। श्लेगेल के कुछ वर्षों बाद इसका तात्त्विक विवेचन कालरिज ने प्रस्तुत किया। श्लगेल के शब्दो को प्राय दुहराते हुए[2] एक ओर जहाँ उसन यान्त्रिक रूप से जैविक रूप को पृथक् किया, वहाँ दूसरी ओर उसने यह भी मान्यता प्रस्तुत की कि काव्य या कला की वस्तु सत्ता से लेकर उसकी रूपात्मक सिद्धि तक की नियोजन प्रक्रिया कवि द्वारा कल्पना के माध्यम से ही सम्भव है—
He diffuses a tone and spirit of unity that blends and fuses each into each, by that synthetic and magical power to which we have exclusively appropriated the name of imagination[3]

आचार्य वाजपयी की कल्पना विषयक धारणा किस अथ म कालरिज से भिन्न है इसकी ओर मैं सकेत कर चुका हू। काव्य और साहित्य म उसकी नियामक सत्ता को महत्त्व देते हुए वे उसे रचयिता की उस मूलवर्ती भावना तथा अनुभूति का ही क्रियाशील रूप मानते है जो मानव जीवन के उपादानो को ही वस्तुतत्त्व के रूप मे स्वीकार करती है। कालरिज की कल्पना न तो उक्त उपादाना से नियमित होती

---

१ उद्धृत रेनेवेलेक
A history of Modern criticism The Ramantic Age
The form is mechenical when through outside influence it is imparted to a material merely as an accidental addition, without relation to its natureorganic form, on the other hand is innate, it unfolds itself from within and acquires its definitness simultaneously with the total development of the germ

—Dramatic Lectures, 3rd Volume

२ १७२–१७३ M H Abrams—
The form is mechenical when on any given material we impress a predetermined form .The organic form, on the other hand is innate, it shapes as it developes itself from within and fulness of its development is one and the same with the perfection of its outward form

Statesman's Manual, P. 76.

३. Biograrphia Literaria, P. 169

है, न वस्तु तत्त्व के लिए मानव-जीवन की मुखापेक्षी है। काव्य में जिस अतिप्राकृत (Super Natural) धरातल की उसने कल्पना की है, उसके पात्र तथा चरित्र भी उसके शब्दों में, कल्पना की छाया (Shadows of Imagination) मात्र हैं।[1] इसी अर्थ में आचार्य वाजपेयी की भावाश्रित रूप विषयक धारणा कलावादियों से भी सर्वथा भिन्न पड जाती है। कलावादी बेल ने जहाँ यह घोषणा की है—
To create and to appreciate the greatest art, the most absolute abstraction from the affairs of life is essential.[2] वहाँ आचार्य वाजपेयी जी की यह स्पष्ट मान्यता है—"मानव जीवन ही साहित्य का उपादान और विषयवस्तु रहा है, और रहेगा।"[3] यही कारण है कि कलावादी बेल की दृष्टि जहाँ रेखाओं और रंगों के विशिष्ट नियोजन में ही अटक कर रह गयी है, जिसकी आलोचना करते हुए सुसेन के० लँगर ने कहा है—"We have significant form that must not at any cost be permitted to signify anything[4] वहाँ वाजपेयी जी ने मानव जीवन की अनुभूतियों के रूपात्मक नियोजन को भावाश्रित रूप की संज्ञा दी है: बहुजन संवेद्यता ही जिसकी सार्थकता है। "कल्पना तो" उनके अनुसार "व्यक्ति करता है; पर रूप बहुजन संवेद्य होता है। इसी कारण इस रूप तत्त्व में अंग-संगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। यह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है, अतएव शब्द-रहित रूप की अपेक्षा यह शाब्दिक रूप अपनी विशिष्टतायें रखने के लिये बाध्य है।"[5] काव्य में शब्द-माध्यम की सत्ता का निषेध करने वाले वस्तुतः काव्य की सार्वजनीन प्रकृति का ही निषेध नहीं करते, कल्पना की भी अधूरी सक्रियता का ही आख्यान प्रस्तुत करते हैं। भारतीय दृष्टि से कवि-कल्पना की व्याप्ति मनोमय रूप तक ही नहीं; बल्कि उक्ति-सौन्दर्य अथवा उक्ति-वक्रता तक भी है। कुन्तक ने रीति अथवा मार्ग को जो देश-धर्म अथवा वस्तु-धर्म से मुक्त कर कवि-स्वभाव से सम्बद्ध किया है उसमें भी बाह्याभिव्यक्ति का कल्पना-परक होना ही व्यंजित है।[6] इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य वाजपेयी ने कहा है—"सार्थक पद-विन्यास केवल निघण्टु का विषय नहीं है, उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है, जो शब्दों की प्रतिमा बना कर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। दूसरे अनुभूति की सार्वजनिक

१. Biograrphia Literaria, P. 169.
२. आर्ट, पृ० २६६
३. निबंध, नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० ३
४. Feeling and form
५. नया साहित्य : नये प्रश्न,
६. श्री एस. के. डे, पृ० १७
Some problems of Sanskrit poetics

ग्राह्यता का जहाँ तक प्रश्न है, उसे अगर हम कवि और सहृदय के बीच आत्मिक सश्लेषण (Spiritual Synthesis) की भी सज्ञा दें, तो उसके लिए भी किसी न किसी माध्यम का होना आवश्यक है।[1] जिस प्रकार कवि की कल्पना अथवा सहजानुभूति के लिये क्रोचे न आरम्भिक प्रभाव अथवा Impression की अवस्था को आवश्यक माना है, उसी प्रकार सहृदय क लिए भी तो उसकी अपेक्षा है। यह प्रारम्भिक प्रभाव इन्द्रिय संवेद्य सत्ता अथवा बाह्य रूपात्मक तथ्य के अभाव म असभव है। लेकिन काव्य या कला का यह माध्यम जैसा कि आचार्य वाजपेयी जी न कहा है, सामान्य न होकर विशिष्ट है, अर्थगर्भता और सार्वजनिक ग्राह्यता ही उसके विशेष गुण हैं।[2] भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने ध्वनि तत्त्व की उद्भावना द्वारा, उनके मत से, उसी तथ्य की ओर सकेत किया है। पाश्चात्य विचारक रिचड्सन ने भी अर्थ के भिन्न स्तरों की कल्पना करते हुए शब्द माध्यम के अन्तगत लेखक की भाव (feeling) तथा ध्वनि (Tone) के प्रति–दूसरे शब्दों म, विषय तथा सहृदय की एकत्र चेष्टा की स्थिति स्वीकार की है।[3]

अन्तत इस 'सम्पूर्ण साहित्य-व्यापार का लक्ष्य उनके अनुसार, रूप या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा उच्चकोटि क लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक करना है।' उनकी रस निष्पत्ति की नयी व्याख्या इसी तथ्य का विशद विवेचन प्रस्तुत करती है। यां, जैसा कि हम देख चुके हैं, सैद्धान्तिक समीक्षा के स्तर पर, इसके पूव आचाय शुक्ल न भी साधारणीकरण की प्रक्रिया का विस्तार सहित विवेचन किया था और रस निष्पत्ति विषयक कतिपय ऐसी उद्भावनायें भी प्रस्तुत की थीं, जा उनकी मौलिकता का परिचायक होकर भी सर्वथा निभ्रान्त न थीं। इसके अतिरिक्त उनके विवेचन की सीमा यह भी है कि उन्होंने अपने समय की काव्य प्रवृत्तियां के अनुरूप रस सिद्धात को विकसित करने तथा रचयिता के आत्मिक प्रयत्नों को दृष्टिगत रखते हुए नूतन काव्य रूपों क प्रभाव विश्लेषण का प्रयत्न न किया। 'विभावाद्यो कथा शरीर तदव ग्राह्य नतरत' ही उनके आदर्शों की

१ पृ० १८५,
Albert A clock, The Aesthetic of Benedetto Croce
Proceedings of the Aristotelian society, Vol XV.
If, however the artist and the observer are to have the one productively, the other reproductively the same expression or spiritual synthesis, and the same power of activity there of They must also have a common medium, the externalised expression

२ नया साहित्य नये प्रश्न

३ आलोचना, डा० रामअवध द्विवेदी, रिचर्ड्स क काव्य सिद्धान्त

४ आनन्दवर्धन

परिसीमा थी। अन प्रभाव-विषयक समस्त विवेचन को कवि-व्यक्तित्व की ओर मोड़ने का श्रेय स्वच्छंदतावादी विचारकों को है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में आराध्य-बुद्धि के प्रतिबन्धक सिद्धांत को अमान्य सिद्ध करते हुए, इस दृष्टि से आचार्य वाजपेयी ने यह अभिमत प्रस्तुत किया—'कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा, उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वयं की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती, क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है। साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता, कवि और दर्शक के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होना है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।'[1]

इस स्थापना के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण बात कवि कल्पित समस्त व्यापार के साधारण होने की है। दूसरे शब्दों में, हम इसे पूर्ण सेमीकरण का आदर्श भी कह सकते हैं। जहाँ तक आराध्य-बुद्धि के प्रतिबन्धक होने की बात है, उस सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी का यह कथन द्रष्टव्य है—"रचयिता या कवि के लिये भी तो ये देवता या पुण्य चरित उतने ही पूज्य हैं, जितने दर्शक या श्रोता के लिये।"[2] यह ठीक है कि साहित्य का रस औचित्य की सीमा में ही प्रवाहित होता है, लेकिन साहित्य में औचित्य का प्रश्न भी कवि-कल्पना की सीमा में ही परखा जा सकता है, पृथक रूप से नहीं। वस्तुतः जैसा कि वैलेस स्टिवेन्स ने कहा है, यह कवि का ही कार्य है कि अपनी कल्पना के माध्यम से आस्वादन को भूमि को प्रकाशित करे, यह आत्मिक व्याप्ति ही उसके परितोष का निमित्त है—*"He fulfills himself only* as he sees his imagination become the light in the minds of others.[3] अतः जिस प्रकार की परिस्थिति पर शास्त्रीय आचार्यों ने इतना अधिक बल दिया है, आचार्य वाजपेयी के अनुसार साहित्य की सीमा के बाहर की वह परिस्थिति है। ध्यानपूर्वक देखें तो इसके मूल में उस 'प्रमाण-सिद्धि' की ही व्याप्ति है, जिसका विवेचन भारतीय कला का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए मैंने प्रारम्भ में ही किया है। इस सम्बन्ध में आचार्यों का यह कथन—'पत्र सहृदयाना रसोन्दोष प्रमाण सिद्ध. तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पना' इसी तथ्य का संकेत है।[4] काव्य तथा कला-शास्त्रों के 'प्रमाण' तथा 'लक्षण' विषयक समस्त चर्चा कवि तथा कलाकार की कल्पना पर साहित्येतर धरातल का ही अनुशासन है।

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न

२ वही

३ पृ० २९, Wallace Stevens, The necessary Angel.

४. रस-सिद्धांत : स्वरूप और विश्लेषण, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० १३९

जहाँ तक पूर्ण समीकरण के आदर्श की परिकल्पना है, उसे हम भारतीय रस-सिद्धांत को आचार्य वाजपेयी जी की देन कह सकते हैं। कवि-कल्पना के माध्यम से नियोजित रूप की समग्रता ही आस्वाद्य है, हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक स्तर पर सर्वथा नूतन स्वर है। इसके पूर्व, जैसा कि हम देख चुके है, आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित आलबन का साधारणीकरण वस्तुत आशिक समीकरण की ही स्वीकृति था, जिससे आशकित होकर स्वय शुक्ल जी को प्रभाव के दूसरे धरातल की–जिसे उन्होंने मध्यम कोटि की रस निष्पत्ति की सज्ञा दी है, कल्पना करनी पड़ी थी। स्वच्छदतावादी विचारकों मे डा० नगेन्द्र ने प्रथमत अनुभूति के तादात्म्य की चर्चा करते हुए, पुन अनुभूति के सवेद्य रूप को आलबन से अभिन्न मानते हुए इसी अभाव की पुनरावृत्ति की है। श्री आनन्दप्रकाश दीक्षित ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए कहा है—"डा० नगेन्द्र शुक्ल जी के खडन मे यह कहकर कि केवल विभाग का साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त को मान्य नही है, स्वय उसी तादात्म्य की सचेष्टतापूर्वक स्थापना करना चाहते हैं।" वस्तुत चरित्र विशेष से आशिक तादात्म्य-कल्पना केवल आशिक समीकरण का आदर्श ही प्रस्तुत नहीं करती, रस की मूल प्रकृति, उसके आनन्दात्मक स्वरूप से भी असगति उत्पन्न करती है। दूसरे उसकी व्याप्ति की कल्पना प्रबन्ध-काव्य मे ही की जा सकती है, मुक्तकों मे नही। आधुनिक प्रगीतो के आस्वादन का जहाँ तक प्रश्न है, रूप की अविभाज्य सत्ता ही जहाँ उपादान के रूप मे सामने आती है, आशिक समीकरण की कल्पना तो वहाँ की ही नही जा सकती। अत आचार्य वाजपेयी का यह सिद्धात कि 'साधारणीकरण कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है' एक साथ ही उभय उद्देश्यो की पूर्ति करता है—

(क) प्रथमत, यह पूर्ण समीकरण का आदर्श प्रस्तुत करता है, आशिक समीकरण का नहीं।

(ख) दूसरे, इसकी व्याप्ति केवल प्रबन्ध काव्यो तक ही नही है, इसके माध्यम से भारतीय कला-दर्शन की सीमा में ही आधुनिक कला प्रवृत्तियो का प्रभाव-पक्ष भी व्याख्येय है।

आचार्य वाजपेयी के समीक्षा-सिद्धांत

—डा० कमलाकान्त पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

वाजपेयी जी की साहित्य-समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार क्या है अथवा उनकी साहित्य विषयक विचार-दृष्टि का क्या स्वरूप है, यही जान लेना यहाँ हमारा उद्दिष्ट है। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति किसी प्रथित परम्परा अथवा प्रतिष्ठित सैद्धान्तिक मान्यता का न सीधा विकास है, न अनिवार्य प्रतिफलन। उन्हें रसवादी या कलावादी समीक्षक मान लेना एकांगी विचारणा सिद्ध होगी। इसी भाँति उन्हें मात्र नवोत्थानवादी या स्वच्छंदतावादी चिन्तक की कोटि में परिगणित करना अपूर्ण जान पड़ेगा तथा उन्हें किसी बंधे-बंधाये फार्मूले का समीक्षक नहीं कहा जा सकेगा। हिन्दी की छायावादी कविता जिस प्रकार विविध प्रभावों और विचार-दृष्टियों को अपनाने पर भी एक नया प्रवर्तन समझी गई, उसी प्रकार वाजपेयी जी का साहित्य-विषयक प्रतिमान न केवल साहित्य-चिन्तन का ऐतिहासिक विकास है, वरन् वह *अभिनव उपलब्धि है। रचना और आलोचना का अंतरावलंबन जीवित साहित्य के* क्रम-विकास का अनिवार्य लक्षण है। छायावादी कविता की प्रतिष्ठा और आधुनिक साहित्य की गतिविधि के साथ वाजपेयी जी की समीक्षा घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। यदि नया नाम ही दिया जाय तो वाजपेयी जी के समीक्षा-सिद्धान्त को छायावादी समीक्षा-सिद्धान्त का अभिधेय दिया जाना चाहिए। उनकी आलोचना के मान-दंड का विकास क्रमशः हुआ है, क्योंकि यह अर्जन या उपलब्धि हैं, परिबद्धता या सीमा नहीं।

वाजपेयी जी की साहित्य-विषयक धारणा वाद-मुक्त है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें जीवन-दृष्टि का अभाव है। निश्चय ही वह समुन्नत जीवन-दृष्टि पर आधारित है, पर उसमें मानवीय पक्ष प्रधान है, बौद्धिक निरूपणों से आच्छन्न सैद्धान्तिक पक्ष नहीं। उनका मत है कि "काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतन्त्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर

उन सबका पर्यवसान रचयिता की मन स्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अतर्गत हो जाना चाहिए।" आलोचना का विषय है साहित्य और उसी के अतर्वर्ती तत्वो के आधार पर उसका विवेचन किया जाना चाहिए। समीक्षक अपने मत या वाद को ही साहित्य पर थोपता जाये तो वह साहित्य का प्रामाणिक विवेचन नही कर पायेगा। आशय यह है कि समीक्षा साहित्य के मर्म को लक्षित करती है, वह विविध प्रकार की शास्त्रज्ञता या सिद्धान्तवादो के आधार पर की गई साहित्य-परीक्षा नही है। वे साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। समीक्षा शास्त्र के सिद्धान्तो की स्थिति साहित्य-सापेक्ष है। ये साहित्य के भीतर से आते हैं, ऊपर से नही लादे जाते। अवश्य ही वाजपेयी जी को साहित्य की जीवन निरपेक्ष सत्ता मान्य नही है। अतएव वे जीवन-विषयक बौद्धिक निरूपणो या वादो की स्थिति को स्वीकार करते हुए इन्हें साहित्यिक प्रक्रिया मे अतर्निहित मानते है। साहित्य की समीक्षा का प्रतिमान साहित्य-विषयक होना चाहिए, धर्म, दर्शन, शास्त्र, या विज्ञान का *मतवाद या सिद्धात नहीं। साहित्य की रसवत्ता या उसका सौंदर्य उसके आतरिक* गुणो पर निर्भर होता है, किसी विशेष मत, सिद्धान्त या जीवन-दृष्टि पर नही। यह नि सकोच कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी साहित्यवादी हैं। उन्हे समीक्षक का लक्ष्य और उसकी सधान-प्रक्रिया मे सर्वोपरि महत्ता की वस्तु काव्यत्व या साहित्य तत्व ज्ञात हुआ है। वाद या सिद्धान्त सहायक तत्व हैं, मूल वस्तु नहीं। वाजपेयी जी ने साहित्य के इसी स्वायत्त शासन को स्वीकार किया है। साहित्य का विषय जीवन है, शास्त्र नहीं। इसी प्रकार समीक्षा का क्षेत्र साहित्य है, मतवाद नही। नई विचारणा का स्वागत साहित्य सृष्टा और साहित्य-समीक्षक दोनो करेंगे, पर वही आलोचना का मान नही होगा।

नव्यतम समीक्षा-शैलियो के सदर्भ मे वाजपेयी जी का कथन है कि "साहित्य की समाज शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा प्रभावाभिव्यजक व्याख्यायें और समीक्षा-शैलियाँ अपने आप मे पूर्ण नही है। उनकी सार्थकता साहित्यिक समीक्षा पद्धति से मिलकर काम करने मे ही है। हमारी साहित्यिक समीक्षा-पद्धति निरन्तर विकास-शील होगी और वह अन्य शैलियो या मतवादो द्वारा प्रस्तुत की गई नई विशेषताओ या नवीन ज्ञान का समुचित उपयोग करेगी। परन्तु ऐसा करती हुई वह अपनी परम्परा को छोड नहीं देगी, और न पूर्णत नई कहलाने के लिए विदेशी जीवन-दर्शनो और विचार-पद्धतियो का आख मूद कर अनुसरण करेगी। साहित्यिक समीक्षा-पद्धति क्या है? वह 'व्यापक, अनुभूत और निरापद' वस्तु है। वस्तुत वह छायावादी समीक्षा-पद्धति का विकास ही है, जिसमे वस्तुनिष्ठता, सामाजिक चेतना और साहित्यिक मर्मज्ञता का अतर्भाव हो सका है। वाजपेयी जी का यही समीक्षा-दर्श है। वे साहित्य की अतरग परीक्षा करने मे विशेषत कृतकार्य हुए हैं। उनकी साहित्य के मर्म की पहचान और उसके सौंदर्य की पकड खूब मजबूत है। वे रसग्राही

पाठक और सहृदय समीक्षक हैं। साहित्य के मूल तत्वों के आधार पर की गई समीक्षा का अपना महत्व है। वह बासी नहीं होती। इस क्षेत्र की उसकी कृत-वियता को प्राथमिक आवश्यकता नहीं, सर्वोपरि विशेषता भी समझना चाहिए। आचार्य शुक्ल के विचारों से चाहे हम सहमत न हो पाए, पर उनका साहित्य-विवेचन विश्वसनीय ही माना जायगा। सूरदास के काव्य की समीक्षा या अतरंग परीक्षा आज भी बेजोड है। अवश्य ही उनके निर्णय या सैद्धान्तिक निरूपण अमान्य हो सकते हैं और प्राय. हैं भी। वाजपेयी जी इसी प्रकार की साहित्यिक रसज्ञता को समीक्षा का मूलभूत तत्व मानते हैं। उन्होंने साहसपूर्वक साहित्य की स्वतन्त्रता का उद्घोष किया है। स्पष्टत उनकी समीक्षा का मान साहित्य है, मतवाद नहीं। साहित्य मानवीय अनुभूति या जीवनानुभूति है और मतवाद जीवन विषयक सिद्धान्त। वाजपेयी जी की समीक्षा मे वे तभी स्वीकृत होंगे, जब साहित्य के माध्यम से वे आए अर्थात् जीवन-दर्शन के रूप मे अभिव्यक्त हो। साहित्य के अतर्गत वे स्वतन्त्र निरूपण नही हैं।

वह साहित्यिक मानो से की गई साहित्य की समीक्षा है। यह दृष्टि इस अर्थ मे ग्राह्य है कि जिस भांति जीवन के सिद्धान्त जीवन पर आधारित ही नहीं, उसी से अनुस्यूत भी होने चाहिए, उसी भांति समीक्षा के सिद्धान्त साहित्य पर अवलंबित हो न हो, वे उसी से उद्भूत भी होने चाहिए। इस विचारणा की यह उपलब्धि है कि समीक्षा निगमनात्मक होने के कारण अधिक यथातथ्य ज्ञात होती है, पर यह सीमा है कि समीक्षक की रस-संवेदना यदि अपरिपक्व हुई अथवा वह कतिपय पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रही तो समीक्षा दिग्भ्रान्त हो सकती है। वह वैयक्तिक होगी अवश्य, पर वस्तुनिष्ठ भी इसी कारण बनी रहेगी। यदि उसके कतिपय सुस्थिर और विकासमान साहित्य-सिद्धान्त हो तो वह अधिकाशत प्रामाणिक समझी जायगी।

वाजपेयी जी का साहित्यिक विवेक उनकी सस्कारिता से व्युत्पन्न तथा विद्वता से चमत्कृत है। इसी कारण उनकी समीक्षा-दृष्टि स्वच्छ और तीक्ष्ण है। उनके सैद्धान्तिक विचारों की अपेक्षा उनका काव्यालोचन कहीं अधिक तलस्पर्शी और स्थायी है। उनकी स्थापनाएँ भी प्राय उनके साहित्य-विवेचन के माध्यम से ही आई हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा के निबन्ध नए चिंतन के उदाहरण हैं, पर वे अधिक नहीं हैं। उनका कार्य प्राय सूत्र-पद्धति को अपनाकर अग्रसर हुआ है, अतएव उसमे इगित अधिक हैं और व्याख्याएँ कम। पर वह अत्यन्त व्यक्तिवादी जीवन-चेतना का परिणाम है। अवश्य ही यह व्यक्ति-निष्ठता जीवन की प्रबुद्ध चेतना है, असामाजिकता, एकागिता या वैचारिक असतुलन नहीं। वाजपेयी जी ने अपनी सुरुचि, संवेदन-क्षमता और साहित्यिक संस्कारों को सैद्धान्तिक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। अवश्य ही ये सिद्धान्त प्रत्यक्ष जीवन और उपलब्ध साहित्य से गृहीत हुए हैं, किसी साहित्येतर शास्त्र, विज्ञान या अध्यात्म विद्या से नहीं। वाजपेयी जी के समीक्षा-कार्य को इन्हीं सिद्धान्तो ने व्यापकता प्रदान की है और वे शुक्लोत्तर हिन्दी

समीक्षा को विकास-स्थितियो की ओर अग्रसर कर सके हैं। उनके विचार नए समीक्षा शास्त्र की पीठिका प्रस्तुत कर पाए हैं। इस क्षेत्र मे उनके कार्य की अभी अशेष सभावनाए हैं।

वाजपेयी जी मुख्यत छायावादी समीक्षक हैं, उन्होंने बडे प्रयत्न और साहस के साथ अपनी विचार-भूमियो का निरन्तर क्षेत्र-विस्तार किया है। अत वे विकास-शील रहे हैं। उन्होने छायावादी समीक्षा की सीमाओ को पहचाना है और इसी कारण वे अपने विचारो को सैद्धान्तिक आधार, वस्तुनिष्ठ स्वरूप और सामाजिक आशय भी अधिकाधिक देते गए हैं। उनका आरभिक कार्य ऐतिहासिक महत्व की वस्तु है। अतएव उसमें नववय का उत्साह और स्वच्छन्दता का ओज अधिक है। वहाँ वे शुक्ल जी की समीक्षा-दृष्टि के आलोचक दिखाई पडते हैं और इसी कारण उनका कार्य नव्य प्रवर्तन ज्ञात होने लगता है। कालातर मे वे पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र और भारतीय अलकार-शास्त्र के सिद्धान्तो को अधिक समन्वित रूप में व्यवहृत कर पाते हैं। वे अपनी पीढी मे हिन्दी-समीक्षा को एक विशेष प्रकार की पूर्णता देने के लिए यत्नशील दिखाई पडते हैं।

वाजपेयी जी अनुभूति की सामाजिक संवेदन-क्षमता का आग्रह करते हैं और नगेन्द्र जी उसकी अतरग परीक्षा पर बल देते हैं। वाजपेयी जी आदर्श और नीति के उत्तरवर्ती सीमात पर हैं और नगेन्द्र जी व्यक्ति और उसकी वास्तविकता के पूर्ववर्ती छोर पर। एक पर अध्यात्म की छाया विद्यमान है, दूसरे पर वैज्ञानिक अत प्रकाश की दीप्ति प्रत्यक्ष। दोनो ही शास्त्र-निष्णात हैं, साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक हैं और छायावाद-युग की सृष्टि हैं। वाजपेयी जी का व्यक्तिवाद बहिर्मुख अधिक है, नगेन्द्र जी का व्यक्तिवाद अतर्मुख अधिक। दोनो का विवेचन प्रामाणिक और निर्भ्रान्त-प्राय है। वाजपेयी जी नव्यता और विशेषत पश्चिमी सौंदर्य-शास्त्र की ओर जितने आकृष्ट हैं, नगेन्द्र जी परम्परा और विशेषत भारतीय अलकार-शास्त्र की ओर उतने ही उन्मुख। यहाँ रुचि की प्रमुखता लक्षित हुई है, क्योकि परम्परा और नव्यता तथा पश्चिमी और भारतीय समीक्षा-शास्त्र को दोनो ने ही अशत अपनाया है, वाजपेयी जी के चिंतन में स्वच्छन्दता अधिक है, नगेन्द्र जी के विचारों मे शास्त्रानुगमन की प्रवृत्ति अधिक। दोनो को समीक्षा की शास्त्रीय परपरा का विकास काम्य है, पर एक को मानवीय आधार पर, दूसरे को वैज्ञानिक भित्ति पर। हिन्दी समीक्षा के नव्य विकास मे दोनो का महत्वपूर्ण प्रदेय है। पर यह अतर द्रष्टव्य है कि वाजपेयी जी छायावाद की आदर्शोन्मुख प्रवृतियो को लिए हुए हैं और नगेन्द्र जी उसकी यथार्थोन्मुख प्रवृतियों को। साहित्य के परीक्षण कार्य मे वाजपेयी जी उत्थान और उत्कर्ष पर मुग्ध होते हैं, नगेन्द्र जी भी इसी कार्य के माध्यम से 'गरिमा' और औदार्य का महत्व स्पष्ट करते हैं। अतएव उक्त दोनों आचार्यों में

एक ही युग की सृष्टि होने के कारण साम्य के सूत्र ही अधिक हैं। पर वे दो भिन्न दशकों के निर्माण हैं, अतएव वैचारिक विभेद भी स्वभावतः होना चाहिए और वह है। दोनों में अंतर मूलतत्वों का कम है, चिन्तन प्रवृत्ति का अधिक है। यहाँ यह तुलना इस अभिप्राय से की गई है कि छायावादी समीक्षा को पूर्णतया समझा जा सके। दोनों आचार्यों ने शुक्ल जी के समीक्षा-कार्य का विकास किया है। नगेन्द्र जी परवर्ती आलोचक हैं, अतएव इस समीक्षा की कमियों के प्रति वे अधिक अवधानता बरत पाए हैं। उनके कथन इसी कारण प्रमाण-निबद्ध अधिक हैं। वाजपेयी जी मन्थनाकांक्षी रहे हैं, अतएव अपने चिन्तन और समीक्षण का वे निरन्तर परिष्कार करते रहे हैं। वाजपेयी जी साहित्य की समसामयिक गतिविधि के प्रति अनवरत रूप से पूर्ण सजग रहते आए हैं। उनकी विकासशील साहित्यिक चेतना का यही प्रमुख कारण है। वाजपेयी जी छायावादी समीक्षक हैं अवश्य, पर इसका अभिप्राय क्या है? इसके अंतर्गत उनकी स्थिति, प्रवृत्ति और उपलब्धि क्या है? उनकी सीमा और विशेषता कहाँ है? यही निर्देश करने के लिए ये तुलनात्मक संकेत रक्खे गए हैं। पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों के कार्य और विचार में स्वभावतः अंतर होना चाहिए और वही यहाँ लक्षित हुआ है। किसी को बड़ा या छोटा बताना मेरा उद्देश्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि 'मोर कहब सब भाँति भदेसू'।

वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि के तत्वों का निरीक्षण करने के पूर्व यह उपादेय जान पड़ता है कि उसकी विविध अगभूत धारणाओं या विचार-सरणियों का विवरण दे दिया जाय। वाजपेयी जी को सामान्यतः रसवादी आचार्य माना जाता है, पर वे रूढ़ अर्थ में रसवादी नहीं हैं। रस की आस्वाद्यता तथा सौन्दर्य की संवेदना को वे पृथक् वस्तु नहीं मानते। उन्होंने काव्य के रस और कला के सौन्दर्य को प्रायः एक ही भूमिका पर स्वच्छन्द रूप में उपस्थित किया है। आशय यह है कि सौंदर्य-संवेदना का आह्लाद और रसास्वादन का आनन्द उनके निकट विरोधी या विजातीय तत्व नहीं हैं। वे आत्मानुभूति को साहित्य का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। उसके स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने रस सिद्धान्त, ध्वनि सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का आधार ग्रहण किया है। वाजपेयी जी रस सिद्धान्त के अनुसार यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है। स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य सृष्टि हो ही नहीं सकती, यह कहते हुए वे ध्वनि सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। आशय यह है कि साहित्य की विविधता के अंतर्गत एकात्म्य स्थापित करने वाली शक्ति आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही है, जो उसके मर्म में काम करती है। वे क्रोचे के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति में कोई अंतर नहीं है। अनुभूति आत्मिक व्यापार का परिणाम है, जिसे सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त होना पड़ता है। अतएव अनुभूति, अभिव्यक्ति और काव्य समानार्थी हैं, इनमें पूर्ण तादात्म्य है। वे अनुभूति के

स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि "क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखड अनुभूति समस्त कवियो और रचनाकारो मे होती है। काव्य मात्र मे उसकी अखडता स्वयसिद्ध है।" उनकी मान्यता है कि "काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नही जानती।" *आशय यह है कि काव्य और कला की विषय-वस्तु अनुभूति है। उसका* प्रकृत स्वरूप देश-काल परिबद्ध नही है। रस-सिद्धान्त के आधार पर भी वे यही सिद्ध करने के लिए सचेष्ट हैं। उनका कथन है कि "समस्त काव्य-शैलियो और काव्य-स्वरूपो मे अनुभूति की अखड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयो ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।" वे *आत्मानुभूति को काव्य मात्र की विशेषता मानते हुए काव्य के व्यक्तिगत और वस्तु-*गत भेदो को ही अस्वीकार नही करते, बल्कि रस-भेद और काव्य रूप के भेदो को भी तत्वत सारहीन समझते हैं। कलाकार की रुचि और योग्यता के अनुसार वास्तविक अनुभूति भिन्न-भिन्न माध्यमों का उपयोग करती अवश्य है, पर "एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के सम्बन्ध मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि *प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है।" वाजपेयी जी मानते हैं* कि "आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।" उपर्युक्त विवरण इस अभिप्राय को स्पष्ट करता है कि वाजपेयी जी आधुनिक साहित्य के कृतविद्य आचार्य हैं, वे एकातत रसवादी समीक्षक नहीं हैं।

उन्होने रस-मत और क्रोचे के कला-सिद्धान्त को एक-दूसरे के समकक्ष रखा है। इसके दो कारण हैं। प्रथमत ये दोनो सिद्धान्त आत्मवादी दर्शन के परिणाम हैं। अतएव इन्हे एक साथ देखा-परखा जा सकता है। दूसरा कारण यह है कि छायावाद युग का साहित्य प्राचीन अलकार-शास्त्र के सिद्धान्तवाद के प्रति एक प्रकार का उपेक्षा भाव रखता आया है। उस पर पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यताओ का प्रभाव मौजूद है। वाजपेयी जी भी इसी चेतना से अनुप्राणित हैं। अतएव वे रस सिद्धान्त को स्वच्छन्दतापूर्वक ग्रहण करते हैं। उनके यहां आकर उसका मतवादी स्वरूप और उसकी वैचारिक रूढियां महत्व हीन हो जाती हैं। वे एक नया तात्विक सामजस्य प्रस्तुत करते है, *जिसके आधार पर सौन्दर्य-सवेदन* और रसास्वादन की एक ही कोटि दिखाई पडती है। यह कार्य इसलिए सम्पन्न *हो पाया, क्योंकि रचना-प्रक्रिया और आस्वाद्यता* के दोनो छोरो को एक साथ देख लेना भी आवश्यक था। आत्मवादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण काव्य का उद्गम और आस्वादन एक ही विभावन व्यापार की भिन्न स्थितिया मात्र ज्ञात हुआ। अतएव काव्य और कला मे *तात्विक अतर ही नही रह गया। अनुभूति और* अभिव्यक्ति मे भी कोई विभेद नहीं माना गया। अस्तु, रस और सौन्दर्य या अनुभूति और सौष्ठव तत्वत. एक ही वस्तु समझ गए। वाजपेयी जी रसवादी हैं

अवश्य, पर वे कलावादी भी है। उन्होने रस-सिद्धान्त और अभिव्यजनावाद को एक दूसरे के पूरक या सहायक के रूप मे ग्रहण किया है। वे रस-सिद्धात और ध्वनि-सिद्धांत को आधार बनाकर पश्चिमी चिन्तन को अपनाने की नवीन साहित्यिक आवश्यकता का प्रतिपादन भी करते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि वाजपेयी जी उपर्युक्त सिद्धातो को तत्ववाद के रूप मे ग्रहण करते है, उनके अवयवो के या वैचारिक ऊहा-पोहो के फेर मे वे नही पडते।

कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वाजपेयी जी कहते है कि "काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियो का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र मे स्वभावत अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है।" यहाँ वाजपेयी जी 'रस' की सत्ता का निर्देश ही नही करते है, बल्कि वे 'सौन्दर्य-सवेदन' के द्वारा काव्य-कृति को कला के रूप मे सकेतित भी करते हैं। उन्होने शुक्ल जी को रस दृष्टि मे सवेदना-पक्ष या आस्वादन-क्षमता की न्यूनता अनुभव की है और उसी को यहाँ प्रधान माना है। अवश्य ही वे रसावयवो को एकान्तिक महत्व नहीं देते।

उनका दृष्टिकोण शास्त्र निबद्ध नही है, स्वच्छन्द है, और उसमे मानवीय पक्ष को ही प्रधानता दी गई है। इसी कारण वे कह सके है कि "काव्य का वास्तविक सौन्दर्य कवि के काव्योत्कर्ष की भावात्मक परीक्षा मे निहित है।" यह भावात्मक परीक्षा शुक्ल जी के लोकवाद से भिन्न आत्मपरक भूमि पर प्रतिष्ठित हुई, पर इसमे मानव-निष्ठा की प्रधानता होने के कारण वह मनोजगत् को आधार बनाकर अग्रसर हुई। अतएव वह किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक परिपाटी का अनुवर्तन नही बन पाई। वाजपेयी जी ने प्रसाद जी को मानवीय अनुभूतियो का कवि कहा है और उनकी इसी कारण आशसा की है।

वाजपेयी जी ने अभिव्यजनावाद की सीमा का निर्देश इस प्रकार किया है—"काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यजना का ही सौन्दर्य नही है, अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानववृत्तियो से है, जबकि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य-प्रकाशन से है।" अभिव्यजना का अनावश्यक महत्त्व उन्हे अमान्य है। यहाँ मात्र प्रसाधन प्रियता का विरोध किया गया है। उन्होंने अलकार-प्रियता को काव्योत्कर्ष मे बाधक प्रवृति माना है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को पूर्णत. तद्रूप या एकान्वित करके ही कविता अपने उच्चतर स्तर को प्राप्त कर पाती है। अतएव वाजपेयी जी अभिव्यजनावादी समीक्षक सिद्ध नहीं हो पाते। उन्हे इसी कारण सौष्ठववादी आलोचक कहा जाता है, क्योकि "अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हे मान्य है।"

वाजपेयी जी ने द्विवेदी-युगीन उपयोगिता के सिद्धान्त का ही नही, परवर्ती साहित्येतर प्रयोजनो और मतवादो का भी विरोध किया है। वे काव्य की रसवत्ता या उसके सौन्दर्य की अतरग परीक्षा को समीक्षक का मूल कार्य समझते हैं। उनका कथन है कि "किसी पूर्व-निश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परीक्षा नही की जा सकती। सिद्धात सीमित हैं, कला की कोई सीमा नही है। उसे किसी भी बन्धन मे नही बाधा जा सकता। केवल सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, परन्तु सौन्दर्य की परख के कोई निश्चित आधार नही बतलाए जा सकते।" वाजपेयी जी साहित्य-समीक्षा का आधार कला-कृति के अन्तर्गत ही मानते हैं। वे जिस भाँति अभिव्यजना के सिद्धात को पूर्णरूपेण स्वीकार नही करते, उसी भाँति वे मात्र सौन्दर्य या अनुभूति को ही एक एकान्तिक महत्त्व नही देते। उन्हे सौन्दर्यवादी समीक्षक इसी कारण नही कहा जा सकेगा। वे आदर्शवादी समीक्षक हैं और मानवता को महत्त्वपूर्ण वस्तु मानते रहे हैं। वाजपेयी जी को शुक्ल जी का न नीतिवादी दृष्टिकोण मान्य है और न उनका मर्यादावादी आदर्शवाद स्वीकृत है। इसी प्रकार उन्हे व्यक्तिवादी नीति-निरपेक्षता और बुद्धिवादी वैयक्तिक आदर्श भी अमान्य है। वे समाजनिष्ठ मानवतादर्श और जीवन विकास की सहयोगिनी नैतिकता को काम्य मानते हैं। पर यह सब साहित्य पर आरोपित नही हो सकता, वह रचनाकार की जीवन दृष्टि के रूप मे साहित्य की अतरग वस्तु ही बन पाता है। वे मानव अनुभूतियो को महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं, अतएव सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता को उन्होने कही तरह नही दी। वे कला को जीवन-सापेक्ष मानते है, अतएव वे कलावादी नही है। वाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि मे पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्त स्वच्छन्दतापूर्वक गृहीत अवश्य हुए हैं, पर उनमे से किसी को भी उन्होने समग्ररूप मे और पूर्णत. स्वीकार नही किया अर्थात् उसका अनुसरण नहीं किया।

वाजपेयी जी की समीक्षा मे मानववादी चेतना परिव्याप्त है। वे एकातिक वैयक्तिकता के विरोधी हैं, क्योकि उसके द्वारा जीवन विकास की सभी सभावनाए निरदोप हो जाती हैं। इसी प्रकार वे समाजवादी साहित्य-प्रक्रिया को सदोष पाते हैं, क्योकि वहा व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वाजपेयी जी व्यक्ति और समाज की एकागी विचार पद्धतियो को अपूर्ण समझते हैं। मानव दर्शन के द्वारा इन दोनो मे सुदृढ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो पाता है। मानव का अन्तर-बाह्य विशिष्ट होकर भी सामाजिक अनुभूतियो का आशय लिए हुए है। मैं यह नही कहूगा कि छायावादी समीक्षा का यह मूल-भूत आशय है, पर अवश्य ही उसे कालातर मे ग्रहण किया जा सका है। वाजपेयी जी ने प्रगतिशील साहित्य के जिन तीन सूत्रो का उल्लेख किया है, यथा "जीवन-आस्था, परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप नियोजन", उसके मूल मे इसी मानववादी विचार-धारा की सक्रियता दिखाई पड़ती है। वाजपेयी जी का प्रगतिशील साहित्य-

विषयक दृष्टिकोण उनकी जीवन्त साहित्य की धारणा का परिचायक है। यहाँ किसी मतवादी धारणा को प्रकट नहीं किया गया। अवश्य ही वाजपेयी जी का दृष्टिकोण क्रमश समाजोन्मुख हुआ और उसमे जीवन-विकास के उत्कर्षापकर्ष सम्बन्धी विवेक का समावेश हो सका। इसे उनके छायावादी समीक्षा-सिद्धान्त का विकास समझना चाहिए। आरम्भ मे छायावादी कविता के अतर्गत जिन राष्ट्रीय और सास्कृतिक तत्वो को वाजपेयी जी ने इगित किया था, मानवास्था विषयक इस चिंतन म उसी की युगानुरूप नई परिणति हो सकी है।

वाजपेयी जी ने मानवता से रस का सम्बन्ध भी स्थापित किया है। जीवन के कतिपय स्थायी तत्व या मूलभूत तथ्य होते है। युग बदलता है, समाज बदलता है और जीवन की परिस्थितिया निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, पर मानव मूलत वही रहा करता है। प्राण-चेतना की भाँति उसकी अनुभूतिशीलता या सवेदन-क्षमता यथावत् स्थिर रहती है। जीवन के इसी मूल तथ्य के आधार पर काव्य का श्रेष्ठत्व परीक्षित हो पाता है। मानव के स्थायी मूल्य या मान को ही मानव-वाद की सज्ञा दी जाती है। वाजपेयी जी रस को इस अर्थ मे काव्य की आत्मा मानते हैं कि "प्रत्येक काव्य म यदि वस्तुत काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियो का सकलन होगा ही। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानववादी सत्ता से है।" छायावाद के मूल मे अस्पष्ट-रूपेण मानववादी विचार-तत्व अन्तर्निहित रहा है। वाजपेयी जी उसी को उत्कर्षित करते हुए अपने समीक्षा-दर्शन को परिपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं। उन्हे शेक्सपीयर, टालस्टाय, कालिदास, आदि ने अपनी इसी मानववादी भाव-चेतना के कारण आकर्षित किया है।

रस का अनुभूति से सीधा सम्बन्ध है। अतएव वाजपेयी जी उसे काव्य का मूलभूत अन्तर्वर्ती तत्त्व मानते हैं। यह कहकर कि "रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड :से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है", उसके लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व से वे एकदम अपनी असहमति विज्ञापित करते हैं। वाजपेयी जी ने आत्मवादी दर्शन से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है और वे छायावाद, रहस्यवाद, कला-सिद्धान्त और रस-मन को कदाचित् इसी कारण ग्रहण कर सके हैं, पर उन्होने कही भी मानवीय पीठिका का परित्याग नही किया। उन्होने कोरी आध्यात्मिकता को असामाजिक वस्तु ही नही, बहुत-कुछ काव्योत्कर्ष का बाधक तत्त्व भी समझा। इसी कारण महादेवी जी के काव्य की एकागिता को उन्होंने कला-सीमा ही माना, विशेषता नही। वे अध्यात्म या दर्शन को अनुभूतियो की सामाजिक स्थिति की सापेक्षता मे ही ग्रहण कर सके है। उन्होंने अपने समग्र समीक्षा-कार्य मे जीवन की वास्तविकता और मानव की सहज स्वाभाविकता को ही साहित्य की स्तरीय वस्तु माना है। वे मानवीय उत्थान या आदर्श अनुभूति के उत्कर्ष या उन्मेष की विवेचना अवश्य करते है, पर उन्ह जीवन की असाधारणता, मानवीय कृत्रिमता,

समाज-निरपेक्ष वैयक्तिकता, असाधारण आध्यात्मिकता या व्यक्ति-निरपेक्ष सामाजिक समानता अथवा सामूहिकता का कही समर्थन नही करते। सरल सात्विक भावनाएँ, सुष्ठु कल्पनाएँ, स्वाभाविक जीवन, चारित्रिक और प्राकृतिक सौन्दर्य, आदि की उन्हे सदैव अपेक्षा रही। उनकी रस-विषयक व्याख्या मानववादी धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। वे मन की वस्तुस्थिति और स्वाभाविक प्रक्रिया से रस को सम्बद्ध कर देते है। अवश्य ही वह मन का सस्कारक भी ज्ञात होता है। उन्होने अपने रस-विवेचन मे मनोवैज्ञानिक अथवा समाज-शास्त्रीय मान्यताओ की कही अतिरिक्त सहायता नही ली। वे रस के मानसिक पक्ष और सामाजिक प्रभाव की चर्चा अवश्य करते हैं; पर वह क्रमश वैयक्तिक अनुभूति और साहित्य का सामाजिक आस्वादन या सवेदन ही है। उसे उन्होने मन.प्रक्रिया या सामूहिक भाव-चेतना से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान से सयुक्त नही किया। वे वस्तुतः यथार्थवादी समीक्षक हैं ही नही। उन्होने यथार्थवाद की सीमाओ का बडे आत्म-विश्वास के साथ निर्वचन किया है। वे स्वच्छन्द प्रवृत्तियो के आदर्शवादी समीक्षक हैं। अवश्य ही यह आदर्शवाद स्थूल, व्यक्त या प्रत्यक्ष वस्तु नही है। इसे नवयुग की सास्कृतिक चेतना का परिणाम और कलागत सौन्दर्य-बोध का पर्याय समझना चाहिए। मैं इसे आदर्शनिष्ठ मानवतावाद से भिन्न कोटि के विकासशील मानववाद से सबद्ध मानता हू। वाजपेयी जी ने अपने साधारणीकरण-सम्बन्धी विवेचन मे इसी दृष्टि का परिचय दिया है। पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों से यही उनका विभेद है।

वाजपेयी जी ने आनन्द या आह्लाद के स्वरूप को कही स्पष्ट नही किया; पर वह बहुत-कुछ तल्लीनता, तन्मयता या तद्वत् अनुभूति-सवेदन का पर्याय ही है। साहित्य और ललित कलाओ की सर्जना मे एक जैसी मानसिक प्रक्रिया की स्थिति मान लेने के कारण उनके सप्रेषण और सवेदन मे स्वभावतः अभेद ज्ञात होने लगता है। वाजपेयी जी ने इसी कारण शैली को पृथक् वस्तु नही माना। वे अनुभूति के साथ उसका नित्य सम्बन्ध मानते हैं। अतएव कला-पक्ष जैसी कोई पृथक् वस्तु नही है। वह तो भाव-पक्ष का ही व्यक्त किन्तु अविच्छिन्न स्वरूप है। इस विचार-पद्धति का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि शुक्ल जी की भाँति रस की स्थिति आलबनत्व-धर्म मे ही परिमित नही रह पाई, उसे समग्र कवि-कर्म मे सन्निहित माना गया। यह कथन द्रष्टव्य है कि "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव मे कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नही।" छायावादी काव्य की समीक्षा मे यही दृष्टि प्रमुख रही, अन्यथा रूढ अर्थ मे उसके कवि-कर्म को रसात्मक नही कहा जा सकता था। वहाँ रस काव्य की रसमयता या रसवत्ता का समकक्ष समझा गया और कवि-कल्पना रचना-प्रक्रिया का मूलभूत तत्व स्वीकृत हुई। स्पष्टत. अब अनुभूति-व्यजना ही रस-निष्पत्ति मानी गई। यहाँ

रस-ध्वनि को रूढि के आधार पर नही, स्वच्छन्दतावादी विचारणा के परिणाम-स्वरूप ग्रहण किया गया, जिसमे रस के अवयवो के स्थान पर समस्त कवि-व्यापार की महत्ता निर्धारित हुई। नगेन्द्र जी ने भी कवि की अनुभूति का ही साधारणीकरण स्वीकार किया है, पर उनके इस निष्कर्ष की उपलब्धि के भिन्न कारण हैं। वे आत्माभिव्यक्ति को काव्य की मूल प्रेरणा मानते है, जो स्वय आनन्द का कारण भी बनती है। वाजपेयी जी की दृष्टि मे सौन्दर्यानुभूति या अनुभूति-सौन्दर्य ही काव्य या कला का मूल तत्त्व है, पर नगेन्द्र जी की विचारणा मे अनुभूति के वास्तविक स्वरूप या उसकी मनोवैज्ञानिक असलियत को ही वह स्थान सप्राप्त है। इस अन्तर को युग-चेतना के विकास-क्रम के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। नगेन्द्र जी ने इसी कारण शास्त्रीय प्रामाणिकता तथा वैज्ञानिक वस्तुमत्ता को अपने साहित्य-चिन्तन मे अतर्भुक्त किया है और वाजपेयी जी ने अपने समीक्षा-कार्य मे मुख्यत आत्मवादी चेतना का आन्तरिक सगठन किया है। फलत अनुभूति का तात्विक स्वरूप और उसी का स्वाभाविक सौन्दर्य क्रमश नगेन्द्र जी और वाजपेयी जी की दृष्टि मे साहित्य का मूल तत्त्व बन जाता है। वाजपेयी जी इसी कारण जितने आदर्शोन्मुख हैं, नगेन्द्र जी उतने ही यथार्थोन्मुख। पर छायावादी साहित्य-चिन्तन की परिधि मे ही दोनो ने अपना-अपना स्वतन्त्र विकास किया है।

वाजपेयी जी ने रस को उदात्त नैतिक चेतना से सम्बद्ध अनुभव किया है। यह जीवनोत्कर्ष-विधायिनी वह प्रवृत्ति है, जो स्थूल आदर्श और रूढि-बद्ध नैतिकता या परपरित मर्यादा के रीति-नियम से स्वच्छन्द होकर अग्रसर होती है। वह विधि-निषेध नही है, उन्नयन-मूलक भाव-चेतना मात्र है। जीवन-सौन्दर्य की नियामक भी सम्भवत वही है। अनुभूति को प्रधानता देने के कारण वे साहित्य में बुद्धिवाद के अतिरिक्त महत्व को स्वीकार नही कर पाते। उनका मतव्य है कि साहित्य "बुद्धि, दर्शन, नीति, विज्ञान, सबको रसमय बनाकर उपस्थित करता है।" वह सहायक तत्त्व है, साहित्य का मूलतत्त्व नही। उन्होने साहित्य की ह्रासशील प्रवृत्तियो का विरोध किया है और विकासशील प्रवृत्तियो का सवर्द्धन। स्पष्टत जीवन-विषयक आस्था, विकास या आशा उनकी नैतिक चेतना का ही परिणाम है। वाजपेयी जी का मत है कि "श्रेष्ठ काव्य का नैसर्गिक या प्रतिभा तत्त्व भावात्मक होता है। उसका स्थायी तत्त्व है समाज की नैतिक चेतना और उसका गतिमान तत्त्व है कवि की दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक अभिज्ञता। कहने की आवश्यकता नही, ये तीनो तत्त्व गहरे अनुभवो या अनुभूतियो पर आश्रित हैं और इन गहरे अनुभवों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के स्थितिशील और गतिशील तत्त्वो मे दुहरे रूपो से है। ऊपर से न दिखाई देने पर भी कवि की निगूढ चेतना मे इन तीनो तत्त्वो का समावेश रहता है।" प्रसगत यही उपर्युक्त विवेचन का सक्षेप है।

वाजपेयी जी अपनी छायावादी दृष्टि को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ, सामाजिक तथा परिपूर्ण बनाने के लिए यत्नशील रहे हैं। उन्होंने अनुभूति को नैतिक चेतना से सम्बद्ध किया है और वैयक्तिक अनुभवों को सामाजिक आशय दिया है। प्रयोगात्मक आलोचना के अन्तर्गत उन्हें वस्तुमुखी विवेचन, ऐतिहासिक निरूपण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और समाजशास्त्रीय विवरण साहित्य के रस-सवेदन अथवा सौन्दर्य सम्प्रेषण के स्पष्टीकरण के लिए उपादेय ज्ञात हुए हैं। यह उनकी सश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है, जो समीक्षा को अधिकाधिक प्रामाणिक स्वरूप देना चाहती है। उन्होने एकांगी विचार-पद्धतियों का विरोध किया है। पर इस दृष्टि की यह सीमा है कि यहां व्यक्तिगत रुचि, प्रवृत्ति और निर्णय का अन्तर्भाव भी होता है। वस्तुत. साहित्य की भावात्मक परीक्षा को वस्तुनिष्ठ बनाने का यह सक्षम उपक्रम है।

वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि राष्ट्रीय और सास्कृतिक परिपार्श्वों को स्वीकार करके विकसित हुई है। वह ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को अपनाकर सास्कृतिक परिणतियों, दार्शनिक मान्यताओं और राष्ट्रीय विशेषताओं का आकलन करती चलती है। आशय यह है कि वाजपेयी जी समीक्षा के अन्तर्गत व्यापक जीवन-दृष्टि और नई बौद्धिक उपलब्धियों को अंगीकृत करते रहे हैं। उन्होने अपनी स्वच्छदतावादी जीवन-दृष्टि को क्रमश परिष्कृत, समुन्नत और समृद्ध बनाया है। अवश्य ही उसका मूल स्वरूप नही बदल पाया है। यह पूछा जा सकता है कि क्या यही परिपूर्ण विचारणा है अथवा स्वच्छद दृष्टिकोण की सैद्धान्तिक पूर्णता है? स्वच्छद और व्यक्तिनिष्ठ साहित्य-सवेदन ही क्या साहित्य की मूलभूत कसौटी है? क्या यही साहित्य का अपरिवर्तनीय तत्त्व है? वाजपेयी जी ने अपने आदर्शोन्मुख स्वच्छद साहित्य सिद्धान्त को निरन्तर पुष्ट और विकसित किया है। उसका स्थायी रूप मे जो भी ऐतिहासिक मूल्य हो, पर वह प्राणवान्, युग सापेक्ष और विकासशील धारणा अवश्य है। मानववाद को अपनाने के कारण वह व्यापक बन सकी है, पर वही अनेक सिद्धातो को अस्वीकृत करके ही सम्मुख आ पाई है। अतएव उसकी सीमायें वे ही हैं, जो किसी भी पूर्णत्व का भी मानव की होती हैं। वह दिक्काल-परिबद्ध है और उसके समस्त चिंतन का सापेक्षिक महत्त्व ही तो है। यह आरोप किया ही गया है कि यह समीक्षा सिद्धान्त यथार्थवादी साहित्य का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन करने मे अकृतकार्य रहा है। यह तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि नए साहित्य का सीमा निर्देश तथा उसके अभाव और दोष के सकेत इसके द्वारा प्रामाणिक रूप से विवेचित हुए हैं, पर उसकी अनुकूल तथा अनुरूप समीक्षा इसके द्वारा सभव नहीं हुई। इसका कारण है साहित्य के दृष्टिकोण का अन्तर। वाजपेयी जी ने छायावाद-युग की सहृदयता-पूर्वक समीक्षा की है, पर परवर्ती साहित्य को उनकी सहृदयता का अल्पाश भी सुलभ नही हुआ। नए साहित्य का उनका विवेचन

सैद्धान्तिक प्रामाणिकता तथा साहित्यिक मूल्यांकन का विशेषत्व लिए हुए है; पर वह नव्यचेतना के साथ कही एकात्म नही हो पाया। आशय यह है कि वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि अतिशय प्रबुद्ध और बहुमुखी व्यापकता से एक ओर सम्पन्न हो उठी है; पर वही दूसरी ओर यथार्थ-निष्ठ नई साहित्य-चेतना से भिन्न-कोटि के कतिपय राष्ट्रीय-सास्कृतिक तत्त्वो को अपनाने लगी है। वाजपेयी जी का यह कथन वस्तुतः उनके ही समीक्षा-कार्य पर टिप्पणी है, यथा—'छायावाद-युग मे एक नए धरातल पर समीक्षा-दृष्टि का उन्नयन हुआ। कला की अधिक शुद्ध और सूक्ष्म चेतना नीतिपरक दृष्टि के स्थान पर मानववादी दृष्टि का आग्रह, नियम के स्थान पर सवेदनशीलता का उत्कर्ष और काव्य-सौष्ठव के प्रति अधिक अभिरुचि, उसकी मुख्य विशेषतायें थी। इसके साथ ही हिन्दी मे अनेकमुखी वस्तुपरकता का आगमन भी हुआ। मनोविज्ञान, इतिहास और समाज-शास्त्र की नई शोधो का आकलन साहित्य-समीक्षा के धरातल पर किया गया। एक अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई और सास्कृतिक भूमिका पर साहित्यिक मूल्याकन की प्रवृत्ति दृढमूल हुई।" उपर्युक्त अवतरण का प्रथम वाक्य वाजपेयी जी का समीक्षा-सिद्धान्त है और शेष तीनो वाक्य उसकी विकास-स्थिति की उपलब्धियो के परिचायक। वाजपेयी जी की आत्म-निरीक्षण की क्षमता अपूर्व है। यहाँ उन्होने अपने सिद्धात, कार्य और पद्धति का साराश ही प्रस्तुत कर दिया है। और यह सत्य है कि मुझे किसी भिन्न निष्कर्ष की उपलब्धि नही हुई।

(२)

वाजपेयी जी का अपने समीक्षा-सिद्धात के सम्बन्ध मे जो स्पष्टीकरण या वक्तव्य है, उसे यहाँ सरसरी नजर से देख लेना उपयुक्त होगा। 'हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी' की 'विज्ञप्ति' मे वाजपेयी जी ने साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी अपनी प्रयास-दिशा का सप्त-सूत्री विवरण प्रस्तुत किया है। उनके समीक्षक की ये साहित्य-विषयक जिज्ञासायें हैं, जिनकी ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः प्रमुखता कम होती गई है। वे इस प्रकार है—

"१. रचना मे कवि की अतर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।

२ रचना मे कवि मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

३. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यागो का अध्ययन।

४. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन।

५ कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)

६ कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन ।

७ काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामजस्य और सदेश का अध्ययन ।"

वाजपेयी जी की दृष्टि मे इन सूत्रो मे एक प्रकार की पूर्णता समाहित है। वे कवि के मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष के अध्ययन को प्राथमिक वस्तु समझते हैं। इसका यह आशय है कि कृति विशेष मे अभिव्यक्त कवि की अनुभूति-क्षमता का या उसकी अतवृंत्तियो का परीक्षण समीक्षा का सर्वप्रधान कार्य है। यहाँ उनका अनुभूति-वाद *प्रत्यक्ष हुआ है, जिसका स्पष्टीकरण 'साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति' शीर्षक* निबन्ध के अन्तर्गत हो पाया है। वाजपेयी जी अनुभूति को अखण्ड मानते हैं, अतएव आत्मगत या वस्तुगत अथवा व्यक्ति-विषयक या सामाजिक, प्रभृति भेद औपचारिक या कृत्रिम सिद्ध होते हैं। इस आत्म-परक चिंतन का परित्याग करने पर वाजपेयी जी का अनुभूति सिद्धान्त निर्दोष नही रह पाता। अवश्य ही रसवादी परम्परा की दृष्टि से यह अभिनव क्रान्ति है, पर स्वय वाजपेयी जी ने रस सिद्धान्त के साथ अपने इसी मत का सामजस्य ही स्थापित किया है। मानसिक उत्कर्षापकर्ष वाली बात साफ नही है। यहाँ सम्भवत वाजपेयी जी अनुभूति को उदात्त नैतिक चेतना से सयुक्त करके उसकी प्राणवत्ता की विवेचना करना चाहते है। उनके विचार से अनुभूति-सौंदर्य, जीवनोत्थान और मानसिक उत्कर्ष मे अभेद है, अत ये पर्याय हैं।

दूसरा सूत्र कलात्मक सौष्ठव के अनुशीलन से सबद्ध है। वे इसी के साथ शिल्प या टेकनीक के अध्ययन पर बल देते हैं। प्रथम तीनो सूत्रो के आधार पर क्रमश अनुभूति, अनुभूति और अभिव्यक्ति का एकान्वय अथवा सामजस्य तथा कला-रूप और अभिव्यक्ति-कौशल का विवेचन सभव होता है। इस प्रकार साहित्य की समग्ररूपेण अतरग परीक्षा की जा सकती है। पर यहाँ यह ध्यान देने की वस्तु है कि पहला सूत्र इसकी रूढ़ियो का तिरस्कार करके भी उसे तत्वत स्वीकार करता है तथा दूसरा सूत्र अनुभूति और अभिव्यक्ति के पूर्ण सामजस्य पर बल देता है। इसे पश्चिमी कला-दर्शन की प्रेरणा से ग्रहण किया गया है, जिसे अपने यहाँ सौष्ठव-वाद कहा जा रहा है। तीसरा सूत्र रीति, शैली या कृति की बहिरग परीक्षा से सबद्ध है। इसी को कला-पक्ष कहने की परिपाटी चल पडी है, पर वाजपेयी जी उसे तत्वत अनुभूति से अपृथक् ही मानते हैं।

चौथा सूत्र समय, समाज और उनकी प्रेरणाओ से सम्बन्धित है। वस्तुत यह युग-बोध और सामाजिक चेतना की प्रेरणाओ का अध्ययन है। यही वाजपेयी जी अपने विचारो को क्रमश राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिणति दे पाने मे समर्थ हुए हैं। साहित्य यद्यपि शाश्वत वस्तु है, पर उसका निर्माण समाज विशेष के अनुरूप और युग विशेष की स्थिति मे ही सभव होता है। वह अपने युग और समाज से निरन्तर

प्रेरित-प्रभावित होता रहता है। वाजपेयी जी ने ऐतिहासिक दृष्टि और समाजशास्त्रीय निरूपण को कालान्तर में इसी आधार पर स्वीकार कर लिया है। कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसका प्रभाव—पाचवां समीक्षा-सूत्र है, जिसके कारण मानसिक विश्लेषण संभव होता है। यह सूत्र कवि की विशिष्टता, प्रेरणा, विचारणा, मानसिक स्थिति तथा रचना-प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करने की आवश्यकता का परिज्ञान कराता है। वाजपेयी जी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को समीक्षा का अगभूत तत्त्व अवश्य माना है, पर चौथे सूत्र की भांति वे इसे एक विशेष मर्यादा के अन्तर्गत ही स्वीकार करते है। चौथा सूत्र शास्त्र-सम्मत, किन्तु असाहित्यिक विवेचन करने में अथवा पाचवां सूत्र कवि के व्यक्तिगत जीवन को लेकर विषम भाव का प्रचार करने में भी सक्रियता दिखा सकता है। सम्भवत इसी कारण इन्हे गौण स्थान दिया गया है। छठा सूत्र कवि के जीवन-दर्शन से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत उसके दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारो के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई है। ये विचार जब कलाकृति के माध्यम से आयें तभी उपादेय है और अध्ययन के विषय भी, पर यदि इतर स्थानों से संकलित किए जायें तो ये रचना को समझने मे सहायक भर हो सकेंगे, साहित्यिक अध्ययन के स्वतत्र विषय नही होंगे। सातवां सूत्र है—काव्य का जीवन-सबधी सामजस्य और सदेश। वाजपेयी जी कवि के जीवन-सदेश या जीवन-सामजस्य के मतव्यो के अध्ययन को नितात महत्व-शून्य स्थान प्रदान करते हैं। यदि यह न हो तो उपदेश या उपादेय मतव्यों को ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदड माना जाय। वाजपेयी जी ने उपयोगितावाद, स्थूल आदर्शवाद तथा नीति और मर्यादा का विरोध इसी आधार पर किया था कि ये सभी साहित्येतर तत्व हैं जिनका साहित्य के वास्तविक सौंदर्य से सीधा सम्बन्ध नहीं है। वास्तव मे इसे कवि की जीवन-सम्बन्धी अनुभूति-प्रक्रिया का ही परिणाम होना चाहिए, पर आरोपित वस्तु होकर यही काव्य के मूल चारुत्व को विनष्ट कर देता है।

स्वय वाजपेयी जी ने इस सप्तसूत्री मान्यता का सक्षेप इस प्रकार किया है—"साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धो का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण में भी मैं उदासीन नहीं रहा हू।" यही उनका समीक्षा-सिद्धान्त है। वे साहित्य का स्थायी और सास्कृतिक मूल्य आकने की दिशा में निरन्तर सचेष्ट हुए हैं। उन्हे साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पथ यही जान पडा, क्योंकि वह सभी मत वादो से परे थे। निश्चय ही यह छायावादी समीक्षा-दर्शन है। वाजपेयी जी यही रसमत और कलावाद को एक दूसरे के समीप उपस्थित करते हुए उन्हे मानव-जीवन से सम्बन्ध कर सके हैं। अतएव साहित्य की उनकी यह धारणा है कि अनुभूति की एकान्वित अभिव्यक्ति जीवन के मर्म को आधार बनाती है, और वह अपने सौष्ठव के कारण अविस्मरणीय रचना ज्ञात होती है।

'नया साहित्य नये प्रश्न' के 'निकष' मे वाजपेयी जी ने अपने समीक्षक का क्रमिक विकास निरूपित किया है। यहाँ 'समीक्षा क्या है ?' प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि वह न रचना-विशेष की अनुचरी है और न साहित्य का कठोरता से नियमण करने वाली अधिनेत्री।, "वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।" नए साहित्य मे वाजपेयी जी को दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ सक्रिय दिखाई पडी। पहली अतर्मुख प्रवृत्ति है, जो अन्तश्चेतना के दलदल की ओर लिए जा रही है और दूसरी वह जो उसे बौद्धिकता के रेतीले मैदान मे पहुचा रही है।" इस द्वन्द्वात्मक स्थिति मे समीक्षक तभी उपयोगी कार्य कर सकेगा जब उसमे "सम्यक् साहित्यिक चेतना के साथ-साथ अतिशय आत्म-निर्भर वृत्ति भी हो।' वाजपेयी जी साहित्यिक चेतना और आत्म निर्भरता के द्वारा अशेष अध्यवसाय की आवश्यकता अनुभव करते हैं। दलदल समतल हो पाए और मरुस्थल हरा-भरा उद्यान बन जाए, इसके लिए समीक्षक को ही साहित्य का प्रकृत पथ प्रशस्त करना पडेगा। 'समीक्षा-सम्बन्धी मेरी मान्यता' निबन्ध का विषय यद्यपि वैयक्तिक है, पर वाजपेयी जी ने समीक्षा की वस्तुगत सत्ता और उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही लक्षित किया है, अपने समीक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का निर्वाचन नही किया। प्रकारातर से उन्होंने अपनी विकासशील धारणा को अवश्य प्रकट कर दिया है। व्यक्तिगत अनुभूति को महत्त्व देने के स्थान पर यहाँ उन्होंने सामाजिक अनुभूति को प्रश्रय दिया है। उन्होंने दृढतापूर्वक यह स्पष्ट किया है कि "रचनात्मक साहित्य ही सिद्धान्तो की सृष्टि के लिए उपादान बन सकता है।" साहित्य का मानव-जीवन से अटूट सम्बन्ध है, अतएव वह सिद्धात विशेष से अनुशासित नहीं हो पाता। यदि अनुशासित होता है तो वह रीतिबद्ध रचना-कार्य है, जीवन्त या स्वच्छद साहित्य नही। स्वय वाजपेयी जी के समीक्षा-सिद्धात छायावादी काव्य-रचना से अनुस्यूत है। यही वे राष्ट्रीय चेतना और जीवन विकास की आस्था का, साहित्य और उसकी समीक्षा मे अन्तर्भाव कर लेते हैं।

वाजपेयी जी हिन्दी की विकासशील साहित्य धारा के सवेदनशील समीक्षक हैं। उन्होने अनुभूति और रस, अनुभूति और अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति और ध्वनि आदि का तारतम्य भी स्थापित किया है। उनका चिन्तन स्वच्छन्द है और साहित्य ही उनके समीक्षा सिद्धान्तो का आधार है। उन्हें अनुभूति की प्रधानता मान्य है, पर वे एकान्तत न रसवादी हैं, न अभिव्यजनावादी। उन्हे छायावादी समीक्षक और स्वच्छन्द चिन्तक समझना चाहिए। उन्होने अपनी वैयक्तिक साहित्य-सवेदना की अन्तर्मुखता को सामाजिक जीवन से ही सबद्ध नही किया, बल्कि अपनी समीक्षा-पद्धति को वस्तुनिष्ठ आधार भी दिया। वे मानवतावादी प्रतिमान को ग्रहण करके सौन्दर्य की मार्मिक अनुभूतियो का विश्लेपण करते हैं। उन्होंने अपने चिन्तन को सैद्धान्तिक आधार तथा युग-बोध का आश्रय दिया है। यह उनकी सुरुचि, सवेदन-

क्षमता, परिष्कृत बुद्धि और उदात्त नैतिक चेतना है कि जिसके कारण वे सर्वथा नए समीक्षादर्श को अपने ही साहित्यिक विवेक की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर सके। उनके कतिपय वक्तव्यो मे स्पष्टता या सफाई की जो कमी देखी जाती है, उसका कारण यही नव्य निदर्शन है, वैचारिक भ्रान्ति नही। इसके लिए उनकी आत्मवादी सिद्धान्त पीठिका भी एक सीमा तक उत्तरदायी है। उन्होंने साहित्य और समीक्षा को एक-दूसरे से सबद्ध करके देखा है और इसी भाँति जीवन और साहित्य मे ऐसा ही सम्बन्ध अनुभव किया है।

वाजपेयी जी का समीक्षा-सिद्धान्त क्या है ? इस प्रश्न का एक वाक्य मे यही उत्तर है कि वह काव्य-कला की सौन्दर्य-सवेदना या अनुभूति-व्यजना की परीक्षा का सिद्धात है। अन्य सभी पश्चिमी या भारतीय सिद्धांत उसके पोषक या उपस्कारक हैं। इसी कारण वह स्वच्छन्द समीक्षादर्श है। सक्षेप मे, 'विकासशील छायावादी समीक्षा-सिद्धान्त', अभिधेय वाजपेयी जी की आलोचक-दृष्टि का तात्त्विक और समग्र स्वरूप-बोध है। उन्होंने साहित्य की परीक्षा के स्वतन्त्र साधन ही अपनाए हैं। वे परम्परा के अनुवर्तक नही हैं, नए प्रवर्तन के आविष्कारक हैं। उन्हें युग-विशेष का सवेदनशील समीक्षक और स्थायी साहित्य का समर्थ आचार्य कहना चाहिए। साहित्य की समीक्षा का आधार साहित्य के भीतर ही खोजने के कारण हमारे साहित्येतिहास मे वे असाधारण महत्त्व का स्थान पा सके हैं। उनकी भी सीमाएँ हैं, पर जितने अधिक सतर्क होकर उन्हे हटाने का वे उद्योग करते रहे हैं, अन्यत्र उतना प्रयास प्रायः नही हुआ। वे अपने युग की ऐतिहासिक सृष्टि अवश्य हैं; पर अपनी वैचारिक नव्यता के कारण स्वतन्त्र समीक्षा-दृष्टि के प्रयोक्ता के रूप मे कहीं अधिक समादृत हैं। उनका समीक्षा-सिद्धान्त इस कारण विश्वसनीय है कि वह साहित्य के मूलवर्ती या स्थायी तत्त्व पर आधारित है। उसकी सीमा वैयक्तिक अधिक है, वैचारिक कम। जो हो, वह मानव-निष्ठा की नवीन साहित्यिक परिणति और तद्गत् सैद्धान्तिक उपलब्धि है।

व्यावहारिक समीक्षक—आचार्य वाजपेयी

—डा० गणपतिचद्र गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

—१—

आचार्य शुक्ल द्वारा पोषित हिन्दी-समीक्षा उनके बाद तीन दिशाओ मे बँट गई—(१) ऐतिहासिक व्याख्या (२) सैद्धान्तिक विवेचन और (३) व्यावहारिक मूल्याकन। आचार्य शुक्ल ने इन तीनो ही क्षेत्रो मे कार्य किया था, किन्तु उनके अनन्तर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र एव आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने क्रमश इन तीन क्षेत्रों को सँभाल लिया। इसका यह तात्पर्य नही है कि विद्वानो ने शेष क्षेत्रो मे बिल्कुल प्रवेश नही किया या उनमे प्रवेश करने की क्षमता इनमे नहीं है। हमारे कहने का मतलब इतना ही है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि एव सस्कारो के कारण इनमे से प्रत्येक ने अपने-अपने क्षेत्र मे अधिक कार्य किया, शेष मे कम। आचार्य द्विवेदी ने यदि आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक मान्यताओ को झकझोर दिया तो डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य सिद्धान्तो की तुलना मे भारतीय सिद्धान्तो को रखकर आचार्य शुक्ल के कार्य को आगे बढ़ाया। किन्तु ये दोनो ही विद्वान ऐतिहासिकता एव सैद्धान्तिकता की ओर अभिमुख हो जाने के कारण अपने समकालीन साहित्य पर अधिक दृष्टिपात नहीं कर सके। कभी-कभी फुरसत की घड़ियो मे वे नये साहित्य को भी देखकर कुछ लिख देते हैं, पर अधिक नही। एक दृष्टि से यह अच्छा भी हुआ। चारो ओर आक्रमण करने के लोभ से बचकर अपने क्षेत्र को सुनियत्रित, सुशासित एव सुविकसित करना अधिक अच्छा है। यही कारण है कि इन्होंने अपने-अपने क्षेत्र मे जो कार्य किया है, उसका मूल्य आँकना और उसका सापेक्ष महत्व निर्धारित करना आज बहुत कठिन है। इसे हम भविष्य के लिये छोड़ते हैं।

—२—

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का अपना क्षेत्र व्यावहारिक आलोचना का क्षेत्र है। इस क्षेत्र मे और भी अनेक आलोचकों

ने महत्वपूर्ण कार्य किया है, किन्तु जहाँ तक उनके युग का सम्बन्ध है, उनका स्थान सर्वोच्च है। ऐसा हम केवल प्रशसा या भक्ति-भाव की प्रेरणा से नहीं कह रहे हैं, आचार्य वाजपेयी के कार्य का विश्लेषण हमारे मतव्य की भली-भाँति पुष्टि कर सकेगा।

—३—

व्यावहारिक समीक्षा-क्षेत्र मे आचार्य वाजपेयी के योग-दान का विश्लेषण करने से पूर्व हमे उन विशेष परिस्थितियो एव कठिनाइयो पर भी विचार कर लेना चाहिए जो कि समकालीन साहित्य पर कलम चलाने वाले प्रत्येक समीक्षक के सामने उपस्थित होती हैं। पहली बात तो यह है कि समकालीन साहित्य पर पूर्व लिखित समीक्षाए अधिक सख्या मे उपलब्ध नही होती, अत उसे जो कुछ लिखना होता है वह उसके अपने ही चिन्तन-मनन पर आधारित होता है। वह उसके सामने किसी अन्य के मत का खडन-मडन करने का प्रश्न नही होता अपितु उसे नई वस्तु पर बिल्कुल नया निर्णय देना होता है। दूसरे, स्थान और काल की दृष्टि से विवेच्य कृति से उसका अधिक दूर का सम्बन्ध नही होता। ऐसी स्थिति मे उसके निर्णय का निकटताजन्य विकारो से प्रभावित हो जाना सम्भावित है। तीसरे, किसी दिवगत साहित्यकार के दोषो की मीमासा की अपेक्षा समकालीन साहित्यकार के दोषो को दर्शाना अधिक खतरे का काम है। विशेषत आज के युग मे जबकि परीक्षा-भवन मे नकल करते हुए पकडे जाने पर अध्यापक को छुरा भोक दिया जाता है। किसी समकालीन कवि या साहित्यकार की सच्ची निन्दा करना बैठे-बिठाये झगडा मोल लेना है। ऐसी स्थिति मे व्यावहारिक समीक्षक का केवल विद्वान और लेखक होना ही पर्याप्त नही हैं, उसमे जीवट और साहस का होना भी आवश्यक है। कम से कम सर्वत्र समझौतावादी एव विनीत बने रहने से उसका काम नही चल सकता।

जहाँ व्यावहारिक समीक्षा की अनेक विशिष्ट कठिनाइयाँ हैं वहाँ उसका उत्तरदायित्व भी अधिक है। उसका कार्य बने बनाये भवन का मूल्याकन करना मात्र नहीं है, अपितु बनते हुए भवन की प्रक्रिया को नियमित करना है। उसका काम अपनी मजिल पर पहुचे हुए साहित्यकार को पुरस्कृत करने का नही है, अपितु मजिल की ओर अग्रसर पथिको को सही दिशा बताना है। कालिदास की निन्दा-स्तुति से कालिदास मे कोई अन्तर नही आवेगा, किन्तु समकालीन साहित्यकार की आलोचना उसके दृष्टिकोण एव उसके सस्कारों को इस प्रकार झकझोर सकती है कि वह 'नायिका-भेद' लिखने के स्थान पर, कोई काव्य-ग्रन्थ लिख जाय। सच पूछें तो अतीत के साहित्य की समीक्षा का गवेषणात्मक दृष्टि से ही अधिक महत्त्व है। मूल साहित्यकार को प्रेरणा देने या उसमे परिष्कार लाने की दृष्टि से नहीं,

जबकि समकालीन साहित्य की समीक्षा का महत्व इस दूसरे दृष्टिकोण से अधिक है।

अस्तु हम इन तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए आचार्य वाजपेयी की कठिनाइयो एव उनके उत्तरदायित्व की महत्ता को समझ सकते हैं।

—४—

आचार्य वाजपेयी की समीक्षात्मक कृतियों मे सर्व-प्रथम 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' का नाम आता है। इससे पूर्व उनकी और भी कृति प्रकाशित हो चुकी थी, किन्तु हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे क्रान्ति कर देने की दृष्टि से हम इसी से उनके समीक्षा-कार्य का आरम्भ मानते हैं। यह रचना प्रत्येक दृष्टिकोण से एक आत्मविश्वासी, साथ ही महत्त्वाकाक्षी सुदृढ एव मौलिक चिन्तक आलोचक के आगमन की सूचना देती है। आत्म-विश्वास का प्रमाण इसी से मिलता है कि उसने जिन साहित्यकारों को इसमे स्थान दिया है उनके महत्त्व की स्थापना असदिग्ध रूप से की है और जिनको स्थान नहीं दिया गया, उनका भी उल्लेख निस्सकोच रूप से भूमिका मे किया गया है। उदाहरण के लिए वे 'बच्चन' जी के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"बच्चन जी की ख्याति और उनकी अनास्थामयी काव्य-रागिनी के बीच इतनी गहरी खाई है कि सहसा कोई सम्मति देने का साहस नही होता। बच्चन की आरम्भिक रचनाए हमारे देखते-देखते काल-कवलित हो चली हैं, या वे कवि-सम्मेलनों के श्रोताओं के मनोविनोद के लिये ही रह गई हैं। किन्तु उनकी कुछ रचनाए हिन्दी-साहित्य मे स्थायित्व ग्रहण करने की भी सूचना देती हैं। अभी बच्चन ठहर नही गए हैं, न उनकी रचनाओ पर हिन्दी-जगत् की प्रतिक्रिया ही पूरी हुई है।" इसी प्रकार अन्य कतिपय साहित्यकारो का भी उल्लेख उन्होने किया है। यहाँ एक बात विचारणीय है कि क्या उनके लिए आवश्यक था कि वे अपनी समीक्षा-पुस्तक मे अविवेचित कवियो का उल्लेख भूमिका मे करते और इसकी सफाई पेश करते? यदि वे चाहते तो क्या इस सम्बन्ध मे मौन नही रहा जा सकता था? अवश्य ही ऐसा किया जा सकता था, किन्तु उनके आत्म विश्वास की दृढता ने ऐसा नही होने दिया। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि कुछ लोग चुप रह कर झगडे को टालने की अपेक्षा अपनी अनुभूति को सही रूप मे व्यक्त करना अधिक उचित समझते हैं, भले ही इससे झगडा बढने की सम्भावना क्यो न हो। मौन रहने की प्रवृत्ति व्यावहारिक दृष्टि से ठीक कही जा सकती है; किन्तु आलोचना के क्षेत्र के लिये यह घातक है।

इसी प्रकार सन् १९४० तक के लेखों को पूरी शताब्दी का नाम देना भी महात्त्वाकाक्षा का परिचायक है। इस तथ्य को भी उन्होने भूमिका मे स्वीकार

किया है। मैं समझता हूँ कि महत्त्वाकाक्षा का होना बुरा नहीं है, यदि हममे उसके लिए अपेक्षित क्षमता हो। विगत २५ वर्षों के कृतित्व ने सिद्ध कर दिया है कि आचार्य वाजपेयी की यह महत्त्वाकाक्षा कितनी उचित एव उनकी क्षमताओ के अनुरूप थी।

पर 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है– उसमे निहित मौलिक चिन्तना। इस मौलिक चिन्तना मे भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अश वह है जहाँ आचार्य वाजपेयी अपने युग के आलोचना-प्रवाह को नई दिशाओ की ओर प्रवाहित करने की सफल चेष्टा करते हैं। जहाँ उस युग का आलोचक महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारो के गुण-गान मे इतना तल्लीन हो गया था कि उसे उनके दोषो का, उनकी त्रुटियो का और उनकी सीमाओ का जरा भी ध्यान नही रहा। जब किसी साहित्य की आलोचना भक्तिभाव का रूप धारण कर लेती है तो उसका महत्त्व न्यून नही हो जाता, किन्तु उसका कार्य क्षेत्र अवश्य बदल जाता है। जब एक परीक्षक हर व्यक्ति को फर्स्ट डिवीजन देने लगता है तो हम उसकी उदारता की तो तारीफ करेंगे, किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करेंगे कि इससे परीक्षा का स्तर और फर्स्ट डिवीजन का मूल्य नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र मे भी जितनी हानि दोषो को बढा चढा कर बताने से हो सकती है उससे भी अधिक गुणो के अति विस्तार से हो सकती है। आचार्य वाजपेयी के आगमन के समय हिन्दी का पाठक एव आलोचक उपर्युक्त साहित्यकारो की भावात्मक अर्चना में इस प्रकार लीन था कि उसका बौद्धिक सतुलन असतुलित हो रहा था। इस बात को कदाचित् उस समय कुछ अति बौद्धिक लोग महसूस भी कर रहे थे, किंतु प्रश्न यही था कि म्याऊँ की गर्दन मे घटी कौन बाँधे ? उस समय इन साहित्यकारो के विरोध मे कुछ लिखना या उनके साहित्य मे दोष दर्शाना न केवल उनका विरोध करना था, अपितु उस युग के पूरे साहित्यिक समाज को छेडना था। किन्तु आचार्य वाजपेयी ने इसकी परवाह नही की। उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बारे मे स्पष्ट रूप से लिखा–"साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी मे उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जायगी ? क्या उनके अनुवाद ? किन्तु इनमे द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत कुछ ढूँढने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगो के सामने विशद रूप मे आया है। तो क्या उनकी रचित कविताएँ प्रदर्शनी मे रखी जायें ? किन्तु वे तो स्वय द्विवेदी जी के ही कथनानुसार 'कविता' नही है और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत है। उनके लेख ? इनके द्वारा हिन्दी के समीक्षा साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है ? द्विवेदी जी के दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखो पर उनके कर्मठ जीवन और अन्तर की छाप लगी है। उनमे विचारो की शृ खला भी है और उनका क्रम भी निर्धारित है। किन्तु द्विवेदी जी की ख्याति उन लेखो से नहीं है।

तो क्या आचार्य की शिष्य-मण्डली ही उक्त प्रदर्शन मे सजा दी जाय ? किन्तु क्या यह न्याय होगा ?"

इस प्रकार वे द्विवेदी जी की उपलब्धिया पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए न केवल आचार्य द्विवेदी को अपितु उस समस्त हिन्दी-समाज को जो कि उनके अभिनन्दन मे व्यस्त था, झकझोर देते है। ध्यान रहे, यह लेख भी उनके 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' की प्रस्तावना के रूप मे लिखा गया था।

शायद हम कहें कि आचार्य द्विवेदी की ऐसी निन्दात्मक स्तुति करके आचार्य वाजपेयी ने उनके साथ न्याय नही किया। पर वस्तुत ऐसा नही है—आचार्य द्विवेदी जितने सम्मान के पात्र थे, उतना सम्मान उन्हें इस लेख मे दिया गया है। वे लिखते है—"जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया, वह अनुवाद का हो, काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-सस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो, वह स्थायी महत्त्व का हो या अस्थायी—हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण मे सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।" आचार्य वाजपेयी का यह निर्णय जहां उनके आलोचक की निष्पक्षता का सूचक है वहा यह सन्तुलित और न्यायपूर्ण है, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता।

द्विवेदी जी की ही भांति उन्होने मैथिलीशरण जी गुप्त के काव्य की निष्पक्ष आलोचना करते हुए उनकी रचनाओ के उन कमजोर पहलुओ का उद्घाटन किया है जिनकी ओर उस युग का ध्यान बहुत कम गया था। जहां एक ओर गुप्त जी को 'राष्ट्र-कवि' के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा था वहां आचार्य वाजपेयी ने सशक्त स्वरो मे इसका विरोध करते हुए 'भारत-भारती' के सम्बन्ध मे लिखा—'वास्तविक बात यह है कि 'भारत-भारती' की रचना पूर्ण आर्य समाजी प्रभाव के अन्दर हुई। 'भारत-भारती' मे राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना।" वाजपेयी जी के इस कथन मे निश्चित ही अतिशयोक्ति है, पर गुप्त जी के पक्षपाती उनकी राष्ट्रीयता के बखान मे जैसी अतिशयोक्तियो का प्रयोग कर रहे थे, उनकी तुलना मे इसकी अतिशयता अधिक नही है। फिर एक ओर की अतिशयता को सन्तुलित करने के लिए दूसरी ओर भी उतने ही बल की आवश्यकता पडती है, अत भले ही हम वाजपेयी जी के निष्कर्ष से सहमत न हो, किन्तु हमे उनकी स्पष्टवादिता एव दृढ़ता के गुणो को तो यहाँ स्वीकार करना ही होगा।

कविता के क्षेत्र मे जो स्थान गुप्त जी का था, वही उस समय उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचन्द जी का था। उनकी बढ़ी हुई लोक-प्रियता के विरोध मे उस समय कुछ भी कहना अपनी लोक-प्रियता को खतरे मे डालना था। किन्तु वाजपेयी जी के आलोचक ने इसे भूलकर अपने युग के उपन्यास-सम्राट की

दुर्बलताओं का एक ऐसा चित्र खींचा जिसे देखकर प्रशंसा करना तो दूर रहा, उसे पूरी तरह देख पाना भी उस युग के लिए असह्य था। अवश्य ही उस चित्र ने स्वयं उपन्यास-सम्राट को भी झकझोर दिया। कदाचित् इसी का परिणाम था कि 'रंगभूमि' के अति आदर्शवादी प्रेमचन्द ने 'गोदान' जैसी यथार्थोन्मुख रचना प्रस्तुत की। यह सभी आलोचक स्वीकार करते हैं कि 'गोदान' का प्रेमचन्द पूर्ववर्ती प्रेमचन्द से परिवर्तित है। क्या हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के इस परिवर्तन में वाजपेयी जी की कटु समीक्षाओं ने थोड़ा-बहुत भी योग-दान नहीं किया? यदि थोड़ा-बहुत भी योग-दान है तो इसे वाजपेयी जी के समीक्षक की महान सफलता कहेंगे। उस स्थिति में 'गोदान' के आविर्भाव एवं विकास में इस समीक्षक की कटुता को भी ऋण-रूप में स्वीकार करना होगा।

प्रेमचन्द जी से सम्बन्धित समीक्षा के सम्बन्ध में यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। उन्होंने इसमें प्रेमचन्द जी के एक ही पक्ष को—दुर्बल पक्ष को ही–प्रस्तुत किया था, दूसरे सबल पक्ष को नहीं। इस तथ्य को आगे चलकर स्वयं स्वीकार किया है—"प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने इस पुस्तक में अपनी अभिरुचि को इतनी प्रमुखता दे दी है कि 'सिक्के का एक ही पहलू' प्रकाश में आ पाया है। उनके संपूर्ण स्वरूप को उपस्थित करते हुए मैंने उन पर एक दूसरी पुस्तक लिखी, तब जाकर इसकी क्षतिपूर्ति हुई।" आचार्य वाजपेयी की यह स्वीकारोक्ति उनकी बौद्धिक ईमानदारी का एक बड़ा भारी प्रमाण है।

जहाँ इस पुस्तक में बहु-प्रशंसित वर्ग की न्यूनताओं एवं दुर्बलताओं पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है वहाँ प्रसाद, पंत, निराला आदि अल्प-प्रशंसित कवियों के सबल पक्ष को दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने छायावादी काव्य के विरोधी आलोचकों के तर्कों का निर्भीकता से खण्डन करते हुए छायावादी काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन किया। उदाहरण के लिए उनकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"यह सब कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी है कि उपर्युक्त अद्भुत आलोचकों के कारण हिन्दी काव्य-जगत् में अत्यन्त हानिकारिणी विचार-परम्परा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौन्दर्य नहीं, वहाँ काव्य-सौन्दर्य देखा जाता है। जहाँ सौन्दर्य है, उसकी अवहेलना की जाती है।"

इस प्रकार उन्होंने छायावादी काव्य को उचित महत्त्व दिलवाने का सफल प्रयास किया। ऐसी स्थिति में हम यह नहीं कह सकते कि इस पुस्तक में केवल खंडनात्मक आलोचना ही की गई है, मंडनात्मक नहीं। इसमें दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों का परिचय मिलता है। उनकी अन्य कृतियों में भी यह विशेषता मिलती है। जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

— ५ —

उनकी अन्य आलोचनात्मक कृतियो मे 'आधुनिक साहित्य', 'प्रेमचन्द' 'जयशंकर प्रसाद', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि उल्लेखनीय हैं। जहा दूसरी और तीसरी रचना मे सम्बन्धित साहित्यकारो—प्रेमचन्द और प्रसाद का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वहाँ शेष मे आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर व्यापक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इनमे भी इनकी दृष्टि समकालीन कृतियो पर विशेष रूप से गई है—यही कारण है कि उन्होंने कुरुक्षेत्र, कुणाल, शेखर : एक जीवनी, जैसी नवीनतम रचनाओ पर जमकर विचार किया है। इन नव प्रकाशित रचनाओं को साहित्य मे उचित स्थान दिलवाने मे आचार्य वाजपेयी ने सम्यक् रूप से योग दिया है। विशिष्ट साहित्यिक रचनाओ के साथ-साथ भारतीय एव पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तो का भी विवेचन इन ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। पर हमे यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि आचार्य वाजपेयी का असली क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा ही है, सैद्धान्तिक समीक्षा मे वे परम्परागत सिद्धातो को हृदयगम तो भली भाति कर पाते हैं, किन्तु वे उनमे वैसी भ्रान्ति नही ला सकते जैसी कि व्यावहारिक समीक्षा मे ला पाते है। दूसरे, सैद्धान्तिक क्षेत्र मे किसी एक सम्प्रदाय से नही बँध पाते या यो कहिए कि वे सभी सिद्धान्तो की अच्छाइयो को समन्वित रूप मे अपनाना चाहते हैं। उनकी समीक्षा-पद्धति के सात सूत्र उनके इसी दृष्टिकोण के परिचायक हैं। फिर भी पाश्चात्य सिद्धान्तो को समझने और समझाने की दृष्टि से उनके सैद्धान्तिक लेख पर्याप्त उपयोगी है।

जिस प्रकार समीक्षक वाजपेयी के पूर्वार्द्ध जीवन की सबसे बडी उपलब्धि द्विवेदी-मण्डल के साहित्यकारो को अति प्रशसा एव छायावादी साहित्यकारो की अति उपेक्षा को नियन्त्रित करने मे योग देना है, वैसे ही उनके उत्तरार्द्ध जीवन की (अब तक की) सबसे बडी उपलब्धि हिन्दी-काव्य की नवपोषित दूषित प्रवृत्तियो का शासित करने की है। हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी नवीन कविता की कृत्रिमता, जटिलता, दुरूहता, उद्देश्य हीनता और नीरसता का जैसा स्पष्ट विवेचन आचार्य वाजपेयी ने किया है, वैसा कोई अन्य आलोचक नही कर सका। वैसे मानते सभी हैं कि यह नई कविता कुछ महत्त्वाकाक्षी व्यक्तियो का एक ऐसा कृत्रिम प्रयास है जो गुटबन्दी पर आधारित है तथा जो सगठित प्रचार के बल पर ही जीवित है, पर आचार्य वाजपेयी की भाति स्पष्ट रूप मे वे अपनी बात नही कह पाते। कुछ लोगो का क्षेत्र भिन्न है, इसलिए चुप हैं, और कुछ यह सोचकर चुप हैं कि—"अब दादुर वक्ता भये, हमे पूछिहै कौन।" खैर, चुप्पी का कारण कुछ भी हो, किन्तु इससे दूषित प्रवृत्तियो को बढावा मिलता है, अत इसे ठीक नही कहा जा सकता है।

प्रयोगवादी कवियो के सगठित सप्तकों के चक्र-व्यूह को वेधने मे आचार्य वाजपेयी जी ने जो अभिमन्यु-प्रयास किया, वह कम महत्त्वपूर्ण नही है। उन्होंने

प्रयोगवादियों के चौंका देने वाले दावों, पथ-भ्रष्ट करने वाले नारों एवं मिथ्या विश्वासों पर आधारित कुतर्कों का तीखी शैली में विवेचन करते हुए हिन्दी के पाठकों को असलियत से परिचय करवा दिया है। कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी के विरोध के बावजूद भी 'नई कविता' छपती जा रही है—(भले ही पढ़ी न जाय !) अतः उन्हें सफल कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि भले ही मलेरिया जोरों से फैलता जा रहा हो, पर फिर भी जिस व्यक्ति ने अपनी पूरी शक्ति से डी० डी० टी० छिड़का उसे दोष नहीं दिया जा सकता। कोई चीज फैल जाने से ही अच्छी नहीं मानी जा सकती। आचार्य वाजपेयी ने पूरी शक्ति से दूषित एवं घातक प्रवृत्तियों की बाढ़ को रोकने का प्रयास किया है, फिर भी यदि वह बाढ़ रुकती नहीं है, तो यह साहित्य-जगत् का दुर्भाग्य है। ऐसी स्थिति में तुलसी के शब्दों में यही कहना पड़ेगा कि—

"मनु पाखण्ड-विवाद तें लुप्त भये सद्ग्रन्थ !"

बाकी आचार्य वाजपेयी की समीक्षाओं से अनेक नये कवियों ने कुछ सीखा भी है। अनेक ने उन दुर्गुणों से छुटकारा पाने का प्रयास किया। इतना ही नहीं, कुछ नये कवियों ने तो स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है—"नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है उसके अन्तर्गत बहुत कुछ महज बकवास है। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना, शब्दों को तोड़-मरोड़ बिना आत्मसात् किये हुए नयी उपमा-उत्प्रेक्षाओं या बिम्बों को परेशान पाठक के सम्मुख ठेल देना—ये तथा अन्य इसी प्रकार के अनेक दोष आज की अनेक कविताओं में दिखाई देते हैं।"[1]

मैं समझता हूँ, यह स्वीकारोक्ति नई कविता के आलोचकों की सफलता का प्रमाण है। आखिर वाजपेयी जी या दूसरे आलोचकों का लक्ष्य नये कवियों के दोषों को उन्हें अनुभव करवा देना था। नई कविता यदि जीवित रह सकती है तो अपने दोषों से मुक्ति पाकर ही। इस तथ्य को अनुभव करते हुए अनेक नये कवियों ने अपने को बदलने का प्रयास आरम्भ कर दिया है जो शुभ है।

अस्तु, आचार्य वाजपेयी के योग दान को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) द्विवेदी मंडल के प्रमुख साहित्यकारों के दुर्बल पक्ष का उद्घाटन (२) छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा में सहयोग (३) नयी कविता के दोषों का उद्घाटन (४) समकालीन साहित्य की गति पर नियन्त्रण। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हर व्यक्ति की अपनी कुछ सीमायें होती हैं। आचार्य वाजपेयी जी की भी कुछ सीमायें हो सकती हैं और हैं, किन्तु उसके बाद भी उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को जो कुछ दिया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक वफादार माली की भाँति उन्होंने हिंदी-साहित्य-उपवन की रक्षा की है। एक ओर उन्होंने कमजोर पौधों को खाद दी है, तो

[1] प्रयागनारायण त्रिपाठी : तीसरा तार-सप्तक, पृ० २३

दूसरी ओर उन्होने महत्त्वपूर्ण पौधो की नई पौध को उभारा है और साथ ही बढते हुए झाड झखाड पर अपनी नीखी कैंची का भी प्रयोग किया है। इसके लिए उन्होंने उपाधियो की अभिलाषा, पुरस्कारो की आशा और प्रसिद्धि के मोह, इन तीनो को ताक मे रख दिया है। यही कारण है कि आचार्य वाजपेयी की डिग्रियो के भार से मुक्त विद्वता के प्रति हिन्दी-जगत् की सच्ची श्रद्धा है। आशा है, हिन्दी-जगत् को उनसे अभी और बहुत कुछ प्राप्त होगा।

●

छायावाद के व्याख्याता : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

—डा० राजेश्वरदयाल सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी-साहित्य-चिन्तन और समीक्षा मे स्वच्छन्द-मानव-मूल्यों के प्रथम उद्भावक तथा उनके स्वरूप-निर्देशक हैं। वे छायावादी काव्य के सजग व्याख्याता, उसके स्वरूप और सौन्दर्य के निष्पक्ष द्रष्टा हैं। उनके विचारो का अनुशीलन इस साहित्यिक आन्दोलन को उपयुक्त पृष्ठभूमि देने मे समर्थ है। उन्होने इस काव्यधारा को युग-जीवन के भीतर से देखा है।

छायावाद के सम्बन्ध मे उनकी मान्यतायें इस प्रकार हैं—

(१) छायावाद की विद्रोहनिष्ठ वाणी आत्मपरक है।

(२) "वह राष्ट्रीय जागरण की प्रभाती-ध्वनि है।"

(३) "उसमे करुणामय-विहाग-राग तथा आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम-स्मृति-चिह्न हैं, तथा

(४) उसमे मानव-जीवन के उदात्त पहलू हैं, जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ-निर्देश करते हैं, परिस्थितियो पर मानवता की विजय का सदेश देते हैं।

काव्य मूलत व्यक्ति के सस्कारो मे निहित युगात्मा की अन्त बाह्य परिस्थितियो से युक्त एक प्रवृत्यात्मक सृष्टि है। कवि की आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति मे लोकधर्मिता ही अनेक भावो और कल्पनाओ की रगीनियो के माध्यम से जीवन के मूल्यो तथा उसके महत्व तक लाती है। कोई भी महान् साहित्य, काल विशेष के अनुभव से पूर्ण सत्य की सार्वकालिक अभिव्यक्ति होता है। कभी-कभी युग-परिस्थितियों को स्वीकृति मे सवेग शैथिल्य और अभिव्यक्ति की दुर्बलता आ जाती है। यह भी सभव है कि कोई कवि काव्य-युग की दुर्बलताओं से ऊपर उठकर विद्रोह

और क्रान्ति का जन्मदाता बन जाये। हम देखते हैं कि छायावाद-युग के काव्य मे विद्रोह को प्रधानता मिली है, जो युगीन प्रगतिशील चेतना का प्रतिबिंब है। युग की विद्रोही भावना ने कवि की आत्मा को तेज दिया जिसके कारण काव्य मे नयी दृष्टि का आगमन हुआ। यह नही भूलना चाहिए कि छायावाद मे विज्ञान-युग की सृजनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ बुद्धिवाद के विरुद्ध "सहजप्रज्ञा" का अभियान भी मिलता है। इसमें कोरे बुद्धिवाद की उपेक्षा की गयी है, क्योकि जैसा आचार्य *वाजपेयी जी ने एक अन्य प्रसग मे कहा है कि*—"कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को सासारिक कर्त्तव्यो से विरक्त बनाकर घर से बाहर निर्जन मे निकाल देगा या ससार की घोर वासनाओ मे लिप्त कर देगा।" यही कारण है कि छायावाद का कलाकार मानवीय और सांस्कृतिक उपलब्धियो को "चिन्तन, कल्पना तथा अनुभूति" के रूप मे स्वीकार करता है। "इसे हम बीसवी सदी की वैज्ञानिक एव भौतिकवादी प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। छायावाद भारत के परम्परागत अध्यात्म दर्शन की नव प्रतिष्ठा का युगानुरूप सक्रिय प्रयत्न है।" छायावाद के इस स्वरूप मे विद्रोह *के साथ निर्माण की वृहत् योजना भी है। भविष्य के सम्बन्ध मे सुखद-स्वप्न के साथ* परम्परा की पुष्टि भी है। तभी तो छायावाद के विद्रोह-पक्ष मे तर्क की खड शक्तियो के स्थान पर रचनात्मक भावना का आश्रय लिया गया है। छायावादी काव्य की अध्यात्म भावना आमुष्मिक सत्य की साम्प्रदायिक या साधनामूलक अभिव्यक्ति नही है, इसका स्वरूप मानवतावादी है।

छायावाद की इस विद्रोही-काव्य प्रक्रिया मे मानव-मात्र के व्यक्तित्व की आत्माभिव्यक्ति है, उसकी विकास-सम्भावनाओ का रूप है, क्योकि यह युग जातीय सीमाओ के ऊपर उठकर विश्व-जातीय भावनाओ की अभिव्यक्ति का युग है। इस काव्य की अभिव्यक्ति के मूल मे समष्टिगत-उन्नयन का क्रियात्मक पक्ष ही व्यक्त होता है, *अत छायावाद मे जीवन के मूलो से लेकर उसकी विकासात्मक महत्त्व भूमियो* तक की प्रतिष्ठा रही है। छायावाद काव्य मे कवि, विश्वात्मा की बीन बन गया है, उसने अपने व्यक्तिकण्ठ से समष्टि को वाणी दी है। इसलिये उसके सांस्कृतिक महत्त्व की स्थापना बडी शक्ति के साथ आचार्य वाजपेयी जी की छायावाद सम्बन्धी धारणाओ मे हमे मिलती है। छायावादी कवि की स्वानुभूति मे युगात्मा की पुकार गूंजती है। छायावाद मे युग और सस्कृति का *आत्मभूत-सत्य भविष्य के मगल की* कामना करता है। वे कहते हैं—"इस (छायावाद) कल्पनाशील सौन्दर्योन्मुख काव्य के अन्तरग मे नये युग की चेतना के साथ सस्कृति के गहनतर तत्त्वो का भी योग है। उन्मुक्ति की एक आकाक्षा, मानवीय व्यक्तित्त्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के समस्त जनसमाज को एकत्रित करने वाली मानवतावादी भूमिका यहाँ विद्यमान है। अपने जीवन दर्शन का निर्णय करने मे इन कवियो ने भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का ही उपयोग किया है।" व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सर्वग्राह्यता में

(समष्टि बोध) तथा व्यक्ति के महत्त्व की (मानवमात्र की) श्रेय प्रेममयी मान्यताओ मे इस काव्य के कवि की अनुभूति का निर्माण हुआ है जो उल्लास और आत्मबल से युक्त है।

इस सास्कृतिक, राष्ट्रीय और मानवतावादी कलादर्शन की भूमिका के साथ छायावाद मे कवि के व्यक्तिमानस का भी प्रसार हमे मिलता है, जिसके लिए कल्पना का व्यापक उपयोग अनिवार्य था। इस तथ्य को वाजपेयी जी इस प्रकार रखते है, "गतिमान मुख्य तत्त्व अनुभूति ही है, जो कल्पना के विविध अगो और मानस छवियो का नियमन और एकान्वय करती है। यह काव्य का निर्णायक और केन्द्रीय तत्व है *जिसका क्षरण और विन्यास काव्य-कल्पना और काव्यात्मक अभिव्यक्ति मे* होता है।" वे यही पर रुक नही जाते और भी आगे बढकर उन्होने कहा है कि "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" इस व्याख्या मे आये सूक्ष्म और व्यक्त इन अर्थ-गर्भ शब्दो को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नही है, साकार होकर स्वत क्रियाशील है, किसी कथा या आख्या-*यिका का विषय बन गया है, तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नही ले सकेंगे।"* उनके इस वक्तव्य के अनुसार छायावादी काव्यधारा का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है, परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सास्कृतिक है। उसे हम पूर्व प्रचलित विचारधारा तथा उसके एकागी प्रयोग की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। उनकी दृष्टि मे छायावाद "भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नव-प्रतिष्ठा का वर्तमान की अनिश्चित परिस्थितियो मे एक सक्रिय प्रयत्न है।"

आचार्य वाजपेयी ने छायावादी काव्य को पूर्ण इकाई के रूप मे देखकर उसके विविध रूपो, स्रोतो, हेतुओ, उपकरणो तथा लक्ष्यो पर विचार प्रकट किया है। छायावादी काव्य के स्वरूप का तुलनात्मक विवेचन मध्यकालीन धार्मिक सम्प्रदायो (सूफीवाद, भक्तिवाद) तथा नव्य युग के नवीन काव्य-सम्प्रदायो से किया है। इस *मूल्याकन मे उन्हे जो निष्कर्ष मिला है, वह इस काव्य के लक्ष्य का सकेत करने मे* सहायक है। छायावादी काव्य के सैद्धान्तिक पक्ष को सामने रखते हुए आचार्य *वाजपेयी जी ने उसकी स्वच्छदतामूलक काव्य-प्रक्रिया, उसके सौन्दर्य तथा उसकी* युगप्रदेयता को अपनी विवेचना का आवश्यक अग बताया है। उनकी विचारधारा को हम पाच सारणियो मे देख सकते हैं—

(१) लोक के प्रति आस्था और सौन्दर्य की दृष्टि,
(२) आध्यात्मिकता समन्वित मानवतावादी दृष्टिकोण,
(३) मानव और प्रकृति के सम्बन्ध मे प्रवृत्त्यात्मक दृष्टि,

(४) वैयक्तिकता एव सूक्ष्मता के कारण गीति-सौन्दर्य की नवीन अवतारणा,
(५) राष्ट्रीयता के सूक्ष्म सकलन का आग्रह,

१. लोक के प्रति आस्थामयी सौन्दर्य-दृष्टि

आचार्य जी कहते हैं कि "छायावादी कवि दृश्यमान मानव जीवन को ही लक्ष्य करके उसकी झाकी देखता है। इसी कारण मानवीय मनोविज्ञान, दृश्यो, परिस्थितियो और व्यापारो की नियोजना आधुनिक छायावादी काव्य मे प्राचीन सूफी काव्य की अपेक्षा अधिक सबल और यथार्थोन्मुख है।" ऊपर के अवतरण से छायावादी काव्य मे ईहलौकिक जीवन और भौतिक जगत् के अनेक सदर्भो और उपकरणो की ओर इगित किया गया है कि वह पलायनवादी काव्य नही है, क्योकि उसकी वृहत भूमिका विरागात्मक न होकर रागात्मक है। वह भक्तिकाल की भाति 'अदृश्य' की ओर नही दौडता। दृश्यमान जगत् ही उसका आधार है। उसमे मानव जीवन के स्थूल-सत्य को ही सूक्ष्म का रूप दिया गया है। प्रकृति और मानव इस काव्य के केन्द्रीय विषय हैं। परन्तु दृश्यमान जगत को स्थूल, भौतिक और इन्द्रियात्मक मान कर ही वह नही चलता। *वह इसे स्थूल भूमि से ऊपर उठाकर सार्वजनिक उपादेयता मे मानवमात्र की निधि बना देता है। यहाँ लोकोत्तर सौन्दर्य का रूप निहित है।* यह दृष्टि सूफियो की जीवन दृष्टि के पास पडती है, परन्तु सूफी एकागी लोकोत्तरता के साधक थे। वे लोकोत्तर से चलकर लोक की ओर आते हैं जबकि छायावाद के कवि लोक मे लोकोत्तर की स्थापना करते हैं। सूफी कवियो मे वस्तु-सत्य के प्रति आग्रह दुर्बल है, परन्तु छायावाद काव्य ने वास्तव मे अवास्तव की झाकी देते हुए भी उसे जागतिक ही बनाए रखा है। फलत उसमे प्राकृतिक और मानवीय जीवन की दृश्य-छटा अधिक पुष्ट और परिष्कृत है। छायावाद की जीवन दृष्टि को मध्य-युग के सूफी कवियों की जीवन दृष्टि से अलग करते हुए आचार्य वाजपेयी जी उसकी यथार्थवादी भूमियो और आन्तरिक वैविध्य पर अधिक बल देते हैं। उनकी यह व्याख्या इस काव्यधारा को नवीन सास्कृतिक भूमि प्रदान करती है और युग के ज्ञान विज्ञान से उसे जोडती है।

परन्तु उन्होने अपनी इस व्याख्या को कोरी अध्यात्मवादी दार्शनिकता स मुक्त रखा है। वे छायावाद के अध्यात्म को किसी शास्त्री के दर्शन का रूप नही देना चाहते हैं, उसे किसी दर्शन विशेष की उपज नहीं मानते हैं। उन्होने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट ही कहा है कि आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-दर्शन को लेकर नही चला। नवीन जीवन मे ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्राय पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है। एक चेतन केन्द्र से नाना चेतन केन्द्रो की उपज करता है, किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन-सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान मे

परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति पुरुष की ओर, दृश्य से भाव की ओर होती है। इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने मे छायावादी कवियो ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है। जहाँ ब्रह्मवादी दर्शन ब्रह्म को ही एकमात्र सत्ता मानता है और जगत को ब्रह्म का विवर्त मानकर नाम रूपात्मकता को उसकी अभिव्यक्ति निश्चित कर देता है, वहीं छायावादी काव्य प्रकृति या जगत की नाना रूपात्मक अनेकरूपता से पीछे की ओर बढता है और अन्त मे सूक्ष्म अव्यक्त अथवा ब्रह्म तक पहुचता है। फलत उसमे जगत की अस्वीकृति नही, पूर्ण स्वीकृति है। इस नए दर्शन को हमने किसी 'पद्धति या 'वाद' मे नही बाधा है। यह तो उसका अध्यात्म-दर्शन है, आत्म-दर्शन है और मूल्यात्मक सत्य है। जीवन-प्रगति मे आत्म सौन्दर्य की झलक दिखाकर छायावादी कवि रूपो से अरूपो की ओर भी बढता है। उसके काव्य मे द्वैत के भीतर से ही मूलभूत अद्वैत की स्थापना हुई। इसी अध्यात्मवादी भूमिका को आलोचक 'अनुभूति' सम्बन्धी अपनी विचारधारा से पुष्ट करता है जिसमे "वह वस्तु जो अनुभव का विषय है, विषयी या आत्मा जो अनुभव करती है, विषय और विषयी के सघात से उत्पन्न अनुभव या सवेदन इनको अनुभूति के निर्माण-तत्व मानता है।" वह आगे कहते है, "क्योकि काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्च स्तर का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस और समरूप भी हुआ करती है। उसमे देश और काल के अनुसार गतिशीलता का तत्त्व भी होता है और मानवीय विकासावस्था के अनुरूप उसमे व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राये रहती हैं।" यह अनुभूति तत्वत क्या है जो प्रकृति और मानव जीवन की अनेकरूपता को आत्म-सौन्दर्य की एकात्मकता देती है। आचार्य वाजपेयी जी की दृष्टि मे अनुभूति का स्वरूप रूपात्मक है और उसका मूलाधार मानव-व्यक्तित्व तथा मानवता के श्रेष्ठ काव्यात्मक उपादान पर है, यही कारण है कि छायावादी काव्य मे बिम्बो की अराजकता नही होने पाती है। उसमे यथार्थ जीवन की प्रतिच्छवि निरन्तर बनी रहती है। वाजपेयी जी के शब्दो मे "वह वस्तु जो कल्पना के विविध अगो और मानस छवियो का नियमन और एका-न्वय करती है, अनुभूति कहलाती है।" यह तभी तो "काव्य का निर्णायक तत्त्व है। उस भावात्मक अनुभूति मे मानव व्यक्तित्व और मानवता के ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं, जिससे काव्य के मूल्य और महत्त्व की प्रतिष्ठा होती है।"

२. आध्यात्मिकता समन्वित मानवीय दृष्टिकोण .

(भक्तिवाद से तुलना) "जिस प्रकार मध्य युग का जीवन भक्त कवियो मे व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य मे हो रही है। अन्तर तो इतना ही है कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य मे जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओ को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहाँ छाया-

वादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन की परिस्थितियो से ही मुख्यत *अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह (छायावाद) पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की प्रकृति-* निरपेक्षता और ससार मिथ्या की सैद्धातिक प्रक्रिया का विरोधी है। छायावाद मानव-जीवन के सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न रूप मानता है, उसे *अव्यय की बेदी पर बलिदान नही कर देता है।"* इसी के फलस्वरूप *नयी आस्थाओ* के निर्माण का प्रयत्न हुआ है। छायावाद मे हम नई आस्थाओ को स्पष्ट रूप से देखते हैं। छायावादी काव्य की इन आस्थाओ को सामाजिक रूप से भक्ति युग की *आस्थाओ के समकक्ष रखा जा सकता है। आचार्य वाजपेयी जी छायावाद की* सास्कृतिक उपलब्धियो पर ही नही रुक जाते हैं, वे उसे हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि "भक्तिकाव्य" के साथ रख कर देखते हैं, इस प्रकार वे छायावाद को *विराट पृष्ठभूमि देते हैं। छायावाद मे प्रकृति और जगत का सम्पूर्ण स्वीकृति पक्ष* है। वह भक्तिकाव्य के मायावादी मिथ्या-तत्व को महत्व नही देता। यथार्थ जीवन को इस काव्यधारा मे उपयुक्त स्थान मिलता है। अत यह सम्पूर्ण नवीन जीवन की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है।

छायावाद ने भारतीय दर्शन की परम्परा को युगानुकूल बनाया और उसकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति की है। गहराई से देखें तो काण्ट का प्रयोजनातीत आनन्द-वाद मानवतावादी जययात्रा की एक दार्शनिक स्थिति बन गया है। छायावादी काव्य का सौन्दर्य इसी दार्शनिक उपपत्ति म निहित है। यह जीवन के विकारो की अभिव्यक्ति करता है। इस दर्शन का विकास भावात्मक तथा ज्ञानात्मक जिज्ञासाओ मे हुआ है। जिसका स्वरूप युग की सस्कृति तथा प्रत्येक विचारधारा मे देखा जा सकता है। इसीलिए इसक रहस्यवाद का स्वरूप मध्ययुगीन-रहस्यवाद स भिन्न है। रहस्यवाद, सौन्दर्य-स्थिति विशेष अथवा आध्यात्मिक विचारधारा की एक भावमूलक अनुभूति है, जो अव्यक्त-सत्ता मे जिज्ञासा तत्व का प्रमुखता देती है उसके स्वरूपाकन का अनवरत प्रयत्न करती है। काव्य प्रक्रिया म रहस्यवाद विषय नही, विषयी की अनुप्रेरिका-शक्ति तथा आधार रूप है। यही कारण है कि छायावाद में रहस्य को ही सर्वस्व माननेवाले उसकी प्रक्रिया को ही काव्य की परिणति मान लेते हैं। छायावादी कवि सास्कृतिक उन्मेष से अपनी काव्यधारा को व्यापक और ठोस बनाता है। रहस्यभाव इसी सास्कृतिक उन्मेष का अभिन्न अग है। आचार्य वाजपेयी जी छाया-वाद के सास्कृतिक पक्ष मे रहस्य की प्रक्रिया को नई चिन्तन भूमि भी देते हैं। उनका यह आग्रह छायावादी काव्य का सबल ही नहीं, वरन् उसकी आत्मा का स्पष्टीकरण भी है। छायावाद रहस्योन्मुख होकर भी उससे आगे की वस्तु है।

३ छायावादी काव्य मे मानव और प्रकृति का सम्बन्ध

आचार्य वाजपेयी जी ने छायावादी काव्य की विवेचना करते समय मानव और प्रकृति के सम्बन्धो पर भी विचार प्रकट किया है। वे कहते है कि 'छायावादी

काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान मे परिणत होता है, उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर, दृश्य से भाव की ओर होती है।" छायावादी काव्य मे प्रकृति की भूमियो का उपयोग दो रूपो मे हुआ है।

(१) व्यक्तित्व का प्रकृति मे आरोपण,तथा
(२) प्रकृति का व्यक्तित्व मे आरोपण

दृश्य का भावो पर आरोपण केवल सौन्दर्यशास्त्र का ही विषय नही है, यहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व का तदाकार, व्यक्त स्वरूपो से होता है । यही पर मानव और प्रकृति के सहज रागात्मक सम्बन्धो का परिचय मिलता है। चेतना का सृजन सकुचित मन की सीमाओ को तोड कर परम या व्यापक चेतना का मान करने लगता है। यह सम्बन्ध अधिकाशत. भावात्मक ही होता है। छायावादी काव्य मे प्रकृति के दोनो ही रूप हैं। श्रेष्ठ रूप वह है जहाँ वस्तुत्व के भीतर ही व्यापक-चेतना का स्वरूप दिखाई देता है। प्रसाद और निराला की कविताओ मे यह रूप देखने को मिलता है। इस प्रकार की कवितायें प्राकृतिक चेतना से ओत-प्रोत हैं, परन्तु यह प्रकृति स्थूल न होकर चैतन्य-भाव से मडित है। यह प्राकृतिक तत्ववाद का सच्चा रूप है।

४. गीति काव्यात्मकता का प्राधान्य

छायावाद काव्य की गीतात्मकता पर भी आचार्य वाजपेयी जी ने प्रकाश डाला है। वे कहते है, "कवि की अनुभूति बिना व्यवधान के अपने अनुरूप कल्पना का वरण करती है और निर्व्याज आत्माभिव्यक्ति मे परिणत होती हैं । सगीत के स्वरो की भाति प्रगीत के शब्द भी कवि की भावना इकाइयो के परिचायक होते हैं और इस प्रकार शब्द और अर्थ, छद और लय, रूप और निरूप्य मे एक अविच्छेद सम्बन्ध बन जाता है। प्रगीत काव्य मे माध्यम के कवि की भावना या अनुभूति अनुरूप कल्पना मे परिणत होकर सुन्दरतम काव्य-रूप मे अभिव्यजित हो जाती है।" यही कारण है कि छायावादी काव्य प्रगीत और मुक्तक शैली का गौरव प्रस्तुत कर सका। छायावादी युग मे गीति काव्य, क्षणानुभव विशेष की तीव्र परि-सम्वेदनात्मक पूर्णाभिव्यक्ति है। इसमें अनुभूति, मन की प्रथम सवेगात्मक प्रक्रिया, कल्पना उस सवेग की सृजनात्मक और रूपात्मक व्यापार शक्ति है तथा विचार या बुद्धिसृजन की व्यवस्थापिका वृत्ति है । गीतिकाव्य प्रतिभा-शक्ति की सर्वोत्तम स्थितियो मे व्यक्तित्व के मानसिक व्यापारो का अभिव्यक्त फल है। वह क्षणो से प्राप्त अनुभवो की पूर्ण इकाई के रूप मे कवि के व्यक्तित्व का सश्लिष्ट पूर्णघटक चित्र है। उसकी इस सम्पूर्णता मे बुद्धिदीप्त-चित्त एव भावसिक्त चित्त की एकातम अवस्थायें-कल्पना व्यापार के माध्यम से आत्मानन्द के प्रकाश मे रम्यबोध तथा

रसबोध का ज्ञान कराती हैं। यही पर "कवि कल्पित समस्त व्यापार" सांकेतिक गुण सम्पन्नता मे सार्वजनिकता की उदात्त विषयभूमि पर साधारणीकृत हो जाते है। अतः इसकी रमणीक अभिव्यजना शैली की अपनी स्वतन्त्र विशेषता है।

५. राष्ट्रीयता के सूक्ष्म-सकलन का आग्रह

"छायावादी काव्य इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करके चला है। उसमे उसी के अनुरूप शब्दो का सचय है। इस हद तक हम इस देश की प्रकृति के अनुकूल रहे। उसमे हमारी अपनी जलवायु का असर है। कोई भी प्रमुख छायावादी कवि हमारे देश की वर्तमान व्यवस्था से सन्तुष्ट नही है और वह परिवर्तन चाहता है।" छायावादी काव्य की राष्ट्रीय भावना का स्वरूप सूक्ष्म है। उसमे एकत्व का भाव निहित है जिसका मूल सास्कृतिक तथा दार्शनिक है। अन्य अनेक स्थलो पर आचार्य वाजपेयी जी ने छायावादी काव्य की विशुद्ध राष्ट्रीय चेतना पर भी विचार किया है, जो प्रसाद, निराला तथा पंत के देश-प्रेम सम्बन्धी विचारो और भावधाराओ के रूप मे मूर्तिमान है। यहाँ वे छायावादी काव्य के दर्शन को ही प्रकृति की स्वीकृति मानकर चले हैं और उसी को सूक्ष्म राष्ट्रीयता कहते है। छायावादी काव्य की सास्कृतिक प्रेरणाओ मे राष्ट्रीय भावनाओ की सन्निहिति है। इस काव्य की आत्मा भारतीय है। यद्यपि उसका सदेश मानवीय है। इस काव्य का वाच्यार्थ राष्ट्रगर्भित-भावनाओ से पूर्ण है। उसका व्यग्यार्थ पक्ष स्थायी साहित्य की चिरतन समस्याओं का समाधान, अनुभूति के माध्यम से खोजता है। यहाँ तक आचार्य वाजपेयी की छायावाद सम्बन्धी व्याख्या का वह स्वरूप सामने आया है जो उसके अतरग से सम्बन्धित है; परन्तु उन्होने छायावाद के अभिव्यजना पक्ष पर भी काफी प्रकाश डाला है। अब हम उनकी काव्य-विवेचना मे इस छायावादी काव्य के बहिरग पक्ष पर विचार करेंगे जो अभिव्यजना-कौशल से सम्बन्ध रखता है।

छायावादी काव्य का अभिव्यजना पक्ष

आचार्य जी छायावादी काव्य की आत्मप्रक्रिया पर विचार करते हुए कहते है "कला दर्शन मे कल्पना शब्द उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का द्योतक है जो काव्य-सृष्टि मे आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यजना। इस प्रक्रिया मे गतिमान तत्व अनुभूति है और इस प्रकार कल्पना अनुभूति से अभिव्यजना तक विस्तृत है।" आचार्य जी यहाँ स्वच्छन्दतावादी साहित्यशास्त्र मे इस काव्य के अभिव्यजना पक्ष को विवेचित करते हैं। उनका यह आग्रह है कि "छायावाद की प्रतिनिधि काव्य-शैली (अग्रेजी रोमानी काव्य की भाति ही) यद्यपि प्रगीतो का ही आश्रय लेती है; परन्तु उसका विस्तार प्रसाद के भाव प्रधान नाटको और कामायनी के समृद्ध आख्यान तक देखा

जाता है।" यद्यपि वे स्वच्छन्दतावादी समीक्षक की भाँति यह स्वीकार करते हैं कि वास्तव मे सौन्दर्य की सत्ता किसी काव्य-साचे की बन्दिनी नही। वर्णनात्मक और गीतात्मक काव्य-भेद से इसके बाह्य और अन्तर सौन्दर्य के भेद करना मेरे विचार से असगत है। गीत काव्य और प्रबन्ध-रचना मे भेद यही है कि एक मे काव्य किसी एक ही सूक्ष्म किन्तु प्रभावशाली मनोभाव, दृश्य और जीवन-समस्या को लेकर केन्द्रित हो जाता है, दूसरे मे बहुमुखी जीवन दिशाओ और स्थितियो का चित्रण किया जाता है।" छायावादी काव्य मे लाक्षणिक वैभव के साथ साथ अभिधा तथा व्यजना के वैशिष्ट्य को भी स्वीकार किया गया है। निरालाजी के बारे मे वाजपेयी जी कहते हैं "अपनी बुद्धि विशिष्ट रचनाओ को अभिधा शैली और स्वच्छन्द-छद में लिखा है" तथा महादेवी जी के बारे मे कहा है, "महादेवी जी के काव्य की जो भूमि है उसी भूमि की रचनायें कतिपय छायावादी कवियो की भी मिलती हैं, किन्तु उसकी व्यजना व्यक्त सौन्दर्य प्रतीको के और सीधी लाक्षणिकता के आधार पर होने के कारण स्पष्टतर हुई है।" इस प्रकार आचार्य जी ने छायावादी अभिव्यजना पक्ष पर समग्रता से विचार किया है तथा हिन्दी साहित्य मे स्वच्छन्दतावादी सिद्धात-समीक्षा का निर्माण भी किया है। इस लक्षण-स्वरूप के निर्माण मे लक्ष्य छायावादी कवियो को किया गया है। वे छायावादी समीक्षा मे कल्पना तत्व को तथा छायावादी शैली की परख मे अभिव्यजना तत्व को प्रमुखता देते हैं। उन्होंने परम्परावादी काव्य की भाति अतरग को अलग करके नही देखा है। दोनो के मनोवैज्ञानिक विवेचन मे एकता ढूंढी गई है। उसमे भारतीय रस, ध्वनि तथा औचित्य के साथ ही अलकार, वक्रोक्ति एव रीति को एक साथ देखा गया है। छायावादी काव्य की विराट कल्पना से लेकर विषयगत विरलता तक का समन्वय सूत्र इसी अभिव्यजना मे देखा जा सकता है।

छायावादी काव्य मे शब्द और अर्थ की प्रतीकवादी व्यजनाओ का व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। उसमें मूर्त-अमूर्त, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आदि शब्द अर्थ ध्वनिया व्यक्त किन्तु सूक्ष्म रूपो में देखी जा सकती है। यह काव्य सिद्धान्त की दृष्टि से "कवि कलित समस्त व्यापारों" की अभिव्यक्ति है। अत कल्पना और अभिव्यजना की यह एकात्मलयता पूर्व और पाश्चात्य की मिलन बिन्दु हो सकती है। आचार्य *वाजपेयी जी ने 'नया साहित्य नये प्रश्न' में कल्पना के व्यापक व्यापार को ही* इस का मूलभूत आधार माना है। यह कल्पना ही वह मूल केन्द्र है जो काव्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की समस्त स्थितियो को कवि-धारणा की प्रत्येक सूत्र-योजना से लेकर काव्य-प्रक्रिया के समग्र उपादानो तक अपनी सीमा मे रखती है।

यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य मे भाषा की शब्द-शक्तियाँ कल्पना-प्रक्रिया के व्यापार तथा उसी के स्वरूप निर्माण मे आयी हैं। इसमे रीति तथा गुणो के आधार पर अलकारो को ध्वनि-सूचक कल्पना-तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया

है। अर्थालंकार कल्पना में प्रतीकों के औचित्य को तथा शब्दालंकार कल्पना वैभव के सहज सौन्दर्य की व्यक्त अवस्थाओं को नया रूप देते हैं। अलंकार और अलंकार्य के भेदों को ध्वनि-सिद्धान्त के सहारे अधिक मनोवैज्ञानिक तथा वक्रोक्ति सिद्धांत के सहारे चमत्कारिक बनाया गया है। वक्रोक्ति में कवि के कौशल की प्रतिष्ठा, यहाँ कलावाद के रूप में दिखाई देती है। व्यक्त किन्तु सूक्ष्म को लेकर चलने वाला कलावादी दृष्टिकोण इस छायावादी काव्यधारा में बहुत व्यापक रूप ग्रहण करता है। छायावाद ने कल्पना का पुट देकर काव्य-शैली की व्यंजकता बहुत बढ़ाई है। नये ढंग के लाक्षणिक प्रयोगों के साथ नई सूझ का आतंक भी पैदा किया है। "भारतीय साहित्य-शास्त्र की ध्वनि, रीति, रस, अलंकार को कल्पना के उन्मुक्त क्षेत्र में दूसरे ही सुर-ताल के साथ उपस्थित किया गया।" छायावाद की अभिव्यंजना तो अन्तरानुभूति की रूप-भंगिमा ही है। इस काव्य में शब्दार्थ की अंतरंगी एवं अन्तर्नियोजित संश्लिष्टि मिलती है।

आचार्य वाजपेयी जी छायावादी काव्य के हेतु, उपकरणों और उपलब्धियों तथा अन्तरंग-बहिरंग से भी आगे बढ़कर उसकी चरम-परिणति तक जाते हैं और उस सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना और रसात्मक-आनन्द की व्याख्या करते हैं जो 'कामायनी' जैसे श्रेष्ठ महाकाव्य को जन्म दे सकी है। यहाँ वे सौन्दर्यवादी समीक्षक के रूप में सामने आते हैं जो स्वच्छन्दतावादी काव्य भूमियों को रस की नित्य नवीन भूमियों से जोड़ना चाहता है। उन्होंने छायावाद-काव्य के रसात्मक आनन्द का स्वरूप और उसमें सौन्दर्य की स्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है कि "सौन्दर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है, अतएव काव्य-कला का उद्देश्य सौन्दर्य का ही उन्मेष करना है। मनुष्य अपने को चेतना-सम्पन्न प्राणी कहता है, पर वास्तव में वह कितने क्षण सचेत रहता है, कितने क्षण वह चतुर्दिश फैली हुई सौन्दर्य-राशि का अनुभव करता है? वह तो अधिकांश आँखें मूँद कर ही दिवस यापन करने का अभ्यस्त होता है। कविता उसकी आँखें खोलने का प्रयास करती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य हमें केवल अनुभूतिशील या भावनाशील ही बनाता है। यह तो उसकी प्राथमिक प्रक्रिया है। उसका उच्च लक्ष्य तो सचेतन जीवन परमाणुओं को संगठित करना और दृढ़ बनाना है। इसके लिए प्रत्येक कवि को अपने युग की प्रगतियों से परिचित होना और रचनात्मक शक्तियों का संग्रह करना पड़ता है। जिसने देश और काल के तत्वों को जितना समझा है उसने इन दोनों पर उतनी ही प्रभावशाली रीति से शासन किया है।" उपरोक्त अन्तरंग के सूक्ष्म अध्ययन से स्वच्छन्दतावादी काव्यादर्श तथा उसके मनोविज्ञान की भूमिका पर प्रकाश पड़ता है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से निर्मित रस, विज्ञानवादी युग में सृजित समस्याप्रधान साहित्य में ढूंढ़ना सम्भव नहीं था। आज के साहित्य में आनन्द तत्व, कवि की अनुभूति को पाठक की ग्राह्य-सीमा तक लाने में उतना नहीं रहा है जितना कि

स्वानुभूति की अभिव्यक्ति तथा उसी मे निहित वस्तुत्व की गुणात्मक वृद्धि मे आका जा रहा है। अत रसात्मक भूमिका मन भिव्यक्ति और वस्तुगत सीमावलबनो से योग करके ही देखी जा सकती है।

छायावादी काव्य मे रसबोध की स्थिति मानव सत्य से ऊपर किसी अलौलिक या लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि नही करती वरन् हमे यथार्थ सत्य की सूक्ष्माभिव्यक्ति ही मे अर्थात् अन्तश्चेतना की विभिन्न सरणियो मे जीवन के विविध स्वरूपो (सूक्ष्म किन्तु व्यक्त) के अध्ययन का मार्ग स्पष्ट करती है। हमारा काव्यगत आनन्द दृश्य सृजित अनुभूति की पूर्णाभिव्यजना मे निहित है । छायावादी काव्य मे निरूपित दर्शन चाहे वह कामायनी का आनन्दवाद भले ही हो, युग की नवचेतना के अनुसार तथा मनोविज्ञान की आधार शिलाओं पर नूतन उपलब्धियो के रूप मे जीवन की पूर्णता का परिचय देता है। छायावादी काव्य का रसात्मक रूप किसी भी दशा मे पलायनवादी या वायवी व्यजना की अनुभूति नही कराता है। छायावाद रससिक्त आनन्द का ही साहित्य है, इसमे आत्मनिष्ठ उपलब्धियो का प्राधान्य है। छायावादी कवियो की विकासोत्तर मनोदशाओ मे शान्त, करुणा और श्रृगार रस की एकरूपता है, जिसे युगनिष्ठा का परिचायक कह सकते हैं। युग की निराशा से उत्पन्न 'निर्वेद' है, 'करुणा' है तथा उसकी प्रवृत्यात्मक अनुकूलता से उत्पन्न "रति" भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य मे निहित सौन्दर्य तथा उससे उत्पन्न मनोवैज्ञानिक आनन्दवाद इस काव्य की व्यापक एव अनेकमुखी सम्भावनाओ पर आश्रित है।

निष्कर्षत छायावादी काव्य की समस्त प्रवृत्तियो की उसकी पूर्ण स्थितियो की विवेचना करते हुए आचार्य वाजपेयी जी इस काव्य की सामयिक तथा सार्वजनिक, दार्शनिक तथा भौतिकवादी, राष्ट्रीय तथा मानवतावादी उपलब्धियो पर विचार करते हैं। उनका विचार इस काव्य की प्रक्रिया के समस्त स्रोतो मे, काव्य के समस्त विषयरूपो मे तथा अभिव्यक्ति के स्वच्छन्द रूप मे तथा काव्य प्रयोजन की स्थायी प्रेरणा मे प्रकट हुआ है।

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हिन्दी के प्रमुख समीक्षक

डा० शंकर शेष, बी० ए० (आनर्स), पी-एच० डी०

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी के उन थोड़े से समीक्षकों में से हैं जिनके *व्यक्तित्व की गहरी छाप हिन्दी की समीक्षा पर अंकित है।* वाजपेयी जी के पास सच्चे समीक्षक का रस-ग्राही अन्तःकरण है, साहित्य के अन्तस्थ में उतरकर उसके शाश्वत सौन्दर्य का आकलन कर सकने वाली सूक्ष्म दृष्टि है। इतना ही नहीं, उनके *पास वह चिन्तनशील मस्तिष्क है जो स्थूल से आगे बढ़ कर साहित्य सौन्दर्य के* सूक्ष्मतर मूल्यों (Finer values) की व्याख्या कर साहित्यिक प्रगति का उचित दिशा निर्देश करता है। वाजपेयी जी के समीक्षक में व्याख्याकार का दायित्वपूर्ण *भाव है और सत्य को कहने की प्रखर क्षमता है।* छायावादी युग के काव्य का जितना गम्भीर और न्याय संगत मूल्यांकन वाजपेयी जी की लेखनी से हुआ है उससे हिन्दी साहित्य का सजग विद्यार्थी भली भाँति परिचित है।

वाजपेयी जी ने समीक्षा-क्षेत्र में द्विवेदी काल में ही प्रवेश किया। वे *द्विवेदी काल की समीक्षा पद्धति से प्रभावित न हो कर स्वयं ही प्रभाव के केन्द्र बने* रहे। वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति का प्रारम्भिक रूप 'सरस्वती' आदि द्विवेदी-कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में दिखाई देता है। इन लेखों को पढ़ते ही *यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वाजपेयी जी समीक्षा क्षेत्र में प्रारम्भ से ही नवीन* दृष्टिकोण के पोषक थे। यह नवीन दृष्टिकोण क्या था? इस प्रश्न पर तत्कालीन समीक्षा पद्धति के संदर्भ में ही विचार करना उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु काल में हिन्दी समीक्षा अपनी शैशव अवस्था में थी, किन्तु समीक्षा के महत्व की स्वीकृति उस काल में बराबर हो रही थी। भारतेन्दु काल की समीक्षा पद्धति के तीन रूप अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देते हैं। उसका पहला रूप तो

परिचयात्मक था, समीक्षक का कार्य किसी सद्कृति के विषय में परिचय देना और उसके प्रचार में योगदान देना था, उसका दूसरा रूप सद्कृतियों के प्रचार के साथ ही साथ असद्कृतियों के प्रचार पर रोक लगाकर सुरुचि का पक्ष सबल बनाना था। भारतेन्दु कालीन समीक्षा अपने इन उद्देश्यों के साधन में सफल रही, किन्तु उसका क्षेत्र सीमित ही था। कृतियों का सामान्य परिचय, नैतिकता का आग्रह और साहित्य के शास्त्रीय पक्ष के स्थूल परिचय तक ही उसकी सीमाएँ थीं। धीरे-धीरे समीक्षा का स्वरूप स्तुति-निन्दा की परिधि तक ही सीमित होने लगा। पक्षपात शून्य आलोचना के स्थान पर दोषान्वेषण प्रमुख होने लगा। द्विवेदी काल की आलोचनाओं का प्रारम्भ में इसीलिए जमकर विरोध भी हुआ। द्विवेदी जी से पहले बदरी नारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट ने जिस गुण-दोष दिखाने वाली पद्धति का प्रारम्भ किया था वह द्विवेदीकालीन आलोचना का मूलाधार बनी रही, परन्तु इसके साथ ही साथ उसका विकास भी हुआ। परिचय तक ही आलोचक के दायित्त्व की सीमा नहीं रही। द्विवेदी जी ने आलोचक के दायित्वों की परिधि में विकास किया। उन्होंने कवियों के काव्य सम्बन्धी गुणों और दोषों का निर्देश तो किया ही, साथ ही साथ उनके विकास-मार्ग को प्रशस्त करने की दृष्टि से उन्हें आदेश देना भी प्रारम्भ किया। वे अपने काल के साहित्य के सजग प्रहरी थे। सुरुचि की भावना के सबसे बड़े पोषक थे। जो काव्य उनकी सुरुचि और आदर्श की भावना के समीप था उसके लेखकों पर द्विवेदी जी ने अपना वरद हस्त रखा। हरिऔध और गुप्त जी के व्यक्तित्व-निर्माण में इसीलिए द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ माना जा सकता है। इसका दूसरा पहलू भी था, जो कवि उनकी सुरुचि और काव्यादर्शों की कसौटी पर खरा उतरता हुआ नहीं दिखा, उसे द्विवेदी जी की आलोचना के कठोर प्रहार सहने पड़े। द्विवेदी जी ने अपने प्रयत्नों से पुनरुत्थानकाल के साहित्य को रीतिकाल के संस्कारों से पूरी तरह बचा लिया। द्विवेदी जी के ही प्रयत्नों से खड़ी बोली का विकासमान साहित्य अभिजात वर्ग की तुष्टि कर सका। इतना होने पर भी द्विवेदी जी का आलोचक सुधारवादी (Reformist) था, सुधारवादी आग्रह के कारण उनकी समीक्षा में मौलिक चिन्तन और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि या स्वतन्त्र सृजनशील प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। पाश्चात्य समीक्षा धारा से हिन्दी का थोड़ा बहुत परिचय कराते रहने के बाद भी कवि शिक्षा-पद्धति से बहुत दूर नहीं आ सके। जिन ऐतिहासिक सन्दर्भों में द्विवेदी जी ने अपना कार्य किया है, उनमें इससे अधिक की सम्भावना भी नहीं थी। सारांश में द्विवेदी जी के प्रयत्नों में भी समीक्षक की उस सूक्ष्म दृष्टि और संवेदनशील सौन्दर्यबोध की भावना का विकसित रूप नहीं दिखाई देता जो साहित्य-समीक्षा की सर्वश्रेष्ठ कसौटी के रूप में आगे चलकर स्वीकृत हुआ।

द्विवेदी-काल में कवियों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रामाणिक शोध और उनकी रचनाओं का गम्भीर अनुसन्धित्सु की दृष्टि से मूल्यांकन का महत्वपूर्ण

कार्य भी प्रारम्भ हुआ। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया और डाक्टर श्यामसुन्दर दास जैसे समीक्षको ने इसी सस्था और पत्रिका के माध्यम से हिन्दी मे ऐतिहासिक समालोचना पद्धति को गति दी। विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के अध्यापन के योग्य गम्भीर सामग्री प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी हिन्दी साहित्य डा० श्यामसुन्दर दास का ऋणी रहेगा। तुलनात्मक पद्धति की आलोचना का विकास भी इसी काल की देन है। समीक्षा क्षेत्र मे तुलना की भावना से पूरी तरह तटस्थ नही रहा जा सकता, क्योकि प्रत्येक साहित्यकार को अलग-अलग कठघरो मे बन्द करके देखा नही जा सकता। प्रत्येक साहित्यकार किसी साहित्य विशेष की अबाध प्रवहमान धारा का एक ही अश होता है। निर्णयात्मक और तुलनात्मक समीक्षा का सच्चे अर्थों में प्रारम्भ मिश्रबन्धुओ द्वारा ही हुआ। 'हिन्दी-नवरत्न' इस प्रकार के प्रयत्नो का प्रथम चरण था। श्रेणी-विभाजन की उपादेयता और तुलना की वैज्ञानिकता को लेकर मिश्रबन्धुओं की आलोचना पद्धति के विषय में अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं, क्योकि इस श्रेणी विभाजन का प्रमुख आधार व्यक्तिगत रुचि ही थी। इतना होने पर भी पुराने कवियो के विषय में बहुत सी तथ्यपूर्ण सामग्री देने का जहाँ तक प्रश्न है, हिन्दी को मिश्रबन्धुओ का ऋण भार स्वीकार करना पडेगा। आचार्य पद्मसिंह शर्मा मिश्र-बन्धुओ की तुलना में अधिक मर्मज्ञ और गम्भीर थे। उनकी तुलनात्मक आलोचना में गम्भीर बौद्धिकता के साथ ही साथ एक उत्कट कोटि के रसग्राही अन्त करण का योग था, किन्तु विस्मय और चमत्कार की सृष्टि और शोध की पद्धति से वे अपने आपको नही बचा पाये थे। पद्मसिंह शर्मा की समीक्षात्मक पद्धति का मूल्यांकन करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है "उनका झुकाव काव्य-सज्जा और चमत्कार की ओर अधिक था। वे शब्दो के अद्‌भुत शिल्पी और अभिव्यजना-सौन्दर्य के परम प्रवीण पारखी थे। पद्मसिंह शर्मा ने काव्य-शरीर की जिस सूक्ष्म और गम्भीर समीक्षापद्धति का प्रारम्भ किया उसे भी हिन्दी-समीक्षा की उपलब्धि ही मानना चाहिए। डा० श्यामसुन्दर दास की 'साहित्यालोचन' कृति भी सैद्धान्तिक समीक्षा को सही गति देने की दृष्टि से हिन्दी समीक्षा मे एक Land mark है।

इस प्रकार हिन्दी आलोचना अपने प्रारम्भिक वर्षो मे ही कुछ उपलब्धियो का दावा कर सकती है। एक ओर गुण-दोष वाली पद्धति का विकास हुआ, जिसने और कुछ नही तो समीक्षको को विश्लेषण और साहित्य के सिद्धान्त-पक्ष से अवगत कराया। निर्णयात्मक और तुलनात्मक समीक्षा के रूप मे जो प्रयत्न हुये उनमें साहित्य को एक व्यापक धारा के रूप मे देखने का प्रयास हुआ। अनुसन्धान और ऐतिहासिक आलोचनाओ ने लेखक के व्यक्तित्व और उस समकालीन परिस्थितियों के अध्ययन की प्रवृत्ति को बल दिया। फलस्वरूप कृतिकार के व्यक्तित्व महत्व कृतियों के मूल्यांकन मे महत्वपूर्ण माना जाने लगा, सैद्धान्तिक पक्ष के आधार पर

कविता के काव्य शरीर, छन्द, भाषा, आदि के अध्ययन की दिशा प्रशस्त हुई, काव्य की आत्मा जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी विचार प्रारम्भ हुआ। नये युग की प्रेरणाओ के सही अध्ययन के लिए पाश्चात्य साहित्यालोचन के अध्ययन की आवश्यकता भी महसूस होने लगी। हिन्दी-समालोचना की विभिन्न पद्धतियो की विभिन्न धाराओ ने जमीन तैयार कर दी थी और ऐसे किसी समर्थ आलोचक का स्वागत करने के लिए तैयार थी जो समालोचना की वर्तमान सभी पद्धतियो को अपने व्यक्तित्व मे समाहित कर समालोचना को उच्च वैचारिक स्तर, सूक्ष्म विश्लेषण और रस-ग्रहण की उच्च भावभूमि पर सशक्त और समर्थ शैली मे अभिव्यक्त कर सके। आचार्य रामचन्द्र ने हिन्दी की इस अपेक्षा को पूर्ण किया।

यह सत्य है कि भारतेन्दुकाल से द्विवेदी काल तक समीक्षा के उन्नयन के जो भी प्रयत्न हुए उनका चरम विकास शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति मे दिखाई देता है। उन्होंने उस पद्धति को पूर्णत वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक कर दिया है। उनके चिन्तनशील व्यक्तित्व ने इस पद्धति को विकसित रूप एव स्थायित्व भी प्रदान किया है। निर्णयात्मक और तुलनात्मक तत्त्वो को उनकी विश्लेषणात्मक समालोचना ने पूर्णत आत्मसात कर लिया है। उनकी वैयक्तिक रुचि परिष्कृत होकर शास्त्रीय और लोक रुचि से अभिन्न हो गयी है। अलकार शास्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित तन्त्रवादी समीक्षा भी विश्लेषणात्मक हो गयी है, यद्यपि उनकी समालोचना को पूरी तरह निगमनात्मक नही कह सकते, पर समालोचना मे निगमनात्मक शैली को अपनाने का प्रथम प्रयास शुक्ल जी मे ही दिखाई देता है। यह प्रयास भी अत्यन्त प्रौढ और व्यापक है। शुक्ल जी ने समीक्षा की जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को जन्म दिया उसका साहित्य समीक्षा पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पडा है। उनकी समीक्षा पद्धति मे ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षा प्रकारो का समन्वय है। कवि के व्यक्तित्व और परिवृत्ति पर विचार करने वाले प्रथम समीक्षक भी शुक्ल जी ही हैं। साराश मे शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा को जो व्यक्तित्व दिया, वह वाजपेयी जी के शब्दो मे "एक नवीन और उदात्त काव्यादर्श का निर्माण शुक्ल जी ने अवश्य किया जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरम्भिक रूप मे विवेचन सुन्दर रूप मे किया जा सका और हिन्दी-समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी।" यह भी सत्य है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति इतनी मान्य हुई कि हिन्दी के अनेक समीक्षको ने उनके ही पथ का अनुसरण किया, भले ही शुक्ल जी जैसा गाम्भीर्य और विश्लेषण की सूक्ष्म दृष्टि उनमे न रही हो।

शुक्ल जी की इस महत् देन को स्वीकार करने के पश्चात् अब यह प्रश्न उठता है कि क्या शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति कर दी? शुक्ल जी ने साहित्य मूल्याकन के क्या ऐसे मानदड दिये जो हिन्दी के प्राचीन

और नवीन काव्य के मूल्याकन मे समान रूप से व्यवहृत किये जा सकते हैं। क्या शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति वैयक्तिक रुचि और आदर्शों से तटस्थ रहकर साहित्य की तटस्थ, ऐतिहासिक, सौन्दर्य और कला के शाश्वत मूल्यो के आधार पर, वास्तविक व्याख्या कर सकी है ? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर बहुधा नकारात्मक ही प्राप्त होता है।

शुक्ल जी के पूर्व के आलोचको का ध्यान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर *मध्यकालीन साहित्य पर ही केन्द्रित था, अत उनसे नयी साहित्यधारा के* मूल्याकन के सिद्धातो की अपेक्षा ही भूल है। द्विवेदी जी यदि खडी बोली के समर्थक थे तो रीतिवादी काव्य के कट्टर विरोधी होने के कारण अतिवादी ही कहे जा सकते है। आचार्य शुक्ल जी की समीक्षा भी हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य पर ही अधिक केन्द्रित थी, यद्यपि अपने समकालीनो की तुलना मे वे आधुनिक साहित्य के प्रति अपेक्षाकृत उदार थे। उन्होने अपने इतिहास मे नवीन काव्यधारा का भी आकलन किया। अभिव्यजनावाद और छायावाद पर भी सैद्धान्तिक चर्चा की, किन्तु उनका झुकाव प्राचीन की ओर ही अधिक था। इस सम्बन्ध मे आचार्य वाजपेयी जी ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकृष्ट किया है "जिस तरह शुक्ल जी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतना अधिक झुक गये थे कि नवीन साहित्य की विशेषताओ को पूरी तरह नही परख *सके उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट* है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य का कोई स्थिर सार्वजनीन माप बनाने मे कठिनाई हो रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी युग मे नवीन साहित्य का पल्ला हल्का होने के कारण समीक्षको की दृष्टि उनके गुणो की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नही दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन साहित्य को समदृष्टि से न देख सकें।" वाजपेयीजी का यह आग्रह समीक्षा क्षेत्र मे अत्यन्त महत्वपूर्ण और दिशा निर्देशक है। साहित्यकाल के कछारो पर बहने वाली एक अबाध धारा है। सामयिक परिस्थिति और युगीन आवश्यकताओ के फलस्वरूप उसमे स्वरूप-भेद की स्थिति भले हो हो, किन्तु उसकी आत्मा मे सनातन सौंदर्य की स्थिति है। उसकी आत्मा मे एक ऐसा आसन भरा होता है जो युगीन परिस्थिति बदल जाने पर भी परितृप्ति का अनुभव कराता रहता है, वाजपेयी जी का यह आग्रह कि समीक्षा मे अवश्य ऐसे मूल्यो और मानदण्डो का विचार किया जाना चाहिए, सास्कृतिक और परम्परागत भाव ऐक्य की ऐसी स्थिति का पोषण होना चाहिए जो साहित्य के सनातन सौंदर्य का मूल्याकन कर सके। आलोचना के ऐसे सामान्य और सर्वकालिक मूल्यो की स्थापना से साहित्य का निश्चित रूप से उपकार होगा, इसमे कोई सदेह नहीं। वाजपेयी जी के इस आग्रह ने और स्वय इस प्रकार के प्रयत्नो ने शुक्ल जी की परिधियो से साहित्य

समीक्षा को अपेक्षाकृत उदार दृष्टि दी है, शुक्ल जी की इस आभावात्मक दिशा की पूर्ति का श्रेय वाजपेयी जी को ही प्राप्त है।

वाजपेयी जी शुक्ल जी की समीक्षा की उपलब्धियो मे सदेह नही करते, बल्कि वे शुक्ल जी की देन को पूरी तरह स्वीकार करते हैं, किन्तु शुक्ल जी की समीक्षा पद्धतियो की ओर वे प्रामाणिकता से सकेत करते हैं। वे लिखते हैं "विशुद्ध काव्यात्मक भाव सवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव सत्ता की ओर शुक्ल जी का झुकाव कही अधिक था, यह उनके समीक्षा-कार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस-सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर उसके सवेदनात्मक पक्ष पर उनकी निगाह नही गई। साहित्य-समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम शुक्ल जी ही थे, किन्तु रस सम्बन्धी उनकी व्याख्या भाव व्यजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलम्बन लेती है।"

शुक्ल जी के साहित्यिक आदर्शों मे लोकधर्म ही सबसे प्रमुख है। इस लोकधर्म का स्वरूप भी तुलसी द्वारा निर्धारित किया हुआ है। तुलसी की तुला पर साहित्य को मापने के कारण हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य हल्का पड जाना स्वाभाविक ही था। उसी प्रकार छायावादी काव्य जो व्यापक सास्कृतिक और सामाजिक वैयक्तिक आधार पर अभिव्यक्तिकरण था, शुक्ल जी को यदि अपील न कर सका तो इसमे आश्चर्य का विशेष कारण नही। साधारणीकरण के सिद्धान्त की इसीलिए उनकी अपनी व्याख्या है। वाजपेयी जी उस पर विचार करते हुए लिखते हैं—"उनका साधारणीकरण का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य मे उसकी अबाध धारा न मानकर वे वस्तु या विषय के चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियाँ मानते हैं। रामचरित मानस के तीन पात्रो का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि राम के चरित्र मे पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है, रसानुभव करती है। रावण के चित्रण मे वह रसानुभव नही करती और सुग्रीव आदि पात्रो के चित्रण मे अशत. रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्ल जी की नैतिक काव्य-दृष्टि की विधायक है।"

वस्तुपरक काव्य और विशेषत. प्रबध काव्यो के प्रति शुक्ल जी की रुझान का मुख्य कारण यही नैतिक आग्रह है। प्रगीत काव्य के मूल्याकन मे इस आग्रह से बाधा पडना स्वाभाविक है। यही कारण है कि शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति से छायावादी काव्य का पूरी तरह मूल्याकन नही हो पाया। "जब उन्होंने अपनी नैतिक लोकादर्शनी और प्रबन्ध काव्योचित समीक्षा की ऐनक लगा कर इस नवीन सद्य जात बालक छायावाद को देखा तो वह अजीब सा लगा। उसमे वे साहित्य का भावी मगल न देख सके। शुक्ल जी को प्रसाद, पत, महादेवी की काव्यधारा की

तुलना मे मुकुटधर पाण्डेय आदि के काव्य मे अधिक मगल दिखाई दिया। यह सत्य है कि शुक्ल जी मे अपने अनुयायियो की तुलना मे हिन्दी की नवीन धारा के प्रति अधिक उदारता थी फिर भी नयी काव्यधारा का अध्ययन उनकी कसौटी पर भली-भांति होना सभव नही था। वाजपेयी जी ने छायावाद के अध्ययन के लिए सच्चे अर्थो मे हिन्दी समीक्षा का मार्ग प्रशस्त किया। शुक्ल जी छायावादी काव्य के प्रति न्याय नहीं कर सके। अपनी नयी चेतना, नया सौंदर्य बोध, अपनी व्यापक सामाजिक सास्कृतिक भावना का आत्मनिष्ठा के धरातल पर अभिव्यक्त सवेदन रखने वाले छायावाद की सभावनाओ को यदि किसी ने पहले पहल पहचाना तो वे वाजपेयी जी ही थे!

यह तो ज्ञात ही है कि छायावाद को प्रारम्भ मे आलोचकों से तीव्र कशाघात सहने पडे। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कवि किंकर नाम से इस नवीन धारा की कटु आलोचना की। छायावादी काव्यधारा नवीन थी, यद्यपि उसका उत्स भारतीय सस्कृति की अतश्चेतना मे ही था, किन्तु उसका भाव जगत और उसकी अभिव्यक्ति पद्धति हिन्दी जगत् के लिए सर्वथा नवीन थी। वह द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मक अभिव्यक्ति से भिन्न थी। अलकार की परम्परित शृखला से वह मुक्ति की कामना करती थी। वस्तुपरकता से आगे बढकर वह कवि की आत्माभिव्यक्ति पर बल देती थी। सौंदर्य और अनुभूति के सूक्ष्म धरातल पर वह अपनी साकेतिक वाणी का प्रसार कर स्थूल भावग्रहण की तुलना मे सूक्ष्म सौंदर्यबोध का आग्रह कर रही थी। छायावाद का अपना जीवन दर्शन विकसित हो रहा था और अभिव्यक्ति के नाविन्यमय सौंदर्य से मण्डित उसका स्वरूप नित्य नूतन आकर्षण की सृष्टि कर रहा था। छायावादी काव्य की इस मूलचेतना, जीवनदर्शन और शैली सौंदर्य की व्याख्या का कार्य दो रूपो में दिखाई देता है। एक पक्ष तो छायावाद के प्रमुख कवि, पत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा ने स्वय अपने काव्य और छायावादी परिस्थितियो के विषय म लिखा है और छायावाद की समीक्षा का न्यायसगत कार्य, दूसरी ओर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पण्डित इलाचन्द्र जोशी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र प्रभृति सम्मान्य समीक्षको द्वारा हुआ है। कवियों की अपनी व्याख्या के अतिरिक्त इस नई काव्यधारा को सच्चे अर्थों मे किसी ने प्रारम्भ किया तो वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने ही। उन्होने न केवल छायावाद के काव्य और जीवन-दर्शन की समुचित व्याख्या की, उसके सौंदर्यबोध का सही रूप प्रस्तुत किया, अपितु हिन्दी की सौष्ठववादी स्वच्छद काव्यधारा की समीक्षा को शास्त्रीय रूप दिया। जहाँ तक छायावादी काव्यधारा की समीक्षा का प्रश्न है वाजपेयी जी की समीक्षाओं ने काव्य-सौंदर्य की सनातन अतश्चेतना के मूल्याकन में मौलिक कार्य किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि छायावादी काव्यधारा के मूल्याकन मे वाजपेयी जी ने अपने समकालीन और पूर्ववर्ती आलोचको की तुलना मे किन अभावात्मक

दिशाओ की पूर्ति की है ? नवीन समीक्षा पद्धति को उन्होंने क्या दिया है ? वाजपेयी जी ने सर्वप्रथम जो दिशा निर्देश किया वह था साहित्य मूल्यांकन के शाश्वत मूल्यो की ओर/उनका यह आग्रह सदैव रहा है कि साहित्य-समीक्षा की ऐसी व्यापक और सार्वकालिक कसौटियाँ स्थापित की जानी चाहिए जो किसी काल और स्थान विशेष की आवश्यकताओं तक ही सीमित न हो। नवीन और प्राचीन साहित्य अलग-अलग दो कठघरो मे रखकर न देखा जाए । वाजपेयी जी ने स्वय अपनी प्रयोगात्मक समीक्षाओ मे इस प्रकार का भेद मिटा दिया है और इसीलिए वे सूरदास और जयशकर प्रसाद दोनो के प्रति पूरा न्याय कर सके हैं। प्राचीन और नवीन की भावना के पूर्वाग्रह से साहित्य की मुक्ति कोई छोटा कार्य नहीं है।

वाजपेयी जी की प्रमुख समीक्षा कृतियों में 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी', 'महाकवि सूरदास', 'आधुनिक साहित्य', 'जयशकर प्रसाद', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि उल्लेखनीय हैं। वाजपेयी जी की देन का मूल्यांकन इन्हीं कृतियो के आधार पर करना उचित होगा। सूरदास मध्यकाल के कवि थे। हिन्दी के समर्थ आलोचकों ने सूर के काव्य सौन्दर्य की व्याख्या भावपक्ष, कलापक्ष, अलकार आदि भागो मे बाँट कर की है। कवि को उसी के काल के परिवेश मे देखकर उसके काव्य और व्यक्तित्व का ऐतिहासिक पद्धति की समीक्षा द्वारा मूल्यांकन का प्रयत्न हुआ है। वाजपेयी जी ने सूर के काव्य सौन्दर्य को इतनी सफल दृष्टि से नही देखा है। वे आगे बढकर सूर की कला की मूल संवेदना, सौन्दर्य की चरम अभिव्यक्ति और अन्त.करण मे उत्फुल्ल आनन्द की सृष्टि करने वाली विराट प्रतिभा का निस्सग आनन्द लाभ पाठको को कराते हैं। वाजपेयी जी सौष्ठववादी समीक्षक हैं और उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वे कवि के भावो की असीमता और अनतता का सूक्ष्म दर्शन कर लेते हैं। वे कवि की भाव भूमि की व्यापकता उसकी अनुभूति की गहनता, सौन्दर्यबोध की असीमता और काव्य मे ध्वनित विराटत्व की भावना के साथ समरस होकर पाठक को भी उसी भाव भूमि पर ले चलते हैं। उन्होंने सूर जैसे मध्यकालीन कवि मे जो सौंदर्यतत्व और कवि द्वारा विराटत्व की अनुभूति का व्यापक रूप देखा वह हिन्दी-समीक्षा के लिए सर्वथा नवीन है। वाजपेयी जी ने काल विशेष की शृखलाओ मे आबद्ध काव्य-कसौटी के स्थान पर जो सौन्दर्य बोध और भावभूमि के विराटत्व की अनुभूति की कसौटी दी है उससे सहृदय पाठक के लिए प्राचीन साहित्य के आनन्दलाभ का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

आचार्य शुक्ल की नैतिकता के आग्रह के चश्मे से वे साहित्य को देखने के आदी नहीं हैं। शुक्ल जी ने अपनी लोकदर्शिनी नैतिकता के आग्रह के कारण निश्चित रूप से साहित्य के व्यापक मूल्यांकन के क्षितिजो को समेट लिया था। वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की लोकादर्श के आग्रह की पद्धति के प्रति अपनी असहमति दिखाई। वे

किसी नैतिक या सामाजिक आदर्श की तुलना मे कवि की आत्मानुभूति को ही विशेष महत्व देते हैं। यही काव्य का सनातन तत्व है । वे लिखते हैं, "काव्यानुभूति एक अखड आत्मिक व्यवहार है जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खड व्यापार से जोडने की आवश्यकता नही है। समस्त साहित्य मे इस अनुभूति या आत्मिक प्रसार का व्यापार रहता है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं, उसके निर्माण मे असख्य सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो का योग हो सकता है, किन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसवेद्य अनुभूति प्रवणता मे ही रहेगा। किसी महामहिम उपदेशक की रचना भी काव्य की दृष्टि से निस्सार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पक्तियाँ काव्य का अनुपम श्रृ गार हो सकती हैं। वर्ग-सघर्ष की भावना किसी युग मे काव्य-प्रेरणा का कारण बन सकती है, किन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नही ले सकती जो काव्य-साहित्य की मूलात्मा है। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्मप्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना व्यापार का सचालन करती है जिससे काव्य बनता है।" आत्मानुभूति को ही काव्य का प्रमुख तत्व स्थापित कर देने से वाजपेयी जी ने साहित्य-मूल्याकन की सामयिक कसौटी के स्थान पर साहित्य की सार्वजनीन और सर्वकालिक एकता की ओर सकेत किया है। उनकी अपनी प्रयोगात्मक आलोचनाओ मे इसी-*लिए वे जितना एक ओर आधुनिक काल के महाकवि के प्रति न्याय कर सकते हैं,* उतना ही मध्यकाल के महाकवि सूरदास के प्रति भी। आत्मानुभूति, सौन्दर्यबोध, और विराटत्व का अतर्दर्शन कराने वाला काव्य ही काल और स्थान की दूरी से ऊपर उठकर सच्चा आनन्दबोध करा सकता है। सत्काव्य का मूल्याकन करने के लिए आनुषगिक रूप से अन्य तत्वो की चर्चा की आवश्यकता भले ही पडे, किन्तु उसे नीति, उपदेश, और साहित्यिक रूढियो के चश्मे से देखना उसकी परिधियो मे सकोच ही लाना है।

काव्य के प्रयोजन का जहाँ तक प्रश्न है, वाजपेयी जी स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण मे विश्वास नही रखते। वे आनन्दानुभूति और उत्कट सौन्दर्य-बोध के साथ ही साथ मागल्य की भावना तक ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं। यही कारण है कि वाजपेयी जी एक ओर न तो आचार्य शुक्ल जी की *वर्ण-व्यवस्था* से प्रेरित लोक-मर्यादा की भावना से सहमत हो सके और न दूसरी ओर, प्रगतिवादी, या अन्य किसी प्रचारवाद को ही साहित्य की मूल प्रेरणा मानने वाले समीक्षको से। वे किसी राजनैतिक मतवाद या प्रचारवाद के चरणो मे साहित्य को आत्म समर्पित होते नही देखना चाहते। इसीलिए वे मानते हैं कि "नये मतो और सिद्धान्तो की चकाचौंध मे पडकर हम साहित्य की परम्परा मे गृहीत विवेचन-पद्धति और साहित्य की मूल्याकन सम्बन्धी विधियो को छोड दे, यह उचित नही है। नये मत और साहित्य-सिद्धान्त समीक्षा को किस सीमा तक और किस विशेष दिशा मे नया

प्रकाश प्रदान करते है, यह बिना समझे नये वादो का साहित्य समीक्षा का एकमात्र आधार और उपादान मान लेना ऐसा भ्रामक निर्णय है कि जिसे किसी भी सभ्यताभिमानी देश की साहित्यिक परम्परा स्वीकार नही कर सकती ।" वाजपेयी जी को इसीलिए काव्य की सामयिक स्थूल प्रयोजन सिद्धि मे विश्वास नही है, वे काव्य मे जीवन की प्रेरणा, सास्कृतिक चेतना और मानवीय भावनाओ के परिष्कार का सास्कृतिक रूप देखते है। इस परिष्कार का अर्थ सुधारवाद से नही है। काव्य के सनातन सौन्दर्य-बोध और विराटत्व की अनुभूति द्वारा आनन्द लाभ ही *काव्य का प्रयोजन है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वाजपेयी जी नीति-भावना* का काव्य साहित्य के क्षेत्र से निराकरण चाहते है। वाजपेयी जी जब काव्य जीवन की प्रेरणा, सास्कृतिक चेतना और जीवन *परिष्कार मे आवश्यक मानते है तो नीति* के निराकरण का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु वे किसी नीतिवाद या अन्य किसी वाद द्वारा साहित्य को शासित होता हुआ नही देखना चाहते। उनके अनुसार जब कोई भावना, रूढ़ि और प्रवृत्ति साहित्य निर्माण का नियामक होने लगती है तो साहित्य-रचना शुद्ध आत्मानुभूति से प्रेरित न होकर केवल प्रचार के लिए या वाद की साहित्यिक अवतारणा के लिए ही होने लगती है। नीति के प्रश्न को लेकर कवि द्वारा उपदेशक की भूमिका ग्रहण कर लेना भी इसीलिए उन्हे स्वीकार नही है। कोरा उपदेश काव्य नही हो सकता। वाजपेयी जी की दृष्टि मे जीवन सदेश के साथ ही साथ उदात्त भाव-सयोजन और ललित कल्पनायें भी साहित्य के लिए आवश्यक हैं। काव्यशास्त्र के तत्वो से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि मे आलोचक का प्रधान कार्य है। उसमे भावना का उद्रेक, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मानदड है।

वाजपेयी जी की समीक्षापद्धति भारतीय रससिद्धात के व्यापक और विशद रूप को अपना कर चली है। पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के गम्भीर अध्ययन ने उन्हें अधिक वैज्ञानिक और व्यापक दृष्टि दी है। यही कारण है कि पश्चिम की स्वच्छदतावादी समीक्षा पद्धति से प्रभावित होने के पश्चात भी उसे पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का अनुकरण नही कहा जा सकता। उसका अन्त प्रकरण पूर्णत भारतीय है और उज्वल साहित्य-परम्परा का विकासमान रूप ही है। इतना होने के बाद भी वाजपेयी जी ने भारतीय साहित्य-सिद्धान्तो को तालाब के स्थिर जल के रूप मे ग्रहण नही किया है। वे काव्य मे रस की स्थिति विशुद्ध काव्यानुभूति और सवेदनीयता मे मानते हैं।

इस प्रकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने हिन्दी साहित्य मे सौन्दर्यवादी या सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ किया, साहित्य मूल्याकन को व्यापक और शाश्वत दिशायें दी। यदि रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी समीक्षा के वैभव विकास के पूर्वार्ध के रूप मे आये, तो वाजपेयी जी उसके उत्तरार्ध के प्रणेता कहे जा सकते हैं।

हम आचार्य शुक्ल और वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देख चुके हैं। अब उनके समकालीन समालोचकों की समीक्षा-पद्धति और वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति पर ध्यान देना आवश्यक है। वाजपेयी जी ने जिस सौष्ठववादी आलोचना का प्रारम्भ किया उसी धारा के उल्लेखनीय समालोचकों मे डा० नगेन्द्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि हैं। डा० नगेन्द्र और वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति मे बहुत कुछ साम्य है। वे भी वाजपेयी जी की ही भाँति साहित्यकार के व्यक्तित्व को कृति के मूल्यांकन मे विशेष महत्व देते हैं। उनके अनुसार साहित्यकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण और उसकी मनोवैज्ञानिक भावभूमि की व्याख्या आवश्यक है। डा० नगेन्द्र भी सामयिक परिस्थितियों, और सामूहिक चेतना की तुलना में कवि या लेखक की आत्माभिव्यक्ति और सवेदनीयता पर ही विशेष बल देते हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा रस-सिद्धान्त का जो विवेचन हुआ है, उसे डा० नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी दोनो ने ही नये आलोक मे देखा। उसका व्यापक अर्थ संवेदनीयता से लगाया। डा० नगेन्द्र की दृष्टि में भी साहित्य का उद्देश्य आनन्द-लाभ ही है; किन्तु वे पूर्ण कलावादी नहीं हैं, वे साहित्य की प्रेरक शक्तियों और परिष्कार की सम्भावनाओं और शक्तियों को अस्वीकार नही करते। डा० नगेन्द्र शुक्ल जी को समीक्षापद्धति के अधिक समीप हैं। कवि देव की आलोचना मे यह बात अधिक प्रत्यक्ष हो उठी है। उन्होंने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति के अधिकांश को नये आलोक मे आत्मसात किया है। भाव-पक्ष, कला-पक्ष, और परम्परित शास्त्रीय आधार पर कवि के व्यक्तित्व को विभाजित कर देखने की परम्परा उनमे भी परिलक्षित होती है, और इसीलिये यह कहना अनुचित न होगा कि वे शुक्ल-निकाय और स्वच्छन्दतावादी सौष्ठव-धारा, की समालोचना-पद्धतियों की सन्धि-रेखा पर वही खडे हैं।

कवि के व्यक्तित्व और आत्मनिष्ठा को ही समीक्षा का मूलाधार माननेवाले आलोचकों मे शांतिप्रिय द्विवेदी का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य के लिए एक नया अनुभव कहा जा सकता है। आत्मनिष्ठा पर अधिक विश्वास होने के कारण उनकी समीक्षा-पद्धति के विषय मे सहज ही प्रभाववादी होने का भ्रम हो सकता है; किन्तु वे सौष्ठव वादी समीक्षक ही प्राथमिक रूप से हैं। छायावादी आलोचनाओं से गांधीवादी प्रभाव तक उनकी यात्रा किसी राजनैतिक आग्रह का परिणाम नही है, वरन् विश्व साहित्य की एकात्मकता के दर्शन का भावुक प्रयास है। गांधीवाद से आगे वे प्रगतिवाद की ओर बढ़े; किन्तु उनकी प्रगतिवादी भावना सदैव ही मांगल्य से महिमा मण्डित रही है! द्विवेदी जी का व्यक्तित्व सामयिकता के आधार पर परिवर्तनशील रहा है; किन्तु सौन्दर्यबोध और सवेदनीयता उनके साहित्यिक मूल्यांकन के स्थायी मानदण्ड हैं। मूलतः निबन्धकार होने के कारण द्विवेदी जी और वाजपेयी जी के व्यक्तित्व में अन्तर की रेखा स्पष्ट है। वाजपेयी जी ने सर्वत्र गंभीर

विश्लेषण, भावुकता और बौद्धिकता के सम्यक् सन्तुलन और सूक्ष्म-दृष्टि का परिचय दिया है। वाजपेयी जी के पास तत्वचिन्तन की एक वस्तुपरक तटस्थ दृष्टि भी है जिसका अभाव शान्तिप्रिय द्विवेदी मे सहज ही दिखाई देता है। द्विवेदी जी अपनी भावुकता के प्रवाह मे बहते चले जाते हैं, किन्तु वाजपेयी जी सदैव समरस होने के साथ ही अपनी कलात्मक तटस्थता की रक्षा करते हैं। फलस्वरूप वाजपेयी जी साहित्य के सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक पक्ष की अधिक गम्भीर विवेचना कर सके हैं और सही दिशा-निर्देश भी। डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का समीक्षा कार्य मानवतावाद की भूमि पर व्यक्त हुआ है। द्विवेदी जी की समीक्षा-दृष्टि मे मुख्य रूप से साहित्य का ऐतिहासिक आधार उद्घाटित हुआ है एव युग के नवीन चिन्तन का आलोक बिखरा हुआ है। उनका मानवतावादी चिन्तन उनके कृतित्व को एक उदात्त नैतिक आधार भी देता है। आचार्य शुक्ल का लोकादर्शवाद द्विवेदी जी मे मानवतावाद के रूप मे परिणत हो गया है। निश्चय ही उसकी सम्भावनाएँ अधिक है। उसकी व्याप्ति अधिक है। दूसरी ओर द्विवेदी जी मे साहित्य का सौन्दर्य उद्घाटित करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। 'कबीर' की समीक्षा मे इन दोनो पद्धतियो के सम्यक् समन्वय की प्रवृत्ति डा० हजारीप्रसादी द्विवेदी मे सहज ही देखी जा सकती है।

हिन्दी की मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-धारा मे जहाँ तक शैली का प्रश्न है, वह सौष्ठववादी समीक्षाधारा से ही अधिक प्रभावित हैं। विश्लेषण के तन्त्र मे दोनो मे पर्याप्त साम्य है, किन्तु इसके बाद भी मनोविश्लेषणवादी समीक्षक मनोविज्ञान का आग्रह अति की सीमा तक करने के फलस्वरूप जीवन की सभी गतिविधियो को मनुष्य की कुण्ठाओ का ही परिणाम मानता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कवि के मनोजगत के विश्लेषण और उसकी मानसिक-भाव भूमि के मार्मिक परिचय मे विश्वास ही नही रखते, उसे आवश्यक भी मानते हैं, किन्तु उसकी अति, और वाद के कोरे आग्रह से प्रेरित साहित्य-सृजन से कभी पूरी तरह सहमत नही हो पाते। हिन्दी मे मनोविश्लेषण को ही मूलाधार मानने वाले समीक्षक—जैसे इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, से वे अनेक प्रश्नों से असहमत हैं। फ्रायड को ही आचार्य मानकर उसकी उपपत्तियो के आधार पर सृजन का आग्रह मनोविज्ञान को अपने आप मे उद्देश्य के रूप मे प्रस्थापित कर देना है। वाजपेयी जी साहित्य को केवल कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का परिणाम स्वीकार नही करते। वे साहित्य सृजन को कलाकार की उत्कट सवेदना की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति मानते हैं। वाद के आग्रह से जो साहित्य-सृजन होता है वह उधार अनुभूति की अभिव्यक्ति का ही पर्याय है। यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के आग्रह से होने वाले साहित्य मे उस सप्राणता के दर्शन नही करते जो छायावादी काव्य मे है। प्रचारवाद प्रगतिवादी साहित्य का आवश्यक अग होने के कारण भी समय की आवश्यकताओ का ही शिशु बनकर रह जाता है। प्रगतिवादी समीक्षको मे शिवदान सिंह चौहान,

डा० रामविलास शर्मा और प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति समीक्षको से इसीलिए वाजपेयी जी की असहमति स्वाभाविक है। साहित्य की मार्क्सवादी और मनोविश्लेषण-वादी धारा का अतरविरोध स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"वर्गवाद के इस सामाजिक या वर्गीय सत्य से नितान्त भिन्न और उसकी प्रतिक्रिया में फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषण वेत्ताओ का एक नया मत भी चल पडा है जिसके आधार पर साहित्य समीक्षा सम्बन्धी नयी चर्चा चल पडी है। मार्क्सवादी वर्गसत्य या सामूहिक सत्य के स्थान पर ये मनोविश्लेषक व्यक्ति की निजी चेतना को—चेतना क्यो *अतश्चेतना को—उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य साहित्य में* उस अतश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख तत्त्व ठहराते है। व्यक्ति की चेतना *या अतश्चेतना के निर्माण में सामाजिक अथवा सामूहिक स्थितियाँ योग देती हैं,* परन्तु कवि की अतश्चेतना ही अतत वह स्वतन्त्र और मौलिक सत्ता है जो उसके काव्य निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मार्क्सवादी सामाजिक स्थिति को सत्य मानकर कवि कल्पना को उसकी छाया या प्रतिबिम्ब मानते है, वहाँ दूसरी ओर मनोविश्लेषणवादी सामाजिक गतिविधि या स्थिति से काव्य का सम्बन्ध न मानकर व्यक्ति की एकातिक अतश्चेतना को काव्य का प्रेरक और विधायक ठहराते हैं। स्पष्ट है कि दोनो मत अपने मूल दृष्टिकोण मे एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं।' वाजपेयी जी प्रगति के विरोधी नही, वे युग की आवश्यकलाओ के अनुरूप साहित्य सृजन के विरोधी भी नही, वे मनोविश्लेषण के भी विरोधी नही, किन्तु विरोधी है, वाद के आग्रह से उत्पन्न साहित्य के, प्रचार-वाद के, अल्पजीवी मूल्यो से प्रसूत अकाल कालग्रस्त होने वाले साहित्य के, अनुभूति से रहित उधार चेतना को नवीनता के नाम पर अपना उपजीव्य बनाने वाले साहित्य के। वे इस विषय पर अपना मत स्पष्टरूप से लिखते हैं, (सत् साहित्य) "नवीन ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करने को आमन्त्रित करता है। परिवर्तन की व्याव-हारिक सीमा के अन्तर्गत सुव्यवस्थित जीवन योजना का निर्माण करने का रास्ता सुझाता है। सभी समयो की अपनी-अपनी समस्यायें होती हैं। उन उन समयो के साहित्यकार उनका कैसा नक्शा उतारते हैं और कैसे प्रभावशाली तथा निर्णयात्मक रूप मे उन्हे हल कर पाते हैं—यह साहित्यकार के महत्व का एक अचूक मानदण्ड है, विविध विचारधाराओ का प्रसार, मैं कह चुका हू मेरी दृष्टि मे एक उपादेय वस्तु है, साहित्य क्षेत्र के सजीव सक्रिय और उर्वर होने का सूचक है किन्तु, इसका अर्थ यह नही है कि हम विकार-ग्रस्त मानसिक अवस्था और तज्जन्य साहित्य रचना का भी नवीन विचारधारा और अनुपम कला-कृति कह कर स्वागत करें।"

वाजपेयी जी ने साहित्य-समीक्षा को स्पष्टत अपने युग के आलोचको की तुलना मे अधिक व्यापक और सार्वजनीन और सर्वकालिक मूल्य दिये हैं। शुक्ल जी की अभावात्मक दिशाओ की पूर्ति की है। किसी वाद या वर्ग म अपना नाता न

जोड कर उन्होंने साहित्य-मूल्यांकन की अधिक तटस्थ और कलात्मक कसौटियां दी हैं। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति में शुक्ल जी की विश्लेषण शक्ति समाहित है, कलाकार के अतर्न्तदर्शन की मार्मिक दृष्टि है, आधुनिक युग के बौद्धिक चिन्तन की स्वस्थ समर्थ शक्ति है, सौन्दर्य बोध और सांस्कृतिक चेतना की गहरी आधार-भूमि है, आवश्यक भावुकता और आवश्यक तटस्थता भी है। और सबसे बडी बात व्यर्थ के समझौते के माध्यम से सब वर्गों से मीठा बने रहकर आत्मछल के स्थान पर सत्य कथन की प्रखरता है। हिन्दी साहित्य वाजपेयी जी की सेवाओं का अवश्य ऋणी रहेगा।

आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी

—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा, एम० ए०

●

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी के समीक्षा-सिद्धान्तो की दो पृथक् भूमिकायें हैं। इस पार्थक्य को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी को मानवतावादी समीक्षक और वाजपेयी जी को मानववादी समीक्षक कहा गया है। वास्तव में मानवतावाद और मानववाद भ्रमपूर्ण धारणायें हैं तथा प्रत्येक धारणा के साथ आत्यन्तिक विपरीत बातें भी जुड़ी हुई हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए मानवतावाद तथा मानववाद के सही अर्थ को जानना आवश्यक है।

मानवतावादी दर्शन के अन्तर्गत मानव मूल्य को महत्ता मिली है। मानवीय कष्टो का सामना करने तथा मानव-कल्याण की ओर उन्मुख होने वाले भावना-प्रधान सामाजिक और नैतिक आयोजनो को मानवतावादी आन्दोलन की अभिधा दी गई है। जीव-प्रेम तथा प्राणिमात्र की कल्याण-कामना इस आन्दोलन की प्रधान विशेषता है। मानवतावाद प्रकृति या ईश्वर की अपेक्षा मानवता को अधिक वास्तविक एव मूल्ययुक्त समझता है। इसके अतिरिक्त ईसा के देवत्व को नकारने वाले सम्प्रदाय को भी मानवतावादी की सज्ञा से युक्त किया जाता रहा है।

मानवतावाद की अपेक्षा मानववाद की धारणा अधिक अस्पष्ट है। इसका कारण यह है कि धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य और नीति के सन्दर्भ मे मानववाद के विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। अगस्त काम्ते ने अपनी पुस्तक 'Worship of *Humanity' मे मानववाद की अभिधा से एक धार्मिक आचारप्रवण आन्दोलन* का पौरोहित्य किया है। यान्त्रिक तथा तान्त्रिक शिक्षा के विरोध मे शास्त्रीय शिक्षा का अनुमोदन करने वाले उस सम्प्रदाय को भी 'साहित्यिक मानववाद' कहा गया है जिसके पुरस्कर्ता इरविंग बैबिट, पाल एल्मर मूर, नार्मन फार्स्टर हैं। मानव समाज मे प्रेम, आदर, दया, सेवा, भक्ति इत्यादि मूलभूत भावनाओ को विकासोन्मुख

बनाने वाली समाजवादी प्रवृत्ति भी मानववादी कही गई है। मानववाद ऐसे वैचारिक सम्प्रदाय के धार्मिक दृष्टिकोण का प्रतीक भी बन गया है जिसका किसी धर्म-प्रमाणित व्यक्तित्व पर विश्वास नही होता, किन्तु जो उसके अस्तित्व और उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को अस्वीकार भी नही करता। इस प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय का सूत्रपात कतिपय वामपथी राज्याधिकारियो तथा विश्वविद्यालयीन अध्यापको द्वारा 'मानववादी विज्ञप्ति' के माध्यम से मई, १९३३ मे किया गया था। इसके अतिरिक्त इगलैंड मे प्रचारित व्यवहारवादी दर्शन की एक शाखा को भी एफ सी एच शिलर ने मानववाद की सज्ञा दी है।

उपर्युक्त धारणाओं की पृथकता स्पष्ट है। मानवतावाद आदर्श को प्रधान मानता है तथा मानव-जीवन को आदर्शानुकूल होने पर ही पूर्ण समझता है। मानववाद मानव-कल्याण को लक्ष्य मानता है और इसलिए उसकी दृष्टि मे मानव प्रकृत रूप से मूल्यसम्पन्न है। मानवतावाद मनुष्य का मूल्याकन उसके प्रकृत रूप मे न कर शिव और अशिव के आलोक मे करता है, साहित्य की गरिमा साहित्य मे ही न ढूँढकर उसकी आदर्शानुकूलता मे खोजने का प्रयास करता है। मानवतावाद का दृष्टिकोण वर्ग और समाज पर आधारित है। समाजनिरपेक्ष व्यक्ति और व्यक्तिगत विशिष्टता उसके लिए कोई अर्थ नही रखते। वह पूर्वनिर्धारित नैतिकता के अटूट और स्थायी प्रमाप से मानव का मूल्याकन करना चाहता है। यह प्रमाप परिवर्तनशील और गत्यात्मक न होकर जड और निष्क्रिय है। प्रश्न उठ सकता है कि जड और निष्क्रिय नैतिकता के प्रमाप से गतिमान और चिरपरिवर्तनशील मानव नियति और मानव की अन्तरात्मा से उद्भूत साहित्य की समीक्षा और मूल्याकन का कार्य कहाँ तक सफल हो सकता है?

मानववाद मनुष्य की गरिमा को ही प्रधान एव प्रमुख मानता है। वह अधिक निरपेक्ष एव तटस्थ जीवन चित्रण की अपेक्षा करता है। मानवतावाद और प्रकृतिवाद दो विपरीत ध्रुवो पर सस्थित हैं। यदि मानवतावाद शिव के आलोक मे मानव-मूल्याकन करता है तो प्रकृतिवाद मानव जीवन के अशिव पक्ष को अपने चिन्तन की आधारभूमि मानता है। ये दोनो प्रस्थान एकागी और अमानवीय हैं। वे मनुष्य से आदर्श की उपलब्धि नही करना चाहते अपितु आदर्शों के अनुरूप मनुष्य निर्माण के आकाक्षी हैं। मानववाद व्यक्ति वैशिष्ट्य के महत्व को स्वीकार करता है। मानववादी साहित्य निकष परिस्थिति एव विषय की अनुरूपता प्राप्त करने के लिए प्रत्यास्थता के गुण से समन्वित होना है। मानववादी समीक्षा का प्रमुख दायित्व है। मानव-जीवन चिरपरिवर्तनशील है। काव्य और साहित्य भी चिरपरिवर्तनशील है। मानववादी समीक्षक के समीक्षादर्श को भी पर्याप्त प्रशस्त होना चाहिए। उसकी समीक्षा-दृष्टि भी उदार होनी चाहिए। प्रशस्तता और उदा-

रता के अभाव मे एक युग-विशेष का मानववादी समीक्षक आगामी युगो मे अगतिक और रूढिवादी हो सकता है।

युगीन भूमिका

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्याचार्यों की उस गौरवमयी परम्परा के स्वत. आलोकित ज्योतिर्पिण्ड हैं जो भरत मुनि और पण्डितराज जगन्नाथ से होती हुई अद्यावधि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तक प्रसरित हुई है। इन दोनो साहित्य-मनीषियो के समक्ष युगगत समस्यायें थी, समीक्षागत दायित्व थे। इन दायित्वो मे विषय और महत्व की दृष्टि से भेद हो सकता है। किन्तु, युगगत साहित्यिक चर्या को एक श्रेयस्कर दिशा की ओर प्रेरित करने मे इन्होने जो योगदान दिया है उसे अपने-अपने स्थान पर अद्वितीय कहा जा सकता है। जब साहित्य-सरणी का प्रवाह थम-सा जाता है, और वह किसी एक स्थान पर स्थिर-सी होने लगती है तब ऐसे साहित्य-द्रष्टा की आवश्यकता होती है जो साहित्य-प्रवाह के अवरोधक तत्वो को पहचानकर उसका निराकरण करे तथा साहित्य-सरणी को निरन्तर अग्रगामी बनाए। यद्यपि हिन्दी-आलोचना की जागरण-वेला म अनेक विद्वान समीक्षको ने समीक्षा-साहित्य को समृद्ध करन का प्रयास किया था, किन्तु वे समीक्षा को कोई व्यापक एव सुदृढ निर्देश नही दे पाये थे। पद्मसिंह शर्मा तथा मिश्रबन्धुओ ने इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य किया था, किन्तु वे रीतियुग के प्रभावो से विनिर्मुक्त नहीं थे, न उनमें व्यक्तिगत पूर्वाग्रह का अभाव ही था।

हिन्दी साहित्य-समीक्षा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा नयी दृष्टि, अभिनव जिज्ञासा और चिन्तन का नया आरम्भ केन्द्र प्राप्त हुआ। उन्ही से आधुनिक-समीक्षा का जन्म समझना चाहिए। द्विवेदी-युग पुनरुत्थानवादी युग था। उस युग के समीक्षको की समीक्षागत मान्यतायें सस्कृत काव्य शास्त्र की मान्यताओ से पृथक् नही थी, किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य मे जब नयी काव्य-चेतना, नये काव्य रूप और अभिनव कृतियो का प्रणयन हुआ तब उनके मूल्याकन मे प्राचीन काव्य निकष खरे नहीं उतर सके। इस युग मे ऐसे काव्य-शास्त्र की आवश्यकता थी जो इन नयी काव्य-कृतियों की अभिनव सवेदना के मर्मस्थल मे स्थित सूक्ष्म सौन्दर्य का उद्घाटन कर सके। इस युग म हम प्राचीनता के मोह मे ग्रस्त ऐसे विद्वानो के भी दर्शन करते हैं जो प्राचीनता और परम्परा की सुरक्षा के नाम पर हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र से नवीन प्रवृत्तियो के बहिष्कार को ही अपना चरम दायित्व समझते थे। इनके समानान्तर आलोचको का ऐसा दल भी कार्यरत था जिन्होने इस नवीन चेतना का स्वागत किया तथा नये साहित्य रूपो के मूल्यांकन के लिए नये मानदण्डों का निर्माण किया। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का अनुशीलन भी इन विद्वानो

ने किया था। परम्परा पर स्थिर रहकर भी आचार्य शुक्ल ने नई चेतनाओ को प्रश्रय दिया था। इस सीमा पर वे अद्वितीय हैं।

शुक्ल जी के बाद के आलोचकों के सामने समीक्षा के निकष को विकासोन्मुख बनाने की समस्या थी और यह उनका युग-दायित्व भी था। हिन्दी-कविता मे सुष्ठु संवेदना, दार्शनिक दीप्ति, कल्पनात्मक सौन्दर्य, माधुर्यपूर्ण भाषा और अभिनव छन्द-योजना के नवीन और युगान्तरकारी स्वरूप के दर्शन हुए थे। इसके आकलन के लिए शुक्ल जी द्वारा स्थापित साहित्यादर्श कदाचित उपयोगी नही होता। इसके लिए नये युग के समीक्षको ने तटस्थ एव विकासमान इतिहास की भित्ति पर आधारित समीक्षा प्रणाली की उद्भावना की जिसे सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी समीक्षा की अभिधा दी गई।

सौष्ठववादी समीक्षा के अन्तर्गत शास्त्रीय समीक्षा की भांति पूर्वस्थापित मानदण्डो के आलोक मे साहित्य की आलोचना नहीं की जाती और न इसमे व्यक्तिगत पूर्वाग्रह एव रुचि का प्रत्यक्ष आभास ही मिलता है। यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक निरपेक्ष और तटस्थ है। सौष्ठववादी समीक्षक की दृष्टि कृति या रचना के बाह्यांग पर ही स्थिर रह कर उसके बाह्यगत सघटन का विवेचन नही करती, अपितु उसे कृति के मर्म मे पहुचकर आभ्यन्तरिक मूल्य-सम्पन्न सूक्ष्म सौन्दर्य का उद्घाटन अभीष्ट होता है ताकि पाठक भी उसका अनुभव कर कवि के समान आनन्द प्राप्त कर सके। उसका कर्त्तव्य केवल कवि का परिचय देना ही नही होता अपितु वह कविता के उस आत्मतत्त्व का सन्धान करना चाहता है जिससे सारा काव्य आलोकित हो उठा है और जिसे सौष्ठव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सौष्ठव मात्र कल्पनामूलक सौन्दर्य नहीं है। सौष्ठव, प्रभविष्णुता, औदात्य, मसृण भावना एव नैसर्गिक कल्पना, स्निग्ध अनुभूति, कांति, माधुर्य और मार्मिकता के सम्पुटित एव एकरस स्वरूप का नाम है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मे हिन्दी-समीक्षा को युगानुकूल आयाम की प्राप्ति होती है और वे 'समीक्षा-सम्राट' की अभिधा से सम्मानित किये गए हैं। उन्होंने समीक्षा को एक सुदृढ भूमिका प्रदान की, काव्य और साहित्य-चिंतन को एक श्रेयस्कर मार्ग दिखाया। वे हिन्दी-साहित्य मे सौष्ठववादी आलोचना के प्रतिष्ठापक और प्रवर्तक हैं। उनकी समीक्षा मे परम्परागत और आधुनिक आलोचना-शैलियो के समन्वय का दर्शन होता है। उनकी दृष्टि विश्लेषणात्मक एव यान्त्रिक न होकर समग्रग्राही और अयान्त्रिक है। नैतिकता के सर्वग्राही आग्रह के स्थान पर लोकमंगल की ओर प्रयाण करने की प्रवृत्ति उनमे प्रमुख है। व्यक्तिवादी धारणाओ के स्थान पर समाजवादी मान्यताओं से वे अधिक प्रभावित हैं; किन्तु सामाजिक व्यवस्था तभी आदर्श हो सकती है जब व्यक्तित्व के विकास की संभावनायें अबाध

और अनिर्बंध हो। इसलिए वे व्यक्तिप्रधान समाजवाद के हिमायती हैं जिसमे व्यक्ति की इयत्ता सामाजिक तन्त्र का एक अश होने मे नही है अपितु समाज का नियामक, गतिशील और आत्मप्रबुद्ध चेतन तत्त्व होने में है। 'समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए है' समाज और व्यक्ति की अन्योन्याश्रित धारणा आचार्य वाजपेयी की एक उपलब्धि है। लोकमगल की भूमिका मे अनुभूतिप्रवणता का आनयन करने से उनकी समीक्षा-स्थिति भी अपने स्थान पर अद्वितीय हो जाती है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी की विचारणा मे साहित्य चिन्तन के अपेक्षाकृत गम्भीर रूप के दर्शन हो सकते हैं। पण्डित शुक्ल नवीन मनोवैज्ञानिक आलोक मे रस एव अलकार की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथा उन्हे उच्चतर जीवन-सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं। साहित्य के स्वरूप पर शुक्ल जी के विचार दार्शनिक कहे जा सकते हैं। उन्होने जगत को अव्यक्त की अभिव्यक्ति माना था और साहित्य को उस अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति के रूप मे परिभाषित किया था। इस स्थल पर प्लेटो की साहित्य विषयक मान्यता से उनकी समानता देखी जा सकती है। प्लेटो भी जगत को सत्य की अनुकृति मानते हैं और काव्य को उस अनुकृति की अनुकृति। अन्तर केवल शब्दो का है। जहाँ प्लेटो 'अनुकृति' का प्रयोग करते हैं वहाँ शुक्ल जी 'अभिव्यक्ति' का व्यवहार करते हैं। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी की साहित्य विषयक मान्यता दार्शनिक प्रभाव की अपेक्षा अधिक तथ्यमूलक है। हम इसे साहित्य की व्यावहारिक परिभाषा भी कह सकते हैं। पण्डित वाजपेयी मानव जीवन को साहित्य के उपादान और विषय-वस्तु के रूप मे स्वीकार करते हैं। मानव-जीवन विकासशील है, अत साहित्य भी अनिवार्यत विकासशील होता है। "विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अशो की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।"[1]

साहित्य-चिन्तन में आचार्य शुक्ल की दृष्टि दर्शनगर्भ थी वाजपेयी जी की दृष्टि मे दार्शनिकता की अपेक्षा यथार्थ का अधिक आभास मिलता है। शुक्ल जी जगत को सत्य के आलोक से भास्वर देखते थे, आचार्य वाजपेयी सौन्दर्य को ही जीवन का मूल तत्व स्वीकार करते हैं। सत्य की सापेक्षिता मे आचार्य शुक्ल ने काव्य और साहित्य का विश्लेषण किया था इसलिए उनकी दृष्टि अद्वैतवादी विचारणा से प्रभावित थी और अधिक बौद्धिक थी। आचार्य वाजपेयी सौन्दर्य को ही जीवन और साहित्य का लक्षण मानते हैं, और सौन्दर्य बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति की वस्तु है, इसलिए उनकी काव्यगत धारण अनुभूतिप्रवण है। शुक्ल जी ने काव्य की व्याख्या

१ नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ३

करते हुए कहा है कि, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, इसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"[1] वाजपेयी जी की काव्यगत मान्यता अधिक प्रत्यक्ष और तथ्यवादी है। काव्य का मूल्य उनके विचार से लोकमंगल की भूमिका मे निहित है जिसे आधुनिक शब्दावली मे 'रस' भी कहा गया है। उनके शब्दों मे, "काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियो का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र मे स्वभावत अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-सवेदन उत्पन्न करता है।"[2]

काव्य-प्रक्रिया के उदात्त स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि, "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धो के सकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का सचार होता है।"[3] उन्होने कविता को बाह्य एव अन्तर्प्रकृति के समन्वय-सूत्र के रूप मे भी देखा है— "हृदय पर नित्य प्रभाव करने वाले रूपो और व्यापारो को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त प्रकृति का सामजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयत्न करती है।"[4] शुक्ल जी मानते हैं कि, "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा मे लाती है और जगत के बीच उसका क्रमश अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है।"[5] आचार्य शुक्ल लौंजाइनस ('लागिनुस') की भाँति काव्य को उन्नयन का साधन मानते हैं तथा काव्य मे उदात्त तत्वो के प्रभाव का विस्तारपूर्वक आकलन करते हैं। काव्य के अतिम लक्ष्य के सम्बन्ध मे शुक्ल जी की विचारणा पूर्णत मौलिक है। वे पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति 'रमणीयता' को अथवा यूरोपीय समीक्षको के समान 'आनन्द' को काव्य का उद्देश्य नही मानते। उनके विचार से "कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षो का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामजस्य-स्थापन है।"[6] जगत और मानव-हृदय का समन्वय ही कविता का सर्वस्व है।

काव्य और साहित्य के अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध मे आचार्य वाजपेयी की विचारणा उनके श्रेष्ठ-साहित्य के मानदण्ड पर आधारित है। वे मानते हैं कि समाज

---

१ चिन्तामणि भाग १ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४१
२ नया साहित्य : नये प्रश्न . आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ १७
३ चिन्तामणि, भाग १ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १४१
४ वही पृष्ठ १४५-६
५ वही पृष्ठ १६०
६ वही पृष्ठ १६२

और जीवन के रचनात्मक पक्षों और अनुभूतियों को लेकर ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो सकती है—और वह भी ऐसे व्यक्तियों के द्वारा, जो स्वतः रचनात्मक लक्ष्य रखते हों और साथ ही जिन्हें विज्ञान की नहीं जीवन की जानकारी हो, जीवन के प्रति ज्वलन्त आस्था हो।[1] उन्होंने क्रियाशील और रचनात्मक जनतन्त्र की चर्चा करते हुए *आज की साहित्य-साधना का अभीष्ट लक्ष्य निर्धारित किया है*।[2] वे सम्पूर्ण सार्थक रूप-सृष्टि को काव्य की अभिधा प्रदान करते हैं।[3] सौन्दर्य के उन्मेष को उन्होंने काव्य-कला का उद्देश्य माना है। उनका कथन है कि, "सौन्दर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है, अतएव काव्य-कला का उद्देश्य सौन्दर्य का ही उन्मेष करना है।"[4] वाजपेयी जी का विश्वास है कि काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक *चेतना और भावों के परिष्कार की क्षमता निहित होती है। भारतीय रसवाद में* वाजपेयी जी की पूरी आस्था है। उनका कथन है कि साहित्य-समीक्षा का मूलाधार बनाने के लिए रस-सिद्धान्त को पर्याप्त विशद और व्यापक बनाया जा सकता है। वे रस को वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर या अलौकिक नहीं मानते। रस के सम्बन्ध में भी उन्होंने उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण किया है। वे रस को मात्र *आह्लादकता का सूचक मानते हैं*, रस को *भाव, रसाभास, भावाभास, अलंकार-ध्वनि* और वस्तु-ध्वनि इत्यादि के प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं तथा कलामात्र के आनन्द को रस की अभिधा प्रदान करते हैं।

आचार्य शुक्ल नई कविता के विशृंखलित स्वरूप के सम्बन्ध में सन्तोषप्रद धारणा नहीं बना सके थे। अपनी धारणा की पुष्टि के लिए तथा नई-कविता की *विशृंखलता एवं अनुपयोगिता का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने कुमिंग्स नामक* कवि का उद्धरण दिया है। आचार्य वाजपेयी जी को भी नई-कविता की गतिविधि से सन्तोष नहीं मिला है। उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक गहराई से जाकर लोकमंगल की भूमिका पर नई-कविता की सार्थकता की परीक्षा की है तथा कल्याणप्रद राज्य के परिप्रेक्ष्य में नयी कविता में वर्णित अनुभूतियों एवं गृहीत शैलियों का अवलोकन किया है। इस स्थिति में उनका सौष्ठववादी बाना उतर जाता है और वे युग-दायित्व से सम्पन्न समीक्षक के समान ओजपूर्ण शब्दों में नई-कविता की वर्तमान गतिविधि को अस्वास्थ्यकर घोषित कर देते हैं। पाश्चात्य वादों के चाकचिक्य में विभ्रमित तथा अतिवादी विचारणाओं से ग्रस्त कवि-मानस का मनोविश्लेषण कर वाजपेयी जी आधुनिक काव्य-समीक्षा *को मौलिक दिशा की ओर संकेत करते हैं।*

नई-कविता के समान अभिव्यञ्जनावाद से भी शुक्ल जी तालमेल नहीं बैठा सके थे। क्रोचे के मन्तव्य का अध्ययन करने की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति व्यक्ति

---

१ आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ४९
२ नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २७
३ नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २७
४ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १४६

गत आक्रोश प्रकट करने की ओर अधिक हुई। यही कारण है कि वे क्रोचे की विचारणा मे उन त्रुटियो का आनयन करने लगते है जिनका क्रोचे मे सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह था कि शुक्ल जी भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त से इतने प्रभावित थे कि उनका मन अन्य किसी अभारतीय समीक्षा-शैली का अनुशीलन करने की ओर उदबुद्ध नही हुआ। वे रस-सिद्धान्त को इतना पूर्ण समझते थे कि अन्य विजातीय तत्त्व का मूल्याकन करना उन्हे सह्य नहीं था। आचार्य वाजपेयी भी अभिव्यञ्जनावादी काव्य-चिन्तन को स्वीकार नही करते। किन्तु उनके इस नकार के मूल मे क्रोचे के सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक आकलन निबद्ध है। *वे अभिव्यञ्जना को नही, अपितु अनुभूति की तीव्रता को काव्य का प्रधान गुण मानते* हैं। उनका कथन है कि, "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य, अभिव्यजना का सौन्दर्य नही है, अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियो से है, जबकि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्य-प्रकाशन से है।"[1] अलकार के सम्बन्ध मे भी वाजपेयी जी की मौलिक चिन्तना द्रष्टव्य है। उनके विचार से काव्य-भाषा का अनिवार्य तत्त्व शब्द-भगिमा नही है, अपितु वह शब्दो का परम्पराबद्ध प्रकार ही है।" कविता अपने उच्चतर पर अलकार-विहीन हो जाती है कविता जिस स्तर पर पहुच कर अलकार-विहीन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह मे अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहाँ बह जाते और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।"[2] "इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही काम करते हैं जो दूध मे पानी।"[3] इस विचारणा मे वाजपेयी जी की आलोचना का सौष्ठव पूर्ण प्रकर्ष मे हैं।

साहित्य-मीमासा के समय शुक्ल जी की दृष्टि कठोर नीतिवादी की थी। उन्होंने नैतिकता और लोकधर्म के आलोक मे साहित्य की गतिविधि को समझने का प्रयास किया था। नैतिकता और लोकधर्म को साहित्य का प्रधान गुण मान लेने के कारण उनके समीक्षादर्श साहित्य के अभिनव आयामो के अनुकूल प्रत्यास्थता समन्वित नही हो सके। रामचरितमानस के अनुशीलन से उन्होंने अपनी साहित्यिक धारणा का निर्माण किया था। वे मानस के लोकधर्म के आदर्श की ओर तीव्रता से अनुधावित हुए थे। 'सत् की रक्षा और असत् के दमन' मे उनका पूर्ण विश्वास था। उन्होने निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति की अधिक महत्ता प्रदर्शित की। फलत.

---

१ हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी . आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ६७
२ वही, पृष्ठ ६०
३ वही, पृष्ठ ६१

उनकी विचारणा मे ज्ञान और कर्म, निवृत्ति और प्रवृत्ति, व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म परस्पर विरोधी और विपरीत बनकर प्रस्तुत हुए। वाजपेयी जी भी काव्य मे नैतिकता को महत्व देते हैं। वे नैतिकता के सम्बन्ध मे भी मध्यम मार्ग ग्रहण करते हैं। वे साहित्य मे नैतिकता का प्रत्यक्ष नियन्त्रण उपादेय नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि, "महान् कला कभी अश्लील नही हो सकती। उसके बाहरी स्वरूपो मे यदा-कदा श्लीलता अश्लीलता सम्बन्धी रूढ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो, और क्रान्तिकाल मे बहुधा ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक असन्तुलन उसमे नही हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का हिमायती होता है।"[1]

आचार्य शुक्ल को वादो पर विश्वास नहीं था। आचार्य वाजपेयी जी भी वादो पर भरोसा नहीं करते। शुक्ल जी कविता को वादो के परिवेश मे रखने के विरोधी थे। वाजपेयी जी भी वाद और कविता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का द्योतन करते हैं, "वाद तो एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनो के स्वरूपों और प्रक्रियाओ मे अन्तर है एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्तिमुखी है, दूसरे की सैद्धान्तिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है सवेदनाओ की सृष्टि करना, वाद का काम है ज्ञान-विस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है, काव्य का सार्वभौम।'[2] शुक्ल जी को ब्रैडले तथा अन्य कलावादियो एव प्रभाववादियो की धारणाएँ मान्य नही थी। पर रिचार्ड्स की मूल्यवादी विचारणा से वे सहमत थे। 'कला के लिए कला' सिद्धान्त की विडम्बना प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि, "इस प्रवाह के कारण जीवन और जगत् की बहुत सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय मे बहुत दिनो से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगी कि ये तो इतर वस्तुएँ हैं, शुद्ध कला के क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ हैं।'[3] शुक्ल जी के विचार से यह धारणा भारतीय परम्परा की विरोधिनी तो है ही, पर इसका प्रभाव पाश्चात्य देशों मे भी समाप्त हो गया है।

सैद्धान्तिक समीक्षा

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र मे भी आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी का योगदान अप्रतिम है। आलोचना के प्रकार और स्वरूप पर शुक्ल जी के विचार अनेक स्थलो पर प्राप्त होते हैं। शुक्ल जी की आलोचना-विषयक मान्यताओ मे

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २३

२ नया साहित्य : नये प्रश्न आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २१

३ चिन्तामणि . आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हमे पाश्चात्य समीक्षा की तीन प्रमुख विधियो के मूलतत्व सन्निविष्ट मिलते हैं। *निर्णयात्मक आलोचना के तत्व* शुक्ल जी के साहित्य-चिन्तन मे उपलब्ध हैं जिसके अन्तर्गत समीक्षक किसी पूर्वनिर्मित निकष से कृतियो का मूल्याकन करता है। निगमनात्मक या विश्लेषणात्मक समीक्षा के उपादान भी शुक्ल जी की साहित्य विषयक मान्यता मे कुछ अश तक सन्निविष्ट हैं जिसके अतर्गत समीक्षादर्श कृति के आकलन से प्राप्त किए जाते हैं तथा पूर्वनिर्धारित नही होते। वस्तुत निगमनात्मक या विश्लेषणात्मक समीक्षा के अभाव मे निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नही रह जाता। "निर्णयात्मक समीक्षा की सफलता के लिए व्याख्यात्मक समीक्षा का अवलम्ब आवश्यक हो जाता है।"[1] किन्तु शुक्ल जी प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा के समर्थक नही थे। उनका कथन है कि, "प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा कोई ठिकाने की वस्तु नही है। न ज्ञान के क्षेत्र मे उसका कोई मूल्य है और न भाव के क्षेत्र मे। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयगम करने मे सहायता मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भाव-भगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरजन करे।"[2] यद्यपि शुक्ल जी निगमनात्मक आलोचना को ही उच्चकोटि की समीक्षा-प्रणाली मानते हैं, फिर भी उपर्युक्त तीनो समीक्षा प्रणालियो के तत्व उनकी समीक्षा विषयक मान्यता मे सन्निविष्ट है। निगमनात्मक आलोचना के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि, "कवियो की विशेषता का अन्वेषण और उनकी अन्त प्रकृति की छानबीन करने वाली उच्चकोटि की समालोचना का प्रारम्भ तृतीय उत्थान मे जाकर हुआ।"[3] उन्हे निर्णयात्मक आलोचना की व्यावहारिक्ता पर पूर्ण विश्वास है "सभ्य और शिक्षित समाज मे निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार पक्ष भी है। उसके द्वारा साधनहीन अधिकारियो की कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य क्षेत्र कूडा-कर्कट से भर जाए।"[4] निर्णयात्मक समीक्षा तभी सफल हो सकती है जब उसमे तीनो प्रमुख आलोचना-शैलियो के तत्वो की अभिहिति हो। शुक्ल जी के विचार से, "समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनो अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वता के स्थान पर रुचि। अत विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनो *आवश्यक हैं।*"[5]

---

१ The modern study of literature : Molton Page 158

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६२३

३ वही, पृष्ठ ५८८

४ चिन्तामणि—दूसरा भाग : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ६६

५ वही, पृष्ठ ६५

समीक्षा के स्वरूप और उसके प्रकार के सम्बन्ध मे वाजपेयी जी ने भी लाभप्रद निर्देश दिया है। उन्होने समीक्षा की दो धाराओ का दिग्दर्शन कराया है। "एक वह जिसे हम सरक्षणशील या स्थितिशील धारा कह सकते है, और दूसरी वह जिसे रचनात्मक या प्रगतिशील धारा कहा जाएगा। पहली धारा के समीक्षक साहित्यिक चारुता और परिष्कार के अभिलाषी होते हैं, दूसरी धारा के समीक्षक प्रगल्भ भावोन्मेष को प्रोत्साहन देते है।"[1] वाजपेयी जी की प्रथम पुस्तक *'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी'* मे *रचनात्मक या प्रगतिशील धारा के दर्शन होते* हैं। वाजपेयी जी का विचार है कि समीक्षा किसी रचना विशेष की अनुचरी मात्र नही है, न ही उसे साहित्य का कठोरता से नियन्त्रण करने वाली अधिनेत्री ही माना जा सकता है। "समीक्षा वस्तुत इन दोनो से बहुत भिन्न है। वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।"[2] आचार्य शुक्ल की तरह आचार्य वाजपेयी भी सूक्ष्मद्रष्टा है। उन्होने अधुनातन साहित्यिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण कर लाभप्रद निर्देश दिया है। उनका कथन है कि, 'हमारे नये साहित्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हो रही हैं। एक वह, जिसे हम नितान्त अन्तर्मुख प्रवृत्ति कह सकते हैं, जो साहित्य को *अन्तश्चेतना के दलदल की ओर लिए जा रही है, और दूसरी वह जो उसे बौद्धिकता के अनुर्वर और रेतीले मैदान मे पहुचा रही है। एक स्थिति मे साहित्य-समीक्षा* का कार्य कवि की पाप भावना का साक्षात्कार करना और उसी मे रमना माना जायगा, दूसरी स्थिति मे उसका लक्ष्य होगा एक निर्धारित सिद्धान्त की मरीचिका मे विचरण करना या भटकना। इन अतिवादो के बीच अनेक ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जो समीक्षा के लिए नाना बन्धनो की सृष्टि करती हैं। साहित्य की ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति म हमारी समीक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी कार्य करने का अवसर है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब समीक्षक मे सम्यक् साहित्यिक चेतना के साथ-साथ अतिशय आत्मनिर्भर वृत्ति भी हो। ऐसा समीक्षक उस *द्वन्द्वात्मक स्थिति के बीच राह बना सकता है। परन्तु निर्भरता के साथ-साथ उसम अशेष अध्यवसाय भी होना चाहिए। तभी वह दलदल को पाटकर समतल* और मरुस्थल को छाया देकर हरा-भरा उद्यान बना सकेगा।"[3]

आचार्य वाजपेयी जी का मत है कि रसानुभूति या सवेदना पर आधारित समीक्षा के लिए समीक्षक के *व्यक्तित्व को समुन्नत होना चाहिए।* उसमे इतनी शक्ति होनी चाहिए *कि वह कला के मानसिक आधार को ग्रहण कर सके।* समीक्षक

---

१ *नया साहित्य नये प्रश्न आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी*, पृष्ठ ७

२ वही, पृष्ठ २६

३ वही, पृष्ठ २६ २७

म किसी भी मतवाद के प्रति किसी भी प्रकार का आग्रह नहीं होना चाहिए। काव्य के कलात्मक स्वरूप एवं मनोभूमि के विश्लेषण के लिए समीक्षक का तटस्थ होना आवश्यक है। विश्लेषण की सफलता की पहली शर्त समीक्षक की तटस्थता है। वे समीक्षक के दायित्व को कवि के दायित्व की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं "काव्य की इस अशेष रूप-सृष्टि में चयन और व्यवस्था का कार्य समीक्षक को ही करना पड़ता है, और इसके लिए उसकी सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि और काव्य-प्रज्ञा अपेक्षित होती है। एक ओर उसे ससार के श्रेष्ठतम साहित्य के निदर्शनों को अपनी स्मृति में सकलित करना पड़ता है और दूसरी ओर अपने युग की रचनात्मक प्रेरणाओं को अपने व्यक्तित्व का अंग बनाना पड़ता है। इस दृष्टि से उसका दायित्व कवि या स्रष्टा के दायित्व से कहीं अधिक हो जाता है। कवि अपने काव्य के लिए ही जिम्मेदार है, पर समीक्षक अपने युग की समस्त साहित्यिक चेतना के लिए जिम्मेदार होता है। तुलसीदास जी ने समीक्षक को साहित्य-सरोवर का सरक्षक बताया है, पर वस्तुत वह इससे भी कुछ अधिक होता है। सरक्षण तो वह करता ही है, साहित्य की प्रगति का पुरस्कर्ता भी होता है। एक अर्थ में उसे जातीय जीवन का नियामक भी कह सकते हैं।"[1]

व्यावहारिक समीक्षा

आचार्य शुक्ल की विचार-सरणी इतिहास-लेखन और व्यावहारिक समीक्षा के दुकूलों से प्रवाहित हुई है। इतिहासकार के रूप में उन्होंने हिन्दी-साहित्य की धाराओं के तारतम्य और विरोध को बड़ी ही कुशलता से प्रदर्शित किया है। उन्होंने सभी प्रकार के कवियों की आलोचना सफलतापूर्वक की है। साहित्यिक इतिहास के निरूपण में कवियों के कृतित्व के आकलन में तथा काव्य-धाराओं के मूल्याकन में शुक्ल जी के समीक्षादर्श पूर्णत समर्थ सिद्ध हुए हैं। शुक्ल जी की व्यावहारिक समीक्षा के उदाहरण 'सूरदास', 'तुलसी', 'जायसी ग्रन्थावली', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'शेष स्मृतियाँ' की भूमिका के रूप में प्रस्तुत हैं। इन्हीं व्यावहारिक समीक्षाओं में शुक्ल जी की सैद्धान्तिक मान्यताओं से भी परिचय मिल जाता है। इन स्थलों में शुक्ल जी का दृष्टिकोण कवि की प्रकृति और स्वभाव की अपेक्षा रचना के विचार-सूत्रों और प्रस्तावनीय विषय की विवेचना की ओर अधिक रहा है।

आचार्य वाजपेयी की समीक्षागत उपलब्धि व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में है। फिर भी सैद्धान्तिक आलोचना का पक्ष आनुषंगिक होकर नहीं आया है, उसकी पुष्टि भी स्वतन्त्र निबन्धों के अन्तर्गत की गई है। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न . आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ७

शताब्दी' और 'जयशकर प्रसाद' मे वाजपेयी जी का दृष्टिकोण कलाकार की अन्तर्वृत्तियो का अध्ययन करने तथा उनका कलाकृति से समन्वय स्थापित करने का रहा है, किन्तु 'सूर सन्दर्भ' की भूमिका मे उन्होने सौन्दर्योद्भावना के लिए मनोवृत्तियो का जितना अन्वेषण अभीष्ट था उतना ही किया है तथा उनकी सौष्ठववादी दृष्टि प्रमुख हो गई है। यहाँ वाजपेयी जी कवि द्वारा नियोजित प्रतीको एव प्रभावो का अध्ययन करना चाहते हैं और कवि की मूल सवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना चाहते हैं कि वह अपने उद्देश्य मे कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है।[1]

समीक्षा-निकष

शुक्ल जी के काव्य-विषयक विचार पूर्णत भारतीय हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र की अनुशीलित मान्यतायें ही उनकी विचारसरणी का स्वरूप निर्धारित करती हैं। किन्तु वे पाश्चात्य साहित्य की मूलभूत मान्यताओ से भी परिचित थे। उन्होने अपने विचारो के प्रमाण के रूप मे पाश्चात्य साहित्यिको के मतो का उद्धरण भी दिया है, किन्तु ये उद्धरण उनकी कृतियो मे अनुवाद के रूप मे ही नहीं आये है अपितु इनमे शुक्ल जी की मौलिक चिन्तना का प्रभाव पूर्णत स्पष्ट है। उनके विश्लेषण मे कही-कही पर पाश्चात्य एव भारतीय साहित्य सिद्धान्तो का अभेदत्व भी लक्षित होता है। शुक्ल जी का युग मानवतावादी था। वे स्वय धर्म और नीति पर विश्वास करते थे। अतएव, उन्होने युगीन वैचारिक दिशा के अनुरूप विक्टोरियन युग के नीतिवादी विचारक का उद्धरण अपने पक्ष मे दिया है। शुक्ल जी मनोविज्ञान की उपादेयता को स्वीकार करते थे तथा उनके विचारा मे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक धारणा का प्रभाव भी दीखता है किन्तु यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी शुक्ल जी की नीतिवादी दृष्टि के अनुरूप विशिष्ट मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय से गृहीत है। शुक्ल जी के समय तक पाश्चात्य देशों में मनोविज्ञान के सभी प्रमुख सम्प्रदायो की मान्यतायें प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। सन् १९०० तक फ्रायड के विचार शिक्षित जनता के समक्ष आ चुके थे। व्यवहारवादी विचारक पैवलो के सभी मनोवैज्ञानिक प्रयोग सन् १९०५ तक सम्पन्न हो चुके थे। गेस्टाल्ट के मनोविज्ञान, आकृतिवाद एव प्रयोजनवाद की चर्चायें हो रही थीं। पर शुक्ल जी मनोविज्ञान के इन प्रमुख सम्प्रदायों की उपपत्तियो को स्वीकार नहीं कर सके थे। उनकी रुझान शैक्षणिक मनोविज्ञान की ओर अधिक थी। वे शैक्षणिक मनोविज्ञान के निष्कर्षों से पूर्णत सहमत थे। वास्तव मे यह धारा शुक्ल जी की वैचारिकता के अनुरूप थी, क्योंकि इसका उद्देश्य मनुष्य का अध्ययन करना ही नहीं था। इससे अधिक विस्तृत था। यह धारा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त कर उसको नैतिकता की ओर उन्नयित करना चाहती थी।

---

१. सूर-सन्दर्भ : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ८४

वाजपेयी जी के समीक्षादर्श उनके सप्तसूत्रीय प्रस्थान से स्पष्ट हैं। उनके समीक्षादर्श साहित्य के मानसिक एव कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करने मे सफल रहे हैं। उनका कथन है—"समीक्षा मे मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टाएँ हैं जिनमे क्रमश ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है—

१–रचना मे कवि की अन्तवृ‌त्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।

२–रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

३–रीतियो, शैलियों और रचना के बाह्यागो का अध्ययन।

४–समय और समाज तथा उसकी प्रेरणाओ का अध्ययन।

५–कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण)।

६–कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो का अध्ययन।

७–काव्य के जीवन सम्बन्धी सामञ्जस्य और सदेश का अध्ययन।[1]

वाजपेयी जी के उपयुंक्त सात सूत्रो से यह स्पष्ट है कि उनकी साहित्य विषयक मान्यतायें व्यापक एव वादरहित हैं। हमने वाजपेयी जी को सौष्ठववादी समीक्षा का प्रतिष्ठापक माना है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि उनकी समीक्षा का निरूप साहित्य समीक्षा के सभी महत्वपूर्ण तत्वो से सग्रथित है। वाजपेयी जी ने रचना मे कवि की अन्तवृ‌त्तियो के अध्ययन को प्राथमिक महत्व दिया है तथा द्वितीय स्थान कलात्मक सौष्ठव के उद्घाटन को। साथ ही, वाजपेयी जी रूपगत आलोचना को तृतीय स्थान देते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाजपेयी जी कृति के अन्त सौन्दर्य को प्रधानतत्व मानते हैं। शास्त्रीय आलोचना रूपात्मक होती है। इसके आधार पर भले ही कृति का बाह्य स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाय, किन्तु जिस तत्व से कृति दीप्तिमान होती है तथा जो आन्तरिक होना है उसका परिचय नही मिल पाता। किन्तु वाजपेयी जी शास्त्रीय पद्धति के साथ आन्तरिक गुणो के उद्घाटन को समीक्षा-दायित्व मानकर विश्लेषणात्मक या निगमनात्मक और सौष्ठववादी या प्रभाववादी समीक्षा के उपादानो मे समन्वय उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें सूत्रो का गठन क्रमश समाजवादी, चरितमूलक, मनोविश्लेषणात्मक और मूल्यवादी समीक्षा के तत्त्वो से हुआ है। भले ही इन्हे आपक्षिक महत्ता कम या अधिक मात्रा मे मिली है, फिर भी हिन्दी-समीक्षा के इतिहास मे इसके पूर्व किसी भी समीक्षक के व्यक्तित्व मे समन्वय का यह भव्य रूप नही दिखता।

---

१. हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २९

आक्षेप और उत्तर

आधुनिक युग मे आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी के समीक्षात्मक आधानो पर अनेक आक्षेप किये गये है तथा उन्हे प्रतिक्रियावादी और पिछडा हुआ समीक्षक बताया गया है। आचार्य शुक्ल को सम्प्रदायवादी समीक्षक कहा गया है *और आचार्य वाजपेयी को छायावादी या रोमानी भावनाओं का समीक्षक कहा गया है। वास्तव मे, युग-प्रवर्तक समीक्षक-द्वय के सदर्भ मे ये आक्षेप दो दृष्टिकोणो से* आरोपित किए गए हैं। किसी व्यक्तिविशेष की अतिरजित प्रशसा करने के लिए तथा साहित्य-क्षेत्र मे उसका सर्वोत्कृष्ट स्थान निर्देशित करने के लिए एक यह भी विधि है कि अन्य सभी साहित्यिको की भरपेट निन्दा की जाए और कटूक्तियो की नीव पर प्रतिपाद्य व्यक्ति की अशेष कीर्ति का भवन निर्मित किया जाय। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी के कृतित्व पर लगाए गए कतिपय आक्षेप सामन्तकालीन मनोवृत्ति से युक्त लेखको के द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। दूसरे, इन आक्षेपो के आनयन की प्रेरणा शुक्ल जी और वाजपेयी जी की संरक्षणात्मक प्रवृत्ति से मिली है। शुक्ल जी का साहित्यादर्श व्यापक था। किन्तु शुक्ल जी की *समीक्षा-विषयक मान्यताओ मे दार्शनिक प्रभाव तथा युगीन नैतिकता की सीमा भी थी। उसका एक विशिष्ट क्षेत्र था। शुक्ल जी ने अपनी नीतिवादी साहित्य विषयक* मान्यता के आलोक मे क्षण-क्षण मे परिवर्तित होने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियो की प्रेरणा को समझना चाहा था। जिन प्रवृत्तियो से शुक्ल जी सतुष्ट नही हो सके थे, उनके दोपो का वर्णन उन्होने ओजस्वी वाणी मे किया था। फलत समीक्षित साहित्य-प्रवृत्ति के समर्थको ने भी प्रतिकार के रूप मे शुक्ल जी की प्रत्यालोचना की। वाजपेयी जी के समीक्षानिकष सार्वभौमिक साहित्य के मूलतत्त्वो से निर्गमित किए गए हैं, इसलिए उनपर देशीय या युगीन नैतिकता का बन्धन नही है। किन्तु भारतीयता का, भारतीय सस्कृति के मूल उपादानो की रक्षा और सम्वर्द्धना का, *युगीन चेतना को श्रेयस्कर दिशा की ओर उन्नयित करने का, मानव की शुभ एव* कल्याणमयी प्रवृत्तियो के अनुमोदन का आग्रह उनकी समीक्षा-प्रणाली को जहाँ उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करती है वही प्रत्येक नवीन विचार-सरणी को सत्य के जिज्ञासु के नेत्रो से देखने का अनुरोध भी करता है। आधुनिक शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे विदेशी विचारधाराओ का आयात धडल्ले से होने लगा था जिनमे से रूसीवाद (या मार्क्सवाद) और अमरीकीवाद (या फ्रायडवाद) के चाकचिक्य से शिक्षित, किन्तु अपेक्षाकृत कम गम्भीर लोगो का मन अभिभूत हो गया था। नये साहित्य के नये निर्माताओ ने इन विजातीय उपादानो के आधार पर *हिन्दी-साहित्य की दिशा-बदलने का दुःशासन-प्रयत्न किया था। उदीयमान सस्कृति के आलोक मे वाजपेयी जी को ये नए वाद नहीं सुहाए और उन्होने इन वादो की* तर्कगत असत्यता, मूलगत विरोधाभास और क्षणिक विचारोत्तेजक मान्यताओं का

नीर-क्षीर विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वाजपेयी जी प्रतिक्रियावादी समीक्षक[1], मधु और प्रिया के स्वप्न मे डूबे हुए आलोचक[2], पूँजीवादी सभ्यता के पृष्ठपोषक[3] तथा अन्य मार्क्सवादी गालियो के आधार करार कर दिए गए।

आचार्य शुक्ल एव आचार्य वाजपेयी जी के कृतित्व का आकलन करने के लिए तटस्थ एव सत्यान्वेषी मेधा की आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल के समीक्षा निकष को आधुनिक सन्दर्भों मे उतारने तथा उसकी शक्ति की परीक्षा करने का अवसर आ गया है। इसी प्रकार आचार्य वाजपेयी जी की आलोचना विषयक मान्यता को अधुनातन साहित्यिक प्रवृत्तियो के शोधपूर्ण अनुशीलन मे व्यवहृत करने की भी आवश्यकता है।

---

१. नयी कविता के प्रतिमान लक्ष्मीकान्त वर्मा
२. नकेन प्रपद्य
३. आलोचना के मान : शिवदानसिंह चौहान

आचार्य वाजपेयी जी और केरल के समीक्षक

डा० विश्वनाथ अय्यर एम० ए०, पी-एच० डी०

●

प्राचीन युग मे साहित्य का सृजनात्मक कार्य कविगण करते थे, और समीक्षात्मक कार्य आचार्यगण करते थे। यो कवि, नाटककार आदि प्रथम कोटि मे आते हैं और दूसरी कोटि मे ध्वनिकार, आलंकारिक आदि काव्यशास्त्रज्ञों की गणना होती है। यह भी तथ्य ही है कि कवि मे समीक्षक भी प्रच्छन्न रूप मे रहता है और समीक्षक मे भी मौलिक रचनाकार का अंश वर्तमान है। कवि मे विद्यमान समीक्षक ही उसे प्रथम प्रयुक्त शब्दों को काटने, तराशने एव नये सुन्दरतर और अधिक उचित शब्द लिखने की प्रेरणा देता है। जब तक वह समीक्षक सतुष्ट नहीं होता है, तब तक कवि रचना का सशोधन करता जाता है। यो उत्तम समीक्षक मे मूलत. सृजनशील चेतना भी अवश्य रहती है। वह समीक्षा के पहले कल्पना से सृजन कर लेता है और उस सृजन-कसौटी पर समीक्ष्य कृति को कस लेता है। यह दोहरी प्रक्रिया अभ्यासवश इतनी शीघ्र चलती है कि समीक्षा-पाठको को, कभी-कभी स्वय समीक्षक को भी, समीक्षक की सृजन-चेतना का अनुभव नही होता। समीक्षा के कार्य मे अधिक लगते जाने और मौलिक रचना मे कम लगने से भी सृजन-चेतना की बाहरी अभिव्यक्ति कम रहती है, परन्तु यह चेतना भीतर से लुप्त नही होती। जब वह लुप्त हो जाती है, तब समालोचना मार्मिक विवेचन में समर्थ नहीं रहती।

प्राचीन युग के विरुद्ध आधुनिक युग में हिन्दी-जगत् में बहुकला प्रवीण होने की अभिलाषा कई लोगों में देख पडती है। वे कवि, नाटककार, कहानी लेखक, उपन्यास-कार और समालोचक—सब कुछ बनने का प्रयत्न करते हैं। विशेष प्रतिभा के कुछ लोगों को इस प्रयास में सफलता मिल रही है। किन्तु ऐसे प्रयत्न मे अधिकांश लोग किसी धारा के उच्चतम लेखक बनने. से वंचित रह जाते हैं। यदि ये अपने किसी

प्रिय क्षेत्र का ही मंथन आलोडन करके नवनीत निकालते रहते तो पाठकों के हृदय उस नवनीत से अधिकाधिक स्निग्ध हो सकते। यह तथ्य पहचानने वाले विद्वानों में आचार्यवर नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान प्रथम है। आपने कविता, कहानी आदि विभिन्न क्षेत्रों में कलम चलाने के बदले गम्भीर समीक्षा-क्षेत्र को ही अपने लिये चुन लिया है। आपके व्याख्यानों में कवि हृदय झलकता है। 'केरल की शारदीय परिक्रमा'' नामक प्रकरण में आपने प्रकृति-वर्णन के कुछ कवित्वपूर्ण चित्र भी दिये हैं; किन्तु विशेष गम्भीरता ने ही आचार्य जी की साहित्यिक गरिमा को बढ़ाया है।

भारतीय काव्य समीक्षा और शास्त्र-समीक्षा के क्षेत्र में प्रसिद्ध पुराने आचार्यों के नाम अब भी सुविदित रहे हैं। जैसे, भरत मुनि, भामह आदि आचार्यों ने काव्य समीक्षा के अपने-अपने सिद्धान्त स्थापित किये। उन्होंने अपने युग में प्रचलित सैद्धान्तिक विचारों का समादर करते हुए व्यक्तिगत प्रतिभा से एक नयी प्रणाली पर सिद्धान्त के आविष्कार का प्रयत्न किया था। अपने दृष्टि-बिन्दु की विशिष्टता के कारण ये काव्य-चर्चा और शास्त्र-चर्चा में चिर-स्मरणीय हो सके हैं। परम्परा को भंग किये बिना नवीन विचारों का प्रदान ही इन समीक्षकों का योगदान था। किसी भी देश की संस्कृति के ध्यान से यही क्रम वांछनीय है। आचार्य वाजपेयी जी के सामने भी यही दृष्टिकोण रहा है।

आचार्य जी की कुछ समीक्षागत मान्यताओं की चर्चा के पहले उनके व्यक्तित्व पर थोड़ा सा प्रकाश डालना उचित समझता हूं। वेदज्ञों के परिवार में जन्म लिये हुए आचार्य जी की ऊँची शिक्षा एक ईसाई कालेज में और बाद में महामना के काशी विश्वविद्यालय में हुई थी। बाबू श्यामसुन्दरदास जी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की सत्संगति में साहित्य-साधना का सौभाग्य भी आपको मिला। संस्कृत-समीक्षा के ज्ञान के साथ पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों का परिचय भी आप पा सके। नये पश्चिमी विचारों का स्वागत करने पर भी आपका दृष्टिकोण भारतीयता पर ही प्रधान रूप से अधिष्ठित है। उनसे घनिष्ट परिचय रखने वालों की सम्मति है कि व्यक्तिगत आचार-विचार आदि में भी आचार्य प्रगति का स्वागत तो करते हैं, पर हितकारी प्राचीन विचारों का आदर भी करते हैं। विचारों की यह निश्चित दिशा और दृढ़ता पिछली पीढ़ी के कई प्रमुख आचार्यों में देख पड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम-सुन्दरदास, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि इसी तरह के हैं। उन्हीं की श्रेणी में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का दूसरा गुण उनके समीक्षकत्व में भी दर्शनीय है। विद्वत्ता के उच्चतम शृङ्ग पर रहने पर भी आचार्य जी नये आरोहियों

को हाथ का सहारा देकर ऊपर चढाते हैं। नयी उपादेय बातों का भी वे स्वागत करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी और उनके सहयोगी समकालीन छायावादियों की लाक्षणिक शब्दावली तथा अपार्थिव प्रेम की हँसी उडाते थे; परन्तु आचार्य वाजपेयी जी छायावादी कवियो के समर्थक-प्रशसक के रूप मे आगे बढे। जब कई पण्डित प्राचीन महाकाव्य की तुला लेकर कामायनी तक को उस तुला पर रखने मे सकोच कर रहे थे, तब वाजपेयी जी ने महाकाव्य की कसौटी को थोडा सा आधुनिक रूप देकर 'कुरुक्षेत्र', 'कैकेई', 'अजेय खण्डहर', 'अशोक' आदि तक को इसमे समावेश करना पसन्द किया है *(आधुनिक साहित्य)*। सम्भवतः इसी प्रकार के समर्थन से प्रेरित कवियो ने पार्वती, बाणाम्बरा, उर्वशी, साकेत-सन्त आदि महाकाव्य रचे है। कभी कभी नये उत्साही लेखकों को भी आचार्य जी सराहते हैं। परन्तु इस प्रशसा या सराहना की टीका के आधार पर आचार्य जी की समीक्षा का मूल्यांकन करना ठीक नही लगता। उत्साही खिलाड़ी को परिश्रम पर दाद देने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देने से उसका प्रयत्न अग्रसर होता है। उलटे उसके दोषो पर चाबुक पर चाबुक मारते रहने से उसकी प्रगति समाप्त होगी। आचार्य जी मे यह दया और कोमलता विशेष रूप मे है।

किसी ऊट-पटाग की बात को सुनकर आचार्य जी उसे जरूर लताड़ते हैं। उनमे ऐसी प्रौढता व पक्वता है कि शब्द जाल के चमत्कार से मोहित होकर वे किसी गलत विचार को स्वीकार नही करते। खडी बोली काव्यों के समर्थक होते हुए भी "राष्ट्रीय" लेबल की मामूली रचनाओ को स्वीकार करने को वे तैयार नहीं हैं। आचार्य जी का सिद्धान्त यह है कि उदात्तता के अभाव मे काव्य-कला उत्तम कोटि की नही रह सकती। आपके शब्दो से यह प्रमाणित है—"किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय पहलुओं को ज्यो-का-त्यो चित्रित कर देना अथवा उस आन्दोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया मे कोई रचना प्रस्तुत कर देना कवि की भावना और कल्पना का अधूरा ही आयास कहा जायगा। इतनी 'प्रत्यक्षता' काव्य-साहित्य के लिए लाभकर नही होती।" (आधुनिक साहित्य)

प्रगति के आप विरोधी नहीं हैं। आप काव्य में यथार्थवाद या बाह्यार्थवाद की योजना को एक शैली के रूप में स्वागत-योग्य मानते हैं। परन्तु आपका दृढ़ मत है कि काव्य मे यथार्थवाद का अर्थ अकाव्यत्व नहीं है, न उसका अर्थ काव्य के स्थायी प्रतिमानों का त्याग ही है। यदि समीक्षक काव्य के कलातत्व के प्रहरी नही होते तो काव्य-कला का ही तिरस्कार हो सकता है। पश्चिमी समीक्षा-शैलियों से सुपरिचित आचार्य जी कई प्रसगों पर इस बात की घोषणा करते हैं कि भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है; अतएव उस साहित्य के मानदण्ड भी यथासम्भव राष्ट्रीय ही होने चाहिए। वे आगे यह भी कहते हैं—"पश्चिम का नया साहित्य वहाँ

के समाज की स्थितियों का प्रतिबिम्ब है। वह हम से आगे बढ़ा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, पर हमारे साहित्य की अपेक्षा निसर्गत. स्वस्थ और प्रगतिगामी भी है, यह नहीं कहा जा सकता। हमारी साहित्य समीक्षा अब भी आदर्शोन्मुख बनी रह सकती है" (नया साहित्य-नये प्रश्न)। फ्रायड, मार्क्स आदि पश्चिमी सिद्धान्तवादियों का चश्मा पहनकर भारतीय साहित्य को देखना आचार्य जी को स्वीकार नहीं है। उनकी सम्मति में पश्चिम के नये शब्द-प्रवाह में बह जाना भारतीय साहित्य की राष्ट्रीयता एव प्रतिष्ठा को गँवाना है। उसके गँवाये जाने पर बाहरी लोग इस भारतीय साहित्य में कौन से तत्व या विशेष फार्म पायेंगे? बात-बात पर पश्चिमी समालोचकों पर निर्भर रहने वाले वर्तमान युग में आचार्य जी भारतीयता के प्रहरी का कार्य करते हैं।

केरलवासी लेखक के नाते मेरा मन सहज ही केरल के काव्य-समीक्षकों पर जाता है। यहाँ पहले से यह सूचित करना आवश्यक मानता हूँ कि हिन्दी-साहित्य में समीक्षा-साहित्य का जैसा आकार मिलता है वैसा मलयालम में नहीं मिलता। दोनों के वातावरण का अन्तर इस अन्तर का मुख्य कारण है। सोलह-सत्रह करोड़ लोगों की भाषा हिन्दी तथा मुश्किल से डेढ़ करोड़ लोगों की भाषा मलयालम के समीक्षा-साहित्य की परस्पर तुलना उचित नहीं लगती। यही नहीं, गत तीस-पैंतीस वर्षों के भीतर कई विश्वविद्यालयों तथा साहित्यिक सस्थाओं से परीक्षा की दृष्टि से हिन्दी के उच्च साहित्य का अध्ययन चलता आ रहा है। इसलिए समीक्षा-कुशल लेखकों की माँग बढ़ती आयी है। प्रकाशकगण बड़ी मात्रा में समीक्षा ग्रन्थ प्रकाशित कर सके हैं। अब तो हिन्दी में समालोचकों की भीड़ है।

मलयालम-साहित्य की समीक्षा-धारा के सामने उसकी कई विशेषताएँ हैं। मलयालम में स्नातकोत्तर शिक्षा देने वाले दो-तीन महाविद्यालय ही केरल में हैं। केरल में विश्वविद्यालय ने शोध आदि के लिए अँग्रेजी का ही माध्यम स्वीकार किया है। अतएव शोध-प्रबन्धों के रूप में जो समीक्षा-ग्रन्थ आ सकते थे वे नहीं आये हैं। अन्य प्रमुख बात यह है कि हिन्दी के आचार्यों को जो अफसरी प्रतिष्ठा मिल सकी है, वह मलयालम के आचार्यों को केरल में नहीं मिल सकी है। इसके अपवाद तो हैं, पर दुर्लभ। प्रकाशकों का उत्साह ही इस दिशा में ठण्डा है। जिस ग्रन्थ की ५०० प्रतियाँ दो-तीन सालों में मुश्किल से बिकें उसे छापकर प्रकाशक घाटा क्यों उठाये? गत दस वर्षों से स्थिति कुछ सुधरी है और अच्छे समीक्षा-ग्रन्थों का स्वागत होने लगा है।

यह बात तो हम कभी भुला नहीं सकते कि मलयालम में भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री गुलाबराय, आचार्य वाजपेयी जी आदि के स्तर के विद्वान समीक्षक

हुए हैं। मैंने जो कमजोरी बतायी वह तो मलयालम की ममता के कारण असन्तोष दिखाने के लिए बतायी थी। दिवगत समीक्षको मे सर्वश्री ए० आर० राजराज वर्मा, उल्लूर परमेश्वर अय्यर, पी० के० नारायण पिल्लै, एम० पी० पाल, ए० बालकृष्ण पिल्लै आदि चिर स्मरणीय हैं। इनमे अन्तिम दो व्यक्तियो को इसी पीढी का समालोचक मानना उचित है। वर्तमान समीक्षको मे सर्वश्री वटक्कुंकुर राजराज वर्मा, जोसेफ मुण्डश्शेरी, कैनिक्करा कुमार पिल्लै, कुट्टिकृष्ण मारार, एन० गोपाल पिल्लै, सूरनाड कुंजन पिल्लै, डाक्टर भास्करन नायर, प्रो० गुप्तन नायर, प्रो० एन० कृष्ण-पिल्लै, डाक्टर कृष्ण वारियर, श्री एन० वी० कृष्ण वारियर आदि प्रमुख हैं। युवकों की पीढी के उदीयमान समालोचको की बात मैंने यहाँ नही उठाई है।

हमारी पीढी के प्रौढ़ समालोचको मे श्री एम० पी० पाल का केरल में बडा सम्मान है। उनके भाषण एव वार्तालाप संक्षिप्त और विचारपूर्ण होते थे। उन्होने कम लिखा है। कथा व नाटक-साहित्य की समालोचना ही उन्होंने अधिक लिखी। वे पश्चिमी साहित्य रूपो से अधिक प्रभावित थे। श्री ए० बालकृष्ण पिल्लै अँग्रेजी और फ्रांसीसी साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। वे आधुनिक युग के नये काव्य-रूपो और साहित्य रूपो को रचनात्मक समीक्षा से प्रोत्साहन देते थे। पश्चिमी साहित्य की नकल मे मलयालम मे नये साहित्यिक सिद्धान्तो और कसौटियो की रचना मे उन्हें विशेष आनन्द आता था। अतएव नव साहित्यकार उन्हे आचार्य के रूप में देखते आये हैं। वे श्री पाल से भी अधिक पश्चिमी रहे। उनके कुछ निबन्ध समीक्षा के प्रमाण-ग्रन्थ माने गये हैं। वर्तमान समीक्षको मे वडक्कुकूर राजराजवर्मा प्राचीन प्रणाली के पक्षपाती हैं। उलटे श्री जोसेफ मुण्डश्शेरी जबरदस्त आलोचक है और उनके विचार मानवतावादी एव प्रगतिवादी हैं। श्री कैनिक्करा कुमार पिल्लै सामाजिक विचारो मे गान्धीवादी साहित्यिक है और साहित्यिक विचारो मे छायावाद के अनुकूल। श्री कुट्टिकृष्ण-मारार प्राचीन साहित्य और गद्य शैली के अधिकारी विद्वान है। प्रत्येक बात के लिए पश्चिम की कसौटी स्वीकार करना उन्हे पसन्द नही। खेद की बात है कि इन्हे सामाजिक जीवन मे अफसरी प्रतिष्ठा नही मिली। सम्भवतः इसी कारण से उन्हें कुछ हीनताग्रंथि और पूर्वाग्रह ने प्रभावित किया है। जिन अन्य समीक्षकों के नाम दिये हैं उनमे प्रत्येक की चर्चा विस्तार के भय से नहीं कर पा रहा हू।

वैसे आचार्य जी की तुलना इनमे से किसी से करना मेरी दृष्टि मे गलत है। कारण यह कि इन सज्जनों ने आचार्य जी के समान समीक्षा पर विस्तार से नहीं लिखा है। फिर भी दृश्यमान थोडी सी समानताओ के आधार पर दो व्यक्ति मेरे सामने आते हैं। एक हैं स्व० एम० पी० पाल। अँग्रेजी के प्रोफेसर पालजी कम बोलते थे, शुभ्र वेष-धारी थे और मन्द हासशील, धीर व निर्मम प्रकृति के सज्जन थे, निरर्थक रूढ़ि-रीतियों के कट्टर समालोचक भी रहे। दूसरे सज्जन थे कैनिक्करा-

कुमार पिल्लै हैं। आप अंग्रेजी के प्रोफेसर थे और अब आकाशवाणी मे प्रोड्यूसर हैं। एक सफल नाटककार अभिनेता और वक्ता कुमार पिल्लै जी "मिस्टिसिज्म" के समर्थक हैं। नपे-तुले वाक्यो मे प्रभावशाली प्रणाली से समालोचना करने की इनकी कुशलता ही आचार्य जी की याद कराती है। जैसाकि पहले मैं निवेदन कर चुका, आचार्य जी के समीक्षा ग्रन्थों के बगल में मलयालम के समीक्षा ग्रन्थ रखकर उनकी तुलना करना कठिन है। अतएव उसकी व्यर्थ चेष्टा नही कर रहा हूँ।

आचार्य वाजपेयी जी के नाट्य-सिद्धान्त

डा० दशरथ ओझा एम. ए., पी-एच. डी.

बीसवीं शताब्दी के नाट्य-साहित्य को दृष्टि मे रखकर आधुनिक नाट्य-समीक्षा का प्रथम सफल प्रयास वाजपेयी जी के लेखो मे दिखाई पडता है। शुक्ल जी की सैद्धान्तिक समीक्षा मे हिन्दी काव्यो को प्रमुखता दी गई थी। सम्भवत: उन्होंने, नाट्य-सिद्धान्तों का पृथक् विवेचन आवश्यक नही समझा था। उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रेमी आदि नाटककारो की कृतियों का मूल्यांकन इतनी अल्पमात्रा मे मिलता है कि उसके आधार पर उनके नाट्य-सिद्धान्त का कोई रूप खडा नही किया जा सकता। आचार्य वाजपेयी जी ने सर्व प्रथम छायावादी कवियो के काव्यो के साथ-साथ उनके नाटको का मूल्यांकन नवीन सिद्धान्तों के आधार पर किया। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तो के आलोक मे प्रसाद एव लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रमुख नाटकों की समीक्षा की। 'नया साहित्य नए प्रश्न' मे उन्होने 'प्रसाद' और लक्ष्मीनारायण मिश्र की कृतियों की समीक्षा करते हुए भारतीय एव पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तो की तुलना भी प्रस्तुत की।

वाजपेयी जी का सबसे अधिक सराहनीय प्रयास 'जयशंकरप्रसाद', 'आलोचना' का नाटक विशेषांक एव विभिन्न शोध-प्रबन्धों की भूमिकाओ में दिखाई पडता है। आलोचना का नाटक विशेषांक नाट्य-सिद्धान्तो के अन्वेषकों को सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ मे नाट्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे विविध विद्वानो के लेख सगृहीत किये गये। यहाँ हम 'नया साहित्य और नये प्रश्न', 'आलोचना' के विशेषांक तथा 'जयशंकरप्रसाद' की सहायता से वाजपेयी जी के नाट्य सिद्धान्तों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के रूपधर्म्य और दृश्य का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। आचार्य मम्मट ने केवल श्रव्य काव्यों का विवेचन किया और धनंजय,

रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय ने केवल दृश्य काव्यो का। इस प्रकार आचार्यों की तीन शैलियां पाई जाती हैं—

१—भरत, अभिनव गुप्त, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, विद्याघर, विश्वनाथ आदि ने श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्यो का विवेचन किया।

२—भामह, दण्डी, मम्मट आदि ने केवल श्रव्य-काव्य का।

३—धनजय, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय आदि ने केवल दृश्य काव्यो का।

उक्त आचार्यों ने नाट्य सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन करके उनका प्रयोग संस्कृत एव प्राकृत के नाटको मे दिखाया है। वाजपेयी जी ने बीसवी शताब्दी के हिन्दी नाटकों एव आधुनिक अभिनय-पद्धति को केन्द्र मे रखकर भारतीय एव पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तो की तुलना की है। यह पद्धति उनकी मौलिकता का परिचय देती है। उसी मौलिकता से पाठको का परिचय कराना इस लेख का उद्देश्य है।

नाट्य-सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन की ओर आकृष्ट होने का एक विचित्र इतिहास है। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है.—

प्रसाद जी के नाटकों के विरुद्ध लक्ष्मीनारायण मिश्र ने यह आरोप लगाया कि इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ है? उन्होने प्रसाद की नाट्य-शैली को सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करना चाहा और पश्चिम की नाट्य-शैली पर समस्या-नाटको को निर्माण युग के लिए आवश्यक समझा। पश्चिम के 'प्राबलम प्ले' का प्रभाव हमारे देश के अंग्रेजी साहित्य से अत्यन्त प्रभावित व्यक्तियो पर धुआँधार पड़ रहा था। छिटपुट लेखो के साथ साथ दो चार नई शैली के नाटक लिखे जाने लगे थे।

हिन्दी के समस्या-नाटको के इसी प्रारम्भिक काल मे 'प्रसाद' जी के ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण अपने शिखर पर पहुँच रहा था। हिन्दी मे उनके नाटकों की यह नवीन शैली समस्या-नाटको के अनुशीलन-कर्त्ताओ को विलक्षण और युग-विरुद्ध प्रतीत हुई। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने 'सुधा' मे प्रसाद के नाटकों की कर्कश आलोचना की। उन्होंने उस आलोचना का प्रथम खण्ड वाजपेयी जी के पास भेजा। वाजपेयी जी की सूक्ष्म दृष्टि ने वास्तविकता को पहचान लिया। उन्होने गुप्त जी को लिखा—

"मैं समझ रहा हूँ, आपको डी० एल० राय बहुत अच्छे लगते होंगे, क्योकि वे आदि से अन्त तक पात्रो को एकरस रखते हैं।"

कृष्णानन्द जी की आलोचना पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुई और उसको विद्वानो ने बड़े ध्यान से पढ़ा। वाजपेयी जी को वह आलोचना एकागी प्रतीत हुई

और उन्होंने नाटक-समीक्षा मे एकांगिता का दोष बचाने के लिए कहा—"आश्चर्य की बात है कि जब हम प्रचलित यूरोपीय साहित्य में सबसे आधुनिक और प्रतिष्ठित नाट्य समीक्षकों को एक स्वर से यह कहते हुए सुन रहे हैं कि नाटक की समीक्षा अन्य ललित कलाओ की समीक्षा से बिल्कुल भिन्न, अभिनय के सम्पूर्ण साजबाज और वातावरण को ध्यान मे रखकर करनी चाहिए, तब श्रीयुत गुप्त इन 'मनुष्य-चरित्र को *अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने मे आनन्द मानने वाले*' नाट्यकारो की उद्भावना कर रहे हैं।"

वाजपेयी जी आधुनिक काल के प्रथम नाट्य-आलोचक हैं जिन्होने पश्चिम और पूर्व की *नाट्य परम्परा के आलोक में 'प्रसाद' के नाटकों की सम्यक् आलोचना* प्रस्तुत करते हुए लिखा—

"नाटक सचमुच ललित कला नही है। हमारे भारतीय नाट्य शास्त्र में भी जिस विस्तार के साथ रस-पद्धति पर विचार किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक का प्रभाव उसकी सम्पूर्ण दृश्यावली के भीतर पात्रो की रूपरेखा, अग-सचालन से लेकर सीन सीनरी के समुचित चमत्कार तक के द्वारा पडता है। आधुनिक नाट्य समीक्षक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि नाटक की समीक्षा करते हुए दर्शको के कार्य शिथिल, बुद्धि शिथिल भाव का भी विचार करना चाहिए।"

उन्होंने कृष्णानन्द जी के आक्षेपो का उत्तर देते हुए लिखा कि "कृष्णानन्द जी ने जिस काल्पनिक प्रक्रिया से 'चन्द्रगुप्त' का अभिनय देखा है, वह नाटकीय समीक्षा के साथ न्याय करने की दृष्टि से बहुत अधिक अवास्तविक हो गया है।"

वाजपेयी जी के जीवन की एक विशेषता है। वह अपने साथ किये गये अन्यायों को चुपचाप पी जाते हैं, पर सत्साहित्य के साथ किये गये अन्याय को देखकर तिलमिला उठते हैं। *कृष्णानन्द गुप्त की एकागी आलोचना से प्रसाद के नाटको के* साथ अन्याय देखकर उनकी नाट्यालोचन की प्रतिभा और भी प्रखर हो उठी। इससे हिन्दी में नाटक-आलोचना का बडा हित हुआ। वाजपेयी जी नाट्य-सिद्धान्तों का समन्वित रूप लेकर आलोचना के क्षेत्र मे उतरे। उन्होने 'स्वतन्त्र नाट्य कला का आभास' नामक एक लेख सितम्बर सन् १९३२ मे लिखकर भावी आलोचको को एक नई दिशा दिखाई। उन्होंने तर्क द्वारा यह प्रमाणित किया कि कृष्णानन्द जी की समीक्षा का मुख्य आधार है 'इब्सोनियन रगमच, अभिव्यक्ति, शैली और इब्सोनियन बुद्धिवाद'। आगे चलकर वाजपेयी जी लिखते हैं—'इन मापदण्डों को लेकर वे प्रसाद जी को नापने चले हैं। यह स्पष्टतः एक अनौचित्य ही नही, सरासर अन्याय भी है।" वाजपेयी जी ने प्रसाद के नाटको की समीक्षा उनका (प्रसाद) अपनी अभिव्यक्ति शैली, नाटकीय विन्यास और कला के आधार पर की। उन्होने प्रथम बार साहस करके 'इब्सनिज़म' को भारतीय प्रकृति के विरुद्ध उद्घोषित किया।

उन्होंने कहा कि 'ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी न तो इब्सन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति और न उनके बुद्धिवाद को ही ग्रहण करने को तैयार थी।'' उन्होने प्रमाणो के आधार यह सिद्ध किया कि 'इब्सन के अतिरिक्त भी नाटक और नाट्यकला है, भिन्न नाटकीय टेकनीक और अभिव्यक्तियाँ हैं, उनकी अपनी विशेषताएं हैं, उनका अध्ययन उन्ही के अनुकूल होना चाहिए।''

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको के प्रति कृष्णानन्द जी का प्रबल आरोप यह था कि इनमे इतिहास का अगभग किया गया है। वाजपेयी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा–''श्री कृष्णानन्द इतिहास की पुस्तक लेकर नाटक देखने बैठे हैं। ऐसा कोई नही करता। फिर उनकी यह धारणा भी प्रगट हो रही है कि इतिहास के वर्णन से नाटक का चित्रण अधिक प्रभावशाली होना ही चाहिए, पर इसका क्या अर्थ है?''

वाजपेयी जी ने इतिहास और ऐतिहासिक नाटको का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा—''इतिहास का रगमच विस्तृत, उसके पाठक की कल्पना भी उतनी ही विस्तृत, सदैव उसके साथ रहती है। नाटक की छोटी रगशाला से उसका क्या मुकाबला? नाट्य-रचना मे कथानक, अभिव्यक्ति, चरित्र-विकास और जीवन-व्यापार के बाहुल्य, उत्कर्ष अथवा भेदोपभेदो के प्रदर्शन में बहुत से अनिवार्य प्रतिबन्ध लगे रहते हैं, जो नाटकीय कला और अभिनय से सम्बन्धित हैं। इतिहास या आख्यानक साहित्य उन सबसे बरी रहता है। किन्तु श्री कृष्णानन्द चूंकि नाटक देखते हुए अपनी इतिहास की पुस्तक पढते जा रहे हैं, इसलिए उनकी कल्पना वैसी ही होती चली गयी है और नाटक की रगशाला के उपयुक्त वह स्वभावत: बन नही सकी है।''

'प्रसाद' के नाटको पर लगाये समग्र आरोपों का उत्तर देते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ''प्रसाद जी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और रोमैंटिक नाटको की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएं हैं, जिनकी अवहेलना नही की जा सकती। उनकी स्वतंत्र नाट्यकला का अध्ययन न कर डी० एल० राय या इब्सन की विशेषताओ को उनमें ढूंढना नादानी होगी।''

नाटक और रंगमंच

प्रसाद के नाटकों पर सबसे बडा आरोप यह लगाया जाता है कि वे रगमंच पर अभिनेय नहीं सिद्ध होते। वाजपेयी जी नाटक को साहित्य की विधा मानकर उसमे कार्यावस्था, अर्थ प्रकृति और रस को अनिवार्य तत्व स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि जिन नाटको में उपर्युक्त तत्व पाये जायेंगे वे रगमंच के अयोग्य सिद्ध हों यह सभव नही। हिन्दी मे साहित्यिक नाटकों का विकास उस काल मे हुआ जब हमारा रगमंच दो तरफा आक्रमणों से आक्रान्त हो रहा था। पारसी थियेटर के आक्रमण से ध्वस्त हिन्दी-रगमच सिनेमा के खूनी हाथों समाप्त-सा हो गया था।

उसी समय प्रसाद के सांस्कृतिक नाटक विकसित हुए। अत इन नाटकों के प्रयोग का अवसर सुसस्कृत रगमच को नहीं मिला। वाजपेयी जी अपरिष्कृत रगमच के सस्ते दामो नाटक की साहित्यिकता को वेचने को तैयार नहीं। उनका मत है कि 'हिन्दी के स्वतन्त्र रगमच की स्थापना के बिना प्रसाद जी के नाटको की सर्वांग समीक्षा नही हो सकती। उनका नाट्य चमत्कार तो तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिए होना चाहिए।"

प्रश्न उठता है कि वाजपेयी जी किस प्रकार के रगमच को परिष्कृत मानते हैं ? क्या उनका आदर्श रगमच सम्भव भी है ? क्या आदर्श रगमच पर खेले गये साहित्यिक नाटक प्रेक्षको को अभीष्ट भी होगे ?

वाजपेयी जी उक्त तीनों प्रश्नो का उत्तर समय समय पर अपने लेखो मे देते रहे हैं। प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए वे लिखते हैं कि "नाट्यशास्त्र मे नाटक को अनुकृति मूलक काव्य माना गया है। इसमे व्यक्तियो के कार्यों, उनकी स्थितियों और उनके मनोभाव का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार इगित, वाणी, वस्त्र और वेश-भूषा है। किन्तु केवल अनुकृति ही पर्याप्त नहीं। अनुकृति का लक्ष्य है दर्शको के मनोगत भावो के उन्मेष द्वारा काव्य-रस की प्रतीति कराना। रस की निष्पत्ति ही भारतीय नाटक का प्रधान उद्देश्य माना गया है।"

तात्पर्य यह है कि परिष्कृत रगमच का यह लक्षण है कि वह अभिनय के बल पर अनुकृतिमूलक काव्य का इस प्रकार सफलता पूर्वक अभिनय कर सके जिससे दर्शको के मनोगत भावो के उन्मेष के द्वारा काव्य-रस की प्रतीति हो सके।

साहित्यिक नाटको पर अनभिनेयता का दोषारोपण आज भी उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार प्रसाद के युग मे होता था। आज भी रसवादी नाट्या-लोचको पर उसी प्रकार आपत्ति उठाई जाती है और प्रेक्षक मे रसोद्रेक करा देना नाटक का आवश्यक उद्देश्य स्वीकार नहीं किया जाता। 'अनामिका' के वार्षिकोत्सव पर एक वक्तव्य निकला है—"आज नाटक की समीक्षा लिखने के लिए मात्र रस सिद्धांत की शास्त्रीय बारीकियो से काम नही चलता, आज तो समीक्षक को रसज्ञ होने के साथ युगचेतना का प्रवक्ता होना होगा।"

इस वक्तव्य का उत्तर देते हुए डा० नगेन्द्र कहते हैं—"मानो गुप्त युग के समृद्ध रगमच से परिचित कालिदास के नाटको का समीक्षक केवल रस सिद्धान्त की बारीकियों मे ही उलझकर रह जाता था—मानो रस सिद्धान्त के साथ उपर्युक्त कला तत्वों का सहज विरोध हो और रस की चेतना इन समस्त शक्तियो को कुठित कर देती हो अथवा इनके बिना ही रस बोध सम्भव हो जाता हो।"

वाजपेयी जी और डा० नगेन्द्र दोनों इस बात पर बल देते है कि रगमच माध्यम एव साधन है साध्य नहीं। अभिनेता का साध्य तो है प्रेक्षक में नाट्य कृति

के बल पर भावोद्रेक के द्वारा रसानुभूति कराना। "माध्यम का उद्देश्य है कला के *रमणीय अर्थ की व्यंजना और जो माध्यम इस उद्देश्य की पूर्ति जितने प्रभावी* एव सहज रूप मे कर सकेगा, उतना ही वह सार्थक माना जायगा।"

वाजपेयी जी और डा० नगेन्द्र दोनो इस बात से सहमत हैं कि साहित्यिकता से रहित एक *मात्र रंगमंचीय नाटक साहित्य की परिधि में नही आ सकते । अतः* नाटक की प्रधान कसौटी साहित्यिक रस है, केवल अभिनेयता नहीं।

किन्तु आज का रगमचोपासक अपनी उपलब्ध सामग्री के अनुकूल कृति को नाटक मानता है, शेष को केवल श्रव्य काव्य। यह नया विवाद आज के युग का अभिशाप है जो कला को अभिशाप बना रहा है। नाट्य-कला के विकास के लिए इस विवाद की सामाप्ति अनिवार्य है। भोज का यह कथन शाश्वत सत्य है:

"अतः अभिनेतृभ्यः कवीन् एव बहु मन्यामहे।"

रंगमंच का विकास

वाजपेयी जी ने 'आलोचना' के नाटक विशेषांक मे रगमंच-विकास के सबंध मे छः सुझाव दिये हैं:—(१) ऐसे ही नाटकों का अभिनय फलप्रद और उपयोगी हो सकता है, जिनमे भारतीय परम्परा, नवीन युग की सामूहिक रुचि और प्रवृत्ति, राष्ट्रीय जीवन का गाम्भीर्य समाविष्ट हो। (२) लोक रुचि के परिष्कार के लिए हल्के-फुल्के नाटको के साथ दो चार गम्भीर नाटको का भी अभिनय हो। (३) जन-नाट्य-मण्डलियो के लिए हिन्दी के सुयोग्य नाट्यकार रचनाएँ तैयार करें। (४) नाट्यकार अपनी व्यक्तिगत निष्ठा और स्वानुभूति के साथ सार्वजनिक निष्ठा और सार्वजनिक अनुभूति को एकाकार कर सकें। (५) छोटे से छोटे गाँव से लेकर बडी से बडी राजधानी तक विविध रूप की नाट्य कृतियों के बीच नैसर्गिक शृंखला स्थापित की जाय। (६) भाषा की वह विविधता, जो विशृङ्खलता की ओर न गई हो, ग्रहण करने योग्य है। निर्जीव भाषा से कदापि उपयोगी नही होती, किन्तु निर्जीव भाषा से भयभीत होकर दूसरी सीमा पर पहुँच जाना, अतिशय आलकारिक प्रयोगो को अपनाना और भी खतरनाक है।

भारतीय और पाश्चात्य नाट्य तत्व

आचार्य वाजपेयी जी ने पूर्वी और पश्चिमी नाट्य तत्वों का विवेचन करते हुए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त सक्षेप किन्तु सूत्ररूप मे प्रस्थापित किया है। उन्होने वस्तु, नेता, रस और सवाद का सूक्ष्मरीति से विवेचन किया है। उन्होने प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र तीनो प्रकार के कथानकों के आधिकारिक एवं प्रासगिक

रूपो पर सूक्ष्मरीति से विचार किया है। उनका मत है कि सुसगठित कथावस्तु मे कार्यावस्था और अर्थ प्रकृति का निर्वाह स्वत हो जाता है। उन्होने लक्ष्मीनारायण-मिश्र के नाटक 'वत्सराज' की कथावस्तु का विस्तृत विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित किया है कि 'वत्सराज' व्यवस्थित कार्यश्रृङ्खला से बद्ध नहीं है। "कारण यह है कि इसमे अन्तिम तीन कार्यावस्थाएँ तो स्पष्ट हैं, परन्तु आरम्भिक दोनों अवस्थाएँ उभर नहीं सकी हैं। प्रथम अक के अन्त तक नाटक प्रारम्भ न हो पाया हो तो यह कथानक की विश्रृङ्खलता ही कही जायगी। इससे स्पष्ट होता है कि वाजपेयी जी समस्या-नाटकों की कथावस्तु की योजना मे कार्यावस्थाओ, अर्थ प्रकृतियो तथा सन्धियों का निर्वाह आवश्यक मानते हैं।

दूसरा प्रश्न गतिशीलता का है। समस्या-नाटकों की कथास्तु की आलोचना करते हुए वाजपेयी जी एक स्थान पर लिखते हैं कि समस्या नाटको के पात्र क्रिया-कलाप मे भाग न लेकर केवल चर्चाएँ करते हैं, नाटको की वास्तविक वस्तु पर्दे के पीछे घटित होती है। ऐसे नाटको मे व्यापार की परोक्षता दर्शक के लिए अनुपादेय सिद्ध होती है।

पात्र

वाजपेयी जी ने भारतीय और पाश्चात्य पद्धति पर पात्रो के चरित्रचित्रण की पद्धति पर बडे मार्मिक ढग से सक्षेप मे विचार किया है। उन्होने नायक और नायिका के भेद प्रभेद का विवेचन सक्षेप मे किया है। चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिक पद्धति का स्पष्टीकरण इतने सक्षेप मे, सूत्ररूप मे, अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी प्रकार रसानुकूल प्रभाव उत्पन्न करने वाली नाट्य वृत्तियों का सक्षिप्त परिचय देकर नृत्य सगीत एव नाटक की परिभाषा पर प्रकाश डाला है।

तुलना

भारतीय एव पाश्चात्य नाट्यशिल्प की तुलना करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं—"भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को अपना मुख्य तत्व मानता है, चरित्र-निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु है, और वस्तु विन्यास और भी ऊपरी तथ्य है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्वप्रमुख तत्व मानता है और चरित्रचित्रण को दूसरा स्थान देता है (यद्यपि इन दोनों की प्रमुखता के प्रश्न को लेकर भी वहाँ पर्याप्त मतभेद है)। रसात्मक आस्वाद या सौन्दर्य-बोध को पश्चिमी नाटक बहुत दिनों तक स्वतन्त्र तत्व मानते ही न थे। इसका कारण यह है कि काव्य की रसात्मक या सौन्दर्य विधायिनी सत्ता की स्वतन्त्र प्रतीति पश्चिम

मे बहुत बाद को हुई और काव्यानुभूति एक विशिष्ट आध्यात्मिक तथ्य है, यह निर्णय तो और भी नया है।[1]

तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी ने आधुनिक नाटको की समीक्षा मे जिस मौलिकता का परिचय दिया है, उसके आलोक में अनेक आलोचको को प्रगति का मार्ग मिला। वाजपेयी जी की सूत्रवत् आलोचना हिन्दी-नाट्य साहित्य की अक्षय निधि सिद्ध होगी।

---

१ जयशकर प्रसाद—भारतीय नाटक की रूपरेखा पृष्ठ १४०

वाजपेयी जी का नाट्य-चिन्तन

डा० भानुदेव शुक्ल एम०, ए०, पी-एच० डी०

'आधुनिक साहित्य' मे आचार्य वाजपेयी जी ने नाटक की सैद्धांतिक विवेचना करते हुए 'नाटक की उत्पत्ति', 'पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-तत्व' तथा 'भारतीय नाटक' निबन्ध प्रस्तुत किए है। इन निबन्धो द्वारा नाट्य-विकास की सामान्य स्थितियो का निदर्शन, भारतीय एव पश्चिमी नाट्य के स्वतन्त्र स्वरूपो एव तत्वो पर विचार तथा भारतीय नाटक की उपलब्धियो का सही आकलन प्रस्तुत करने की चेष्टा हुई है। इस प्रकार इन तीन निबन्धो द्वारा नाटक एव भारतीय नाटक के विषय मे आवश्यक जानकारी देने का उपक्रम हुआ है। किन्तु, इन निबन्धो मे सामान्य जानकारी से अधिक कुछ और भी मिलता है। आचार्य वाजपेयी जी की तुलनात्मक विश्लेषण-क्षमता के साथ उनके व्यक्तित्व की छाप भी इन निबन्धो मे—विशेषकर अन्तिम मे—पडी है। केवल सामग्री-सकलन मे लेखक की रुचि कम रही है और विश्लेषण के अवसरो पर उनकी लेखनी अधिक सशक्त हो गई है।

नाटक की उत्पत्ति एव विकास की विभिन्न स्थितियो को प्रकट करते हुए—वाक्-शक्ति-विहीन मानव की भावाभिव्यक्ति के बिन्दु से प्रारम्भ कर विकसित नाटक की लोक-धारा और साहित्यिक या अभिजात धारा के सम्बन्धो आदि की चर्चा द्वारा—वाजपेयी जी ने मध्य-स्थितियो के मोड बिन्दुओ का विशेष विवेचन किया है। नाट्य-सकलन, और विभिन्न तत्वों के व्यवस्थित योग द्वारा बहुत्व मे एकत्व-स्थापन की कला-प्रतिष्ठा आदि नाटक के कला-विकास के विभिन्न सोपानो को पार कर वाजपेयी जी ने 'रस' सम्बन्धी धारणा के विकास पर सक्षेप मे विचार किया है।

नाटक का ध्येय या उद्देश्य ठहराते हुये भी प्रारम्भिक विचारको ने 'रस' से तात्पर्य उस मानसिक सुखात्मक भावना से माना था जो नाटक के देखने पर उत्पन्न

होती है। गभीर एव शास्त्रीय रूप इसको विचारको की अधिक ऊहापोह एव विवेचना द्वारा मिला। भारतीय नाट्य की इस उपलब्धि के समीपवर्ती पश्चिमी नाटक मे इतनी स्पष्ट विवेचना सहित कोई विचारणा नही विकसित हुई, परन्तु वहा भी दु खात्मक नाटक और 'ट्रैजडी' और 'कामेडी' के जो भेद प्रतिष्ठित हुए, उनके मूल मे समन्वित प्रभाव या रस का तत्व किसी न किसी रूप मे रहा ही है।"[1]

रस की प्रतिष्ठा ने नाट्य-विकास की उस स्थिति की सूचना दी जिसमे नाटक के प्रभावात्मक अगो के साथ उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का सश्लेषण या समन्वय होने लगा। नाट्यकला के विकास की यह महत्वपूर्ण एवं समृद्ध स्थिति थी। अभिनय ने अनुकृति की वास्तविकता का बोध कराते हुए विषयवस्तु-सम्बन्धी यथार्थता लाने मे सहायता दी। रस-प्रतिष्ठा के पश्चात् नाट्य कला के विकास का अगला सोपान रगमच का निर्माण है। "नाटकीय अनुकृति की स्वाभाविकता और वास्तविकता के विकास मे सबसे महत्वपूर्ण स्थान रगमच की रचना का है। रगमच का निर्माण नाटकीय विकास का कदाचित् सबसे अधिक महत्वपूर्ण अग है।"[2]

विशुद्ध दृश्यकाव्य के स्तर पर नाट्यकला क्रमश पहुची। पश्चिमी नाटको मे कोरस एव भारतीय नाटको मे सूत्रधार, नादी, मगलाचरण, भरतवाक्य आदि से स्पष्ट हो जाता है कि इन नाटको का लक्ष्य विशुद्ध अनुकृति नही था। उनका प्रधान कार्य मनोरजन था।

साहित्यिक और जन-नाटको की परम्परा एक दूसरे से स्वतन्त्र रही है तथापि परस्पर आदान-प्रदान के क्रम से एक दूसरे को प्रभावित करने की परम्परा मिलती है। 'रास' जन-नाटको का प्राचीन प्रकार था जिसने राजदरबारो मे भी सम्मानपूर्ण प्रवेश पाया। रासलीला का साहित्यिक विकास आधुनिक गीति-नाट्यों मे हुआ है और अपनी सरल-साध्यता के कारण रास के प्राचीन लोक-नाट्य का व्यवहार साधारण जनता मे आधुनिक काल मे भी मिलता है।

पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-तत्वो की व्याख्या करते समय आचार्य वाजपेयी जी की शैली विषय के अनुरूप तथ्यात्मक अधिक है। वस्तु, नेता, रस तथा सवाद नाटक के भारतीय नाट्य-शास्त्रानुसार चार उपकरण हैं। अनुकृतिमूलक काव्य का लक्ष्य है, दर्शकों के मनोगत भावो के उन्मेष द्वारा काव्य-रस की प्रतीति कराना।

---

१ नाटक की उत्पत्ति—आधुनिक साहित्य, पृ० २५७
२ वही, पृष्ठ २५८

नाट्य उपकरणो के भेदोपभेदो की विशद विवेचना नाट्यशास्त्र ने की है। कथानक के भेद, कार्यावस्थायें, अर्थ-प्रकृतिया, पच-सधिया, पात्रो के स्वभाव-भेद से वर्गीकरण, रस एव वृत्तियो आदि के भारतीय नाट्यशास्त्रीय मत सक्षेप मे आचार्य वाजपेयी जी के निबन्ध मे प्रस्तुत हुए हैं।

पश्चिमी नाट्य-तत्वो की व्याख्या मे यह तथ्यात्मकता व्याख्या एव विश्लेषण के समाविष्ट होने से कम हो गई है। अरिस्टाटिल के मत को प्रस्तुत करते समय लेखक ने निस्सग तथ्याभिमुखता के स्थान पर विवेचित मान्यताओ के अन्तरग मे प्रवेश करने की चेष्टा की है। परिणामस्वरूप सरसरी दृष्टि डालते हुए बढ जाने के स्थान पर स्थान-सकोच के बावजूद उन पर अधिक गहराई से विचार किया गया है। यह इसलिए भी सम्भव हो सका कि निबन्ध मे केवल अरिस्टाटिल के द्वारा ही पश्चिमी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। अरिस्टाटिल की नाट्य मान्यताए, आचार्य वाजपेयी जी की स्वीकृति के अनुसार ही, तत्कालीन ग्रीक नाटको को आधार मानकर निर्मित हुई थी। इस प्रकार पश्चिमी नाट्य-तत्वो की परिधि भेदोपभेद-विहीन होने से पूर्वी नाट्य-तत्वो से कम विस्तृत है।

पश्चिमी नाट्य तत्वो की व्याख्या मे ऊपरी दृष्टि से आचार्य वाजपेयी जी पूर्ण तटस्थ दिखाई पडते हैं। अरिस्टाटिल के निर्देशो को सक्षेप मे प्रस्तुत कर दिया गया है। किन्तु, तत्वो को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया मे उन्होने मतव्य के मूल आशय को जिस प्रकार स्पष्टता से देखा है उसमे उनकी विश्लेषण-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भारतीय नाट्य शास्त्रियो द्वारा सुविवेचित एव वैज्ञानिक वर्गीकरण-सम्पन्न सामग्री पर सक्षिप्त विचार के अवसर पर इस विश्लेषण-प्रतिभा पर स्वाभाविक प्रतिबन्ध दिखाई पडता है। यदि आचार्य वाजपेयी जी ने निबन्ध के आकार को प्रतिबधित न कर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया होता तो विश्लेषण-क्षमता का परिचय अधिक दे सके होते। यह कार्य उन्होने 'भारतीय नाटक' निबन्ध के लिए सुरक्षित रखा।

'भारतीय नाटक' निबन्ध मे भारतीय नाटक पर पश्चिमी समीक्षक ए० बेरीडल कीथ के आक्षेपो के प्रत्युत्तर भारतीय प्रकृति की विवेचना के सदर्भ मे भारतीय नाट्य-सौष्ठव को प्रस्तुत करते हुए दिये गए हैं। कीथ महोदय सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हुए हैं। उनके अध्ययन एव पाण्डित्य के प्रति समुचित आदर व्यक्त करते हुए आचार्य वाजपेयी जी ने उनकी अतिरजित त्रुटि-दर्शन की प्रवृत्ति का सतर्क विरोध किया है और पश्चिमी नाट्य शैली से भारतीय नाट्य-शैली की तुलनात्मक सम्पन्नता के पक्षो को प्रस्तुत किया है।

भारतीय नाटक के स्वतन्त्र विकास को स्वीकार करते हुए भी कीथ साहब ने उसको जन-समाज से विच्छिन्न ब्राह्मण एव क्षत्रिय वर्गों की कला प्रकट किया।

ब्राह्मण आदर्शवादिता तथा उससे प्रभावित भावपरक अभिव्यक्ति की ओर उन्होने इंगित किया। रसो मे ब्राह्मण आदर्शों का प्रभाव कीथ साहब को दृष्टिगोचर हुआ। चरित्र चित्रण भी रसानुयायी होने से यथार्थ चरित्रो के निर्माण मे तथा उनके द्वारा संघर्ष की यथार्थता की अनुभूति कराने मे संस्कृत नाटक असफल रहे हैं। आदर्शवादी प्रवृत्ति तथा रस-सृष्टि को लक्ष्य मानने के कारण ही ये त्रुटियां उत्पन्न हुई।

उच्चवर्गीय समाज-चित्रण के प्रतिबन्ध से मुक्त नाटकेतर अन्य नाट्य-प्रकारो मे भी सामान्य जीवन की वास्तविकता के चित्रण न हो सके। मध्यवर्गीय समाज के रूढ़िमुक्त चित्रणो की विरलता के अतिरिक्त कीथ साहब ने संस्कृत नाटको की भाषा पर भी आपत्ति की है। संस्कृत एवं प्रकृति के जो स्वरूप संस्कृत नाटककारो ने स्वीकार किये हैं वे *अल्प संख्यक आभिजात्य वर्ग के मनोविनोद एवं कलाभिरंजन* में ही सहायक हो सके हैं, बहुसंख्यक जन समाज से उनका सम्बन्ध नहीं था। संस्कृत नाटकार भी राज्याश्रित दरबारी श्रेणी का साहित्यकार था, सामान्य जनता के जीवन से असंपृक्त एवं असावधान होने से उसने जन-जीवन का स्पर्श नही किया है।

संस्कृत नाटक मात्र पर उपर्युक्त आरोपो के पश्चात् कीथ साहब ने कालिदास की परिष्कृत शैली एवं सुरुचि की प्रशंसा की है। *व्यंजना-पद्धति* का सौन्दर्य, भाषा के प्रयोग मे सूक्ष्मदर्शिता, शृंगार की उद्भावना मे समस्त अवस्थाओ के चित्रण का कौशल, उच्च कोटि के प्रकृति चित्रण की क्षमता, शिष्ट हास्य-योजना मे सफलता आदि कालिदास के विशिष्ट गुणो पर उन्होंने विचार किया। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कलात्मक उपलब्धियो तथा अनुभूतियो के सहज निरूपण के कीथ साहब विशेष प्रशंसक हैं। कालिदास के चरित्र-निर्माण एवं वस्तु-विन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। कीथ ने इनकी प्रशंसा की है।

कीथ कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की विभिन्न विशेषताओ की प्रशंसा करने के पश्चात् उसे पश्चिमी नाट्य साहित्य की तुलना मे श्रेष्ठ स्वीकार करने मे संकोच का अनुभव करते हैं। जर्मनी के महाकवि गेटे और अंग्रेज सर विलियम जोन्स कालिदास की प्रतिभा के कायल हो चुके थे। शेक्सपियर की तुलना मे कालिदास पश्चिमी दृष्टि मे भी खरे उतर चुके थे। कीथ उस श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं, किन्तु यह स्वीकृति सहज कम दिखाई पड़ती है, क्योकि *ब्राह्मण जातीय विशेषताओ के अनुयायी होने से आई संकीर्णता इसी अवसर पर कीथ महोदय को दिखाई देती है।* इससे पश्चिमी नाट्य-साहित्य, विशेषकर शेक्सपियर, की श्रेष्ठता अक्षुण्ण रह जाती है। कालिदास न्यायकारिणी सत्ता के प्रति आस्थावान हैं, यह उनका दोष है। इसने उन्हें यथार्थ जीवन की विपन्नावस्था देखने मे असमर्थ बना दिया। इस प्रकार कीथ

भारतीय आदर्शात्मक एव आस्थावादी दृष्टि को ही सदोष मान लेते हैं। कालिदास की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी कीथ भारतीय प्रवृत्ति को पश्चिमी पैमाने से नाप कर त्रुटिपूर्ण ठहरा देते हैं।

आचार्य वाजपेयी कीथ के उपर्युक्त परस्पर विरोधी निष्कर्षों के मूल मे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की छाप पाते हैं। साहित्य-प्रेमी विद्वान के रूप मे कीथ कालिदास के प्रशसक हैं, किन्तु *अग्रेज होने से वे शासित देश के नाटककार को शेक्सपीयर* की तुलना मे हेय सिद्ध करने की चेष्टा मे रत हैं। उनके व्यक्तित्व के इन विरोधी-स्वरूपो को स्पष्ट दिखाते हुए वाजपेयी जी ने कीथ महोदय के साहित्यकार-स्वरूप के प्रति आदर रखते हुए, शासक-व्यक्तित्व को कठोर आलोचना की है। किन्तु, यह आलोचना साहित्यिक स्तर से स्खलित कही नहीं है। भारतीय नाटक की यूनानी नाटक से भिन्न भूमि को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने भारतीय नाटक की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के दार्शनिक एव भावात्मक पक्षो की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। पश्चिमी नाटक स्थूल सघर्ष पर आधारित हैं। पूर्व और पश्चिम की प्रकृतियो की भिन्नता को कीथ महोदय ने विस्मरण कर भारतीय नाटक के प्रति अन्याय तो किया ही, तथ्यो को समझने म भी उनका प्रयास अपर्याप्त रहा है।

भारतीय नाटक दु खान्त और सुखान्त दोनो प्रकार के दृश्यो मे सफल हैं। दु खान्त का निषेध होने पर भी करुणा एव जीवन की वास्तविकता का कही निषेध नही है। भारतीय नाटककार ने अपने दर्शको की भावना का ध्यान रखने की *शिष्टता का पालन किया है। यह भारतीय नाटक की एक विधि, व्यवस्था अथवा* शैलीमात्र है। सुखान्त के नियम पर भारतीय दर्शन की छाप देखने का भी आचार्य वाजपेयी विरोध करते हैं। भारतीय दर्शन सुख की काल्पनिक प्रतिष्ठा के लिए सत्य की अवहेलना करते कही नहीं दिखाई देते हैं। "काव्य और साहित्य के सबध मे भारतीयो की सदा से यही धारणा रही है कि वह आदर्शात्मक वस्तु है, केवल जीवन की साधारण वास्तविकता की अनुकृति नही है। यह आदर्शवादी धारणा और दृष्टिकोण ही भारतीय नाटको को कुरूप और भोंडे यथार्थ के स्थान पर ऊँची *भावनात्मक और आदर्शात्मक प्रेरणा देता रहा है। परन्तु यह आदर्शात्मकता इस* हद तक कभी नहीं गई कि वह मानव जीवन की वास्तविकता और उसके अनिवार्य सघर्षो और दुखो की अवहेलना करे। जीवन के सुखात्मक और दुखात्मक दोनो पक्ष भारतीय नाटककारो की दृष्टि मे सदैव रहे हैं।"[1]

भारतीय नाटककारों ने 'रस' को काव्य की आत्मा माना है, जिसका कार्य अलौकिक आनन्द की उपलब्धि कराना था। रस मे उस काव्यानुभूति का निर्देश

---

१ भारतीय नाटक—'आधुनिक साहित्य', पृ० २७९

होता है जो सुखात्मक और दुखात्मक दोनों प्रकार के दृश्यो पर अवलबित रह सकती है। जीवन क किसी क्षेत्र को काव्य-सीमा स बहिष्कृत करना 'रस' के विधायको का कार्य नही रहा है। आचार्य वाजपेयी द्वारा 'रस' का जो स्वरूप स्वीकृत हुआ है वह अत्यन्त व्यापक है। वे आचार्य शुक्ल जी की नीतिवादी व्याख्या से भी सहमत नही है जिसके अनुसार रस का आस्वादन सत् अथवा नैतिक पक्ष पर ही आश्रित हो जाता है। ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-मात्र मे 'रस' की सत्ता का आग्रह करता है। "काव्य मे राम और रावण, सत् और असत्, सुख और दुख सभी कल्पना और अनुभूति के विषय बन कर आते है—अतएव वे सभी काव्य-जगत् मे आस्वाद्य है। रस-सिद्धान्त की यह व्यापकता कीथ साहब की तत्सम्बन्धी धारणा से एकदम विपरीत पडती है। उनका मत है कि 'रस' भारतीय दार्शनिक मतवाद का अनुचर है, पर हमारी दृष्टि मे रस, अतिशय स्वतन्त्र, सार्वजनिक तथा अव्याहत काव्य-तत्व है।"[1]

भारतीय नाटको मे चरित्र-चित्रण और वस्तुविन्यास सम्बन्धी जो आक्षेप कीथ साहब ने किये है उनके उत्तर मे आचार्य वाजपेयी जी का कथन है कि "भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को अपना मुख्य तत्व मानता है, चरित्र-निर्देश उसके लिए, अपेक्षाकृत गौण वस्तु है, और वस्तु-विन्यास और भी ऊपरी तथ्य है।"[2] पश्चिमी नाट्यशास्त्र मे कथानक को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकट किया गया तथा चरित्र-चित्रण को दूसरा स्थान मिला है। काव्य मे रसात्मक अथवा सौन्दर्य विधायिनी सत्ता को वे बहुत बाद मे स्वीकार कर सके। कला के रूप मे वस्तु ने एक स्वतन्त्र वस्तु-व्यापार का निर्देश किया; किन्तु उसके तात्विक रूप की जानकारी वे लोग बहुत बाद मे पा सके। काव्य के आनन्दात्मक स्वरूप की जानकारी मे भारतीय पश्चिम से बहुत आगे रहे है।

नाटक मे चरित्र चित्रण को आचार्य वाजपेयी जी साधन ही मानते है। उसका काव्योपयोगी स्वरूप तभी प्रकट होगा "जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अग बन कर आवे, काव्य मे अतर्भुक्त हो जाय। यथार्थवादी धरातल पर मानव मन की खोज विज्ञान का विषय है। कवि कल्पना के समुचित अ ग न बन सकने मे वह काव्य के लिए निरर्थक भी हो सकती है। इसी प्रकार नाट्य-वस्तु का ऊपरी रूप ही व्यक्त हुआ है अथवा कल्पनात्मक ग्रहण मिलता है यह भी प्रश्न प्रमुख है। अन्त मे आचार्य वाजपेयी जी का मत है—"कवि-कल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है, और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन-मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बन्धन नही लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूपरेखा भी निर्धारित

१ भारतीय नाटक - आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २८०

२ वही, पृष्ठ २८०

नहीं की जा सकती, अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा सगत है।"[1]

उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध मे शका हो सकती है कि सामाजिक-यथार्थ से असपृक्त एव कोरा कल्पनाजीवी नाटक किस प्रकार रसात्मक वातावरण के सहज निर्माण मे सफल हो सकता है। नाटक एक सामाजिक कला है। सामाजिको को एक ही भावात्मक अनुभूति के ससपर्श से आनन्द देना उसका धर्म है। इस कार्य मे नाटककार तभी सफल हो सकेगा जब वह सामाजिक आवश्यकताओ के प्रति पूर्ण उपेक्षा भाव न रखता हो। इन आवश्यकताओ के स्वरूप भिन्न एव इनके सम्बन्ध मे अनुभूतियो के स्तर भी भिन्न हो सकते हैं। कवि या नाटककार का यह वैयक्तिक 'अप्रोच' भावानुभूति मे बाधक नही, आवश्यक तत्व होता है। इसलिए किसी रसात्मक रचना मे लेखक की वैयक्तिक अनुभूति तीव्रता प्रधान ही होगी; किन्तु साथ ही इन वैयक्तिक अनुभूतियो मे गहराई से देखने पर सामाजिक यथार्थ के प्रति सजगता मिलेगी। कोरी कल्पना के वायव्य पखो पर कोई रचना कितना उठ सकेगी यह शंकास्पद है। भारतीय रसमत ने इस प्रकार की चेष्टा को महत्व नही दिया है और न आचार्य वाजपेयी ही इस चेष्टा के समर्थक है। केवल ऊपरी एव स्थूल चित्रण को प्रस्तुत करने वाली रचना के वे प्रशसक नही हैं। कदाचित चरित्र-वैशिष्ट्य अथवा सोद्देश्य वस्तु योजना मात्र के समर्थक बहुत से व्यक्ति आचार्य वाजपेयी के इस मत से सहमत न हो।

भारतीय नाटक ने युगानुरूप विकास करते हुए यथार्थवादिता को स्वीकार कर लिया है। प्राचीन विधान आज के समीक्षक को अयथार्थ प्रतीत हो. . है तो अस्वाभाविक नही। आज की दृष्टि से प्राचीन भारतीय नाटको की परीक्षा कितनी न्यायपूर्ण होगी यह भी विचारणीय है। आचार्य वाजपेयी जी का इस प्रकार, वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियो मे भी प्राचीन विधान के अनुकरण का आग्रह नही है। वे केवल यही चाहते हैं कि सस्कृत नाटको की समीक्षा के समय तत्कालीन समस्त परिवेश को ध्यान मे रखा जाए। सभ्य समाज की तत्कालीन भाषा नाट्य-साहित्य मे व्यवहृत हुई इस पर कीथ महोदय का आक्षेप कितना युक्तियुक्त है अथवा प्राचीन भावात्मक नाटको मे प्रगीतो का सन्निवेश किस प्रकार आपत्तिजनक हो सकता है। भारतीय नाटको मे घटनाओ के तीव्र गतिमान स्वरूप पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था जितना रस-सृष्टि पर। नाट्य-साहित्य के इस मूल बिन्दु को पकड़ पाने पर कीथ साहब के अनेक आक्षेप निराधार हो जाते हैं।

भारतीय नाटक की विशिष्टताओं के निरूपण द्वारा पश्चिमी आक्षेपों का निराकरण करते हुए भी आचार्य वाजपेयी जी ने उन कमियो को स्वीकार किया है जो

---

१ भारतीय नाटक - आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २८१

भारतीय नाटक के विकास मे बाधक है। उनको दूर करने के लिए पश्चिम से प्रेरणा लेने में उन्ह सकोच नही है। अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति उनका अनुराग भावुकतावश नही, परीक्षाश्रित ही है।

आचार्य वाजपेयी जी के निबन्धों मे कुछ दृष्टव्य बातो का उल्लेख भी उपयुक्त होगा। नाटको के विवेचन मे उन्होने शिल्पगत बारीकियो मे कम प्रवेश किया है, साहित्यिक-सौष्ठव एव कलात्मक वैभव के अनुशीलन मे उनकी वृत्तियाँ अधिक रमी हैं। शिल्प कला की अपेक्षा स्थूल तत्वो पर आश्रित होता है, इसलिए उनका विवेचन सरस भी नही होता। तथापि नाट्य-सौष्ठव मे शिल्प का महत्वपूर्ण स्थान होता है। आचार्य वाजपेयी जी शास्त्रीय नियमो एव अनुशासनो के कठोर पालन की अपेक्षा नाटककार की वैयक्तिक अनुभूतियो की गहराई और उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता को अधिक महत्व देते हैं। इस प्रकार समीक्षक के रूप मे उनका निकष शास्त्रीय नही है।

आचार्य वाजपेयी जी अपनी सास्कृतिक परम्परा की सम्पन्नता एवं समृद्धि के प्रति गौरव-भावना रखते हुए भी अन्धभक्त नहीं हैं। पश्चिम से सीखने मे उन्हे सकोच नही है। किन्तु, विदेशी शासक-मनोवृत्ति के सम्मुख नत होने को वे तैयार नहीं हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि सास्कृतिक-गौरव एव राष्ट्रीय-ओज से सम्पन्न है, तथापि उसमे सकुचित मनोवृत्ति के प्रवेश के वे विरोधी हैं।

भारतीय एव पश्चिमी नाट्य-विवेचन मे उन्होंने गहराई के साथ भारतीय नाट्य-तत्वो को ही देखा है। रस की विशद विवेचना के समय 'ग्रीक ट्रेजडी' के 'कथारसिस' के साथ उसकी तुलनात्मक स्थिति उन्होने प्रस्तुत नही की। कदाचित् रस की व्यापकता के सम्मुख 'कथारसिस' की कल्पना बहुत हलकी लगने से उनका ध्यान उधर नही गया। पश्चिम के यथार्थवादी तथा रागात्मक परिवेश मे 'कथारसिस' केवल लौकिक उपचार बन कर रह गया, रस की व्यक्ति-निरपेक्ष अलौकिक भावभूमि जहाँ सुख और दुख की भावनाएँ लुप्त होकर आनन्द की प्रशान्त स्थिति मे मनुष्य अपनी वैयक्तिक सत्ता को भुला बैठता है, भारतीय आदर्श की कदाचित् सर्वाधिक उदात्त निर्मिति है, तथापि पश्चिमी परिस्थितियो मे 'कथारसिस' का अपना महत्व है। 'कथारसिस' एव 'रस' की कल्पनाओ की तुलनात्मक परीक्षा भारत एव पश्चिम के सम्पूर्ण व्यक्तित्वो के उद्घाटन मे सहायक होती। यहाँ यह भी प्रश्न उठता है क्या वह अलौकिक भावसत्ता जिसको रस की सज्ञा दी गई, ग्रीक नाटको मे विद्यमान ही है। यूनानी शास्त्री उसके स्वरूप को स्पष्ट न समझ पाये हो, जिसके लिए उनकी यथार्थवादी वृत्ति ही जिम्मेदार है, किन्तु यह भावसत्ता अपनी झलक से उनको आकर्षित अवश्य कर सकी है। आचार्य वाजपेयी जी ने इसका सकेत किया, पूर्व एव पश्चिम के उद्देश्यो की तुलनात्मक विवेचना मे अधिक ध्यान ही दिया

क्योकि उन्होने तुलनात्मक अनुशीलन के स्थान पर पश्चिमी समीक्षको की भ्रामक धारणाओ के निराकरण पर अधिक ध्यान दिया है। इसमे उनका स्वरूप तार्किक अखाड़ेबाज का न होकर साहित्य-मर्मज्ञ का रहा है, यह विशेषता वाजपेयी जी के *व्यक्तित्व की है। आचार्य वाजपेयी शास्त्रीय-मान्यताओ से अधिक अन्तरानुभूतियो* की तीव्रता एव उनकी मर्म-स्पर्शी अभिव्यक्ति को महत्व देते हैं। समीक्षक के रूप मे इस विशेषता ने उनको यान्त्रिक अनुदारता से मुक्त रखा है।

व्यवहारिक दृष्टि से नाटक अभिनय के माध्यम से ही प्रेषित होने वाली कला है। आचार्य वाजपेयी जी उसके इस पक्ष को उचित महत्व देते हैं। "सच पूछिये तो आज के हिन्दी नाटक और रगमच के प्रश्नो को केन्द्र मे रखकर ही हमे नाटक की शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्पराओ को देखना और समझना है। ऐसा न करने पर जो इतिवृत्त हम तैयार करेंगे, वह केवल शास्त्र और इतिहास के विद्यार्थियों के काम का रह जाएगा। ऐसे इतिवृत्त का नये नाटक-साहित्य के निर्माण और प्रसार मे उचित विनियोग न हो सकेगा।"[1] अभिनय को महत्व देते हुए वे नाटको मे रगमच के अनुकूल परिवर्तन करने के भी समर्थक हैं। किन्तु इन परिवर्तनो के पूर्व रगमच तथा अभिनय के उचित साधनो को जुटाना भी वे आवश्यक मनते हैं। अभिनय हेतु किये जाने वाले परिवर्तन का कार्य किसी भी ऐरे-गैरे के द्वारा *नहीं होना चाहिए। 'किसी भी नाट्य-लेखक की कृतियो का अभिनय-योग्य सस्करण* प्रस्तुत करना कोई अपराध नही है, यदि वह अधिकारी व्यक्तियों द्वारा किया जाय। फिर सभी नाटको के लिए एक ही प्रकार के अभिनेता या एक ही प्रकार का रग-कौशल समीचीन नही होता। प्रत्येक नाटककार, यदि वह अपने कार्य को बुद्धिपूर्वक रख रहा है, अपनी स्वतन्त्र विधि या पद्धति के अनुरूप अभिनेताओ का चयन और रगोपचार होना चाहिए। बिना यह किये केवल नाटककारो को दोष देना समस्या को टालने या उससे मुह मोड़ने से अधिक और कुछ नही है।"[2] स्पष्ट ही आचार्य वाजपेयी नाटककार की सत्ता को सर्वप्रमुख स्वीकार करते हैं। नाटक को रगमचानुकूल बनाने के लिए उपयुक्त परिवर्तनो का समर्थन करते हुए भी नाटककार की भावनाओ एव चेतना को ईमानदारी के साथ यथावत् प्रस्तुत करने को वे आवश्यक मानते हैं। मूल सवेदना को किंचितमात्र भी हानि पहुचाने वाले किसी भी सशोधन को स्वीकार करना नाट्य-कला की उन्नति को व्यवसायिक बुद्धि के हवाले कर देना होगा। व्यवसायिक प्रयासो के वर्तमान तथा भूतकालीन नाट्याभिनयो को ध्यान मे रखते हुए आचार्य वाजपेयी का सतर्कतापूर्ण अभिमत विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है।

---

१ सपादकीय—आलोचना—नाटक विशेषाक, जुलाई १९५६।

२ सपादकीय—'आलोचना' का नाटक विशेषाक, जुलाई १९५६, पृ० २

रगमच की ही दृष्टि से वे पद्य—नाटकों को गद्य नाटको की अपेक्षा अधिक ध्यान योग्य मानते हैं। "गद्य-नाटको को लेकर बिना सरकारी या सार्वजनिक सहायता के रगमच का निर्माण और सचालन कठिन है। परन्तु पद्य-नाटक और विशेषत गीतिनाट्य अब भी इतना आकर्षण सकल्ति कर सकते हैं कि उनके लिए दर्शकों का अभाव न हो। अवश्य ही पद्य नाटको के रगमच अधिक अलकरण और अधिक कुशल कलाकारो की अपेक्षा रखेंगे और इसलिए अधिक खर्चीले भी होंगे, परन्तु हमारे राष्ट्रीय रगमच का सूत्रपात होना आवश्यक है और हमारे शासनाधिकारी इस विषय की अधिक समय तक उपेक्षा नही कर सकेंगे।"[1]

राष्ट्रीय रगमच के निर्माण मे शासकीय योग के साथ ही आचार्य वाजपेयी जी ने पृथ्वीराज आदि के व्यक्तिगत प्रयासो के महत्व को प्रकट किया है। राष्ट्रीय रगमच की जीवन शक्ति का मूल स्रोत वे लोक नाट्य को मानते हैं तथा उसके सारे देश म प्रसार को अत्यावश्यक मानते है। गांव-गांव मे लोक नाट्य का प्रसार हुए बिना केन्द्रीय रगमच का विचार निरर्थक है। जन-नाट्य-मण्डलियो को शासन-सत्ता समुचित आर्थिक सहायता प्रदान करे और उनके समुचित विकास द्वारा वैमनस्य तथा दुर्भाव को दूर करने की चेष्टा की जा सकती है। मनोरजन का यह साधन सुधार मे भी बहुत सहायक होगा। किन्तु नाट्य कृतियो के निर्माण मे शासन का हस्तक्षेप नही होना चाहिए। 'नाटक गम्भीर अभिनेय नाटक-कला की सर्वोत्तम सृष्टि है। मानव चरित्र को शक्ति और गति देने म, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने मे, जीवन का नव निर्माण करने मे, जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है, उतना दूसरी कोई कलाकृति नही। नाट्यकला ही समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है। विविध राष्ट्रो के कला-सम्बन्धी उत्कर्ष को मापने के लिए नाटक ही सर्वप्रमुख उपादान रहा है।"[2]

यथार्थवादी नाटक साधारण भाषा, साधारण दैनिक विषय और साधारण चरित को ही स्वीकार कर अपने लिए ऐसी कठोर सीमाए बाध लेता है कि उसकी गति प्राय पगु हो जाती है। "उपन्यास जैसे साहित्य रूप मे प्रकृतिवाद या यथार्थवाद उतना नही खटकता, जितना यह नाट्य-कृतियो मे खटका रहता है। इस यथार्थवाद के चलते नाटक म दर्शको की तीव्र अभिरुचि उनके मनोभावो का उत्कट आकर्षण और मथन कठिनता से हो पाता है।"[3] पद्य-नाटको की रगमचीय सफलता अनेक देशो मे सिद्ध हो चुकी है तथा बौद्धिक नाट्य-कृतियो के प्रति विकर्षण

---

१ सपादकीय—'आलोचना' का नाटक विशेषाक, जुलाई १९५६ पृ० २–३

२ वही, पृ० ४

३ वही पृ० ५–६

भी परिलक्षित हुआ है। वाजपेयी जी का मत नाट्य-रगमच की अनुभव सिद्ध सफलताओ एव असफलताओ के विश्लेषण पर आधारित है। इसका आधार व्यावहारिक अधिक है और इसीलिए तथ्याश्रित उक्त मत पर अधिक विवाद के लिए स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त वे केवल इतनी ही तो माग करते हैं कि गद्य-कृतियो के प्राधान्य के युग मे पद्य-नाटको की अवहेलना हुई है जो इस पद्धति की संभावनाओ की दृष्टि से उचित नही है और हमको हिन्दी पद्य-नाटक की सभावनाएं परखना चाहिए।

नाटक मे वैयक्तिक निष्ठा और निजी मानसिक छाया होने पर ही उसका स्तर सामान्य से ऊपर उठ पाता है। किन्तु यह निष्ठा सार्वजनिक निष्ठा और *अनुभूतियो के निकट रहनी चाहिए।* "*लेखक अपने कृतित्व द्वारा समष्टि की भाव-*चेतना के जितना अधिक निकट जा सकेगा उतनी ही उसकी कृति स्थिर मूल्यो वाली होगी। यह प्रश्न अनुभूति की वैयक्तिक सचाई और गहराई का उतना नही है, जितना यह अनुभूति की सार्वजनिक ग्राह्यता का है। जीवन के समस्त वैयक्तिक अनुभवो को *पार करने के पश्चात् वह अश फिर भी बच रहता है जो सार्वजनिक अनुभवो,* आकाक्षाओं और विश्वासो का अश है। नाटककार की कृति उन्ही अशो को अपना कर मूल्यवान बन सकती है। यह सामूहिक जीवन के प्रति कलाकार की सजगता का प्रश्न है। वह यदि अपने निजी सवेदनो को प्रकाशित करता हुआ समष्टि सवेदनो का गहरा सस्पर्श नहीं देता, तो किसी अन्य क्षेत्र मे भले ही सफल हो, नाट्य-*कला के क्षेत्र मे लोकप्रियता नही प्राप्त कर सकता।*"[1] *नाटक मे व्यग्य, भाव की* अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता वैयक्तिक स्तर पर नही प्रस्तुत होने चाहिए। वे सामूहिक असतोष, सामूहिक अनुकूलता और सामूहिक दुख सवेदन को प्रस्तुत करें। राष्ट्रीय जीवन के चेतन और अवचेतन से कलाकार का गहरा सम्पर्क और सम्बन्ध होना चाहिए।

नाटक की भाषा के सम्बन्ध मे आचार्य वाजपेयी जी का स्पष्ट मत है कि *सामाजिक जीवन मे भाषा के जो नये प्रयोग और नयी व्यजनाएं होती रहती हैं,* कलाकार को उनका व्यवहार करना चाहिए। ऐसा न करने पर नाटक की भाषा निर्जीव और नयी अर्थ-भूमियो को स्पर्श करने मे असमर्थ हो जाएगी।

उपर्युक्त व्याख्या एव विवेचन के पश्चात् हम समग्र को एक साथ देखने पर *पाते हैं कि आचार्य वाजपेयी जी की नाट्य-समीक्षा पर्याप्त विस्तृत रही है।* उसमें एक ओर रस पर विचार है, भारतीय नाटको की मूल प्रवृत्तियो तथा अभीप्सित उद्देश्यों आदि का सूक्ष्मता से विश्लेषण है तथा दूसरी ओर तात्कालिक नाट्य-समस्याओ के प्रति जागरूकता एव सुरुचि-सपन्न यथार्थ-अभिमुख सक्रियता भी है।

---

१. सम्पादकीय—'आलोचना' का नाटक विशेषाक, जुलाई १९५६, पृ० ७

'आधुनिक साहित्य' मे सकलित निबन्धो मे उनका समीक्षक दार्शनिक पक्षो एव साहित्य के स्थायी मूल्यो को प्रस्तुत करने मे व्यस्त है। 'आलोचना' के सम्पादकीय वक्तव्य मे उनको हम तात्कालिक समस्याओ पर विशेष रूप से चिन्तन-रत पाते हैं। दोनो—*'आधुनिक साहित्य' के निबन्धो तथा 'आलोचना' के सपादकीय लेख मे* प्रस्तुत—चिन्तन-भूमियो के समाहार से एक अत्यन्त विशद एव व्याप्त भूमि को उन्होंने घेरा है। विशेषता यह रही है कि किसी भी अवसर पर उनके विचारो मे रूढि-बद्धता एव अनुदारता नहीं है। खुले मस्तिष्क से उन्होने चिन्तन किया और उसके पश्चात् सम्पूर्ण विश्वास और निष्ठा के साथ अपने चिन्तन परिणाम को प्रस्तुत किया है। पत्रिका के लिए सपादकीय की रचना के समय लेखक की दृष्टि तात्कालिक समस्याओ पर विशेष रहती है और पुस्तक मे वही लेखक स्थायी मूल्यो के प्रति अधिक सजग रहता है। आचार्य वाजपेयी जी के निबन्धो मे भी यह सत्य है। विभिन्न दृष्टियो से लिखे गए इन निबन्धो मे व्यापक क्षेत्र समाहित हो गए हैं। *निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि आचार्य वाजपेयी जी वर्तमान के यथार्थ के प्रति* जगरूक उस वर्ग के समीक्षक हैं जो स्थायी मूल्यो को विशेष महत्व देते हैं और जिनकी समीक्षा-पद्धति वाद इत्यादि से मुक्त साहित्यिक समीक्षा-पद्धति है।

आचार्य वाजपेयी का कवि प्रसाद सम्बन्धी विवेचन

—डा० प्रेमशकर एम. ए., पी-एच डी.

आचार्य वाजपेयी जी का साहित्य-समीक्षा मे प्रवेश उस समय हुआ जब छायावाद युग को भाव और शिल्प की नवीनता के कारण अनेक प्रकार के विरोधो का सामना करना पड रहा था। जब कभी कोई साहित्यिक आन्दोलन जन्म लेता है, तब उसे आरम्भ मे इसी प्रकार के प्रतिरोध से जूझना पडता है, क्योकि उसके स्वर कभी कभी इतने अपरिचित होते हैं कि नयी चेतना से असपृक्त व्यक्ति उसे पहिचान ही नहीं पाते। छायावाद को अनेक रूपो मे परिभाषित किया जाता है और किसी सुनिश्चित व्याख्या के अभाव में उसके विषय मे ऐसी बातें भी कही गई हैं जो उसके काव्य-वैभव का निरादर करती दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ उसे केवल पूजीवादी युग की मनोवृत्ति का आन्दोलन कहना। छायावाद मुख्यतया एक सांस्कृतिक भूमिका का सृजन है, जिसमे रचनाकारो के व्यक्तित्व अपनी समस्त ऊष्मा के साथ अग्रसर रहे हैं। कवि और काव्य का इतना नैकट्य और समरूपता हमसे माग करती है कि हम कवि-व्यक्तित्व को, उसकी सृजन-प्रक्रिया को कवि के जीवन और काव्य से जानने-पहिचानने की चेष्टा करें। पूर्वनिर्मित प्रतिमान अथवा वैयक्तिक रुचि-बोध के सहारे उनकी अनुभूति सम्पत्ति तक जाना कठिन होगा। छायावाद के आरम्भिक चरण मे भविष्य की जो किरणें छिपी हुई थी, उनका साक्षात्कार करने के लिए जिस 'नयी दृष्टि' की अपेक्षा थी, वह आचार्य वाजपेयी के पास थी और इसीलिए वे छायावाद की सम्भावनाओ का आभास पा सके। ध्यान रखना होगा कि जिस काव्य-आन्दोलन को अपने सृजन के आरम्भिक दौर मे आचार्य शुक्ल जैसे समर्थ समीक्षक का आश्रय नहीं मिला, वही जब चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया, तब विरोधियों ने भी उसका स्वागत किया। पर आचार्य वाजपेयी का नाम छायावाद के युग के साथ प्रारम्भ से ही इतने घनिष्ट रूप में सम्बद्ध रहा है कि उस आन्दोलन को उनसे पृथक् करके नही देखा जा सकता।

जिस समय आचार्य वाजपेयी ने अपना कार्य आरम्भ किया, उनके यशस्वी गुरु आचार्य शुक्ल की स्थापनाएं हिन्दी समीक्षा का प्रतिमान बनी हुई थी और वे

समीक्षक जो प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य का परीक्षण करना चाहते, आचार्य शुक्ल को स्वीकृति दे चुके थे। अपनी समस्त बौद्धिक भूमिका के बावजूद आचार्य शुक्ल के नैतिक आग्रह इतने प्रबल थे कि नये साहित्यिक आन्दोलन (छायावाद) का मूल्यांकन कर देने मे उन्हे कठिनाई हुई। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-समीक्षा को निश्चित आधार दिया, व्यवहारिक समीक्षा के प्रतिमान स्थिर किए और सर्व प्रथम बार हमे हिन्दी-साहित्य का एक धारावाहिक इतिहास दिया। पर इस सुदृढ भूमिका को अग्रसर करने तथा वस्तु-सापेक्ष्य समीक्षा प्रस्तुत करने की अपेक्षा थी, और यह कार्य जिन समीक्षको द्वारा सम्पन्न हुआ उनमे आचार्य वाजपेयी का नाम अग्रणी है। छायावाद युग के वैभव को प्रकाशित करने मे आचार्य वाजपेयी को समीक्षा के नये प्रतिमानों का निर्माण करना पड़ा। वास्तव मे प्रतिभाए निश्चित रूप-रेखाओं मे बन्दी नही की जा सकती और सृजन-इतिहास में जब-जब ऐसे प्रसग आए हैं, वे ही समीक्षक उस आन्दोलन का समुचित आकलन कर सके हैं जिनके पास युग के अनुरूप नया निकष निर्मित करने की क्षमता थी। आचार्य वाजपेयी की आरम्भिक समीक्षा मे हमे एक विद्रोही नवयुवक की आत्मविश्वासपूरित तेजस्वी प्रतिभा के दर्शन होते हैं, पर उनके सवेदन में वह क्षमता भी रही है कि वे श्रेष्ठतम प्रतिभाओं तक जा सकें। महानतम सृष्टि, वह किसी भी निकाय की क्यों न हो, प्राचीन मान्यताओ और नियमो के आधार पर परीक्षित होने पर अपना पूर्ण सौन्दर्य उन्मीलित नही कर पाती। हम कह सकते हैं कि प्रतिभा-सम्पन्न समीक्षक श्रेष्ठ सृजन के भीतर से ही अपना निकष प्राप्त कर लेते हैं और आचार्य वाजपेयी को छायावाद के युग के परीक्षण के लिए किसी बाह्य अवलम्ब को ग्रहण नही करना पडा। वह छायावाद, जिसे आचार्य शुक्ल केवल शिल्प का आन्दोलन, *अभिव्यंजना की प्रणाली अथवा पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद* की छाया स्वीकार करते है, सर्व प्रथम परिभाषा और व्याख्या चाह रहा था, ताकि उसका स्वरूप स्पष्ट हो सके। आचार्य वाजपेयी ने छायावाद को परिभाषा करते हुए कहा कि 'इसमे एक नूतन सास्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक *स्वतन्त्र दर्शन* की *नियोजना भी*।' इस सृजन को जीवनानुभव से प्रेरित, युग-बोध से परिचालित और एक महत् प्रेरणा से उद्वेलित मानकर आचार्य जी ने छायावाद को उसकी गौरव गरिमा से मण्डित किया। केवल 'शिल्प का आन्दोलन' मान लेने पर तो प्रसाद, निराला, पन्त की बृहत्त्रयी कलावाद अथवा आलंकारिक विधा की अनुवर्ती होकर रह जाती।

आचार्य वाजपेयी श्रेष्ठ प्रतिभाओं के निकट अपनी विकसित सवेदनाशीलता, सतत जागरूकता और प्रौढ़ विचारणा के सहारे पहुँच तो गये; पर उनकी व्याख्या, विवेचन के लिए ऐसे समीक्षा-शब्दों को भी खोजना था, जो उस सृजन की विशेषताओ को पृथक् रूप मे प्रकाशित कर सकें। केवल रचनाओं मे ही ऐसी स्थिति नही आती कि रचनाकार प्राचीन शब्दों को नयी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पाते है और नये

शब्दों की तलाश करते हैं, किन्तु श्रेष्ठ समीक्षा भी रचनात्मक तत्वों से समन्वित होने के कारण इस प्रकार की स्थिति का अनुभव करती है कि जिन पारिभाषिक शब्दों के सहारे अब तक का मूल्यांकन होता रहा है, वे किसी सीमा तक अपर्याप्त हो गए हैं। आचार्य वाजपेयी ने इन पारिभाषिक शब्दों के नया अर्थ देने की सफल चेष्टा की है और अपने इस प्रयास में वे युगबोध से परिचालित रहे हैं। वे समृद्ध परम्परा का समूल उच्छेदन कर देने के पक्षपाती नहीं; पर उनकी दृष्टि मे परम्परा किसी सरल, सहज, रेखा की भांति नहीं है। वह 'रिले रेस' नहीं है, जिसमें पीछे से भागकर आनेवाला व्यक्ति आगे खड़े व्यक्ति को एक लघु दण्ड दे देता है और बस उसे गन्तव्य तक पहुँचा देने मे ही सबके कार्य की इति श्री हो जाती है। मेरी दृष्टि मे आचार्य वाजपेयी परम्परा को इस दृष्टि से विकासात्मक मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उस पर नयी दृष्टि से विचार करता है, उसका पुनर्परीक्षण करता है और अपना प्रदेय भी उसमें जोड़ता है। कहा जा सकता है कि यदि आचार्य जी ने परम्परा और रूढ़ि का विरोध किया है तो इसीलिए ताकि साहित्यधारा विकासवती रहे, उनमे विचारो की नई वर्षा होती रहे, ताकि उसकी धारा सूख न जाय। अपने निबन्ध 'भारतीय काव्यशास्त्र का पुन-निर्माण' मे आचार्य वाजपेयी ने 'रस' पर एक नयी दृष्टि डाली है और उसे युगोप-योगी बनाने की चेष्टा भी की है। पारिभाषिक शब्दों की नयी व्याख्या आचार्य जी के लिए इसलिए महत्वपूर्ण रही है, क्योंकि इन्हीं के सहारे उनकी व्यावहारिक समीक्षा को अग्रसर होना था। हम कतिपय पारिभाषिक शब्दों पर विचार करना चाहेंगे। 'आध्यात्मिक' शब्द इतना अधिक धर्मसापेक्ष्य रहा है कि उसे नीति, मर्यादा स अलग करके देखना कठिन था। पर एक धर्म-निरपेक्ष आध्यात्मिकता भी होती है, जिसका सम्बन्ध उच्चतर मानवीयता से होता है, इसे आचार्य जी ने भलीभांति पहिचान लिया। छायावाद में धर्मगत नैतिक मूल्यों का आग्रह नहीं है, किन्तु एक उच्चतर मानवीयता की प्रतिष्ठा अवश्य है, जिसका सम्बन्ध जीवनानुभूति और उदात्त भावों से है। मानवतावाद यदि पाप पुण्य, सत असत्, शुभ-अशुभ, धर्म अधर्म की विभाजक रेखाओं का ही आग्रही होता तो मानववादी चेतना धर्म-निरपेक्ष होती हुई, मानव को केन्द्रीय विन्दु में रखकर उन उच्चतम मूल्यों के प्रतिपादन का आयास करती है, जो जीवन मे श्रेष्ठतम है। आचार्य जी छायावाद की 'मानवीय भूमि' की चर्चा करते हैं तब उनका आशय यही है कि उसमें जीवन की उष्मा का, युग-ताप का प्रतिफल है, जिस ताप से पूर्ववर्ती सृजन पर्याप्त सीमा तक वंचित रहा है। छायावाद इसलिए 'आधुनिक' नहीं है कि वह बीसवीं शती में रचा गया; पर इसका कारण उसकी वह 'आधुनिकता' है जिसमें युगबोध समाहित है, उसमे हम अपने समय का स्पदन देख सकते हैं। इसी क्रम में आचार्य जी की स्वच्छन्दतावाद सम्बन्धी वह व्यापक मान्यता सर्वा-धिक महत्वपूर्ण है जिसमें वे उसे वैयक्तिक सीमाओं से बाहर आकर एक नवीन विस्तृत परिवेश देते हैं। इसकी विवेचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि स्वच्छन्दतावाद नव युग की समग्र प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य-स्वरूप है जिसमें परम्परा-

गत काव्य धारा और काव्योपकरणो के विरुद्ध विद्रोही उपकरणो की प्रधानता है। नई भावसृष्टि और नए अलकरण हैं, बहिर्मुखता के स्थान पर अन्तर्मुखी प्रयाण है, प्रकृति का निसर्गजात आकर्षण है, शब्दावली मे नवीन सगीत है। छायावादी काव्य मे भी ये तत्व हैं, परन्तु जिस एक तत्व की प्रधानता के कारण इसका नाम पडा है वह इसकी अन्तर्निहित आध्यात्मिकता है।"

आचार्य जी साहित्य को जीवनानुभूति से सम्पृक्त मानते हुए भी इस खतरे से भली भाति परिचित हैं कि उस पर साहित्येतर वस्तुए हावी न हो जाय, क्योकि रचना का एक अपना दायित्व होता है और उसका पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी को अनुवर्तिनी बन कर न रह जाय।[1] मध्य युग मे धर्म का अकुश इतना प्रबल था कि समस्त सृजन का निकष धर्म, परिचालित नीति और मर्यादा थी। आधुनिक युग मे अपने समस्त विद्रोही स्वभाव के होते हुए भी राजनीति हम पर अपना अधिकार स्थापित करती गई और साहित्य पर भी उसका शासन कम नही है। आचार्य जी ने साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता का आग्रह किया है, यद्यपि जीवन सबधी हर प्रकार के अनुभव को वे स्वीकार करते हैं, पर नियमन रचनाकार की स्वतन्त्र चेतना का ही होना चाहिए। 'प्रगतिशील' शब्द का नया अर्थ विस्तार देते हुए उन्होंने कहा है कि 'साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई मे प्रवेश किए बिना नही आती।' आचार्य जी ने अपनी समीक्षा में जिन पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है, उन्ह सर्व प्रथम नयी अर्थव्याप्ति दी है और उनके उचित आशय को समझे बिना समीक्षा के अभिप्राय तक नहीं पहुँचा जा सकता। उन्होंने समीक्षा की प्राचीन-नवीन मात्राओ को युग के अनुरूप एक ऐसी व्याख्या से भर दिया कि वे सिद्धान्त नवीनतम सृजन के साथ पूर्ण न्याय कर सकें। इस दृष्टि से 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' आधुनिक समीक्षा का एक महत्वपूर्ण सोपान है। उसमे हम एक नवोदित समीक्षक को अपने समस्त आत्मविश्वास के साथ आधुनिक साहित्य का एक रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए देखते हैं जो केवल सृजन का मूल्याकन ही नही करता, वरन् अपनी समीक्षा म स्वय रचनात्मक दृष्टि का आभास भी देता है। चिन्तन की स्वतन्त्र भूमिका पर लाकर समीक्षा को प्रस्तुत करने मे आचार्य जी का महत्व असदिग्ध है।

हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' 'आधुनिक काव्य रचना और विचार' आचार्य वाजपेयी के निबन्ध सकलन कहे जाते हैं जिनम लगभग तीस पैंतीस वर्षों का लेखन सन्निहित है। कुछ लोग आचार्य जी

---

१ 'हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नही कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित है, परन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है।'—आचार्य वाजपेयी।

के विचारो मे असगति देखते हुए यह भूल जाते हैं कि एक विकासमान व्यक्तित्व मे ही इस प्रकार के वक्तव्य देखे जा सकते हैं, जिन पर यदि एक सतही दृष्टि डाली जाय तो पारस्परिक विरोध मिलता है। जो व्यक्ति तीन-चार दशकों तक हमारे सृजन के साथ साथ चला हो, जिसका सवेदन नवीनतम साहित्य का भी परीक्षण करने मे सचेष्ट हो, उसके वक्तव्य को ध्यान से देखने की अपेक्षा होगी। उन्हे सदर्भ से हटा कर नही देखा जा सकता। द्विवेदीयुग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आचार्य जी के सामने से गुजरे ही नही हैं, वे एक मात्र ऐसे जीवन्त समीक्षक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने इन सभी आन्दोलनो के आकलन की चेष्टा की है। यदि हम सन्दर्भ को ध्यान मे रखकर आचार्य जी के वक्तव्यो पर ध्यान देंगे तो हमें एक विकासमान व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होगा और यही कारण है कि वे आज भी अगतिक नही हुए हैं, उनमें गतिरोध नही आया है। हम प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल और अज्ञेय सम्बन्धी उनके वक्तव्यो पर विचार करेंगे। प्रेमचद के साहित्य मे प्रचार का जो अश विद्यमान है उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कराना इसलिए आवश्यक था, ताकि एक गलत परम्परा ही न चल पडे। किन्तु आगे चलकर आचार्य जी ने उनके कार्य को महत्त्व दिया। आचार्य शुक्ल जिस नैतिक विकास पर आधुनिक काव्य को परीक्षित करना चाहते थे, उसका विरोध हुआ, किन्तु शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा को सुदृढ भूमि दी, उसे स्वीकार किया। प्रयोगवादी आन्दोलन जब केवल शिल्प का आग्रही था तब आचार्य जी ने उसके कलावाद को अनुचित ठहराया, पर अज्ञेय के नव्यतम काव्य-सकलन 'आगन के पार द्वार' की समीक्षा करते हुए उन्होंने अज्ञेय को नयी कविता की सर्वोत्तम प्रतिभा घोषित किया। आचार्य जी का मूल्याकन सदर्भों के आधार पर देखा जाय तो उसमे असगति न दिखायी देगी।

आचार्य वाजपेयी का 'प्रसाद' सम्बन्धी विवेचन उनकी पुस्तक 'जयशकर प्रसाद' मे सकलित है। ये द्वादश निबन्ध समय-समय पर लिखे गए हैं, यद्यपि इनमे इस दृष्टि से एक समग्रता भी आ गई है कि रचनाकार के विविध पक्षों पर विचार कर लिया गया है। भूमिका मे ही कह दिया गया है कि 'मैं रचनाकार की अन्तःप्रेरणा का अनुसधान करने मे व्यस्त हू।' इसे हम आचार्य जी की समीक्षा का एक महत्वपूर्ण निकष कह सकते हैं। ऐसा नही कि बाह्य स्थितियो की पूर्णतया अवहेलना कर दी गयी है, पर उनका विवेचन रचनाकार की मानसिक और सर्जनात्मक गतिविधि से अधिक सम्बद्ध है और यह उचित भी है, क्योंकि इतिहास का उल्लेख समीक्षक का कर्त्तव्य नही होता। हमे देखना तो यह है कि इन स्थितियों ने रचनाकार को किस रूप में प्रभावित किया है। प्रसाद आचार्य जी के सर्वाधिक प्रिय कवि कहे जा सकते हैं, और किसी सीमा तक वे उनके आदर्श भी हैं। ऐसा नहीं है कि समीक्षक वैयक्तिक रुचि के कारण अभिभूत हो गया है और इसलिए वह अपने कवि को सराह रहा है, किन्तु आचार्य जी के जो साहित्यिक प्रतिमान हैं, प्रसाद का सृजन उनके बहुत समीप

दिखाई देता है। युग की भूमिका पर प्रसाद को प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रसाद जी एक नए साहित्य-युग के निर्माता ही नहीं, एक नई विचार-शैली और नव्यदर्शन के उद्भावक भी हैं। उनमें अपने युग की प्रगतिशीलता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। यही नहीं, वे एक बड़ी हद तक भविष्यद्रष्टा और आगम के विधायक भी हैं। सभी महान साहित्यकारों की भांति उन्होंने अपने युग की प्रगतिशील शक्तियों को पहचाना और उन्हें अभिव्यक्ति दी।' इस प्रकार प्रसाद का कार्य किसी व्यक्तिगत लेखन तक सीमित नहीं रह जाता, वह एक युग का प्रतिनिधित्व करता है, और युग भी ऐसा जिसकी अनेक जटिलताएं थीं, जिन्हें अभिव्यक्ति दे सकना, साधारण प्रतिभा के बूते की बात न थी। प्रसाद अपने युग को पहिचान सके और उसे अभिव्यक्ति दे सके, यह उनकी क्षमता का असंदिग्ध प्रमाण है। आचार्य जी के इस वक्तव्य पर आश्चर्य प्रकट किया जा सकता है कि 'प्रसाद जी तो विकासशील और उदार सामाजिक प्रवृत्तियों के निरूपक हैं। उनकी साहित्य-सृष्टि एक आशावादी और स्वातन्त्र्य-प्रेमी युग की प्रतिनिधि है। साहित्यिक अर्थ में उनका साहित्य सर्वथा प्रगतिशील है।' आचार्य जी को सम्भवतः अपने प्रिय कवि में सन्निहित प्रगतिशील तत्वों की ओर इस कारण इंगित करना पड़ा, क्योंकि प्रसाद के काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों और उनकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों को कतिपय आलोचक पलायनवाद तक की संज्ञा दे बैठे थे। किन्तु जिस रचनाकार ने अपने नाटकों में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक भूमियों की स्थापना की हो, जो चाणक्य, चन्द्रगुप्त, दण्डयायन, जैसे चरित्रों का सृष्टा हो, जिसने 'कामायनी' में वर्तमान विभीषिका के साथ साथ भावी युग के संकेत तक दिये हों, जो 'आंसू' की नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों को उच्चतम धरातल तक ले जाने में सफल रहा हो, उसमें जीवन की पलायन की स्थिति देखना संगत नहीं है। प्रसाद का काव्य निश्चय ही वैयक्तिक अनुभूतियों से आरम्भ होता है, किन्तु उसका विकास, उन्नयन और समापन ऐसी उच्च मानवीय भूमियों पर जाकर हुआ है; कि कवि की असाधारण व्यक्तित्व-क्षमता को स्वीकृति देनी पड़ती है। अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का इतना सार्थक और सक्षम उपयोग करने वाले कवि आधुनिक काव्य में विरल हैं। कवि प्रसाद का गौरव इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि यद्यपि उनकी आरंभिक अनुभूति सीमित रही है, पर उन्होंने क्रमशः स्वयं को विकसित किया है और महत्तर उत्कर्षों पर गए हैं और अन्त तक उनमें गतिरोध अथवा निगति के लक्षण नहीं आए। अपने इस सृजन-अभियान में आधुनिक युग में वे महाकवि रवीन्द्र के बहुत समीप दिखाई देते हैं, जो अन्तिम क्षण तक नयी नयी अनुभूतियों को व्यंजित करते रहे।

प्रसाद के सृजन का आरम्भिक चरण पर्याप्त शिथिल दिखाई देता है। 'चित्राधार' की कविताएं ब्रजभाषा में लिखी गई हैं और उन पर परम्परागत प्रभाव स्पष्ट है। सामान्य रूप से समीक्षकों को इस संकलन में कोई विशेषता न दिखाई देगी, पर आचार्य वाजपेयी कवि की सम्भावनाओं के भीतर झांक लेने वाले समीक्षक हैं और

उनकी दृष्टि में केवल वर्तमान ही नहीं रहता, वे भावी पर भी दृष्टि रखते हैं । इसी कारण उन्होंने प्रसाद की इन आरम्भिक कविताओं में भी ऐसे तत्व पा लिए हैं जो आगे चल कर विकास प्राप्त करते हैं। और, इसका श्रेय आचार्य जी को ही देना होगा कि वे अपने प्रिय कवि के विषय में परम आश्वस्त थे कि इसे महत्तर ऊंचाइयों पर जाना ही है। 'प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कवि मे जो आसक्ति-भाव है उससे आगे चल कर माधुर्य-भावना का विकास हुआ जो प्रसाद की सौन्दर्यचेतना का मूल भाव है। प्राकृतिक सौन्दर्य कवि मे जिन असख्य जिज्ञासाओं को जन्म देता है, वह आगामी काव्य-विकास के लिए महत्वपूर्ण है और यही 'चित्राधार' के प्रकृति-वर्णन का वह विशिष्ट गुण है जो उसे परम्परा का अनुगामी मात्र बनाकर नही रह जाने देता। शृगार के कवि प्राय प्रकृति के शारीरिक पक्ष, बाह्य अलकार मे उलझकर रह जाते थे, वे उससे उद्दीपन का कार्य अधिक लेते थे, पर प्रसाद ने इस चिरतन सुन्दरी के अतरग में प्रवेश करने की चेष्टा की। आचार्य जी स्वीकार करते हैं कि प्रसाद का प्रकृति से वह रागात्मक सम्बन्ध नहीं है जो वर्ड्सवर्थ आदि कवियों का रहा है, किन्तु वे प्रकृति मे किसी दिव्य सौन्दर्य के सकेत पा जाते हैं। इस जिज्ञासा तत्व को आचार्य जी ने कवि का विकास-सूत्र मानते हुए कहा है कि 'उनकी भावना आरम से ही अधिक सूक्ष्म और शृगारी कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और जिज्ञासामय है। यह जिज्ञासा ही आगे उनके विकास मे सहायक हुई है। यदि 'चित्राधार' में ये जिज्ञासाए न होती, तो प्रसाद जी प्रेमाख्यानक शृगारी कवियों की श्रेणी से ऊपर उठकर उच्चतर रहस्य-काव्य का सृजन न कर पाते।' यहाँ रहस्य काव्य से आचार्य जी का अभिप्राय कबीर जैसे रहस्यवादी कवि से नहीं है। उनका आशय है वह उच्चतर मानव मूल्यों की उदात्त भावनाओं का काव्य जो अपनी मानवीय सवेदना में आध्यात्मिक प्रतीत होता है, पर जिसका घनिष्ट सम्बन्ध जीवनानुभूतियों से है।

प्रसाद के काव्य विकास को परीक्षित करते हुए आचार्य वाजपेयी ने उन सूत्रों की ओर सकेत किया है, जिनसे कवि का सृजन गतिमान होता है, जो उनके काव्य का मूलाधार कहे जा सकते हैं। 'चित्राधार' के प्रकृतिप्रेम से आगे बढ़कर जब कवि 'प्रेम-पथिक' के मानवीय प्रेम पर पहुचता है तब वह अपने अभियान मे एक सोपान और ऊपर उठ जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि जिस समय द्विवेदी-युग का काव्य अपने युग की राष्ट्रीय आवश्यकताओं के कारण तथा अपने पूर्ववर्ती शृङ्गारकाल की विलास-भावना के भय से किसी प्रकार की प्रेम चर्चा से कतरा रहा था, उस समय प्रसाद ने, 'प्रेम-पथिक' के माध्यम से एक प्रेमादर्श की स्थापना की। आगे चलकर जब 'आँसू' मे कवि ने वैयक्तिक अनुभूति का उपयोग किया तब तो जैसे हिन्दी मे भाव प्रकाशन एक नया द्वार ही खुल गया और कवियों को अपनी आन्तरिक भावनाओं के प्रकाशन का पूर्ण अवसर प्राप्त हो गया। 'आँसू' का प्रकाशन इस दृष्टि से हिन्दी-काव्य की एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसमें प्रथम बार आधुनिक कवि ने

निस्सकोच भाव से अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो का प्रकाशन करते हुए उन्हें भावना के उदात्ततम स्तर पर पहुचा दिया। जीवन मे वैयक्तिक अनुभवो का सग्रह और मानसिक स्तर पर उनकी अनुभूति ही सब कुछ नही होती, पर उसे उसकी समस्त गहनता, तापमयता, मार्मिकता और तीक्ष्णता मे एक समर्थ शिल्प के माध्यम से व्यक्त कर पाना भी आवश्यक है। 'आँसू' एक 'मनोरम गीत कविता' अथवा एक 'मार्मिक गीति समुच्चय' है, और उसमे आदि से अन्त तक अनुभूतिगत ताप बिखरने नही पाता। यह कोई तल्लीन और लवलीन कवि के द्वारा ही सम्भव है। आचार्य जी ने एक स्थान पर लिखा है कि 'प्रसाद जी ने शृङ्गार का परिष्कार किया।' महाकवि को प्रेरणा देने के लिए सस्कृत का समृद्ध काव्य सामने था ही। 'आँसू' का इस रूप मे ऐतिहासिक महत्व कहा जायगा कि उसके हिन्दी-काव्य की नीरसता और शुष्कता से रक्षा की। शृगार रसराज तो है ही, उसका क्षेत्र भी इतना व्यापक है कि उससे बचल बचाकर निकलने की चेष्टा करने पर काव्य जीवन के ससपर्श से भी वचित हो जाता है उसका मानवीय स्वर कम हो जाता है। कुछ लोगों ने आरम्भ मे 'आँसू' को स्वीकृति नही दी, पर उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता ने उन्हे बाध्य कर दिया और तब उन्होने सोचा कि यदि इसमें आत्मा-परमात्मा के प्रतीक खोज लिए जायें तो इसे पचाया जा सकता है। हिन्दी आलोचना पर यह नैतिक अकुश कितना ही प्रबल क्यो न रहा हो, पर आचार्य जी ने उस समय 'आँसू' को 'साक्षात मानवीय' कह-कर इसे कवि की 'आत्मस्वीकृति मानकर' उसका अभिनन्दन किया था। उन्होने लिखा है—'वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी मे जब किसी के पास इतनी शक्ति नही थी कि वह इस तरह की बातें कहे, तब प्रसाद जी ने उन्हे कहा। यह साहस और कवि की सवेदना स्वत: ही काव्य को आध्यात्मिक ऊँचाइयो पर ले गई है। दूसरे आध्यात्म का आवरण पहनाने की इसे आवश्यकता नहीं।' द्रष्टव्य है कि जब पर्याप्त समय तक हिन्दी आलोचक 'आँसू' काव्य पर सूफी प्रभाव देखते रहे और उसका रूप वर्णन उन्हे इसी सन्दर्भ मे परोक्षसत्ता का परिचय देता रहा, तब आचार्य जी ने उसे इस रूप मे गौरवान्वित किया कि आत्मस्वीकृति पर आधारित मानवीय भावना काव्य के लिए कितनी उपयोगी वस्तु है, और उन्नयन की क्षमता रखने वाला कवि उसे किन महत्तर ऊँचाइयो पर ले जा सकता है। आचार्य जी इस अवसर पर केवल 'आँसू' काव्य की समीक्षा करते हुए ही नही दिखाई देते, वे इस ओर भी इगित कर रहे हैं कि उस कविप्रिया के आंचल का अनावरण हो रहा है, जहां वैयक्तिक अनुभूतियाँ, मानवीय प्रेम, और सौन्दर्य अपने स्वच्छ, स्वस्थ रूप मे विद्यमान हैं। 'आँसू' के विवेचन मे आचार्य वाजपेयी अपने इस मत की पुष्टि करते दिखाई देते हैं कि श्रेष्ठ सृजन को बाह्य उपकरणो की अपेक्षा नही होती, उसका सौन्दर्य तो कृति के भीतर ही विद्यमान होता है। हाँ, उसे देखने के लिए तल-स्पर्शिनी सवेदनशीलता चाहिए।

आचार्य वाजपेयी जी ने प्रसाद को 'मनुष्यों के और मानवीय भावनाओं के कवि' रूप में देखा है और प्रकृति को भी 'मनुष्य सापेक्ष्य' माना है। कवि के विवेचन में सर्वत्र उनकी समीक्षक-दृष्टि इस केन्द्रविन्दु को ध्यान में रखते हुए अग्रसर हुई है। 'झरना' को प्रायः उसकी लाक्षणिक शैली के कारण छायावाद का आरम्भिक स्वर कहकर पुकारा जाता है, पर आचार्य जी ने उसमें उन प्रयोगों को देखा है जो कवि को 'क्रमश. आशा और प्रमाद के आलोक से हटाकर जीवन की गम्भीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहे थे।' जीवन की गहराइयों में प्रवेश पाने की जो प्रवृत्ति 'झरना' मे प्राप्त होती है, उसी में 'कामायनी' की सम्भावनाओं को देख लेना उसी समीक्षक के लिए सम्भव हो सका जो कवि प्रसाद के बाह्य अलंकरणों पर दृष्टि न डालकर उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता हो। 'लहर' के गीतों, विशेषकर 'प्रलय की छाया' मे प्रसाद का वह गहन जीवन-सस्पर्शपूर्ण शक्ति के साथ व्यक्त हुआ है, जिसे हम 'कामायनी' की भूमिका भी कह सकते हैं।

आचार्य वाजपेयी ने कवि प्रसाद के आरम्भिक चरण में ही जो सम्भावनाएँ देखी थी, उनका उत्कर्ष-फल 'कामायनी' है। इस काव्य के विषय में बहुत समय तक उसके बाह्य उपकरणों को लेकर विवाद चलता रहा, जिसका कारण हमारी समीक्षा की शैशवावस्था है। हम कृति के अन्तरग मे न प्रवेश कर बाह्य रेखाओं से उलझकर रह जाते हैं, और इस प्रकार रचना की आन्तरिक विभुता तक हमारी गति नही हो पाती। 'कामानी' प्राचीन शास्त्रीय लक्षणो के आधार पर महाकाव्य नहीं है, इस कारण उसके गौरव मे कोई स्खलन नही आता, क्योंकि वह एक महान् काव्य है, महान् सवेदनाओ का काव्य है; पर्याप्त है। आचार्य वाजपेयी ने इसीलिए इस काव्य की परीक्षा केवल एक कृतिकार के महत्वपूर्ण सृजन के रूप में नहीं की। उन्होंने उसे एक युग की पीठिका पर रखकर परीक्षित किया है, जिसे उनकी इतिहास दृष्टि कहा जायगा। 'कामानी' छायावाद-युग का समापन ग्रथ है और उसमे आकर एक प्रमुख साहित्यिक आन्दोलन जैसे चरम अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। टी० एस० इलियट ने दांते का विवेचन करते हुए कहा है कि भाषा साहित्यिक आन्दोलनों से गुजरते हुए ऐसे बिन्दु पर पहुँचती है जब कोई समर्थवान कवि उसकी समस्त सम्भावनाओ को अपनी कृति में निश्शेष कर देता है। मानस, बिहारी सतसई अथवा कामायनी ऐसी ही कृतियाँ हैं, जहाँ केवल भाषा की ही नही, वरन् भाव, शिल्प की तद्युगीन सम्भावनाएँ अपने समाहित रूप मे द्रष्टव्य हैं। सर्वप्रथम आचार्य वाजपेयी ने प्रसाद के विरोधियो को जो उत्तर दिया है, वह ध्यान देने योग्य है। वास्तव में अपने प्रिय और आदर्श कवि के लिए जितने भी तर्क समीचीन हो सकते हैं, उनका अवलम्ब उन्होंने ग्रहण किया है। उनके तर्क अकाट्य हैं, और उनके पीछे उनकी परिष्कृत संवेदनशीलता, जागरूक विचारणाशक्ति विद्यमान है। आचार्य जी का कथन है कि प्रसाद जी ने भावुकता का विरोध किया; वे वास्तववाद, वस्तुतत्र के प्रवर्तक हैं और दार्श-

निक दृष्टि से निष्ठावान यथार्थवादी कवि है। 'कामायनी' आधुनिक युग का महत काव्य है और जो आधुनिकता से परिचित नही है; उन्हे इसका आकलन करने मे कठिनाई हो सकती है। आधुनिक युग बोध से सम्पन्न काव्य मे जीवन की अनेकानेक जटिलताओं, असगतियो, विरोधाभासो का आकलन होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उसके अभाव मे कृति निस्पद और निष्प्राण होकर रह जायगी; उसमे अपने युग का सस्पर्श न होगा। मनु इस दृष्टि से आधुनिक युग का प्रतिनिधि पात्र है, जो जीवन को अनेक आन्तरिक द्वन्द्व-भूमियो से गुजरता है और आत्मपीडन भी कम नही भोगता। वह प्रवृत्ति-निवृत्ति, पाप-पुण्य की ऐसी समन्वित भूमिका से निर्मित हुआ है कि हम तभी 'कामायनी' के साथ न्याय कर सकते हैं जब हम युग-यथार्थ की पीठिका स्वीकार कर लें। आज जब नये साहित्य के सन्दर्भ मे बार-बार 'आधुनिकता' की चर्चा की जाती है तब हमारा ध्यान आचार्य वाजपेयी के 'कामायनी'-सम्बन्धी आकलन की ओर जाता है, जिसमे उन्होने विस्तार से, लगभग दो-तीन दशक पूर्व ही इस शब्द की व्याख्या की थी, ताकि नये काव्य का उचित आकलन हो सके। पर उनकी 'आधुनिकता' किन्ही बाह्य रेखाओ पर आधारित नही है, जिसमे केवल एक शब्दावली रहती है; वह अधिक आन्तरिक स्थितियो की आग्रही है। उसकी अभिव्यक्ति केवल सामयिकता तक सीमित नही है, वरन् वह अधिक स्थायी मूल्यो की प्रतिष्ठा का प्रयास है और यह वर्तमान-भविष्य को एक साथ सग्रथित करने का कार्य उसी कवि द्वारा सभव है जिसके व्यक्तित्व मे समाहार की क्षमता हो। 'कामायनी' एक ऐसा ही अन्वितिपूर्ण काव्य है।

आचार्य वाजपेयी ने अपने निबन्ध 'प्रौढतर प्रयोग' में 'कामायनी' काव्य की उस भूमिका का स्पष्टीकरण किया है, जिसमे उसका प्रणयन हुआ और अपने आगामी निबन्ध मे उसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। यहाँ वे काव्य के गुणो पर विस्तार से विचार करते हैं, पर महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनकी समीक्षक-दृष्टि इतनी अभिभूत और मोहबद्ध नही हो जाती कि कृति के आकलन में भावनामयता आ जाय। श्रेष्ठ समीक्षक की प्रक्रिया का एक स्वरूप यह है कि वह अनेक अवसरो पर महान् कृति से उल्लास और आनन्द प्राप्त करता है, रसधार मे डूबता-उतराता है, किन्तु जब उसकी बुद्धि समीक्षात्मक आकलन मे अग्रसर होती है तब वह अधिक निस्सग हो जाता है। जिस समीक्षक मे तटस्थता जितनी अधिक होगी, वह उतना ही अधिक सक्षम कहा जायगा। 'कामायनी' के विवेचन मे जो सूक्ष्म अनुशीलन हो सका, इसका कारण आचार्य जी की ग्राहिणी शक्ति के साथ-साथ उनकी तटस्थता भी है जो उनके समीक्षक को अपने प्रिय से प्रिय कवि की वशवर्तिनी बनकर नही रह जाने देती। तभी तो वे कामायनी के वैभव का इतना बौद्धिक विश्लेषण कर सके हैं। यही आचार्य शुक्ल से उनका किंचित् पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शुक्ल अपने प्रिय कवि तुलसी के विश्लेषण मे खो जाते हैं और सौन्दर्य-उद्घाटन मे 'मानस' की

पंक्तियाँ प्रस्तुत करते जाते हैं। आचार्य वाजपेयी ने 'कामायनी' का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक आधार पर विचार किया है। उनकी शैली इंगित और संकेत प्रधान है और विस्तार में जाने के लिए उनके पास अवकाश नहीं रहता, यह उनकी प्रवृत्ति भी नहीं है। किन्तु जिस मनोवैज्ञानिक आधार की चर्चा की गई है, वह 'आधुनिकता' का एक महत्वपूर्ण अंग है और उसका स्वरूप विज्ञान का समीपी है। पर आचार्य जी 'कामायनी' की मनोविज्ञान की सीमाओं से भी परिचित हैं और इसलिए उन्होंने मुख्यतया मनोविकारों का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है—'मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यात्मक निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।' 'मनोविश्लेषण का जो प्रयोगात्मक पक्ष होता है और जिसमें प्रतीक प्रमुखता प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय कामायनीकार ने अधिक नहीं ग्रहण किया, अन्यथा वह एक दुरूह कृति बनकर रह जाती। उसमें मुख्य रूप से मनु के माध्यम से मन की वृत्तियों का विश्लेषण है और मनु का व्यक्तित्व 'अहं' पर आश्रित है। कवि की स्वतन्त्र नियोजनाएँ मनोविज्ञान तथा दर्शन दोनों पक्षों में प्रमुखता प्राप्त करती हैं और किसी विशेष सरणि का अनुसरण उसमें नहीं किया गया। प्रायः 'कामायनी' में आवश्यकता से अधिक 'दर्शन' खोजने की चेष्टा की जाती है, किन्तु इस प्रकार का आरोपण उचित नहीं है, क्योंकि वह काव्य पहले है, दर्शन बाद में। यदि किसी 'दर्शन' विशेष को छन्दबद्ध कर दिया जाय तो उसे काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती अथवा किसी दार्शनिक प्रतिपादन के लिए रचे गए काव्य की कितनी सीमाएँ होती हैं, यह 'बुद्धचरित' जैसी कृतियों में देखा जा सकता है। काव्य में दर्शन उसका बौद्धिक और चिन्तन पक्ष है किन्तु वह तभी काव्य के लिए उपयोगी बन सकता है, जब वह अनुभूति की मूलधारा से एकरस होकर आया है, और केवल शुष्क प्रचार तक सीमित न हो। आचार्य जी का कथन इस विषय में द्रष्टव्य है कि 'काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना है।' 'कामायनी' के अन्तिम चार सर्ग विशेष रूप से दार्शनिकता बहुल हो गए हैं, जिनमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समरसता सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा कवि का मुख्य उद्देश्य रहा है और जिसका गतव्य 'आनन्दवाद' है। पर प्रसाद का दार्शनिक प्रतिपादन केवल शैव दर्शन के सैद्धान्तिक निरूपण तक सीमित नहीं है, उसमें कवि की जीवन-दृष्टि का भी महत्वपूर्ण संयोग हुआ है और इसी कारण भावी समाज की कल्पना की जा सकती है। आज जब 'कामायनी' को कोरा शैव-दर्शन का काव्य प्रमाणित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, आचार्य वाजपेयी की इस धारण को दृष्टिपथ में रखना होगा कि प्रसाद जी की दार्शनिक उपपत्तियाँ जीवनानुभूति से अनुप्रेरित हैं। उसमें एक दार्शनिक अन्तर्धारा मिलती है परन्तु वह काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है।'

'कामायनी' के शिल्पविधान का विवेचन करते हुए आचार्य वाजपेयी ने उसका आकलन बाह्य उपकरणों के आधार पर नहीं किया, और वे महत् काव्य के

उच्चतम आदर्शों से प्रेरित रहे हैं। इस काव्य के शिल्प मे जो विलक्षणता दिखाई देती है, उस पर उनकी समीक्षक दृष्टि तत्काल गई है और वे जानते हैं कि 'इसका वस्तुनिर्माण पाश्चात्य ट्रेजिडी और पूर्वी आनन्द-कल्पना के योग से समन्वित होने के कारण समीक्षको के सामने थोडी-सी कठिनाई भी उपस्थित करता है।' पर अपनी समस्त ट्रेजिक स्थितियो के होते हुए अन्त मे आनन्दवाद की प्रतिष्ठा उसे सुखान्त बनाती है। जो लोग 'मनु' के चरित्र को 'धीरोदात्त' नही पाते और 'कामायनी' को एक नायिकाप्रधान काव्य मानने के कारण उसके महाकाव्यत्व मे सन्देह करते हैं, वे उसे आधुनिक युग के सन्दर्भ मे नहीं देखते और इस काव्य का जो लाक्षणिक और व्यजनात्मक शिल्प है उस पर उनकी दृष्टि नही जाती। 'कामायनी' का काव्य-विवेचन करते हुए आचार्य वाजपेयी ने भारतीय साहित्यशास्त्र पर जिस पाडित्यपूर्ण अधिकार का परिचय दिया है, वह उस समय उन आलोचको को एक उचित उत्तर रहा होगा जो उसे लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर परीक्षित करके, दो चार व्यर्थ की त्रुटियाँ खोज कर उसके महत्व को कम करना चाहते थे। आचार्य जी की शब्दावली मे सस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द नई व्याख्या मे प्रतिष्ठित हुए हैं। 'कामायनी' को आचार्य जी ने 'प्राकृत भावभूमि का काव्य' कहा है और उसमे प्रकृत काव्य-पद्धति का अवलम्ब देखा है। श्रेष्ठ सृजन इन्हीं रेखाओ पर चलता है। उसमे विषय-वस्तु का वर्णनात्मक विस्तार नही है, पर उसका उद्देश्य महत् है और वस्तु की अपेक्षा भाव का प्रतिपादन अधिक है। आचार्य जी के शब्दो मे 'परम्परागत महाकाव्य के लक्षणो की पूर्ति न करने पर भी 'कामायनी' को नए युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने मे हमे कोई हिचक नही होती।' किसी काव्य की श्रेष्ठता उसके आन्तरिक गुणो पर आधारित होती है और 'कामायनी' इस दृष्टि से कालजयी कही जायगी।

आचार्य वाजपेयी जी ने प्रसाद का मुख्यतया कवि रूप मे आकलन किया है, किन्तु पुस्तक के अन्त मे नाटक सम्बन्धी कई लेख भी सकलित है। प्रसाद जी मे जिस स्वतन्त्र नाट्यकला का आभास मिलता है उसका विश्लेषण करने के पूर्व पूर्वी और पश्चिमी नाट्यतत्वो का विवेचन हुआ है और भारतीय नाटक की रूपरेखा भी दी गई है। इस भूमिका के उपरान्त प्रसाद के नाटको की विशेषताए विवेचित हुई है। आचार्य जी ने इन्हे मुख्यतया ऐतिहासिक—सास्कृतिक माना है, किन्तु इतिहास का बन्धन (घटना-सम्बन्धी) स्वीकार करते हुए भी पात्रो मे जिस सजीव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की जा सकती है, वह नाटककार की स्वतन्त्र नियोजना है और उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है। हिन्दी-नाटको के इतिहास मे यह एक नवीन अध्याय का सूत्रपात है। केवल इतिहास का वर्णनात्मक प्रतिपादन करने रह जाना प्रसाद का अभीप्सित नहीं रहा, वे अपने पात्रो को एक व्यक्तित्व देना चाहते हैं और उनके माध्यम से एक सम्पूर्ण सस्कृति को व्यजित करते हैं। एक सर्वाधिक

उल्लेखनीय वस्तु है इन नाटको को आधुनिक युग के अनुरूप बना लेना, ताकि वे केवल अतीत के दृश्य बनकर न रह जाय। यहीं कवि कल्पना की क्षमता, उसकी इतिहास-दृष्टि देखने योग्य है। जब आचार्य जी प्रसाद के कुछ नाटको को 'जीवनी-प्रधान' तथा *'औपन्यासिक गुण-प्रधान' कहते हैं तब सम्भवत उनका आशय यही* है कि उनके पात्र अपने 'व्यक्तित्व' को व्यक्त करते हैं, केवल इनिहास रेखाओ मे बधे होकर नही रह जाते। ये नाटक युगविशेष का वातावरण प्रस्तुत करते हुए भी अनेक स्थलो पर राष्ट्रीय भावना से किस प्रकार परिचालित हैं, इस ओर भी आचार्य जी की दृष्टि गई है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु नाटकों मे उस युग का सास्कृतिक सघर्ष विस्तार से विवेचित हुआ है जो नाटककार की सास्कृतिक दृष्टि का असदिग्ध प्रमाण है। इतिहास के भीतर ही सस्कृति की एक प्रवहमान धारा अन्त सलिला की भाँति गतिमय रहती है, इस ओर उसी रचनाकार की दृष्टि जा सकती है जो सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति से सम्पन्न हो। भारतीय सस्कृति के विकास और अन्तर्निहित धारा पर विचार कर लेना प्रसाद के लिए इसी कारण सहज सम्भव हो सका। नाटको का प्रशस्त सास्कृतिक वातावरण जिस काव्यात्मक शिल्प मे व्यजित हुआ है उसका उल्लेख करते हुए आचार्य जी ने स्पष्ट कहा है कि उनका गद्य कवित्व के अधिक समीप है। यथार्थवादी शिल्प मे रूपायित न होने के *कारण ही वे उपयोगी नहीं है,* इसका उत्तर भी *दिया गया है। 'कुछ प्रमुख नाटक'* शीर्षक लेख मे महत्वपूर्ण नाटको की विशेषताओ का उल्लेख भी आचार्य जी ने किया है। इन विभिन्न नाटको का विवेचन करते हुए उनमे जो पार्थक्य की रेखाए हैं, उस पर समीक्षक की दृष्टि बराबर रही है, क्योकि वह जानता है कि इसके निर्माण मे नाटककार की कौन-सी प्रेरणाएं सक्रिय रही हैं। आचार्य जी ने प्रसाद के नाट्य-शिल्प की सीमाए स्वीकार की हैं, किन्तु उनमे एक नये युग का समारम्भ भी देखा है।

आचार्य वाजपेयी का प्रसाद सम्बन्धी विवेचन ऐतिहासिक महत्व रखता है, क्योकि वह किसी कवि विशेष के अध्ययन तक सीमित नहीं है। इस कवि के माध्यम से उन्होंने समस्त छायावाद युग को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। किसी रचनाकार की व्यक्तिगत विशेषताओ का उल्लेख कर देना तो अपेक्षाकृत साधारण-सा कार्य है, पर उसके माध्यम से एक युग को स्थापित करने की चेष्टा गहन समीक्षक-दायित्व की माग करती है, जिसके निर्वाह मे आचार्य जी ने सफलता प्राप्त की है। ऐसा करने के लिए उनके पास जागरूक दृष्टि, विकसित सवेदन, परिष्कृत रुचि, जागृत विवेक के साधन रहे हैं। आचार्य जी ने प्रसाद के शिल्प की इतनी व्यापक चर्चाओ मे न जाकर कवि की 'नयी चिन्तना और नयी भावना' पर अपनी दृष्टि अधिक केन्द्रित रखी है। रचनाकार की अन्त प्रेरणा का अनुसन्धान उन्होंने पूर्ण सजगता से किया है। और वे मूल स्रोतो तक पहुचने मे समर्थ हुए हैं। जब

आचार्य जी कहते हैं कि प्रसाद का साहित्य 'जीवनरस से अभिषिक्त' है और वे अपने 'युग के सबसे बडे पौरुषवान कवि' है अथवा वे 'हिन्दी के सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि हैं', तब वे अपने कवि को एक ऐसे पद पर आसीन कर देते हैं जहाँ वे स्वय ही एक युग के नियामक बन जाते हैं, जिसका उत्कर्ष 'कामायनी' मे देखा जा सकता है। प्रसाद के व्यक्तित्व को आचार्य जी ने एक समाहित, समन्वित रूप में देखने का प्रयत्न किया है, और सम्भवत वे उनके सर्वाधिक प्रिय कवि इसीलिए हैं, क्योकि समीक्षक का निकष उनमे अपनी सिद्ध पा जाता है। प्रसाद के विषय मे, समय के साथ, अनेक लोगो की धारणाए बनती-बिगडती रही हैं, पर आचार्य जी की स्थापनाओ मे कोई मौलिक अन्तर नही आया, क्योकि आरम्भ से ही उनमे कतिपय स्थायी प्रतिमान रहे हैं। अपने नवीनतम लेख 'प्रसाद और निराला' मे उन्होने इन दो श्रेष्ठ कवियो मे प्रतिभा के पार्थक्य को खोजा है और यह मन्तव्य प्रकट किया है कि महान् प्रतिभाए सहजात प्रवृत्तियो का अतिक्रमण कर जाती हैं। प्रसाद गीतात्मक प्रवृत्तियो और वैयक्तिक अनुभूतियो के कवि होते हुए भी हमे एक महाकाव्य दे गए और निराला अधिक निस्सग कलाकार होते हुए भी श्रेष्ठ गीतो के ही स्रष्टा बने। इन दोनो कवियो के विरोधाभास का सकेत करते हुए आचार्य जी ने उनकी तुलना के प्रयास को असगत बताया है और दोनो को अपनी प्रतिभा मे महान, अप्रतिम और अपराजेय कहा है। आचार्य जी ने प्रसाद और निराला दोनो ही कवियो का विवेचन उस अवसर पर किया था, जब हिन्दी मे उनके काव्य का आस्वादन करने वालो की सख्या नगण्य थी और उन्होने इन दो महान् कवियो की सापेक्षिक तुलना उस अवसर पर की जब हिन्दी ससार उनसे पूर्णत प्रभावित होकर दोनो के स्वतन्त्र उत्कर्ष-पक्षो को जानने का अभिलाषी था। उनका प्रसाद सम्बन्धी विवेचन एक आरम्भ-सूत्र है, जिसके सहारे हिन्दी मे इस कवि की आगामी व्याख्याए हुई हैं। दो-चार अपवादो को छोडकर आज भी उन्ही इगितो का विकास दिया गया है, जो आचार्य जी की पुस्तक 'जयशकरप्रसाद' मे प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से आचार्य जी का विवेचन वह महत्वपूर्ण स्रोत है जहाँ से छायावाद के श्रेष्ठ कृतिकार का मूल्याकन अपनी सहज उच्छलता प्राप्त करता है। आचार्य जी के समीक्षक मे वह क्षमता रही है कि वे महान् रचनाकारो के उत्कर्ष तक पहुच सकें और उन्होने एक नये समीक्षा निकष का निर्माण किया, ताकि महान् प्रतिभाओ के साथ न्याय हो सके।

आचार्य वाजपेयी का निराला-विषयक विवेचन

(पूर्ववर्ती काव्य)

—श्री धनञ्जय वर्मा, एम० ए०

●

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी साहित्य की एक स्थूल सीमा-रेखा सन् २० से सन् ४० तक मानी जा सकती है। इस अवधि मे हिन्दी-काव्य मे एक युगान्तर आया है। इसका पहला दशक तो स्वच्छन्दतावादी जागरूक और चेतन प्रयास की दृष्टि से प्रारम्भिक सूचनायें मात्र देता है और विशेषकर समीक्षा के क्षेत्र मे किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का धनी नही है। इस दशक मे प्रसाद, निराला, पन्त ने भले अपने काव्य की अभिसूचना के लिए औपचारिक रूप से कुछ नई दृष्टि और सिद्धान्तो की बातें की हो, लेकिन उससे समीक्षा के क्षेत्र मे किन्ही निश्चित विचारो या पद्धति का उद्भव नहीं होता। वे सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से प्रसगवश ही महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास मे और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से उनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अंग्रेजी के सन्दर्भ मे *कालरिज या वर्ड्सवर्थ की स्थापनाओ का। यह सच है कि उसने काव्य को नई* दृष्टि प्रदान की लेकिन समीक्षा का नया प्रतिमान या समीक्षात्मक विचारो की नई दिशा वह नही दे पाया। इसका एक कारण है। व्यापक परिप्रेक्ष्य मे स्वच्छन्दतावादी आंदोलन कुछ विशिष्ट एव नई धारणायें लेकर चला था। काव्य की द्वद्वात्मक, ऐतिहासिक और प्रतीकात्मक धारणा, एक आनुभविक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि और भावनात्मक स्वरूप उसके कुछ आवश्यक उपकरण थे जो पश्चिमी देशो मे फलीभूत हुए। (हिस्ट्री आफ माडर्न क्रिटिसिज्म नेवेलेक ३) लेकिन यह व्यापक आन्दोलन हर देश और साहित्य मे एक ही गति, समय या प्रवृत्ति का द्योतक नहीं रहा। कालान्तर में इसका मौलिक स्वरूप अस्त होता गया और वह भावुक काव्य-सृष्टि एव सकुचित राष्ट्रीयता का पर्याय और रहस्यवादी भूलभुलैयों का शिकार होता गया और अपने प्रारम्भिक दिनो में भारत और विशेषकर बँगला तथा हिन्दी मे भी

वह इन्हीं सन्दर्भों मे देखा-परखा गया। इसीलिए जितना श्रम और जितनी प्रतिभा इन कवियों को अपनी सृष्टि एव दृष्टि को प्रमाणित करने मे लगानी पडी, उतनी वे समीक्षा की दृष्टि से मौलिक उद्भावना मे न लगा सके। जहां तक समीक्षा की स्वच्छदतावादी धारणा का प्रश्न है, वह काव्य की स्वच्छदतावादी धारणा से किंचित् भिन्न है यद्यपि उसका प्रतिमान वही काव्य है। व्यापक अर्थों मे वह पुराने सारे प्रतिमानो के विरुद्ध खडी होती है। वह काव्य मे भावो की अभिव्यक्ति और प्रेषण की सार-भूत सत्ता का समादर करती हुई उसकी द्वन्द्वात्मक एव प्रतीकात्मक धारणाओ को लेकर चलती है। उसे विरोधो का ऐक्य और प्रतीको की निश्चित पद्धति पर विश्वास है और काव्य की भावुक अथवा रहस्यवादी व्याख्याओं से अलग शुद्ध सौन्दर्य के धरातल पर उसकी परख उसे मान्य है। हिन्दी मे इस धारणा का स्वरूप आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी मे प्राप्त होता है और इस क्षेत्र और दिशा मे उन्होंने अकेले ही कार्य किया है और सन् ३०–३५ के आस-पास अर्थात् उस आन्दोलन के दूसरे दशक मे उनके निबन्धो में एक विशिष्ट विकासशील दृष्टि या पद्धति प्राप्त होती है और उनसे विचार और दृष्टि की एक निश्चित प्रणाली का समारभ होता है। सही अर्थो मे स्वच्छदतावादी समीक्षा का रूप हिन्दी मे वही प्रस्तुत करते हैं, केवल इसीलिए नही कि उनका प्रवेश स्वच्छदतावादी कवियो और कविता के विवेचक के रूप मे हुआ था, वरन् सैद्धातिक और व्यावहारिक दोनो क्षेत्रों मे उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को विचारो का एक निकाय और आस्वाद की एक परिभाषा दी और समीक्षा की एक नई पद्धति और पूरी परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे एक नया सश्लेषण।

यह सच है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-समीक्षा मे एक युग-प्रवर्तक का काम किया था और वह कई अर्थो मे क्रातिकारी परिवर्तन भी कहा जा सकता है। लेकिन उनकी दृष्टि शुद्ध साहित्यिक रही हो, ऐसा नही है। वर्णाश्रम धर्म, लोक-मर्यादा, चरित्र, सुरुचि और नैतिकता का विचार शुक्ल जी के आगे इतना अधिक था कि काव्य और काव्य-मूल्य अपनी स्वतत्र सत्ता मे कम ही उभर पाये। फिर उनके समस्त मानदड शास्त्रीय आधारों पर ही निर्भर थे और इस दृष्टि से उनका स्वरूप कुछ-कुछ नव्यशास्त्रवादी समीक्षको से मिलता-जुलता है। परिचयात्मक समीक्षा और टीका-पद्धति वाली काव्य के भेदोपभेदों की निरूपक पद्धतिवाली स्थूल दृष्टि और रसो तथा अलकारो के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले युग मे शुक्ल जी का काम कम महत्वपूर्ण नहीं है। गुण-दोष-कथन से आगे बढकर उन्होंने आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक समीक्षा का अतिक्रमण किया और कवियो की विशेषताओ एव उनकी अन्तर्प्रवृत्तियो की छानबीन की। लेकिन शुक्ल जी की अपनी अपेक्षाए और आदर्श थे, जिन्होने शुद्ध काव्यालोचन के मार्ग मे कई बाधाए प्रस्तुत की। औदात्य की चिन्ता और लोकादर्शवाद सदैव उनके साहित्यिक की पृष्ठभूमि मे

डालता गया। उनमे विश्लेषण और ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से निराशा ही हाथ लगेगी। अन्तर्वृत्तियो की उनकी छानबीन भी किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित न होकर आचारवाद पर ही टिकी है और सच तो यह है कि उनका मनोविज्ञान भी आचारशास्त्र का ही आनुषगिक और पूरक है। वाजपेयी जी ने इससे भिन्न रास्ता अपनाया। ऐसा नही कि उन्होंने पूर्व परम्परा से विद्रोह किया हो। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई भी साहित्यकार उस विद्रोह और प्रतिक्रिया के युग मे भी परम्परा के प्रति विरोधी और विद्रोही दृष्टि लेकर नही आया। इसकी जो भी परिणतियाँ हुई हों, उनमे एक ऐतिहासिक चेतना का सयोग अनायास ही हो गया है। वाजपेयी जी का महत्त्व इसी मे है कि उन्होंने शुक्ल जी की स्थापनाओ और प्रकारान्तर से समस्त भारतीय परम्परा को नये युग के अनुकूल काव्यात्मक धरातल पर उठा दिया और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा मे भी उनका विचार कोरमकोर काव्यात्मक और कलात्मक है। इसमे पाश्चात्य प्रभावो ने चाहे जो योग दिया हो, वस्तुस्थिति इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दी-समीक्षा मे काव्य की स्वतत्र सत्ता का वह प्राथमिक और पहला आख्यान है।

युग की पूरी काव्य सृष्टि के अनुकूल वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति मे कुछ ऐसे तत्त्वो का सन्निवेश हुआ, जिनका महत्त्व या उपयोगिता उस विशेष काव्य-सृष्टि के सन्दर्भ मे एकातिक है। हेतु और प्रेरणा की दृष्टि से साहित्य का प्रयोजन जब आत्मानुभूति माना गया तब उसी के अनुकूल और युग की व्यापक काव्य-सृष्टि के मौलिक स्वरूप (आत्माभिव्यजना) के समानान्तर समीक्षा मे भी कलाकृति के ही साथ व्यक्तित्व का भी महत्त्व बढा। प्रसाद के काव्य को तो वाजपेयी जी ने उनके व्यक्तित्व का ही विकास माना है। प्रश्न उठता है कि यह व्यक्तित्व ही क्या काव्य है ? काव्य मे व्यक्तित्व तो केवल एक माध्यम, 'मीडियम' है और अन्तत व्यक्तित्व का प्रकाशन ही काव्य नहीं होता। लेकिन वाजपेयी जी पहले व्यक्तित्व के परिचायक और विवेचक हैं, बाद मे काव्य-सौन्दर्य के विश्लेषक और परीक्षक। उनके लिए प्रत्येक कला-कृति एक व्यक्तिगत उत्पादन है, जो पूर्णतया नवीन और स्वतन्त्र होती है और अपने ही नियमों से शासित होती है। यह रचनात्मक समीक्षा का ही एक स्वरूप है जब कि समीक्षक किसी कृति की उपस्थिति मे उसकी सवेदनाए अनुभव करता और सप्रद्ध प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करता है और अन्तत उन्हे उपर्युक्त साधनो से व्यक्त करता और व्यापक धरातल पर उनका परीक्षण करता है। जब कोई भावराशि या अन्तर्दृष्टि या बौद्धिक योजना उसे प्रभावित करती है तो उसे वह विश्लेषित कर एक व्यापक निकष पर उसकी सार्थकता और उपयोगिता प्रमाणित करता है। यह स्वच्छदतावादी कला के समानान्तर तो है ही, साथ ही स्वच्छदतावादी समीक्षा की सामान्य धारणा से भी कुछ आगे और अतिरिक्त है। लेकिन इसे हम आत्माभिव्यजना की कोटि का नही कह सकते,

क्योकि वह उसकी अतियो के शिकार से बची है और वाजपेयी जी की समीक्षा को हम प्रभाव और अभिव्यजना, रचना और निर्णय का एक नया सश्लेषण मान सकते हैं। उन्होने पहली बार हिन्दी मे शास्त्रीय आधारो की आक्रांति को झकझोर कर उनसे मुक्ति पाई थी। व्यावहारिक समीक्षा म उनका उद्देश्य काव्य की व्यापक सवेदनीयता का उद्घाटन करना है। कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अश की व्याख्या करना उनका प्राथमिक कर्तव्य है। इस दृष्टि से काव्य के गहनतर अभिप्राय 'डीपर इपोर्ट' या उसकी निहित मनोभावना की परीक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यो आत्यन्तिक दृष्टि से वाजपेयी जी भी रसवादी ही ठहरते है, लेकिन उन्होने रस को बौद्धिक और सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रहण न करके उसे सवेदनीयता के व्यापक धरातल पर उठाया और उस सवेदनीयता को अनुभूति के द्वारा ग्रहण करना चाहा है। इस दृष्टि से रसास्वाद और सौन्दर्यमूलक आह्लाद का उनमे अच्छा समन्वय है। यह भारतीय और पश्चिमी समीक्षा-दृष्टियो का समन्वय है। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओ मे वाजपेयी जी का आदर्श काव्य-सौन्दर्य का सर्वाङ्गीण अध्ययन और उद्घाटन है। कलाकार के मनोभावो और व्यक्तित्व के विकास पर उनकी नजर पहले गई है और उसकी अन्त-प्रेरणा और चिन्तन-धारा के अनुसधान तथा विश्लेषण पर बाद मे।

इस क्षेत्र मे उन्होने अनुभूति की तीव्रता, गहनता और व्यापकता को काव्य की कसौटी माना है, किसी नैतिक सिद्धान्त या सस्कार या आदर्श का नियन्त्रण परोक्ष। 'भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता ही उसके मुख्य माप-दण्ड होंगे। वहाँ तो 'कवि द्वारा नियोजित प्रतीको और प्रभावो का अध्ययन और अन्तत कवि की मूल सवेदना और मनोभावना का उद्घाटन' और 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी', जो उनकी व्यावहारिक समीक्षा का प्राथमिक और प्रतिनिधि ग्रन्थ है, मे कलाकार की अन्त वृत्तियो का अनुसधान एव कलाकृति से उसके समन्वय के प्रति उनकी दृष्टि प्रधानत रही है। वहा ये प्रभाव से विश्लेषण और विश्लेषण से सश्लेषण की ओर गए है। उनका प्रवेश हिन्दी के स्वच्छदतावादी कवियो और उनके काव्य के विवेचक के रूप मे हुआ था और इन विवेचनाओ मे उनकी समीक्षा का प्रारम्भिक और प्रौढ रूप (भी) मिलता है। इनमे भी उनकी दृष्टि प्रधानत प्रसाद पर केन्द्रित रही है और नई स्थापनाओ का समारोह तथा प्रमाणित करने वाली वकालत का अन्दाज उनमे सर्वत्र मिलता है। प्रत्येक समीक्षक का काव्य का एक अपना आदर्श अनायास बन जाता है। यह उसके सहज ज्ञान का परिणाम भी हो सकता है और इसके लिए न तो वह किसी पक्षपात का दोषी ठहराया जा सकता है और न ही समीक्षा की तटस्थ निस्सगता को इससे कोई क्षति होती है, बशर्ते कि यह आदर्श व्यक्तिगत अभिरुचियो और धारणाओ से शासित न होकर शुद्ध और व्यापक काव्य प्रतिमानो का सश्लिष्ट रूप हो। वाजपेयी जी के

काव्यगत आदर्श 'प्रसाद' कहे जा सकते हैं जो हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के एक स्थायी प्रतिमान भी हैं--और परिणामत समीक्षा मे भी उसी समरसता सौन्दर्यवादी सन्तुलन और सामजस्य तथा समन्वय को, लेकर वे चले। उनकी समीक्षा विशाल और बहुमुखी काव्यानुभूतियो का स्वाभाविक सश्लेषण है।

वाजपेयी जी के कवि-विषयक विवेचन का यही आधार और स्वरूप है, जिसका जिक्र हम अभी कर आए हैं और निराला-विषयक उनका विवेचन तो कई दृष्टियो से पहला, साहित्यिक और शुद्ध समीक्षात्मक प्रयास है। इसके पहले या तो निराला और उनके काव्य की विकृत आलोचनाएँ होती थी, या उनकी कविताओ की पैराफ्रेजिंग, (वह तो आज भी होती है) या फिर उन्ही के शब्दो मे "हिन्दी-भाषी जनता के साहित्यिक ज्योतिषियो ने कहानी वाले सात अन्धे भाइयो की भांति, भांति-भांति से हाथी की हास्य-विस्मय भरी रूप रेखाएँ बखान की, जिनसे निराला की अपेक्षा समीक्षको की निराली सामुद्रिक का ही परिचय मिला।" वाजपेयी जी का निराला-विषयक विवेचन तीन छोटे-छोटे निबन्धो और कुछ प्रासगिक चर्चाओ (जो सग्रह पुस्तकों मे यत्र-तत्र बिखरी है) तक सीमित है। इनमे "हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी" का पहला निबन्ध उनके काव्य-विकास का एक सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है, दूसरा 'गीतिका' की रिव्यू है और तीसरा निराला के उपन्यास और कहानियों पर लिखा गया है। निराला का कोई क्रम-बद्ध अध्ययन या विवेचन वाजपेयी जी ने प्रस्तुत नही किया है, तब प्रश्न उठता है कि किसी कवि पर लिखे गए एक-दो निबन्धो और रिव्यूज का क्या महत्व ? क्या इनसे किसी कवि या काव्य की कोई स्पष्ट धारणा भी बन सकती है ? हमारा उत्तर है कि काव्य और साहित्य मे महत्व परिमाण का नही होता, महत्व समीक्षात्मक बुद्धि और उन मूल्यो तथा प्रतिमानों का या उस मौलिकता या शक्तिमत्ता का होता है जो कोई व्यक्ति प्रस्तुत करता है। परिमाण की दृष्टि से तो विश्वविद्यालय की डिग्रियों के उत्सुक अधिकांश शोधकर्ताओ का महत्त्व अधिक होना चाहिए जिनमे दूसरी अपेक्षाएँ या तो न्यून होती हैं या होती ही नहीं। वाजपेयी जी के उन छोटे-छोटे निबन्धो का महत्त्व यही है कि आज भी उस युग के काव्य और कवियो का अधिकाश अध्ययन उन्ही के आदर्शों, रूपरेखाओ पर हो रहा है और आए दिन के शोध-ग्रंथ उन्ही की स्थापनाओ के विस्तृत रूप होते हैं। देखना यही है कि इन छोटे-छोटे निबन्धो मे भी निराला की अन्तर्वृत्तियो का जो अध्ययन है, उससे निराला का जो रूप उभरता है, वह उनके प्रकृत रूप से कहा तक साम्य रखता है या उनके काव्य की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन के सौन्दर्य का कैसा उद्‌घाटन वहाँ हुआ है। इस दृष्टि से इस सीमित आकार मे भी वाजपेयी जी ने निराला के काव्य-व्यक्तित्व की जो परख सामने रखी है वह अपने महत्व मे एकातिक है।

निराला का सम्पूर्ण बहुमुखी और विशाल काव्य-सृजन, उसके बहुविध रूप

जो आपस मे मिलते नही, विरोधी भी हैं, उनके निस्सग, व्यापक और जागरूक कवि की अन्तर्वृत्तियो का पता देते हैं। यह विशेषता एक दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार की हो सकती है और वाजपेयी जी निराला को हिन्दी का प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार मानते हैं। निराला की दार्शनिक वृत्ति और निस्सग व्यक्तित्व का ही कार्य था कि उन्होने हिन्दी के स्वच्छदतावादी काव्य को कोरी भावुकता और अतिरिक्त भावनामयता से बचाया और छायावादी भावोच्छ्वासो की कल्पनातिरेक और कोमल-कान्त-पदावली मे 'सग्रथित कला का सयम एव परिष्कार' सन्निविष्ट हुआ। इसका कारण वाजपेयी जी के अनुसार निराला मे भावना की अपेक्षा बुद्धितत्त्व की प्रमुखता है। राग और कल्पना की अपेक्षा यही तत्त्व निस्सगता लाता है, काव्य मे 'रेजिस्टेन्ट क्वालिटी आफ मीडियम' सयुक्त करता है, परिष्कृति के प्रति जागरूक होता है और अपने ही सृजन की सीमा-सकोच के प्रति सचेत होकर विकास के द्वार खोलता है। बुद्धि-तत्त्व की यह प्रमुखता दो रूपो मे उनके काव्य मे देखी गई है। एक तो वर्णित विषय के भीतर से अभिव्यक्त कवि का तटस्थ, अस्खलित और निर्लिप्त व्यक्तित्व और दूसरे अभिव्यक्ति की प्रणाली मे सौष्ठव, छन्दो की कसावट, पद-विन्यास की सुघरता और शब्द शक्ति तथा सगीत की परख, उनके बुद्धि विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व की देन है। उनके गीतो की पृष्ठभूमि म देखें तो उनमे "जीवन के किसी एक अश का अतिरेक नही है। उनमे व्यापक जीवन का प्रखर प्रवाह और सयम है। गति के साथ आनन्द और विवेक के साथ भी आनन्द मिला हुआ है।" कदाचित् इसीलिए वाजपेयी जी ने निराला को 'आरम्भ से ही एकरस' माना है और उनका विश्वास था कि 'सम्भवत. अत तक वे एकरस ही रहेगे।' आज उनकी इस मान्यता से हम सहमत नही भी हो सकते, क्योकि निराला ने अपने विरोधी और पृथक्-पृथक् काव्य-स्वभाव से इसके विरुद्ध ही प्रभाव दिये हैं। उनका काव्य एकरस नही, मुख्तलिफ 'रसो' की परस्पर-विरोधी जमीन पर विकसित हुआ है। भले ही वाजपेयी जी के शब्दो मे "एकाध नवयुग-प्रवर्तक की भाँति उन्हे समय-समय पर पट-परिवर्तन कर कई बार जीवन मे मरण देखने की नौबत नही आयी"; लेकिन उनकी विविधता और व्यापकता, रहस्य और यथार्थ, समर्पण और अह, क्लासिकल और समसामयिक आदि प्रवृत्तियाँ उन्हे 'एकरस' भी नही बनाती। परन्तु इन सबकी पृष्ठभूमि मे निराला की वही बुद्धि-तत्त्व की प्रमुखता सक्रिय है और लोग देखेंगे कि कवि-व्यक्तित्व को यह परख कितनी सही है। यह कवि की अनुभूति से समीक्षक की तादात्म्य-शक्ति और उसकी सवेदनीयता का प्रमाण है और निराला के काव्य तथा व्यक्तित्व को समझने की यही आधार-शिला है। काव्यात्मा का यह विश्लेषण वाजपेयी जी की अपनी विशेषता है, जो उस युग मे विरल थी।

निराला के जो मानसिक स्तर और उत्कर्ष उद्घाटित हुए हैं उनका ही व्यक्त रूप उनकी काव्यागत विशेषताओ मे देखा गया है। निराला का छायावाद

और रहस्यवाद उनकी दार्शनिक अभिरुचि का परिणाम है। उनका छायावादी स्वरूप 'विराट सत्ता और शाश्वत ज्योति' वाला रूप है, उनके वेदान्ती अद्वैतवादी, ऐसे व्यक्तित्व की देन है जिसका दृष्टिकोण ही दार्शनिक है और जो बन्धनरहित, बाधा-रहित मुक्त *आत्मा के अनुरूप छन्दों में अभिव्यक्त हुआ है। इसी का दूसरा पहलू* 'जड और जीव-जगत् में उसी शाश्वत ज्योति का प्रकाश देखना' है। यह दार्शनिक छायावाद का प्रायोगिक रूप है और पन्त या प्रसाद, शेली या कीट्स की प्रकृतिपरक छायावादी वृत्तियों से एकदम पृथक् है, क्योंकि इसकी रीढ भावना या कल्पना नहीं, 'बुद्धि' है। निराला को रहस्यवादी भी कहा गया है, यही नहीं उनके 'काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद' माना गया है, लेकिन उनका यह रहस्यवाद उनकी वृत्ति के अनुकूल बौद्धिक और दार्शनिक रहस्यवाद है जो हिन्दी और पश्चिमी सारे, स्वच्छदतावादी कवियों से भी पृथक् है। यहाँ भी उनका 'मेटाफिजिकल दृष्टिकोण' प्रमुख है। *वह प्रसाद की शैली का रहस्यवाद नहीं है जो सामान्य स्वच्छदतावादी* कवियों के साधारण रहस्यवाद का स्वरूप है। प्रसाद का रहस्यवाद "दृश्यमान मानव-जीवन को ही लक्ष्य मान कर उसकी अलौकिकता की झाँकी देता है और वहाँ मानवीय *प्रेम ही अपने उत्कर्ष में अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है।'* कवि की मानवीय अनुभूति के साथ न्याय करने के लिए ही वाजपेयी जी ने उस रहस्यवाद की आधारशिला मानव-जीवन-व्यापार पर रखी है, जबकि निराला का रहस्यवाद परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूतियों पर ही आधारित है। यों "शुद्ध परोक्ष के भी ज्योति-चित्र उन्होंने उपस्थित किए हैं और कला की दृष्टि से गीतिका के *गीतों में लौकिक की अवतारणा अलौकिक स्तर से हुई है।" यह निराला* के दार्शनिक व्यक्तित्व से समरस हैं और उनका लौकिक भी शुद्ध परोक्ष इसीलिए लगता है कि उनका वेदान्ती ऐसा मानता है और काव्य में उनका परिष्कार उसे यह उदात्त भूमि *अनायास ही प्रदान कर देता है। यह* उनके *'काव्य-निर्वाह'* पर भी निर्भर करता है। वाजपेयी जी के यहाँ इस 'निर्वाह' का विशिष्ट अर्थ-सन्दर्भ है। निर्वाह का तात्पर्य अनुभूति और अभिव्यक्ति के सारभूत अंश से होता है। जहाँ इन दोनों में सतुलन, सामजस्य और समन्वय हो वहाँ निर्वाह की सफलता माननी चाहिए। निराला में यह हर कहीं है। इसी निर्वाह को प्रमाणित करने के लिए वाजपेयी जी ने उनकी रचनाओं की *मौलिकता, शक्तिमत्ता तथा सृजन के कलात्मक सौष्ठव का* विकासात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने निराला के विकास के तीन चरण माने हैं। पहला चरण मुक्त छन्द का है जिसमें उनका दार्शनिक छायावाद अपना स्वरूप निर्मित करता है, दूसरा चरण छन्दोबद्ध सगीतात्मक रचनाओं का है जहाँ उसका स्वरूप उभर कर सामने आता है और यह उनकी बौद्धिक विशेषता के अनुकूल कलात्मक सग्रथन और परिष्कार को ध्वनित करता है। तीसरा चरण गीत रचना का है जहाँ बौद्धिक विशेषता कलात्मक परिष्कार ग्रहण करती है और सयमित एव तटस्थ व्यक्तित्व आलकारिक बधनों को स्वीकार करके चला है। इन तीन चरणों

के ही समानान्तर उनके काव्य की भी तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, पहली बौद्धिक और दार्शनिक, दूसरी विशुद्ध प्रगीतात्मक और तीसरी आलकारिकता-प्रधान उदात्त रचनाए। विकास के इन तीन चरणो और काव्य की इन तीन श्रेणियो के विभाजन से किसी को इन्कार नही होना चाहिए, क्योकि इनका आधार उन अन्तर्वृत्तियो की सक्रियता है जो वाजपेयी जी ने काव्यात्मा के विश्लेषण के दरम्यान निश्चित की हैं और कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन तो उसके समानान्तर ही हो सकता है, होना चाहिए।

और, इसी के अनुरूप अभिव्यक्ति की प्रणाली भी होती है। निराला की एक कविता-विशेष के विषय मे वाजपेयी जी का कथन है कि "वह व्यजना-विशिष्ट नही है और उसमे रस-व्यग्य नही, बल्कि वाच्य है।" या "निराला जी ने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओ को अभिधा-शैली मे और स्वच्छद छद मे लिखा है।" इस "अभिधा-विशिष्टता मे जो अधिक स्पष्टता है वह उस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है" और उसी ने उनके काव्य मे 'ओज के साथ सुकोमल सौहार्द' और विस्तृत आशय की अभिव्यक्ति के साथ 'सुन्दर परिसमाप्ति और प्रकाश' भी दिया है। जहाँ तक रचना की रीतियो, शैलियो और बाह्यागो के अध्ययन का प्रश्न है, वाजपेयी जी ने अपना विवेचन 'मुक्त-छन्द' पर केन्द्रित किया है और निराला को मूलत प्रगीत-कवि माना है। इस सदर्भ मे 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका और 'जन-भारती' के निराला अक मे 'निराला के काव्य-रूप' निबन्ध द्रष्टव्य है। निराला का 'मुक्त-छन्द' काव्य की छन्दोगत सारी परतन्त्रता का निराकरण था। उसने काव्य को मुक्ति तो दी ही, साथ ही नये 'युगोपयोगी परिधान' से भी सज्जित किया। उन्होने स्वय 'मुक्त छन्द मे लय की सुघरता' ला दी। मुक्त छन्द की इस आयोजना के कारण ही उनकी कविता मे 'सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण नही है।' इसलिए "स्वच्छदता का जो अबाध स्वरूप निराला की रचनाओ मे देखा जाता है, उसकी तुलना दूसरे कवि से नही हो सकती।" मुक्त छद की यह विवेचना किसी छान्दसिक धरातल पर विस्तार से नही हुई है, फिर भी मूल धारणा की परख इसमे प्रखरता से मिलेगी। इसी विवेचन मे निराला को मूलत प्रगीत-कवि माना गया है और निराला के पूरे काव्य-विकास को विभिन्न गीत-प्रकार और शैलियो के माध्यम से देखा गया है। उन्होने समस्त काव्य की छ प्रगीत-श्रेणियाँ निर्धारित की है—पहली गीत जिसमे शृगारिक, विनय और प्रार्थना के गीत, ऋतु-गीत, राष्ट्रीय गीत, प्रगतिशील और सामाजिक गीत और प्रयोगात्मक गीत आते हैं। दूसरी श्रेणी लघु या दीर्घ प्रगीतो की, तीसरी व्यग्य-प्रगीतो की, चौथी उर्दू शैली के प्रगीतो की, पाचवी आख्यानक प्रगीत की और अन्तिम श्रेणी गीति-नाट्य की मानी गई है। इस प्रगीत-सृष्टि मे 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' आदि रचनायें भी परिगणित कर ली गई है और उन्हे वीर-गीतो की भूमिका पर माना गया है।

वाजपेयी जी के निराला विषयक विवेचन का यह समग्र और सपूर्ण रूप है, जिसमे उनकी व्यावहारिक समीक्षा की चेष्टायें सक्रिय हैं। इसमे उनका ध्यान मुख्यत कवि की अन्तर्वृत्तियों, कलात्मक सौष्ठव और रचना की रीतियो एव शैलियो के अध्ययन तक ही केन्द्रित रहा है। निराला विषयक अग्रिम विवेचन आज भी वाजपेयी जी के समीक्षात्मक आदर्शों और चेष्टाओ का मुखापेक्षी है। समकालीनता के कारण ही नहीं, वरन् उस युग के काव्य की व्यापक सवेदनीयता के कारण, आज भी वे ही निराला के व्यक्तित्व और काव्य के अधिकारी विद्वान ठहरते हैं।

वाजपेयी जी का निराला-विषयक विवेचन
(परवर्ती काव्य)

—श्री रमेशचन्द्र मेहरा एम ए

●

कुछ लोगो का कथन है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने निराला के आरम्भिक काव्य पर जितनी तत्परता और कुशाग्र दृष्टि से विचार किया है, उतना उनके परवर्ती काव्य पर नही किया। इसी सिलसिले मे उनकी यह भी धारणा है कि वाजपेयी जी की समीक्षक की प्रखरता और विश्लेषण का समारभ क्रमश क्षीण होता गया है और वे समीक्षक की अपेक्षा अध्यापक के आसन पर बैठकर स्पष्ट और सरल समीक्षायें करने लगे हैं, जो विद्यार्थियों के काम की हो सकती हैं, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से कम महत्व की रह गई हैं। सरलता और स्पष्टता को समीक्षक का पदत्याग मानना एक विचित्र सूत्र है। एक समीक्षक की दृष्टि से प० वाजपेयी जी ने निराला के परवर्ती काव्य की उतनी ही विशद और अतरग व्याख्याए की हैं, जितनी उनके पूर्ववर्ती काव्य की। उनकी शैली अधिक सयत और अधिक सरल हो गई है, परन्तु उनका विवेक और उनकी समीक्षक दृष्टि पहले से अधिक जागृत है। यदि उत्तेजना और प्रखरता को समीक्षा का प्रतिमान माना जाय, तो बात और है, परतु इस प्रकार की स्थापना व्यक्तिगत अभिरुचि की ही परिचायक हो सकती है, गभीर और स्वस्थ विचार का परिणाम नही।

अभी हाल में प० वाजपेयी जी के कुछ निबन्ध सामयिक पत्रिकाओं मे कवि निराला पर प्रकाशित हुए हैं, जिनमे—

(१) निराला के काव्य रूप (जनभारती, निराला अक-१)
(२) कवि निराला को श्रद्धाजलि (रसवती, निराला अक, कृतित्व खड)
(३) निराला का काव्य (मध्यप्रदेश सदेश)
(४) निराला का काव्य, [आलोचना, सख्या २८)

उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त निराला जी के निधन के पश्चात् वाजपेयी जी ने कई स्थानों पर भाषण भी दिये थे, जिनमे राष्ट्रपति-भवन का भाषण आंशिक रूप से प्रकाशित भी हुआ है। उनका एक नव प्रकाशित निबन्ध 'प्रसाद और निराला' (आजकल मार्च १९६४) तुलनात्मक साहित्य-क्षेत्र के चिन्तन के पक्ष मे एक नया कदम है, जिसका महत्व असंदिग्ध है। सम्प्रति वे 'निराला की काव्य-भाषा', 'निराला की कल्पना-योजना' (कलापक्ष) और 'निराला के दार्शनिक अभिमत' को लेकर ३-४ निबन्ध और लिख रहे हैं। उनकी 'कवि निराला' शीर्षक एक पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशनार्थ जा रही है। इन सबके अतिरिक्त पं० वाजपेयी जी ने 'निराला का परवर्ती काव्य' शीर्षक मेरे निबन्ध का (जो अनुसधान प्रकाशन, कानपुर से पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है) आद्यन्त निर्देशन किया था। पुस्तक के प्राक्कथन मे इस निर्देशन का आभार प्रकट करते हुए मैंने लिखा है "मेरे गुरुदेव आचार्य वाजपेयी जी के निरीक्षण मे ही इसका वर्तमान रूप निर्मित हुआ है। उनके निर्देशन में इस प्रबन्ध का लिखा जाना, प्रबन्ध-लेखक के लिए सौभाग्य की बात रही है। निराला जी के साथ अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों के कारण इस प्रबन्ध की बहुत सी सामग्री उनके निजी वक्तव्यों के आधार पर प्रस्तुत की गई है। इसके लिये किसी अन्य साक्ष्य का निर्देश इसलिए नहीं लिया गया कि पंडित जी स्वय ही सबसे प्रधान साक्ष्य हैं। उनके निजी वक्तव्यों के बल पर अनेक तिथियो और घटनाओ का निर्धारण इस प्रबन्ध मे किया गया है। उक्त समस्त विचार सामग्री के लिये प्रबन्ध-विद्यार्थी उनका कृतज्ञ है।" इस समस्त विचार-सामग्री के होते हुए यह कहना कि निराला के परवर्ती काव्य के सम्बन्ध मे आचार्य वाजपेयी जी ने कुशाग्र दृष्टि से विचार नहीं किया, कहाँ तक समीचीन है ? निराला के परवर्ती काव्य के सम्बन्ध मे पण्डित जी के विचार और व्याख्याएं उनके पूर्ववर्ती काव्य की व्याख्याओं और विचारों से किसी भी अर्थ मे सामान्य या हीनतर नहीं हैं। सच तो यह है कि निराला के सम्पूर्ण काव्य पर जितनी समग्र और समरस विवेचना पंडित वाजपेयी जी की उपलब्ध होती है उतनी अन्य किसी समीक्षक की उपलब्ध नही है।

आज से ३५ वर्ष पूर्व आचार्य वाजपेयी जी ने अ.नी तरुण चेतना के प्रकाश मे लिखा था 'इन कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे परमाणुओं का सन्निवेश हुआ है जिनका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि से विशेष कठिन क्रिया है।' सचमुच निराला का कवि-व्यक्तित्व इतनी बहुमुखी सृष्टियों का आधार है, और उनके काव्य में इतनी अनेकरूपता है कि उनका समग्र समीक्षण उतना आसान नहीं रहा है। यद्यपि निराला की पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओ में पर्याप्त अन्तर आ गया है; परन्तु वह सारा अतर उनकी जीवन-दृष्टि या विचारधारा को बदलने में असमर्थ रहा है। 'निराला का परवर्ती काव्य' (अपना प्रबन्ध) लिखते समय पंडित जी से निराला के पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य का अतर देखने के लिए

निम्नलिखित निर्देश मिले थे। ये निर्देश पुस्तक मे प्राय ज्यो के त्यों स्वीकार किये गये हैं —

(१) शैली का अतर : निराला के पूर्ववर्ती काव्य की सबसे प्रमुख शैलीगत विशेषता, भाषा की गतिशीलता और प्रवाहमयता है। निराला की आरम्भिक भाषा-शैली इस बात का प्रमाण देती है कि उसमे स्वाभाविकता का सबसे बडा गुण है। परवर्ती काव्य मे निराला जी की भाषा मे गद्य के गुण अधिक मात्रा मे सयोजित हुए हैं। विशेष कर उनकी हास्य और व्यग्यप्रधान रचनाओं मे भाषा गद्य के अधिक समीप है। पूर्ववर्ती कविताओ मे निराला को भाषा-योजना के साथ जो एक इलास्टि-*सिटो या तरलता का गुण है, वह परवर्ती काव्य मे कम हो गया है। कुछ लम्बी* कविताओ मे निराला जी की बदलती हुई शैली का एक अन्य स्वरूप भी दिखाई देता है, वह है 'वर्णनात्मक कथानकों का प्रयोग'। इन कथानकों मे भाव-प्रवाह स्वभावत मन्द है और उसी के अनुरूप भाषा में भी एक प्रकार की मथरता आ गई है। परवर्ती काव्य मे जो गीत आये हैं, निराला की उस समय की सर्वश्रेष्ठ कृति कहे जायगे। इन गीतो मे उनके पूर्ववर्ती गीतों की अपेक्षा सरल भाषा और मार्मिक मुहावरो का प्रयोग, चमत्कार की सृष्टि, अनुप्रासों की योजना अधिक सघन है। ये ऐसी विशेषतायें हैं, जो निराला के परवर्ती गीतों को एक नया ही सौष्ठव प्रदान करती हैं। यह सच है कि इन गीतो मे कल्पना की वह विमोपमता नही है जो 'गीतिका' के गीतों मे है। परन्तु 'गीतिका' के गीत और शब्दयोजना मूलतः सस्कृत के सौन्दर्य पर आधारित है, *जबकि परवर्ती गीतों मे हिन्दी का अपना सौन्दर्य है।*

(२) विचारधारा का अन्तर परवर्ती काव्य में निराला की विचारधारा मे सहसा कोई बडा परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु मूल धारणा के बहुत कुछ समरूप रहते हुए भी निराला की व्यावहारिक चिन्तना मे परिवर्तन होते गये हैं। इनमे से कुछ परिवर्तन तो निराला के निजी अनुभवो की वृद्धि के साथ जुडे हुए हैं और कुछ अन्य परिवर्तन युग की परिस्थिति के कारण भी हुए हैं। निराला की आरम्भिक विचार-धारा मे आदर्शवाद का भी यथेष्ट पुट है। सन् १९३५-३६ के पश्चात् निराला की विचारधारा मे परिवर्तन होने लगते हैं। गद्य कृतियो मे 'अप्सरा' और 'निरुपमा' की तुलना मे 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' की सृष्टिया बढती हुई मनो-भावना का स्पष्ट परिचय देती हैं। अब निराला जी ससार की कुरूपता और उसके छद्मवेषों से परिचित हो गये थे। तरुणाई के उन्मेष और उत्साह मे जिन गम्भीर और यथार्थ पक्षों की उपेक्षा की जा सकती है, आयु और अनुभव के बढने पर वैसा नहीं किया जा सकता। इसी बढते हुए अनुभव ने निराला को आदर्श से यथार्थ की ओर प्रेरित किया होगा। किन्तु निराला की यह यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति भौतिकवाद की भूमि पर खडी नहीं है। *उसकी विचारधारा आदि से अन्त तक मानववादी और*

सांस्कृतिक बनी रही है। निराला के परवर्ती गीतों का वैचारिक आधार वही है जो पहले के गीतों में रहा है। अन्तर केवल इतना है कि जब उनके आरम्भिक गीतों में सौन्दर्योन्मेष की प्रधानता है, तो इन परवर्ती गीतों में विनय और प्रार्थना के गम्भीर भाव हैं। ऋतु गीतों की परम्परा आरंभ से अन्त तक उनके काव्य में व्याप्त है।

(३) जीवन-संबंधी दृष्टिकोण का अन्तर : विचारधारा के साथ जीवन-दृष्टि का घनिष्ठ संबंध है। जिस प्रकार निराला की विचारधारा में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं है, उसी प्रकार उनकी जीवन-दृष्टि में भी नहीं। उनके निजी जीवन में संघर्षों की प्रचुरता रही है, और वे क्रमशः सामाजिक जीवन के वैषम्य से आक्रांत होते गए हैं और इसी कारण उनके काव्य में यथार्थोन्मुख जीवन-प्रतिक्रियाएँ भी उपलब्ध होती हैं। पर जहाँ तक उनकी मूल जीवन दृष्टि का संबंध है, वह सदैव मानवीय और आध्यात्मिक स्तर पर ही बनी रही। उनके परवर्ती काव्य में यह मानवतावादी लक्ष्य अधिक परिष्कृत हुआ है। परन्तु इस कारण उनके जीवन दर्शन में कोई आपातक परिवर्तन नहीं होता।

(४) विषय-वस्तु और रस आदि का अन्तर : निराला-काव्य के आरंभिक काल की विषयवस्तु प्रमुखतः स्वच्छंदतावादी है, और उसका प्रधान रस शृङ्गार है। उनके परवर्ती काव्य में अनेक नये विषयों का चुनाव किया गया है। 'तोड़ती पत्थर' जैसी कविता सामाजिक जीवन के वैषम्य का चित्र है। 'खंडहर के प्रति', 'मित्र के प्रति' कविताओं में व्यंग्य की प्रवृत्ति दिखाई देती है जो प्रारम्भिक रचनाओं में नहीं है। 'पंचवटी-प्रसंग'-सा पौराणिक इतिवृत्त पुनः 'राम की शक्तिपूजा' में लिया गया है; किन्तु यहाँ 'पंचवटी-प्रसंग'-की प्रगल्भतम भावधारा नहीं है; बल्कि यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण और औदात्य की प्रवृत्ति है।

यह निराला के काव्य का तृतीय चरण कहा जायगा। इस अवधि में उनका कवि-व्यक्तित्व एक प्रकार से विभाजित हो गया था। एक ओर वे औदात्य की भूमि पर जाकर वृहत्तर काव्यसृष्टि करते हैं, तो दूसरी ओर उनमें हास्य और व्यंग-विडंबना की प्रवृत्ति का आरम्भ होता है। एक ओर गांभीर्य और दूसरी ओर हल्कापन ये दोनों प्रवृत्तियाँ सामान्यतः परस्पर विरोधिनी हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में एक नवीन गांभीर्य की सृष्टि हुई है, परन्तु इनमें निराला जी के पूर्ववर्ती काव्य की सी प्रयास-रहित पद-योजना नहीं है। इस संबंध में हाल में 'आलोचना' में प्रकाशित अपने 'निराला का काव्य' शीर्षक लेख में आचार्य वाजपेयी जी ने लिखा है—"ये नये दीर्घ प्रगीत आयास-साध्य कविता के उदाहरण हैं जबकि पूर्ववर्ती गीत और प्रगीत अव्याहृत प्रवाह-गति के सूचक हैं। इन नई रचनाओं में एक प्रयत्नसाध्य आलंकारिक भाषा की कृत्रिम सामासिकता के माध्यम से औदात्य की सृष्टि की गई है। यह सच्चा औदात्य है या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है। दूसरी ओर यह भी देखना

चाहिए कि इसी युग मे निराला जी ने जो व्यगात्मक काव्य लिखे और जिनके द्वारा उन्होंने अपने युग के प्रति अनास्था व्यक्त की, वह भी उनके व्यक्तित्व का रचनात्मक सगठन है अथवा कुछ और है ? यह भी टूटा हुआ नजर आता है। इस प्रकार व्यग और औदात्य दोनो ही दृष्टियो से विघटन का स्वरूप सामने आने लगता है।''[1]

यहा यह बता देना आवश्यक है कि 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' जैसी आयाससाध्य रचनाओ को कुछ समीक्षको ने निराला की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा है। आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार ''महाकाव्योचित औदात्य निराला के अतरग की उपज नही। एक तरह से वह अपेक्षाकृत अधिक पाडित्य और परिश्रम का परिणाम है। यह कहा जा सकता है कि निराला के प्रौढ व्यक्तित्व के अनुरूप ये कवितायें हैं। पाडित्यपूर्ण कवितायें अपने मे महान होती है, और उस दृष्टि से, ये कवितायें भी महान हैं, परन्तु पाडित्य के बल पर विश्व की सर्वोत्तम कविता का निर्माण नही हुआ। पाडित्य एक साघन के रूप मे प्रयुक्त होने पर अपना आलोक कविता मे बिखेरता है, परन्तु साध्य रूप मे हुआ तो कविता की स्वाभाविकता, मार्मिकता विरल होने लगती है। इस प्रकार उक्त दोनो पाडित्यपूर्ण निर्मितियाँ, भावसवेदन और मार्मिकता की दृष्टि से 'बादल-राग' और यमुना के प्रति' जैसी रचनाओ की तुलना मे कमजोर पडती हैं।''[2] वे आगे कहते हैं ''इस काल के तीन व्यग्यात्मक प्रयोगो मे निराला जी सामाजिक जीवन की बहुत सी विकृतियो पर आक्षेप करते है, उनमे भी उनका निजी असन्तोष झाकता रहता है। व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से निराला का यह चरण विभाजित व्यक्तित्व का है। इस तृतीय चरण का काव्य प्रथम दो चरणो की भावभूमि तक नही पहुँच पाया। उसमे क्षतिपूर्ति की गई है, नये रस का आविष्कार किया गया है। महाकाव्योचित औदात्य भी एक नया आविष्कार है।''[3] इस प्रकार अनेकानेक मौलिक विचार आचार्य वाजपेयी जी द्वारा व्यक्त किये गए है, जो एक तटस्थ समीक्षक की लेखनी से ही सम्भव हो सकते हैं। यहाँ हम निराला के काव्य-रूपो पर आचार्य वाजपेयी जी द्वारा व्यक्त किये गए विचारो पर एक दृष्टि डालना चाहेगे (हमारा आशय परवर्ती काव्यरूपो से है)।

''निराला का युग प्रमुखत प्रगीत युग रहा है और इस युग का काव्योत्कर्ष वस्तुत प्रगीत काव्य का उत्कर्ष ही कहा जा सकेगा। निराला वस्तुमुखी और चित्रणात्मक विशेषताओ के प्रगीत कवि है। उनके प्रगीतो मे वैयक्तिक प्रतिक्रियायें अत्यत विरलता से प्राप्त होती हैं, परन्तु जहाँ कही वे मिलती हैं, वहाँ वे श्रृङ्गारमूलक न

---

१ आचार्य वाजपेयी . निराला का काव्य (२८, 'आलोचना' में प्रकाशित)
२ वही
३ वही

होकर करुण-रस की प्रतिक्रियाओं से समन्वित होती है और गम्भीरतम भाव-प्रक्रिया उत्पन्न करती हैं।

> दुख ही जीवन की कथा रही
> क्या कहूँ आज जो नहीं कही

ऐसी पंक्तियों का लेखक यदि प्रगीत-भूमिका पर नहीं माना जायगा तो दूसरे कौन कवि होंगे जिन्हें यह भूमिका दी जा सकेगी ?"[1] वास्तव में निराला जी प्रगीत-कवि ही कहे जायेंगे। एक प्रगीत-कवि द्वारा महाकाव्योचित औदात्य की सृष्टि निराला जैसे महान कवि से ही सम्भव थी। कई समीक्षक उन्हें 'जागो फिर एकबार' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' का वीर गीतकार ही मानते है। परन्तु उन्हें यह देखना चाहिए कि इन वर्णनात्मक वीरगीतों की अपेक्षा निराला की रुचि 'बादल राग' जैसी कविताओं की सृष्टि की ओर कम नहीं रही है। चित्रात्मक कल्पनाओं से वेष्टित 'बादल राग' की रचनायें विशुद्ध प्रगीत का उत्तम उदाहरण है। निराला-काव्य के संबंध में यहाँ आचार्य वाजपेयी जी का कथन उल्लेखनीय है कि 'हिन्दी के आधुनिक कवियों के काव्य में इतना रस वैविध्य नहीं है, जितना निराला के काव्य में है। उनके काव्य-रस को इस रस भूमि पर लाकर देखने से ज्ञात होगा कि निराला की कविता में किसी एक रस का आतिशय्य नहीं है। रस के स्तर पर वे वैविध्य के साथ संपूर्ण संतुलन का भी परिचय देते हैं, जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया या परिणाम है।"[2]

आचार्य वाजपेयी जी ने 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' को आख्यानक काव्य की संज्ञा देते हुये कहा है कि ये दोनों ही आख्यानक रचनायें हैं, जो वीरगीतों की भूमिका पर लिखी गई हैं। यद्यपि इनमें आख्यानक की सस्थिति है, परन्तु वीरगीत या 'बैलेड' काव्य का प्रवाह और समग्रता इनमे पाई जाती है।"[3]

व्यंग्य प्रगीत इनके अंतर्गत 'कुकुरमुत्ता', 'बेला' तथा 'नये पत्ते' की कुछ कवितायें आती हैं। 'कुकुरमुत्ता' उनकी व्यंग्य रचनाओं के शीर्ष पर विद्यमान है और यह उनकी प्रयोगात्मक रचनाओं में कदाचित् सबसे सफल कृति भी कही जायगी। कुकुरमुत्ता का आशय समझने में भी समीक्षकों द्वारा भ्रांतियाँ हुई हैं। इसके प्रगतिशील आदर्श को देखकर समीक्षक इसे प्रगतिवादी कविता मान लेते हैं। आचार्य वाजपेयी जी ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं—"सामान्यतः गुलाब सामन्तवादी

---

१ आचार्य वाजपेयी : निराला का काव्य (२८, आलोचना में प्रकाशित)

२ वही

३ वही

सभ्यता का, और 'कुकुरमुत्ता' सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। प्रगतिशील आदर्श इसमे यह है कि सामन्तवादी प्रतीक गुलाब के उपहास के साथ कुकुरमुत्ता की भी प्रशंसा की गई है।" केवल इस आधार पर ही इसे प्रगतिवादी कहना कहाँ तक उचित है? हमे देखना होगा कि इसमें गुलाब का ही परिहार नहीं है, स्वय कुकुरमुत्ता का भी उपहास है। गुलाब और कुकुरमुत्ता का परिहास करते हुए निराला जी यह व्यंजित करते हैं कि न तो प्राचीन समाज-व्यवस्था का प्रतीक गुलाब हमारा आदर्श है और न कुकुरमुत्ता ही आधुनिक संस्कृति का प्रतीक बन सकता है। आशय है गुलाब का स्थान गुलाब ही ले सकता है, कुकुरमुत्ता नही। पुरानी संस्कृति का स्थान नई संस्कृति ही ग्रहण कर सकती है, वह नही जो कुकुरमुत्ता की तरह 'उगाए नही उगता' अर्थात् जिसका कोई पूर्वा पर नही है। "शैली की दृष्टि से 'कुकुरमुत्ता' मे टी० यस० ईलियट की 'वेस्टलैंड' की भांति सदर्भ प्राचुर्य है। इसकी भाषा हिन्दी और उर्दू के मेलजोल से बनी है। बोलचाल की सजीवता के साथ नये मुहाविरे उसमे बडी सख्या मे व्यवहृत हुये हैं। छायावादी काव्य मे प्राय लोक प्रचलित भाषा और मुहावरो का प्रयोग नही हुआ, जिससे एक गाभीर्य तो उसमे आया है, पर तरलता नही है। यह विशेषता 'कुकुरमुत्ता' मे मिलती है।"[1]

'बेला' मे निराला जी ने उर्दू शैली की गजलो का प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से इसमें उर्दू, हिन्दी और सस्कृत की खिचड़ी मिलती है जो रचना के साहित्यिक उत्कर्ष मे सबसे बडी बाधा है। इस दृष्टि से उनकी दूसरी प्रयोगात्मक कृति 'नये पत्ते' अधिक सफल कृति कही जायगी। यहा निराला के यथार्थोन्मुख प्रयोग अधिक स्पष्टता से व्यक्त हुये हैं। यहाँ आकर निराला का हास्य और व्यग्य समाज निरपेक्ष यहाँ तक कि वैयक्तिक भी हो गया है। 'खजोहरा' इसका अच्छा उदाहरण है। 'स्फटिक-शिला', 'चित्रकूट-प्रसग' आदि मे निराला जी ने यथार्थवादी भूमिका को अपनाया है।

इसके बाद का चरण निराला के गीतो का चरण है। १९५० के बाद वे बराबर गीत लिखते रहे जो 'अर्चना', आराधना' और 'गीतगुंज' नामक सग्रहो मे प्रकाशित हुए हैं। यही निराला काव्य का अन्तिम चरण कहा जायगा। आचार्य वाजपेयी जी ने इस उनके जीवन की एक अपेक्षाकृत दीर्घकाल व्यापी सध्या कहा है। जीवन को इस सध्या मे वे काव्य और साहित्य प्रेमियो के मण्डल का अतिक्रमण करके निखिल जन के हृदय-सम्राट बने।[2] 'निराला के काव्यरूप' शीर्षक एक अन्य निबन्ध मे उन्होंने इन गीतों को ६ भागो मे बाँटा है। वे ६ प्रकार इस प्रकार है।

---

१ आचार्य वाजपेयी . निराला का काव्य (२८ आलोचना मे प्रकाशित)
२ वही

१–शृंगारिक गीत
२–विनय और प्रार्थना के गीत
३–ऋतु गीत
४–राष्ट्रीय गीत
५–प्रगतिशील या सामाजिक गीत
६–प्रयोगात्मक गीत[1]

इस सम्बन्ध मे उनका कहना है "इन गीतों मे यद्यपि सामाजिक जीवन की विशृंखलता, अव्यवस्था और वैषम्य के संकेत भी मिलते हैं; परन्तु निराला जी की केन्द्रीय भावना किसी परम शक्ति का आश्रय चाहने की थी और उसी के प्रति समर्पित होकर उन्होंने अपने उद्गार व्यक्त किये है । निराला के विनय-गीतो के कई भाग किए जा सकते हैं। कुछ तो उनकी अपनी रुग्णता और वेदना से सम्बन्धित गीत हैं, कुछ सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की विकृतियों का उल्लेख करते हैं और कुछ विशुद्ध धार्मिक भावना से सम्बन्धित हैं, जिन्हें भक्तिकालीन कवियों के पदों की अनुकृति कहा जा सकता है। ऋतुगीतो मे निराला के आरम्भिक ऋतुगीतो का सा शृंगारिक भाव नही है, बल्कि शांत रस की भूमिका अपना ली गई है । प्रकृति की रमणीयता से घुलमिल कर इस अवधि मे रचित शृंगारिक गीतों का शृंगार अपने वासनात्मक संस्कार त्याग चुका है। निराला जी ने यद्यपि उद्दाम शृंगार की रचनायें कभी नही की, तथापि इन परवर्ती शृंगारिक गीतो मे आकर तो उन्होने न केवल शृंगार के बहिर्मुख पक्ष को, बल्कि उस सारी आलंकारिकता को, छोड दिया जो उनकी आरम्भिक कविताओं मे प्रमुख हो रही थी। निराला के नये शृंगारिक गीत शांत रस के अत्यधिक समीप हैं।—इन गीतो में निराला जी की भाषा भी आरंभिक गीतों की भाषा से भिन्न हो गई है। वे सरल तथा मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करने लगे थे । संस्कृतगर्भित सामासिक भाषा का जो सौन्दर्य उनके आरम्भिक गीतों मे है, उसके स्थान पर एक नये सौन्दर्य की सृष्टि निराला जी ने इन गीतो मे की है । इससे प्रकट होता है कि भाषा के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों मे निराला जी कितने कुशल और सिद्धहस्त थे ।"[2]

'कवि निराला की श्रद्धांजलि' शीर्षक अपने एक अन्य लेख मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने कहा है "निराला के काव्य में संतुलन है, उनकी अंतिम कविताओं मे करुणा है, आक्रोश है; पर जीवन से विच्छिन्नता नही । उनकी आरंभिक रचनाओं में एक आशावाद, उल्लास, निर्माणात्मक प्रतिभा, आलंकारिकता और

---

१ *आचार्य वाजपेयी : निराला के काव्यरूप (जनभारती, निराला-अंक १)*
२ आचार्य वाजपेयी : निराला का काव्य (आलोचना, संख्या २८)

सौष्ठव मिलते हैं। इस युग की जितनी काव्य शैलियाँ हैं, उनका प्रवर्तन और सस्कार निराला ने किया "[1]

तुलनात्मक निष्कर्ष

यहाँ हम निराला के पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य के सम्बन्ध में पण्डित जी द्वारा निर्देशित कुछ तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहेंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनकी पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं मे पर्याप्त अन्तर आ गया है। परन्तु वह सारा अन्तर उनकी जीवनदृष्टि या विचारधारा को बदलने में अक्षम रहा है। वयस-प्रौढता के साथ उनकी भावना धारा अधिक सामाजिक हो गई है। बृहत्तर काव्य लिखने के महत्वाकांक्षी होने के कारण आख्यानों का आधार भी लिया। यहाँ उनका पाडित्यरूप सामने आया। लोकल्यों और लोकगीतों की भी अनुवृत्ति उन्होंने की। जब निराला के आत्मविश्वास पर चोटें पर चोटें लगी, तब उनके काव्य में एक कटुता का, जीवन मे व्यग्यात्मक दृष्टि का भी प्रवेश हुआ। भाषा सरल और मुहावरेदार हो गई। किन्तु शैलीगत परिवर्तन यथार्थवाद नहीं है, क्योकि यथार्थवाद एक शैली ही नहीं, एक जीवनदृष्टि भी है। निराला की जीवनदृष्टि बुद्धिवाद, विज्ञानवाद और भौतिकवाद को चुनौती देती रही है। निराला के पिछले गीत इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वह परिस्थितियों के आक्रमण से पूर्णत परिवलात होकर एक आराध्य की शरण मे आ गये हैं। यह उनकी आध्यात्मिक भावना का ही प्रमाण और परिणाम है। इन सबके रहते हुए निराला को स्वच्छन्दतावाद की भूमि से हटाकर यथार्थवाद का अनुयायी बताना अतिरंजना के अतिरिक्त कुछ नहीं। निराला आरभ से मानव-सस्कृति और मानव स्वतन्त्रता के उन्नायक कवि रहे हैं। उनकी अन्तिम समय की काव्य-रचना में भी इन्हीं आशयो की अभिव्यजना हुई है। वे अन्तिम समय मे भारतीय सामाजिक जीवन की विकृतियों से क्षुब्ध थे। यही कारण है कि उनकी परवर्ती रचनाओं में उल्हास और सौन्दर्य की अपेक्षा करुणा और क्षोभ के स्वर प्रधान हैं।

जो लोग निराला को वाद के सीमित घेरे में बाँधना चाहते हैं उनके सबध मे भी आचार्य वाजपेयी जी के विचार उल्लेखनीय हैं। आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार "निराला ने किसी वाद विशेष का आग्रह नहीं किया। उनका एक ही आग्रह दर्शन या सस्कृत सबधी रहा है। यदि दर्शन की सीमा को ही वाद का आधार दिया जाय तो हम उन्हे भारतीय दर्शन का कवि कह सकते हैं। उनकी दार्शनिक प्रौढता ही उनको विभिन्न वादों में ले गई है, पर किसी एक वाद का अनुवर्ती नहीं बनाया।

१ आचार्य वाजपेयी - 'कवि निराला को श्रद्धाजलि'
—(रसवन्ती निराला-अक, कृतित्व खण्ड)

अनेक वाद और शैलियाँ उनके काव्य मे अन्तर्भूत हैं; पर वे उन सबके स्रष्टा होकर भी उन सबके परे हैं।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डित वाजपेयी जी ने निराला-काव्य पर न केवल सपूर्ण विवेचना की है, वरन् उनको सम्पूर्ण आधुनिक परिवेश मे रखकर देखा है, और उन्हें 'शताब्दी के कवि' की सज्ञा दी है। 'शताब्दी के कवि' से उनका आशय है, पूरे सौ वर्ष के काव्य पर जितना विशिष्ट प्रभाव निराला डाल चुके हैं और डालेंगे, उतना विशिष्ट प्रभाव दूसरा कोई कवि कदाचित ही डाल सकेगा। निराला की कविता मे मुक्त छद, गेय प्रगीत, प्रगतिशील और प्रयोग-प्रधान रचनायें, महाकाव्योचित उत्कर्ष, कोमल कल्पना और प्रखर वेग के जो बहुमुखी आधार मिलते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। रसो की दृष्टि से निराला शृङ्गार, वीर, हास्य, शान्त और करुण रस के विस्तार मे पहुँचे हैं, जो विस्तार किसी दूसरे कवि का नही है। एक ओर मुक्त छद और दूसरी ओर व्यग्यात्मक कविता निराला को पूरी शताब्दी तक कवियों का आकर्षण केन्द्र बनाये रखेगी।"[२]

'प्रसाद और निराला'[३] शीर्षक अपने एक अन्य लेख मे आचार्य वाजपेयी जी ने इस युग के एक अन्य प्रधान कवि 'प्रसाद' से निराला की तुलना की है, और दोनो का अपना-अपना महत्व बताया है। उन्होने कहा है ' प्रसाद के काव्य मे निराला की सी विविधता नहीं है। वे समरस कवि थे। परन्तु उन्होंने अपनी अन्तर्भेदनी प्रतिभा के द्वारा भारतीय सस्कृति के पटल पर प्राचीन और नवीन का जो समन्वय किया है, वह अद्वितीय है। वे आगे कहते हैं—जो कवि जितना ही वस्तुमुखी होगा उसमे अनुभवो की व्यापकता उतनी ही अधिक होगी। कवि अपने वैयक्तिक जीवन के सकल्पो और विकल्पो को छोडकर वास्तविक और बहिर्मुखी जीवन से अपनी काव्य-सामग्री का सचय करेगा। दूसरी ओर जो कवि अधिक अन्तर्मुखी होगे, और अपने जीवन के अन्तरग द्वन्दो को काव्य में प्रतिबिम्बित करना चाहेगे, उनके काव्य मे व्यापकता के स्थान पर गहराई का तत्व अधिक होगा।

तुलना करते हुए पण्डित जी आगे कहते हैं—काव्य में जीवनानुभव की व्यापकता कवि की वस्तुमुखी दृष्टि पर आश्रित रहती है, जबकि गहरे सवेदनो की सृष्टि कवि के अन्तरग जीवनद्वन्द से सबधित होती है। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद और निराला काव्य के दो विभिन्न निर्माणस्तर दिखाई देते हैं। प्रसाद का काव्य अन्तर्द्वन्द

---

१ आचार्य वाजपेयी . कवि निराला को श्रद्धांजलि (रसवती : निराला-अंक, कृतित्व खड)

२ आचार्य वाजपेयी जी द्वारा सागर विश्वविद्यालय मे निराला-जयन्ती के अवसर पर दिये गये भाषण से।

३ आचार्य वाजपेयी : प्रसाद और निराला (आजकल—मार्च १९६४)

से सबधित है और इस अन्तर्द्वन्द की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य मे प्रतिफलित हो सकती है। निराला के काव्य मे वस्तुमुखी और बहिरग तत्व की प्रमुखता है। उनके काव्य मे अन्तर्द्वन्द्वो से उत्पन्न भावाकुलता और भावोत्कर्ष नही है, उसके बदले एक महान तटस्था और औदात्य का उत्कर्ष उनके काव्य की विशेषता है।

निराला के सम्बन्ध मे कहते हुए वे कहते है, "जब हम निराला के भाव-जगत मे प्रवेश करते है, तो हमे प्रसन्न स्वस्थ और उदात्त भावलोक के दर्शन होते हैं, जिसमे एक सामाजिक क्रान्ति का स्वर भी मिला हुआ है। निराला-काव्य मे यह क्रान्ति-भावना उन्हे एक प्रगतिशील कवि का महत्व देती है। सामाजिक भूमिका पर नारी और पुरुष की समानता का पूरा प्रत्यय उनके काव्य मे पाया जाता है। बाह्य वैषम्यों के प्रति उनकी दृष्टि विद्रोहात्मक है। अपने इस प्रगतिशील स्वर म निराला की काव्य-चेतना समसामयिक सभी कवियों से प्रखर है। पराण्ड अन्यत्र निराला सौम्य और सयत शृगार के कवि हैं। उनकी शृगारिक भावना मे किसी प्रकार की वैयक्तिक कुण्ठा-या खिचाव नही है। निराला के शृगारिक चित्रो मे तटस्थता का गुण सर्वत्र पाया जाता है।

अन्तत:, हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि पडित वाजपेयी जी निराला के काव्य मे बदलते हुए भावगाम्भीर्य को अवश्य देखते हैं, परन्तु वे किसी प्रकार की असगति या अन्तर्विरोध निराला के काव्य मे नहीं पाते। निराला की शैली बदली, उनक आरम्भिक उल्लास व्यग्य और विडम्बना मे परिणत हुआ। उनकी स्वच्छदतावादी कल्पनायें यथार्थ और कुरूप मे रूपातरित हुईं। परन्तु वे न तो अपने वेदाती दृष्टिकोण से स्खलित हुए और न ही उन्होने भौतिकवादी या पदार्थवादी दृष्टि अपनाई। युग के खिचावो में उनका स्वास्थ्य बिगडा और वे मानसिक विक्षेप से आक्रात हुए, परतु यह भी एक प्रकार की कीमत थी जो उन्होंने अपने आदर्शों की रक्षा के लिये चलाई। वे झुक गए, किन्तु टूटे नही। जो लोग उन्हे किसी भी स्तर पर टूटा हुआ मानते हैं या उनके काव्य मे असगतियाँ देखने का प्रयत्न करते हैं, वे वाजपेयी जी की दृष्टि मे, निराला जी के प्रति अन्याय और सत्य के प्रति अपलाप करते हैं।

वाजपेयी जी और नई कविता

—डा० बच्चनसिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

यदि रचनात्मक साहित्यकार युग-स्रष्टा होता है तो आलोचक युग-द्रष्टा। रचयिता युग को उसकी समग्रता मे अनुभूत कर उसे वाणी देता है और आलोचक उसे समझता है, परखता है, दिशा निर्देश देता है। युग-चेतना को सम्यक् आत्मसात् कर आलोचक उसको साहित्यिक गतिविधि के प्रति पूर्णत सचेत रहता है। इस चेतना के फलस्वरूप वह अधिकार पूर्ण ढग से नए से नए साहित्य पर महत्वपूर्ण रायें देता है, नई प्रतिभाओ को पहचान कर उन्हे अपेक्षित मोड देता है। वह सच्चे अर्थ मे द्रष्टा और नियामक होता है। छायावादी काव्य के नवोन्मेष, मर्म-स्पर्शी छवियो और दार्शनिक सामाजिक चेतना को सर्वप्रथम समझने-समझाने का श्रेय वाजपेयी जी को ही है। प्रेमचन्दोत्तर काव्य, कथा साहित्य और नाट्य-वाड्मय के अनेक नव्यतर आयामो का उद्घाटन भी उन्होंने किया है। प्रयोगवादी काव्य की भी गहरी छान-बीन कर उसकी खामियो की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट करने का सर्वाधिक श्रेय भी उन्हीं को है।

नई कविता के सबध मे उनका पहला लेख 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था और दूसरा 'नई कविता' शीर्षक से 'आलोचना' १९५६ मे सम्पादकीय के रूप मे छपा था। 'प्रयोगवादी रचनाएँ' लेख को देख कर 'बीसवीं शताब्दी' के लेखक का अतिशय मनस्वी और प्रखर व्यक्तित्व पुन साकार हो उठता है। इसके तर्क का पैनापन, व्यग्य की तलखी और अर्थगर्भ विश्लेषण अपूर्व हैं। मुझे लगा '५६ मे प्रकाशित 'नई कविता' लेख मे वाजपेयी जी ने सतुलन का नया प्रयास किया होगा। वाजपेयी जी से इस प्रकार के प्रयास की आशा दो कारणो से की जा सकती थी—एक तो इसलिए कि 'साकेत' और 'प्रेमचन्द' के सबध मे उन्होंने वैसा किया है, दूसरे इसलिए कि उनकी दृष्टि मे इस प्रकार का लचीलापन है कि नवीन कृतियो के प्रकाश मे वे उसमे अपेक्षित परिवर्तन कर लेते हैं। इससे यह नही समझना चाहिए

कि उनमे कही अन्तर्विरोध है। वे तो स्वय इसके विश्वासी हैं कि नवीन सार्थक कृतियाँ नए मानो की अपेक्षा रखती हैं। सतुलन की दृष्टि से उन्होंने जिन कृतिकारो अथवा रचनाओ पर पुर्नविचार किया है वे उनके उन पक्षो को उकेरती हैं जो उनके पहले के लेखो मे अविचारित रह गए थे। 'साकेत' अथवा 'प्रेमचन्द' के सम्बन्ध मे उनके जो विचार 'बीसवी शताब्दी' मे सगृहीत हैं वे अपने स्थान पर आज भी उतने ही सही हैं जितने पहले थे। लेकिन 'नई कविता' पर लिखे गए दूसरे निबन्धो मे सतुलन का प्रयास नही मिलेगा, यह पहले का ही विस्तार (एक्सटेंशन) है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यो? पहला लेख मूलत 'तार-सप्तक' प्रथम भाग को लक्ष्य मे रखकर लिखा गया था। दूसरे लेख के प्रकाशित होने तक 'तार-सप्तक' का दूसरा भाग भी प्रकाशित हो चुका था। इसके अतिरिक्त कई नवीन काव्य सग्रह भी बाजार मे आ गए थे। इस अरसे मे क्या नई कविता ने कुछ उपलब्ध नही किया? यदि किया तो क्या वाजपेयी जी ने उसे नजरअन्दाज कर दिया है? *सभवत लेखक ने वाजपेयी जी की 'आँगन के पार द्वार' की समीक्षा नही देखी* है। अज्ञेय जी के इस नवीन काव्य-ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है—"श्री अज्ञेय की कविताओ मे पिछले कुछ दिनो से एक नवीन आध्यात्मिक अनुभूति का सचार हो रहा है, जिसे वे बडी ईमानदारी के साथ व्यक्त करने लगे हैं। अज्ञेय जी की इस कविता-पुस्तक मे दो-तीन बातें हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। एक तो है इस पुस्तक मे प्रकृति के विविध रूपो, गतियों और मुद्राओ का सफल प्रयोग। यद्यपि ये रूप, गतियाँ और मुद्रायें लेखक की आतरिक भावना से सपृक्त हैं। परन्तु उनमे यथार्थता का पक्ष भी पूरी तरह भास्वर हो गया है। दूसरी मुख्य विशेषता इस पुस्तक मे गृहीत और प्रयुक्त अनेकानेक नवीन और व्यजक शब्दो के आविष्कार की है। नूतन शब्दो के आविष्कार मे जो कवि जितनी दूर तक जा सकता है, वह उतनी ही भाव-राशि पर नवीन स्रष्टा बन सकता है। परन्तु कभी-कभी नये शब्दो की खोज मे कवि मूल भाव-चेतना को विस्मृत भी कर जाता है। अज्ञेय जी की इस पुस्तक मे इस प्रकार का विस्मरण-दोष कही नही है, बल्कि उनके नये शब्द उपयुक्त भाव-चेतना को जगाने मे ही समर्थ हुए हैं। इन कविताओ की तीसरी विशेषता व्यक्तिचेतना मे रहस्यात्मक दीप्ति और निष्ठा का सन्निवेश करना है। अज्ञेय जैसे कवि इस रहस्य भूमिका पर इतनी परिष्कृत अनुभूतियो का आविर्भाव कर सकते हैं, यह एक प्रसन्न आश्चर्य की बात रही है, परन्तु इस पुस्तक मे वह विद्यमान है।"

यहाँ इस उद्धरण का आशय केवल इतना ही है कि वाजपेयी जी नई कविता का बराबर अवलोकन करते रहे हैं और नई कविता के सम्बन्ध मे उनके नए विचार उपर्युक्त उद्धरण मे देखे जा सकते हैं। आधुनिक साहित्य के इतने जागरूक तथा तत्वाभिनिवेशी आलोचक के प्रति इस प्रकार की शकाओं का उठना स्वाभाविक है,

क्योकि उनकी आधुनिकता, अचूक पकड और निर्भ्रान्त निर्णय मे आज भी हमे अटूट विश्वास है।

किन्तु, उन लेखो के आधार पर उपर्युक्त शकाओ की कोई गुंजायश नहीं है। उनमे तो नई कविता के सदर्भ मे साहित्य के बुनियादी सवालो को उठाया गया है। ये सवाल भी मुख्यतः वैचारिक ही हैं, नई कविता को उसके रचनागत वशिष्ट्य मे कम देखा गया है। फिर भी वाजपेयी जी द्वारा उठाए गए प्रश्नो के प्रकाश मे कुछ ऐसे मूलभून सवाल खडे होते हैं कि उन पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। 'तार-सप्तक' तथा कई अन्य स्थानो पर अज्ञेय जी ने जो वक्तव्य दिये है वे साहित्य के बुनियादी सिद्धान्तो के विपरीत पडते हैं। समय-समय पर साहित्य की मान्यतायें बदली हैं, किन्तु उसके मूलभूत सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे पूर्व-पश्चिम मे प्राय. मतैक्य है। वाजपेयी जी ने मुख्यत. उनके वक्तव्यो की छानबीन की है। इससे यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि या तो मूलभूत सिद्धान्तो मे कही खामी है या अज्ञेय जी के वक्तव्यो मे। इस दृष्टि से वाजपेयी जी के विचारो का विशेष महत्व आँकना होगा।

इतना तो मानकर चलना पडेगा कि नई कविता आधुनिक जीवन की जटिलताओ को अभिव्यक्त करने मे बहुत कुछ दुर्बोध हो गई है। किन्तु यह कहना कि कवि 'स्वान्त· सुखाय' नही लिखता, साहित्य की एक सुनिर्णीत मान्यता पर प्रश्न चिह्न लगा देता है, ऐसा वाजपेयी जी का मत है। अज्ञेय जी का कहना है—"कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्त· सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने मे मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है।" अभिव्यक्ति के लिए श्रोता या ग्राहक की स्थिति अनिवार्य हो जाती है। इस प्रश्न पर वाजपेयी जी का कथन है—"पर श्रोता के अनिवार्य होने और 'स्वान्तः सुखाय' या आत्माभिव्यक्ति मे कोई मौलिक विरोध नही।" मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वाजपेयी जी का कथन सर्वांशत. सत्य है। इस प्रसग मे वाजपेयी जी ने एक बात और उठाई है—"गोस्वामी जी ने 'स्वान्त. सुखाय' राम की गाथा लिखने की बात क्या झूठ कही है?" मुझे अज्ञेय जी की नीयत पर सन्देह नही है और न वाजपेयी जी से इस सिलसिले मे उनका मतभेद हो सकता है। 'स्वान्त. सुखाय' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी ने 'मानस' मे किया है। क्या उनके सामने कोई श्रोता नहीं था? अज्ञेय जी ऐसे साहित्यकार को गोस्वामी जी के 'स्वान्तः सुखाय' का अभिप्राय ज्ञेय न हो, कैसे कहा जा सकता है। लेकिन उनके वक्तव्य और शब्द-प्रयोग से पाठक को गुमराह होने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार के अविचारित वक्तव्यो से, जिनमे तथ्याभास मिलता है, साहित्य मे अराजकता फैल सकती है।

नई कविता के प्रसग मे कवि के 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की चर्चा अज्ञेय जी ने की है। इन दोनो छोरो के बीच अनेक स्तर हो सकते हैं और कवि

किसी एक स्तर पर होगा। वाजपेयी जी ने इसे 'कोरी बौद्धिक दृष्टि' कहा है। पर नई कविता की आत्यंतिक व्यक्तिवादिता को देखते हुए अज्ञेय जी के कथन को निस्सार नहीं कहा जा सकता। इसी सिलसिले मे 'अहं के विलयन' पर भी विचार कर लेना चाहिए। अज्ञेय जी अहं के पूर्ण विलयन को आदर्श मानते हैं। पर अपनी तथा युग की सीमाओ के कारण उस आदर्श को न पाने मे वे अपनी असमर्थता भी व्यक्त कर रहे हैं। यही कारण है कि प्रयोगवादी अथवा नई कविता की किसी बडी उपलब्धि का उल्लेख नही किया जा सकता। यह ध्रुव सत्य है कि जिस प्रकार कुठाग्रस्त अथवा आस्था विरहित काव्य महान नही हो सकता, उसी प्रकार अहंवादी काव्य भी महान नही हो सकता। चरम कोटि के इगोइस्ट कवियो से अहं के विसर्जन की आशा दुराशामात्र है।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात जो वाजपेयी जी ने उठाई है वह विरासत से सबद्ध है। यह विरासत काव्य की भी है, मूल्यो की भी है। नए कवियो ने इलियट के प्रसिद्ध निबन्ध 'ट्रेडिशन और इडिविडुअल टैलेंट' की काफी चर्चा की है, पर दूसरो का समझाने के चक्कर मे वे उसे खुद कितना ग्रहण कर पाये हैं, इसे वे ही जानें। अपनी विरासत को लात मार कर दूसरो के अनुदान अथवा उच्छिष्ट पर कब तक जिया जा सकता है? प्रयोगवादी अथवा नई कविता लिखने वाले अधिकाश व्यक्ति अपनी परम्परा को गाली देना, उसे हीन बताना अपना धर्म समझते है। छायावादी कविता पर आक्रमण करना तो जरूरी माना गया है, गोया इसके बिना इस सम्प्रदाय मे दीक्षित होना सभव नही है। किन्तु जिन कवियो ने छायावादी काव्य पर आक्रमण किए है, यदि उनके वक्तव्यो की छानबीन की जाय तो उनके तर्क, विद्वता और बुद्धिवादिता का मुलम्मा बहुत देर नहीं ठहरता। तारसप्तक के कवियो मे से कुछेक ने छायावादी काव्य के सम्बन्ध मे वक्तव्य देकर बुद्धि के दिवालियेपन का ही इजहार किया है। इसी प्रकार साधारणीकरण और रस-सिद्धात की खिल्ली उडाने मे भी कोर कसर नही की गई है। साधारणीकरण की पुरानी परिपाटी पर नए सिरे से विचार किया जाना चाहिए, पर उसे नकारना कहाँ का औचित्य है। अभी हाल मे अज्ञेय जी ने एक नया शिगूफा छोडा है कि रस अतीतोन्मुख होता है। इसका ठीक-ठीक अर्थ तो वे ही लगा सकते हैं। रस स्वय में न अतीतोन्मुख होता है और न भविष्योन्मुख। वह तो लोकोत्तर आनन्द की एक विशेष स्थिति है। यदि उनका मतलब यह है कि अतीत से सबद्ध काव्य द्वारा ही रस निष्पत्ति सभव है तो यह मान्यता भी ग्राह्य नही है। लोल्लट और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो जीवन मे भी रसानुभूति की स्थिति स्वीकार करते है (यद्यपि यह स्वीकार्य नही है)। वर्तमान की समस्याओ से जूझने वाले काव्य द्वारा रस-निष्पत्ति सभव नही है, यदि अज्ञेय जी का यह अर्थ हो तो भी इसे तर्क-सम्मत नही कहा जा सकता। यदि काव्य के लिए, श्रेष्ठ काव्य के लिए, कवि के अहं का विलयन आवश्यक है, जैसा अज्ञेय जी स्वय मानते हैं, तो नई कविता से रस-सिद्धात का अविरोध होना चाहिए।

पर नई कविता का मूल्यांकन रस-सिद्धात के आधार पर सभव नही है। साधारणीकरण की प्रक्रिया और रसानुभूति का एक सामाजिक पक्ष भी है। इसके आधार पर ही सामाजिकता और कवि में तादात्म्य होता है। लेकिन आज तो कवि और समाज का इतना विलगाव हो गया है कि तादात्म्य के लिए भूमि ही नही रह गई है। जब तक यह खाई नही पटती, रस-सिद्धान्त के मानो से नई कविता का आकलन नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि हम नई कविता को कविता मानते हैं, तो उसके लिए मान का निर्धारण भी आवश्यक हो जाता है।

अपने दूसरे निबन्ध मे वाजपेयी जी ने जिन व्यापक मानो का, जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं, उल्लेख किया है वे नई कविता के मेल मे नहीं आते। ऐसी स्थिति मे कविता की यह स्थिति उन्हें प्रीतिकर नही लगती। नवीन निर्माण, नया शिल्प, नई वस्तु-योजना आदि सभी कुछ उन्हे ग्राह्य है बशर्ते कि वे मानवीय जीवन को किन्हीं भी अर्थों मे श्री-सपन्न बनाते हो। वस्तुत इन निबन्धो मे वाजपेयी जी की तलस्पर्शिनी दृष्टि ने नई कविता की खामियों को तर्क-सम्मत ढग से प्रस्तुत किया है। इन निबन्धो से उनका (कवियो का) अह, उनका एकमात्र सबल आहत हुआ। चोट खाकर उन्हें अनेक वक्तव्य देने पडे। पर नए वक्तव्यो मे आहत अह ही विस्फोटित हुआ है। नए कवि इसे स्वीकारें अथवा न स्वीकारें, किन्तु वाजपेयी जी के विचारो से इतना लाभ तो हुआ कि नई कविता अह के गुंजलक को चीर कर बहिर्गत होने के लिए प्रयत्नशील हो उठी। उनके निबन्धो की यह उपलब्धि कम महत्व की नही है।

●

निबन्धकार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

—डा० रामलाल सिंह एम ए, पी-एच डी

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के निबन्धकार स्वरूप पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या पत्रकार के रूप मे लिखी हुई इनकी टिप्पणियाँ, सम्भाषण, वार्ता, यात्रावर्णन, अभिभाषण, सस्मरण, विभिन्न समयो पर लिखे हुए पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित इनकी समीक्षा सम्बन्धी कृतिया निबन्ध की सज्ञा पा सकती हैं ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर जानने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि निबन्ध किसे कहते हैं और उसके प्रमुख लक्षण कौन-कौन हैं ?

निबन्ध विषय प्रतिपादन मे असम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्य रचना का वह प्रकार है जिसमे रागात्मक साधना से उत्पन्न स्वानुभूति की प्रधानता हो, लेखक के व्यक्तित्व की प्रखर तथा यथासम्भव पूर्ण अभिव्यक्ति हो, विषय-निरूपण मे रुचिरता तथा स्वतन्त्रता हो, तथा यथास्थान भावो तथा विचारो के ऊपर बल हो, जिसकी अर्थगत विशेषतायें रमणीय तथा उन्मुक्त चिन्तन से भरी हो, जिसका विषय लेखक के व्यक्तित्व से निसृत हो, जिसमे भाव या विचार की अन्विति वर्तमान हो, जिसकी शैली तथा भाषा व्यक्तित्व विधायक, विषयानुकूल तथा आत्मीयता की छाप से भरी एव साहित्यिक रुचिरता के गुण से सम्पन्न हो, जिसमे यथास्थान व्यग्य, विनोद, वक्रोक्ति, अलकार, लोकोक्ति, मुहावरे आदि का चमत्कार हो, जिसकी वेग-मयी मानवीय अनुभूति आकुल भावो तथा आवेगपूर्ण विचारो के स्वाभाविक प्रकाशन का फल हो, जिसका आरम्भ तथा अन्त प्रेरणा के अनुसार हो, जिसमे रुचिर भावो अथवा मनोज्ञ विचारों का वातावरण आद्यन्त वर्तमान हो एव जिसका प्रभाव विचारोत्तेजन में समर्थ हो।

जब हम वाजपेयी जी की कृतियो को निबन्धों के उक्त लक्षणो की कसौटी पर कसते हैं तब हमे निम्नांकित उत्तर मिलते हैं —

बाह्य आकार की दृष्टि से वाजपेयी जी की सभी समीक्षायें निबन्धात्मक हैं, इसलिए उनमे अध्यायात्मक या परिच्छेदात्मक वर्गीकरण नही मिलते। सभी निबन्ध परस्पर स्वतत्र हैं। शुक्ल जी की समीक्षाशैली यदि प्रबन्धात्मक है तो वाजपेयी जी की निबन्धात्मक। अत उनकी समीक्षा शैली यह प्रमाणित करने मे समर्थ है कि उन्होने निबन्ध-रूप मे अपनी समीक्षायें लिखी। उनका व्यक्तित्व एक निबन्धकार का व्यक्तित्व लेकर हिन्दी-समीक्षा मे अवतरित हुआ। इसी कारण उनकी प्राय' सभी समीक्षा कृतिया भिन्न-भिन्न समयो पर लिखे गए उनके निबन्धो के सग्रह से निर्मित हुई हैं। 'बीसवी शताब्दी', 'जयशकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' तथा 'राष्ट्रभाषा की समस्याए' इस तथ्य के प्रमाण के लिए पर्याप्त हैं।

आकार की दृष्टि से निबन्ध मे विषय-प्रतिपादन की असपूर्णता का विचार नहीं किया जाता। वाजपेयी जी के समीक्षात्मक निबन्धो मे विषय-विवेचन की दृष्टि से असम्पूर्णता है। किसी भी युग, कवि, कृति, समस्या, सिद्धान्त का जो अश इनकी दृष्टि मे अब तक अविवेचित रह गया है अथवा भ्रमात्मक रूप से प्रतिपादित है या उन्हें जो मार्मिक प्रतीत हुआ है उसी को उन्होंने स्पर्श किया है। इसलिए विषय की पूरी रूपरेखा या उसका सर्वांगीण विकास उनके समीक्षात्मक निबन्धों में नही मिलता। वैयक्तिक निबन्धो के समान इनके अधिकाश निबन्धो मे भूमिका, उपसहार आदि का बाह्योपचार नहीं मिलता। उन्हें लिखने की प्रेरणा जिस अश, तत्व, पक्ष, सौन्दर्य, विशेषता आदि से मिलती है उस पर वे तुरत पहुँच जाते हैं और प्रेरणा समाप्त होते ही निबन्ध समाप्त हो जाता है। इसीलिये कई निबन्धो मे आकस्मिक परिसमाप्ति दिखलाई पडती है। 'बीसवी शताब्दी' के निबन्धो मे छाया-वादी युग के उन कवियो तथा लेखकों का विवेचन है जिन पर यथोचित ध्यान उस समय के समीक्षकों का नहीं गया था। जिन लेखकों ने उन्हें अधिक प्रभावित किया है उनकी प्रशसा अधिक है, जैसे प्रसाद, पन्त, 'निराला' आदि बीसवीं सदी के जिन लेखकों या कवियो ने उन्हे बहुत अधिक प्रभावित नहीं किया उन पर स्वतन्त्र निबन्ध नहीं हैं, भूमिका मे उल्लेख मात्र मिलता है, जैसे, माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि का। 'आधुनिक साहित्य' मे आधुनिक युग के हिन्दी-साहित्य का सर्वांगीण विवेचन नही, वरन् उसमे आधुनिक युग के प्रमुख लेखको, कवियों तथा कृतियो की समीक्षा का प्रयास है। निबन्ध के समान प्रथम पुरुष का प्रयोग इनकी समीक्षाओं मे लगातार मिलता है। इन स्थानों पर 'मैं' और 'हम' दोनों का प्रयोग मिलता है। जैसे, 'मैं समझता हूं', 'मेरा यह विचार है', 'मैं यह कहना चाहता हू', 'मैं ऐसा मानता हू', 'मेरा ऐसा मत है', 'मेरा यह अभिप्राय है' इस प्रकार के वाक्य इनकी समीक्षाओं मे निबन्ध के आकार को पुष्ट करते हुये उसके दूसरे तत्व को भी निबन्ध के भीतर प्रतिष्ठा करते हैं।

निबन्ध मे लिखने की प्रेरणा का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तभी

उसमे अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता, व्यक्तित्व-प्रकाशन की ईमानदारी तथा विचारोत्तेजन की क्षमता आती है। वाजपेयी जी के सभी निबन्ध प्रेरणा के फलस्वरूप लिखे गए हैं। आधुनिक युग के लेखको तथा कवियो से उनका विशेष सम्बन्ध रहा, उनके सम्पर्क मे वे रहे। जैसे, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, गुप्त जी, 'अचल', शुक्ल जी, प्रेमचन्द, भगवती प्रसाद वाजपेयी तथा जैनेन्द्र जी। इसलिए इनके साहित्य-सौन्दर्य से इन्हे, प्रेरणा मिली। नये जीवन, नयी भावधारा, नये जीवन-मूल्यो, नूतन कल्पना-छवियो, नयी शैली और अभिनव भाषा को देख कर वे इन कवियो की ओर आकृष्ट हुए थे। आधुनिक युग के समीक्षक होने के कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रमुख कृतियो, प्रमुख साहित्य रूपो, प्रतिनिधि साहित्य-धाराओ, आधुनिक मतो और सिद्धान्तो, हिन्दी-साहित्य के नये प्रश्नो, नये प्रभावो, नयी समस्याओ, नवीन समीक्षा-शैलियो तथा तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियो से उनका सहज सम्पर्क रहा। इसलिए उनके चिन्तन, मनन, नियमन, अनुशासन, स्वस्थ परिचालन आदि की प्रेरणा पाना स्वभाविक था। प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला से इनका वैयक्तिक घनिष्ट सम्पर्क था। इसलिए इन पर स्वतन्त्र पुस्तकें लिखना सहज प्रेरणा-धर्म के अनुकूल है। प्राचीन कवियो मे सूरदास से इनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। इसलिए उनके काव्य-सौन्दर्य से उन्हे सहज प्रेरणा मिली। इसलिए उन पर भी उन्होंने स्वतन्त्र पुस्तक लिखी। केरल की शारदीय यात्रा से संबध रखने वाले इनके विभिन्न निबन्ध तो पर्यटन सम्बन्धी प्रत्यक्षानुभूति की प्रेरणा तथा दक्षिणापथ की हिन्दी-साहित्य एव हिन्दीभाषा सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ के समाधान की प्रेरणा के फलस्वरूप लिखे गए है। तात्पर्य यह कि प्रगतिशील दृष्टि, नवीनतावादी मनोवृत्ति तथा राष्ट्रीय भावना के कारण उनको आधुनिक युग से अधिक प्रेरणा मिली। इसलिए उन्होने अपने समीक्षण तथा लेखन कार्य को आधुनिक युग के हिन्दी-साहित्य की ओर विशेष रूप से केन्द्रित किया।

इनका यह प्रबल मत है कि आलोच्य कृति के युग को समझे बिना उसका उचित मूल्याकन नही किया जा सकता। इसलिए उन्होने आधुनिक काव्य, आधुनिक साहित्य, आधुनिक समीक्षा, आधुनिक वादो, आधुनिक साहित्य-शैलियो को समझने के लिए आधुनिक युगबोध पर अधिक बल दिया। इसी कारण उन्होने अपने निबन्धो मे युग की सवेदनाओ, प्रेरणाओ, परिस्थितियो, प्रश्नो, समस्याओ तथा मूल्यों को स्पष्ट करने का अधिक प्रयत्न किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनकी अधिकाश समीक्षायें वैयक्तिक दृष्टि, धारणा, रुचि, अरुचि, प्रवृत्ति, प्रभाव तथा प्रतिक्रिया के फलस्वरूप लिखी गई हैं। इसलिए उनके निबन्धो मे आत्म-प्रेरणा तथा रागात्मक अनुभूति का तत्व पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है।

निबन्ध का मूल उत्स विशुद्ध रूप से आत्म-प्रकाशन है। वाजपेयी जी ने जीवन, साहित्य, समीक्षा, भाषा, शिक्षा, सस्कृति, दर्शन तथा यात्रा सम्बन्धी अपने

विचारो को व्यक्त करने के लिए ही साहित्यिक निबन्धो का आश्रय लिया है। इन्होने *अध्ययन, अध्यापन, पर्यटन, निरीक्षण, चिन्तन, मनन से उत्पन्न अपने विचारो,* मतो तथा प्रश्नो को निबन्धो के माध्यम से व्यक्त किया है। इसीलिए इनके निबन्धो मे स्वय प्रकाशजन्य मतो की अधिकता है। इसी कारण वे हिन्दी समीक्षा के एक सर्वमान्य मौलिक समीक्षक माने जाते हैं। इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे साहित्य सम्बन्धी प्राचीन मतो तथा वादो की नयी व्याख्याए हैं, प्राचीन कवियो पर नये ढग से सोचने की भूमिकायें हैं, प्राचीन साहित्य-दर्शन को आधुनिक ज्ञान के प्रकाश मे देखने का प्रयत्न है, नवीन कवियो तथा लेखको का नवीन ढग से मूल्याकन है। प्राचीन जीवन को अभिनव ढग से समझाने का प्रयास है तथा आधुनिक जीवन की समस्याओ तथा प्रश्नो को नए ढग से सुलझाने का प्रयत्न है।

निबन्ध मे व्यक्तित्व का तत्व आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। निबन्ध मे व्यक्तित्व का अर्थ लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियो, निजी विशेषताओ, निजी रुचियो, स्वनिर्मित धारणाओ, नवीन दृष्टियो, मौलिक शैलियो आदि से है। निबन्ध मे व्यक्तित्व या वैयक्तिक विशेषता का अर्थ न तो व्यक्ति-वैचित्र्य है और न ऐसी अर्थयोजना जो इस ससार की प्रकृति के अनुरूप ही न हो। इस सम्बन्ध मे शुक्लजी का विचार ध्यान देने योग्य है। आधुनिक पाश्चात्य लक्षणो के अनुसार निबन्ध उसी *को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।* बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नही कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृखला रक्खी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड दी जाय। भावो की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थयोजना की जाय जो मानवीय अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रक्खे *अथवा भाषा से सर्कस वालो की सी कसरतें या हठयोगियो के से आसन* कराए जायँ, जिसका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो। ससार की हर एक बात और सब बातो से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक सगठन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। ये सबन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तो के भीतर की नसो के समान चारो ओर एक जाल के रूप मे फैले हैं। तत्व-चिन्तक या दार्शनिक अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए कुछ उपयोगी सम्बन्ध-सूत्रो को पकड कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो मे कही नहीं फँसता। पर, निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के *अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है।* यही उसकी अर्थ सबन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्धी सूत्रो की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाए ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्मित करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। शुक्ल जी की उपर्युक्त कसौटी पर वाजपेयी जी के निबन्धो की परीक्षा करने पर

यह विदित होता है कि उन्होने 'बीसवी शताब्दी' के निबन्धो मे किसी कवि तथा लेखक के भावात्मक पक्ष को अधिक देखा है तो किसी के अभावात्मक पक्ष को, और उनका लक्ष्य रहा है लेखको की स्थिति मे सामजस्य स्थापित करना। इसके प्रमाणार्थ उन्ही के शब्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"किसी निबन्ध मे किसी लेखक पर प्रशसात्मक चर्चा की गई है और किसी अन्य पर विरोधी ढग से लिखा गया है। जिनकी आवश्यकता से अधिक उपेक्षा हो रही थी उनकी प्रशसा की गई है और जिनकी बेहद प्रशसा हो रही थी उनके सबध मे दूसरे पक्ष को सामने रक्खा गया है। इसमे मेरा लक्ष्य लेखको की स्थिति मे सामजस्य स्थापित करने का रहा है।"

इनकी समीक्षा-कृतियो तथा निबन्धो का केन्द्रविन्दु इनका निजी व्यक्तित्व है जो साहित्यिक निबन्धो मे आत्म-तत्त्व का काम करता है। वाजपेयी जी के व्यक्तित्व मे सम्पादक, समीक्षक, अध्यापक, आचार्य, राजनीतिक तथा दार्शनिक के तत्त्व सन्निहित है। इसलिए इनके निबन्धो मे पत्रकार की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति, आलोचक की पैनी दृष्टि, अध्यापक की स्पष्टता, दार्शनिक की गम्भीरता, वकील की तार्किकता, आचार्य की नूतनता तथा राजनीतिक की गत्यात्मकता वर्तमान है, और इसी कारण इनके निबन्ध इनके व्यक्तित्व की प्रखर अभिव्यक्ति करने मे समर्थ हैं। वाजपेयी जी का व्यक्तित्व हिन्दी-समीक्षा मे सबसे अधिक गत्यात्मक है, इसलिए वे आधुनिक युग के आधुनिकतम क्षणो के सम्पर्क मे रहते है। इस कारण वे आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कवियो, लेखको, वादो, प्रवृत्तियो, साहित्य-धाराओ, प्रश्नो, मूल्यो तथा समस्याओ पर अधिक लिखते है और इसी कारण वे आधुनिक युग के सर्वमान्य समीक्षक माने जाते है। आधुनिक युग के समीक्षक होने के कारण इनके निबन्धो मे आधुनिकता का तत्त्व मिलता है और जीवन के अद्यतन मूल्यो पर सबसे अधिक वल रहता है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षक होने के कारण इनके निबन्धो मे एक ओर साहित्य तथा जीवन की जर्जरित रूढियो का उच्छेदन है तथा दूसरी ओर स्वतन्त्रता, समता एव विश्व-बन्धुत्व नामक जीवनादर्शो का समर्थन। समन्वयवादी व्यक्तित्व रखने के कारण इनके निबन्धो मे पूर्व और पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन, भौतिक तथा आध्यत्मिक जीवन-मूल्यो का समन्वय हुआ है। सास्कृतिक व्यक्तित्व रखने के कारण ये अपने निबन्धो मे भारतीय सस्कृति की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रीयतावादी होने के कारण राष्ट्रीय साहित्य की विविध समस्याओ पर इन्होने एक निबन्ध-पुस्तक लिखी है तथा राष्ट्रभाषा की समस्याओ पर भी इन्होने अपने यात्रा सम्बन्धी निबन्धो मे प्रकाश डाला है। राष्ट्रीय जागरण, राष्ट्रीय पुकार, राष्ट्रीय स्वतन्त्र्य सग्राम आदि का उल्लेख इनके निबन्धो मे यथाप्रसग पाया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से रसवादी होने के कारण

ये काव्य मे रसतत्त्व के उन्मेष पर बल देते है। सर्जनात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण ये वर्तमान साहित्य तथा जीवन की कमी बताते हुए उसके दूरीकरण का उपाय भी बताते चलते हैं। आचार्य होने के कारण रचनात्मक साहित्य तथा समीक्षा-साहित्य दोनो का दिशानिर्देशन करते हैं। जीवन मे आशावादी व्यक्तित्व रखने के कारण ये अपने निबन्धो मे आशावाद तथा आनन्दवाद का स्वर मुखरित करते हैं, पर्यटनशील होने के कारण इनके निरीक्षण मे सूक्ष्मता तथा विशदता, जीवन-दृष्टि मे गत्यात्मकता, विचारो मे प्रत्यग्रता वर्तमान रहती है। समीक्षक तथा शिक्षाशास्त्री होने के कारण जीवन तथा साहित्य दोनो मे ये आदर्श तथा अनुशासन पर बल देते हैं। इसीलिए वे अपने निबन्धो मे समाज तथा साहित्य के अनुचित प्रसगो पर क्षुब्ध होकर व्यग्य करते है। इनके व्यंग्य शिष्ट, मार्मिक तथा बहुत तीखे होते हैं। आलोचक होने के कारण ये साहित्य तथा आलोचना की महत्ता प्रभावपूर्ण ढग से स्थापित करते हैं। स्वभाव से कवि होने के कारण ये काव्य की समीक्षा मे अधिक रुचि लेते हैं। व्यक्तित्वविधायनी शक्ति रखने के कारण इनके निबंधो मे रुचिरता, सर्जनात्मकता तथा भावात्मकता का गुण समाविष्ट हो गया है, इसलिए इनके कतिपय वैयक्तिक निबन्ध ललित निबन्ध की श्रेणी मे आ जाते हैं।

जिस प्रकार कहानी का अपना निजी तत्त्व कथानक, उपन्यास का वर्णन, महाकाव्य का शीलनिरूपण, प्रगीत का भावव्यजना, नाटक का कार्य है, उसी प्रकार निबन्ध का अपना निजी तत्त्व विचार है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी निबन्धो के लक्षण-निरूपण के समय निबन्ध का प्रधान गुण विचारोत्तेजन की क्षमता ही माना है। इस दृष्टि से वाजपेयी जी के प्राय सभी लेख विचारात्मक हैं। आरम्भ से अन्त तक विचारो की गम्भीरता के कारण उनके निबन्धो मे एक गम्भीर वातावरण वर्तमान है। इनके निबन्धो की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि ये टी० एस० ईलिएट के समान विवेचन की तुलना मे प्रश्न बहुत उठाते हैं और ये प्रश्न हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे बडे-बडे समीक्षको का ध्यान ही नही आकर्षित करते; वरन् एक नवीन वैचारिक क्रान्ति की सृष्टि भी करते हैं। हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रश्नो को उठाने की पद्धति वाजपेयी जी की निजी पद्धति है जो हिन्दी के अन्य निबन्धकारो मे नही पाई जाती। इससे इनके निबन्धो मे जिज्ञासा नामक तत्त्व का समावेश हो जाता है और इससे पाठक का मन गम्भीरता से ऊबता नहीं। युगीन साहित्य तथा युग जीवन की समस्याओ पर प्रकाश डालने के कारण इनके निबन्ध आधुनिक पाठक के जीवन की समस्याओ पर भी प्रकाश डालते हैं। इससे उनमे आत्मीयता का पुट समाविष्ट हो जाता है जो पश्चिमी निबन्धकारो का एक प्रमुख गुण माना जाता है। आधुनिक गत्यात्मक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण इनके निबन्धो मे प्रभविष्णुता की शक्ति आ जाती है। ये अपने निबन्धो मे सन्तुलन, जाग्रति तथा प्रगति का सन्देश देते हैं; वैदिक सस्कृति की विशद व्याख्या करते हैं,

इसलिए इनमे विश्वसनीयता का गुण अपने आप आ जाता है। इनके निबन्धों मे बुद्धि का ढीला-ढाला विलास नही, वरन् उन्मुक्त चिन्तन रहता है। मौलिक प्रतिभा के कारण अपनी समीक्षाओ मे ये किसी पुरानी प्रणाली का अनुगमन न कर स्वनिर्मित स्वतन्त्र पद्धति द्वारा अपनी सप्तसूत्रीय समीक्षा पद्धति के सहारे हिन्दी साहित्य मे एक नवीन आलोचना-पद्धति के आविष्कार मे समर्थ हुए हैं, जो सौष्ठववादी और कभी-कभी स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के नाम से अभिहित होती है। इसलिए इनके निबन्धो मे विषय-प्रतिपादन की स्वतन्त्रता अपने आप आ जाती है। उन्मुक्त चिन्तन की प्रवृत्ति रखने के कारण ही वाजपेयी जी के समीक्षात्मक निबन्ध शास्त्रीयता के कटघरे से उन्मुक्त हैं तथा साहित्य के नये-नये रूपो, नयी धाराओ, नयी प्रवृत्तियो तथा नयी दिशाओ को ग्रहण करने मे समर्थ हैं तथा पश्चिमी समीक्षा के शक्तिशाली तथा प्रगतिशील विचारो को अपनाने मे सफल। जीवन मे उन्मुक्त व्यक्तित्व रखने के कारण उनके निबन्धो मे जीवन के वैचित्र्य, वैविध्य तथा बहुरूपता की स्वीकृति है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षक होने के कारण व्यक्तित्व का तत्व इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे उभर आया है जिससे इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे भी वैयक्तिक निबन्ध के कई तत्व समाहित हो गए हैं। उन्मुक्त चिन्तन, सर्जनात्मक विचार, स्वच्छन्द शैली, रुचिर साहित्यिक भाषा के कारण इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे रचनात्मकता का समावेश हो गया है। इस तत्व के कारण इनके निबन्ध रचनात्मक साहित्य की सज्ञा पाने मे समर्थ होते हैं।

उन्मुक्त चिन्तन के कारण इनकी आलोचनात्मक शैली के कई रूप हो जाते हैं। कही वह प्रश्न खडा करती है, कही प्रश्नोत्तर का रूप धारण करती है, कही विवेचनात्मक हो जाती है, कही व्यग्यात्मक रूप ले लेती है, कही खण्डनात्मक हो जाती है और कही मडनात्मक, कही भावात्मक हो जाती है तो कही बौद्धिक। शैली की इस विविधता के कारण इनके निबन्धो मे विविधता का तत्व आ गया है। समासशैली की प्रधानता के कारण इस विविधता मे भी एकरूपता वर्तमान रहती है। विविधता के कारण शैली मे मन को उबाने वाला दोष नही आता तथा समासशैली के कारण भाषा मे कसावट आ जाती है।

निबन्धकार के लिए सहानुभूति का तत्त्व आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। वाजपेयी जी के व्यक्तित्व मे सहानुभूति की मात्रा व्यापक कोटि की है। इसी कारण वे किसी कृतिकार की परीक्षा किसी परम्परागत मानदण्ड से करना उचित नही समझते, वरन् वे कृतिकार से सहानुभूति स्थापन द्वारा अर्जित उसके व्यक्तित्व की कसौटी पर ही उसकी कृति की परीक्षा करना उचित समझते हैं। इसीलिए वे आधुनिक युग, आधुनिक साहित्य, आधुनिक कवि तथा लेखक एव आधुनिक विचारधारा से सहानुभूति स्थापित करने मे समर्थ हैं। सहानुभूति की इसी विशेषता के कारण वे प्रगीत काव्य, मुक्तक काव्य, प्रगीतकार तथा मुक्तककार को सफल होने

पर प्रबन्ध काव्य तथा प्रबन्धकार से हीन नही समझते; इसी कारण वे नये कवियो तथा लेखको को अन्य समीक्षको की तुलना मे अधिक प्रोत्साहन देते हैं। सहानुभूति को इसी विशेषता के कारण वे छायावादी काव्य तथा कवियो को उचित सम्मान दिलाने मे समर्थ हुए हैं।

निबन्धो मे उनकी प्रकृति के अनुसार वातावरण का तत्व आवश्यक है। वाजपेयी जी के निबन्धो की प्रकृति विचारात्मक है। विचारो की प्रकृति गम्भीर होती है। इसलिए उनके निबन्धो मे गम्भीरता का वातावरण आदि से अन्त तक वर्तमान है। विदेशी वैयक्तिक निबन्धकारो के समान उन्होने अपने निबन्धो मे हलके-फुलके ढग से विषय को स्पर्श नही किया है। इसीलिए इनके निबन्धो मे उच्छिन्न चिन्तन कही नही आने पाया है। इनके निबन्धो मे भारतीय निबन्धकारो के समान पूर्वपक्ष निरूपण, निज मत-स्थापन, उत्तरपक्ष-खण्डन आदि स्थितियाँ मिलती हैं, इस कारण उनमे गम्भीरता का वातावरण आद्यन्त वर्तमान रहता है। उनके निबन्धो मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साथ साथ विषय के ऊपर भी बल सर्वत्र वर्तमान है। इसलिए वे पश्चिमी निबन्धकारो के समान अपनी मानसिक तरगो मे भटक कर विषय से बाहर नही जाते। इसी कारण उनके निबन्धो मे विषयान्तरिता बहुत कम मिलती है। इसलिए विषय-प्रतिपादन मे विषय से लगाव सदा बना रहता है, बुद्धिवेग सदा अगीतत्व के रूप मे वर्तमान रहता है, साहित्य-मीमासा के साथ-साथ वे जीवन मीमासा भी करते चलते हैं। व्यक्तित्व की गभीरता तथा विषय की गम्भीरता के अनुसार इनकी भाषा तथा शैली मे भी गम्भीरता है। इसलिए उनके निबन्धो मे गम्भीरता का वातावरण आदि से अन्त तक वर्तमान रहता है।

निबन्धो मे विषय का चुनाव लेखक के व्यक्तित्व के अनुसार होना चाहिए जिससे विषय के प्रति निबन्धकार का रागात्मक सम्बन्ध स्वभाविक अनुभूति, सच्ची सहानुभूति, सहज सवेदना प्रगट हो सके और उससे सरलता से वह अपना तादात्म्य स्थापित कर सके। दूसरी ओर उसकी रुचि अरुचि, प्रवृत्ति, वैयक्तिक विशेषताओ को व्यक्त करने मे वह विषय समर्थ है। वाजपेयी जी के निबन्धो का वर्ण्य बहुत विस्तृत कोटि का है। उसने भीतर प्राकृतिक,[1] दार्शनिक,[2] सास्कृतिक,[3] राजनीतिक,[4]

---

१ केरल की शारदीय परिक्रमा

२ बुद्धिवाद एक अधूरी जीवनदृष्टि

३ भारतीय सस्कृति के मूलतत्व

४ देशोन्नति मे हिन्दी का दायित्व

सामाजिक,[1] भाषिक,[2] साहित्यिक[3] आदि अनेक विषय आ गए हैं। वाजपेयी जी के व्यक्तित्व मे पर्यटक, सास्कृतिक, दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, भाषिक, अध्यापक, साहित्यिक आदि अनेक व्यक्तित्वो के तत्व सम्मिलित है। दूसरे, वे कुछ दिनो तक सम्पादक भी रहे है और सम्पादक को अनेक विषयो पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखनी पडती हैं। इन उपर्युक्त कारणो से उनके निबन्ध-विषयो का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है, किन्तु उनके व्यक्तित्व मे साहित्यकार का व्यक्तित्व सर्वातिशायी तथा सर्वप्रमुख है, इसलिए उन्होने साहित्यिक विषयो पर सबसे अधिक सख्या मे निबन्ध लिखे हैं तथा अन्य विषयो के निबन्धो पर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की छाप है।

इनके साहित्यिक व्यक्तित्व की विविधता के कारण इनके साहित्यिक निबन्धो की दिशायें विभिन्न प्रकार की हैं। इनके कुछ निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं तो कुछ व्यावहारिक समीक्षा से; कुछ निबन्ध साहित्यिक धाराओ पर लिखे गए हैं तो कुछ साहित्यिक वादो पर। कुछ निबन्धो के विषय बीसवीं शताब्दी के प्रमुख कृतिकार हैं तो कुछ के बीसवी शताब्दी की प्रमुख साहित्यिक कृतिया। उनके समीक्षात्मक निबन्धो की परिधि के भीतर साहित्य के प्राय: सभी प्रमुख रूप आ गए हैं। महाकाव्य, प्रगीत काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, इतिहास आदि सभी साहित्य-रूपो पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति को अपना कर लिखे गए इनके निबन्धो की सख्या सबसे अधिक है। इन्होने पूरब और पश्चिम की सैद्धान्तिक समीक्षा की विकास-रेखायें भी अपने ढग से प्रस्तुत की है। नयी कहानी, नया काव्य, नयी समीक्षा तथा साहित्य के नवीन वादो का मूल्याकन भी इन्होने नवीन ढग से प्रस्तुत किया है। समीक्षा सम्बन्धी अपनी मान्यतायें भी इन्होने स्वतन्त्र निबन्ध के रूप मे प्रस्तुत की हैं। कुल मिला कर इनके साहित्यिक निबन्धो मे आधुनिक युग की अभिव्यक्ति तथा आलोचना सबसे अधिक है। नये साहित्य की नवीन प्रेरणा-शक्तियो, नई पृष्ठभूमियो, नये प्रश्नो, नयी समस्याओ, काव्यरूप की नवीन विकास-स्थितियो, नवीन लेखको, नवीन कृतियो, नवीन साहित्य धाराओ तथा नवीन वादो को इन्होने आधुनिक जीवन के वैविध्य तथा बहुरूपता के परिवेश मे रख कर मूल्याकित करने का प्रयत्न किया है। इन सभी साहित्यिक निबन्धो मे विषय के साथ इनका रागात्मक सम्बन्ध, सच्ची सहानुभूति तथा स्वाभाविक तादात्म्य प्रगट होता है और उन निबन्धो मे इनकी रुचि, अरुचि, प्रवृत्ति तथा वैयक्तिक

---

१. साहित्य और सामाजिक प्रगति
२. 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें' नामक पुस्तक के अधिकांश निबन्ध
३ 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी', 'नया साहित्य : नए प्रश्न', 'आधुनिक साहित्य', 'जयशकर प्रसाद' आदि के निबन्ध।

विशेषताएं प्रभावशाली ढग से व्यक्त हो गई है। इन निबन्धो मे वाजपेयी जी का मन एक सच्चे निबन्धकार की तरह खुला हुआ है । इनके प्रतिपादन मे उनका उन्मुक्त चिन्तन झलकता है। वे साहित्य की प्रगतिशील नवीन प्रवृत्तियो, जीवन के नवीन मूल्यो तथा नवीन शक्तियो को अपने निबन्धो मे खुले मन से स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त विषयो के मूल्याकन तथा विवेचन मे इनका स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व तथा सौन्दर्यवादी दृष्टि स्पष्ट रूप मे प्रतिबिम्बित हुई हैं। वाजपेयी जी के उपर्युक्त निबन्ध मन की अविचारित या भावाकुल दशा मे नही, वरन् विचारित या सुविचारित दशा मे लिखे गए हैं। इसलिए इनके निबन्धो मे विचार-विमर्श के साथ सकल्प, कभी-कभी स्वयप्रकाशजन्य मत, कभी-कभी सुस्थ निर्णय, कभी-कभी साहित्यिक गतिविधि के अनुशासन की प्रवृत्ति, कही-कही अनुसन्धान की प्रवृत्तियां प्रतिबिम्बित होती हैं।

इनकी दृष्टि समीक्षा मे विकसनशील प्रवृत्ति को अपना कर चलती है, इसलिए इन्होने भारतीय तथा पश्चिमी समीक्षा के विकसनशील सूत्रो को सश्लिष्ट कर अपनी समीक्षाभूमि तैयार करने की चेष्टा की है। जिसमे जीवन के चिरन्तन, सनातन तथा अद्यतन तत्व एव परम्परा, प्रगति तथा प्रयोग तीनों तत्वो का समन्वय वर्तमान है। इन्होने साहित्य को युग, समाज, तथा देश की विभिन्न समस्याओं के समाधान के साथ सम्पृक्त करते हुए जीवन के विविध मूल्यो के साथ सुसम्बद्ध करके उसे एक स्वतन्त्र उदात्त भूमिका पर स्थापित करने का प्रयत्न किया है, जिस पर कोई अन्य विषय हावी नही हो सका है। इन्होने अपनी समीक्षा-पद्धति मे समन्वयवाद की भूमिका को अपना कर रसवादी, ध्वनिवादी, रीतिवादी, समाजवादी, मनोविज्ञानवादी, चरितमूलक तथा ऐतिहासिक समीक्षाशैलियो को सश्लिष्ट कर दिया है, जिससे समीक्षा की भूमि एकागी न रहे । व्यावहारिक समीक्षा मे इनकी दृष्टि कवि की भाव-सम्पत्ति, भाव सौन्दर्य, अन्तर्भावना-विश्लेषण तथा जीवन-मूल्य की विवृत्ति पर अधिक रहती है। इनकी व्यावहारिक समीक्षा मे इस प्रकार का वल (Emphasy) इनके निबन्धो मे बल तत्व लाने मे समर्थ है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साथ-साथ विषय से लगाव कभी नही छूटा है, इसलिए इनके निबन्धो मे विषय-विवेचन से असपृक्त विषयान्तरिता के स्थल बहुत कम हैं। उपर्युक्त निबन्धो के प्रणयन मे लेखक की तीन मानसिक परिस्थितियां दिखलाई पड़ती हैं। प्रेरणा, विचारणा तथा अभिव्यक्ति। लेखक अपनी साहित्यिक जीवन-यात्रा मे प्राप्त किसी कवि, कृति, साहित्यिक आन्दोलन, समस्या, वाद, प्रश्न, अभाव, साहित्यिक प्रवृत्ति, काव्यधारा, परिस्थिति आदि से प्रभावित होकर, प्रेरणायुक्त होता है। द्वितीय स्थिति मे उन पर अपने ढग से अपनी चेतना के अनुसार विचार करता है। तृतीय स्थिति मे उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करता है। बौद्धिक प्रतिक्रिया के क्षणों मे लेखक के विचार कभी उन्मुक्त तथा कभी व्यवस्थित रूप मे आते हैं।

बौद्धिक प्रतिक्रिया या प्रभाव की अभिव्यक्ति मे भी लेखक का हृदय उसका साथ नही छोडता। अत इन मानसिक स्थितियो मे लिखे हुए लेखक के निबन्ध उसके व्यक्तित्व से हमारा अधिक परिचय कराते हैं तथा उसकी सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, सास्कृतिक दृष्टियो और रुचियो को ही अधिकाश मात्रा मे प्रगट करते हैं। निबन्धो के विषयो की उपयुक्तता की सच्ची कसौटी निबन्धकार की उसके साथ सच्ची सहानुभूति है। कहने की आवश्यकता नही कि वाजपेयी जी के निबन्धो के विषय इस कसौटी पर उपयुक्त सिद्ध होते हैं। पाठको की दृष्टि से उनके निबन्धो के विषय बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, क्योकि सभी का सम्बन्ध आधुनिक जीवन और साहित्य से है। हा, यह दूसरी बात है कि इनके निबन्धो को समझने के लिए बहुत ही प्रबुद्ध तथा चेतनासम्पन्न पाठको की आवश्यकता है। साहित्य के विद्यार्थियो तथा अध्यापको को छायावाद के कवि–विशेषत निराला प्रसाद, महादेवी बहुत ही कठिन पडते थे। छायावाद भी उस जमाने मे लोगो की समझ मे नही आता था। वाजपेयी जी के निबन्धो की यह महत्वपूर्ण देन है कि उन्होंने अपने निबन्धो द्वारा छायावादी काव्य को हिन्दी के पाठको के लिए सुगम तथा बोधगम्य बनाया तथा भारतीय समीक्षा को नवीन पदावली मे अकित कर उसकी महत्ता को स्पष्ट किया एव हिन्दी भाषा तथा हिन्दी-साहित्य के आधुनिक प्रश्नो को अपने निबन्धो के भीतर मार्मिक ढग से समझाया। निबन्धो के भीतर उठाए गए इनके प्रश्नो ने हिन्दी समीक्षको के भीतर एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी तथा आधुनिक साहित्य पर नये ढग से सोचने के लिए उन्हे नवीन मानसिक खाद्य सामग्री प्रदान की।

शैली व्यक्तित्व की प्रतिनिधि होती है, यह सिद्धान्त निबन्ध के सन्दर्भ मे जितना सत्य सिद्ध होता है उतना अन्य साहित्य-रूपो के विषय मे नही। वाजपेयी जी ने अपने निबन्धो मे माण्टेन वाली गोष्ठी शैली को नही अपनाया है, वरन् अपने व्यक्तित्व के अनुकूल बेकन की चिन्तनपद्धति वाली गम्भीर सामासिक शैली का प्रयोग किया है। इनका व्यक्तित्व उन्मुक्त ढग का है, इसलिए ये निबन्धो मे अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से चलते हैं। जिस कवि, लेखक, काव्य, प्रवृत्ति या साहित्य धारा का जो अश इन्हे अधिक प्रभावित करता है उसी पर अपनी बात अधिक कहते हैं। तात्पर्य यह कि उन्मुक्त व्यक्तित्व के अनुसार इनकी शैली में भी उन्मुक्तता पाई जाती है। इनके व्यक्तित्व मे उदात्तता का गुण वर्तमान है, इसलिए वे व्यग्य-विनोद के स्थलो पर भी साहित्य के उच्च धरातल से नीचे नही उतरते। व्यक्तित्व की आधुनिकता के कारण वाजपेयी जी अपनी शैली को आधुनिकतम शब्द-चयन द्वारा नवीन बनाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तित्व मे ओज तथा वैमल्य की प्रधानता होने के कारण शैली मे भी ओज तथा प्रसाद गुण वर्तमान है। समालोचक व्यक्तित्व के कारण शैली मे बुद्धि-वेग अगी तत्व के रूप मे रहता है। इससे शैली मे प्रज्ञात्मक तत्व का समावेश हो जाता है। इनके निबन्धो मे कहीं

विषयान्तरिता भी आई है तो उससे निबन्ध की अन्विति नष्ट नहीं हुई है, इससे शैली मे सार्थकता का गुण सर्वत्र पाया जाता है। साहित्य दार्शनिक होने के कारण शैली मे गम्भीरता का टेम्पो निबन्ध मे आद्यन्त बना रहता है। आपके विचारात्मक निबन्धो मे कसावट और सग्रथन अधिक है, एक-एक वाक्य मे विचारो का ससार निहित है। इससे शैली मे अर्थ गौरवता का गुण समाविष्ट हो गया है।

निबन्ध की प्रकृति के अनुकूल इन्होंने अपने समीक्षात्मक निबन्धो मे निगमनात्मक शैली का प्रयोग किया है। वाजपेयी जी ने आरम्भ मे विज्ञान का अध्ययन किया था। इससे इनके व्यक्तित्व पर वैज्ञानिक युग का प्रभाव भी बहुत अधिक है। चिन्तन के क्षेत्र मे निगमनात्मक प्रणाली ही वैज्ञानिक मानी जाती है, आगमन प्रणाली का प्रयोग करने वाले चिन्तक शास्त्रीय कोटि के होते हैं। वाजपेयी जी यदि आगमन प्रणाली का प्रयोग करते तो उनके निबन्धो मे शास्त्रीयता तथा परम्परा की प्रधानता हो जाती। वे लेखको, कवियो, तथा साहित्य की विचारधाराओ तथा प्रवृत्तियो पर नये ढग से सोचने मे असमर्थ हो जाते। इनके समीक्षात्मक निबन्ध, साहित्य चिन्तन से सम्बन्ध रखते हैं। इनके साहित्य चिन्तन की प्रवृत्ति वैज्ञानिक ढग की है। अत उसके अनुकूल इन्होंने निगमनात्मक शैली का प्रयोग किया है। इसीलिए वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाओ म निगमनात्मक शैली अपनाने के कारण किसी कवि अथवा लेखक का मूल्याकन पुरानी परिभाषा, पुराने सिद्धान्त, प्राचीन मानदण्ड तथा परम्परागत आदर्श से नही करने, वरन् वे कवि की कृतियो की सामग्री से ही उनका मूल्य, निकष, सिद्धान्त, आदर्श, व्यक्तित्व आदि निकालते हैं और फिर उन्ही की कसौटी पर उनकी कृतियो की परीक्षा करते हैं। सैद्धान्तिक समीक्षाओ म आधुनिक जीवन की गतिविधि तथा आवश्यकता के अनुकूल वे साहित्य, काव्य, काव्य-रूप, काव्य-प्रवृत्ति आदि की परिभाषा, लक्षण तथा उनकी विशेषताओ का निरूपण करते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि निगमनात्मक शैली उन्हे आधुनिक साहित्य का वैज्ञानिक चिन्तक बनाने म बहुत योग देती है।

निबन्धो म भाषा की कसौटी यही है कि वह सर्वत्र उसके विषय तथा व्यक्तित्व के अनुसार हो, विचारो तथा भावो को वहन करने मे समर्थ हो तथा विचार या भाव का वातावरण बनाने में सफल हो। इस कसौटी पर वाजपेयी जी के समीक्षात्मक निबन्धो की भाषा खरी उतरती है। उनके समीक्षक व्यक्तित्व के अनुसार वह सर्वत्र गम्भीर है। उनके सयत, नियन्त्रित, व्यवस्थित तथा स्पष्ट व्यक्तित्व के कारण उनकी भाषा भी सर्वत्र सयत, नियन्त्रित व्यवस्थित एव स्पष्ट है। उनके समीक्षक व्यक्तित्व मे बुद्धि तत्व की प्रधानता है, इसलिए उनकी भाषा मे भी बुद्धि तत्व की अधिकता है। इसलिए वे विचारो का वातावरण तैयार करने मे समर्थ हैं। उनके व्यक्तित्व म भारतीय सस्कृति की प्रधानता के कारण उनकी भाषा मे तत्सम शब्दो की प्रधानता है। उनके व्यक्तित्व के उदार गुण के कारण

यथा प्रसग, अग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि विदेशी भाषा के शब्दो का भी ग्रहण है। वाजपेयी जी की भाषा मे भावात्मक स्थलो पर अलकार, व्यग्य, विनोद तथा व्यजना का भी प्रयोग दिखलाई पडता है। ऐसे स्थलो पर उनकी भाषा उनके व्यक्तित्व के ओज गुण की अनुसारिणी हो गई है। उपयुक्त शब्द-चयन, व्याकरण-शुद्धता, सयत वाक्य योजना तथा तार्किकता एव प्रसाद गुण के कारण उसमे अभिप्रेत अर्थ व्यजित करने की क्षमता सर्वत्र वर्तमान है। इसलिए उसमे कही अस्पष्टता नही है। विषय के अनुसार इनकी भाषा मे गम्भीरता, रुचिरता तथा उदात्तता वर्तमान है। समीक्षा की गम्भीर प्रकृति के अनुसार इनके समीक्षात्मक निबन्धो की भाषा गम्भीर है। इनके सस्मरणात्मक निबन्धो की भाषा भावाकुलता के कारण भावात्मक हो गई है। यात्रा सम्बन्धी लेखो की भाषा म तथ्य की प्रधानता के कारण विवरणात्मक शब्दो का प्रयोग अधिक दिखलाई पडता है। व्यक्तित्व की नवीनता तथा आधुनिकता के कारण उनकी भाषा मे उपसर्गों के योग द्वारा नवीन शब्द-निर्माण की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के कारण इनकी भाषा मे मौलिकता का पुट दिखाई पडता है, सामासिक शैली के प्रयोग के कारण इनकी भाषा मे कसावट, अर्थ-गौरव तथा प्रौढता आद्यन्त विद्यमान है। मुहावरो तथा लोकोक्तियो का प्रयोग इनकी भाषा मे बहुत कम हुआ है, क्योकि गोष्ठी शैली मे ही इनका उपयोग उपयुक्त सिद्ध होता है। युग के अनुकूल सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी नयी पदावली अपनाने के कारण इनकी भाषा मे नवीनता तथा विश्वसनीयता का तत्व अधिक है। विचारोत्तेजन के गुण के कारण इनकी भाषा मे प्रभविष्णुता का तत्व वर्तमान है। सभाषण शैली के प्रयोग के अवसर पर इनकी भाषा मे ओज गुण का चमत्कार दिखलाई पडता है। जटिल से जटिल विषयो का प्रतिपादन करते समय इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे शब्दो और वाक्यो का गठन इतना व्यवस्थित तथा व्याकरणानुकूल हुआ है कि विचारधारा कही भी विश्रृखलित नही होने पाई है।

विषय तथा भाव के अनुरूप इनकी भाषा का रूप-रग तथा प्रवाह बदलता गया है। इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे समास शैली के कारण विचार-परम्परा से कसे हुए घनीभूत वाक्यो की योजना दूर तक चली गई है, इसलिए भाषा मे प्रौढता, प्रवाह तथा कसावट का गुण आ गया है। विचारो के उतार-चढाव, भावो के आवेग तथा दीप्ति, विचारो के प्रवाह तथा वर्णन के अनुसार इनकी भाषा मे उतार-चढाव, आवेग, प्रवाह, कान्ति आदि गुण वर्तमान हैं। वह निबन्ध के विषय, भाव तथा प्रसग के अनुकूल कही गम्भीर, कही सरल, कही विचारात्मक, कही वर्णनात्मक, कही सश्लिष्ट, कही इतिवृत्तात्मक, कही ओजमयी, कही तर्कमयी, कही व्यग्य विनोद से विदग्ध, कही अलकार से वक्रोक्तिपूर्ण, कही चित्रमयी, कही प्रवाहपूर्ण, कही भावात्मक है। भावात्मक स्थलो पर इनकी भाषा मे काव्यात्मकता का पुट पाया जाता है। विषय उपस्थित करते समय भाषा मे साहित्यिक विधान का ध्यान इन्हे सदैव

रहता है, इसलिए उसमे साहित्यिक रुचिरता का गुण पाया जाता है। भाषणात्मक शैली के निबन्धो मे ओज गुण तथा प्रवाह की मात्रा अधिक पाई जाती है। वाजपेयी जी अपने विचारो मे अत्यधिक आस्था तथा विश्वास रखने के कारण उन्हे बहुत ही बलपूर्वक अपने निबन्धो मे स्थापित करते हैं। इस प्रकार इनकी भाषा मे बल का सचार हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि उनके साहित्य, समीक्षा, सस्कृति, दर्शन, यात्रावर्णन तथा सस्मरण सम्बन्धी लेख निबन्ध की कसौटी पर खरे उतरते हैं। अब देखना यह है कि उनके निबन्धो की स्थिति कहाँ है? वे वस्तुनिष्ठ हैं या व्यक्तिनिष्ठ अथवा मध्यवर्ती विशेषताओ से युक्त?

व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध की कतिपय विशेषतायें इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे मिलती हैं। जैसे, इनकी निबन्ध-पुस्तको मे अध्याय, परिच्छेद आदि का अनुपयोग, भूमिका-उपसहार आदि निबन्ध के स्थूल बाह्योपचारो का अभाव, आकार की लघुता, विषय-निरूपण मे अपूर्णता, वस्तु-सामग्री, भाषा तथा शैली द्वारा व्यक्तित्व की प्रखर अभिव्यक्ति, वर्ण्यकेन्द्र-रूप मे निजमतस्थापन की वृत्ति, विषय प्रतिपादन मे स्वतन्त्रता, मन की प्रतिक्रिया, प्रभाव, रुचि, अरुचि का आधिक्य, मत पुष्टि के रूप मे अन्य विद्वानो के उद्धरणो, उदाहरणो की कमी, विशिष्ट मानसिक स्थिति, वैयक्तिक प्रेरणा तथा स्वानुभूति की उपस्थिति, विश्लेषणात्मक तथा उपदेशात्मक शैली का अभाव, एक केन्द्रीय विचार या भाव की अन्विति, विचारो पर बल, विषय-वर्गीकरण का अभाव, आद्यन्त एक विशिष्ट वातावरण की सृष्टि, जीवन के वैविध्य की स्वीकृति, सहानुभूति का तत्व, कर्ता-प्रधानता की सर्वत्र छाप।

किन्तु इनके समीक्षात्मक निबन्धो मे वैयक्तिक निबन्धो की उपर्युक्त विशेषताओ के रहते हुए भी हम उन्हे व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध नही कह सकते, क्योकि व्यक्तिनिष्ट निबन्धो की निम्नलिखित विशेषतायें उनमे नही पाई जाती। जैसे, निबन्धों मे साधारण जीवन के विषयो का चुनाव, बुद्धि का ढीलाढाला विलास, उच्छिन्न चिन्तन, विषयान्तरित स्थलो की बहुलता, स्फुट ढग से विचारो की अभिव्यक्ति, रागात्मकता का प्राधान्य, विषय-प्रतिपादन म तार्किकता का अभाव, गोष्ठी-शैली का प्रयोग, विनोद-तत्व का आधिक्य, भाषा मे बोल-चाल का स्वरूप।

किन्तु इनके कुछ सस्मरणात्मक शोक निबन्ध तथा कतिपय यात्रा सम्बन्धी निबन्ध व्यक्तिनिष्ठ निबन्धो के भीतर स्थान पा सकते हैं। क्योकि उनमे वैयक्तिक निबन्धो की उपर्युक्त विशेषतायें तथा तत्व वर्तमान हैं। किन्तु इनके इस प्रकार के वैयक्तिक निबन्धो की सख्या बहुत कम है। इनके समीक्षात्मक निबन्धो की जिनकी सख्या सबसे अधिक है हम विशुद्ध रूप मे वस्तुनिष्ठ निबन्ध की श्रेणी मे भी नही रख सकते, क्योकि इनमे वस्तुनिष्ठ निबन्धो की निम्नाकित विशेषताओ का अभाव

है । जैसे, भूमिका-उपसहार आदि का प्रयोग, वस्तु-सामग्री का समग्रत. ब्यौरेवार वर्गीकरण, विषय का सर्वांगीण विकास, विवेचनकेन्द्र मे विषय की प्रतिष्ठा, निज मत प्रमाणार्थ अन्य विद्वानो के मतो, उदाहरणो आदि का उल्लेख ।

वस्तुनिष्ठ निबन्धो के कतिपय प्रमुख गुणो की उपस्थिति के कारण उनके समीक्षा सम्बन्धी निबन्धो को हम विषय प्रधान निबन्धो की श्रेणी से एकदम बहिष्कृत करके उन्हे हम विशुद्ध वैयक्तिक निबन्ध भी नही मान सकते । जैसे, उनके इन निबन्धो मे वस्तुनिष्ठ निबन्धो के निम्नाकित गुण पाये जाते हैं—शास्त्रीय एव गम्भीर साहित्यिक तथा सास्कृतिक विषयो का चयन, स्वतत्र चिन्तन, गम्भीर विचारो का वैभव, बुद्धिवेग की अगीतत्व के रूप मे उपस्थिति, विचारो मे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, विवेचन मे सूक्ष्मता, आद्योपान्त विचारो मे व्यवस्था, विचारोत्तेजन की बहुलता, वैचारिक गम्भीर वातावरण की सृष्टि, शास्त्रीय तत्वो का यथास्थान समावेश, यथाप्रसग गवेषणावृत्ति की उपस्थिति, तुलना-पद्धति का प्रयोग, विषय से लेखक का सतत् लगाव, मानसिक तरगो मे बहकने की न्यूनता, विषयान्तरित स्थलो का अभाव, आभिजात्य गम्भीर भाषा एव साहित्यिक उदात्त शैली का प्रयोग ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि इनके निबन्ध न तो एकान्तत वस्तुनिष्ठ है और न विशुद्धत व्यक्तिनिष्ठ । इनमे व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ दोनो प्रकार के निबन्धो की प्रमुख विशेषताएँ विद्यमान है । इनके आधार पर हम इन्हें उभयनिष्ठ की श्रेणी मे रखना उचित समझते हैं । हजारी प्रसाद द्विवेदी के वैयक्तिक निबन्धो के समान इनके निबन्ध न तो व्यक्तिनिष्ठ है और न तो शुक्ल जी के निबन्धो के समान वस्तुनिष्ठ । अर्थात्, इनके निबन्ध मध्यवर्ती कोटि के है ।

निबन्धकार आचार्य वाजपेयी

—डा० गणेश खरे एम० ए०, पी-एच० डी०

●

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी के निबन्धो पर विचार करना वस्तुत उनके समस्त व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार करना है। वे इस युग के एक ऐसे विशिष्ट समीक्षक हैं जिनका समग्र साहित्यिक चिन्तन मनन, विवेचन और विश्लेषण स्फुट निबन्धो के रूप मे हिन्दी-साहित्य मे आया है। इसी कारण उन्हें 'निबन्धकार आलोचक' या 'मुक्तक समीक्षक' भी कहा जाता है।

'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' वाजपेयी जी की निबन्धात्मक कृति है। हिन्दी-ससार मे उन्हें इसी रचना से सर्वाधिक ख्याति मिली थी। हिन्दी के विद्वान इसे उनकी अद्वितीय रचना मानते हैं। इसमे उनकी आवेगपूर्ण स्वच्छन्द शैली, मौलिक चिन्तना, अगाध आत्मनिष्ठा, प्रखर निर्द्वन्द्वता और अपूर्व हार्दिकता मिलती है। गहन अध्ययन, चिन्तन-मनन, अध्यापन और वय-प्रौढि के साथ उनकी ये प्रवृत्तिया अधिक सयत और समाहित होती गई हैं। इसी कारण अपने परवर्ती निबन्धो मे वाजपेयी जी अधिक तटस्थ, विचार-सकुल और वस्तून्मुखी हो गये हैं; किन्तु इसका यह आशय नही कि परवर्ती काल मे उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनके निबन्धो मे सम्यक् ढग से नही हो सकी है या विषय अथवा विचारो के आच्छद से उनका प्रज्ञावान व्यक्तित्व आवृत हो गया है। मूलत उनका सम्पूर्ण साहित्य ही व्यक्तित्व-प्रधान है जिसमे उनके स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व का अविकल स्वरूप प्रगट हुआ है। 'बीसवीं शताब्दी' के पश्चात् 'जयशकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' और 'राष्ट्र भाषा हिन्दी की समस्यायें', उनके ये चार प्रमुख निबन्ध-सकलन हमारे समक्ष आते हैं। इनमे उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा, सूक्ष्म और मौलिक चिन्तनशीलता तथा साहित्यिक समीक्षा का सर्वाधिक उत्कर्ष हमें 'नया साहित्य . नये प्रश्न' शीर्षक रचना मे दिखाई देता है। वैचारिक

गुरुता गम्भीरता के कारण कतिपय विद्वानो ने इसे आधुनिक साहित्य की 'बाइबिल' कहा है।

इन निबन्ध-कृतियो के अतिरिक्त वाजपेयी जी के अध्यक्षीय अभिभाषण, आकाशवाणी से समय-समय पर प्रसरित वार्तायें और पुस्तको की परिचयात्मक समीक्षायें (रिव्यूस) तथा सम्पादकीय वक्तव्य भी प्रचुर सख्या मे, निबन्ध-रूप मे उपलब्ध हैं, जिनका अभी पुस्तकाकार-रूप मे प्रकाशन नही हुआ है। 'दो शब्द', 'भूमिका', 'प्राक्कथन', 'आशीर्वचन', 'सम्मति' आदि के रूप मे भी वाजपेयी जी के अनेक निबन्ध उनकी स्वय तथा दूसरे लेखको की पुस्तको मे प्राप्त होते हैं। ये भी उनके व्यक्तित्व की समग्र विशेषताओ से विभूषित हैं, अतएव उनके निबन्धो पर विचार करते समय हम इस स्फुट और इतस्तत बिखरी हुई सामग्री को उपेक्षित नही कर सकते।

'प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन', 'महाकवि सूरदास', और 'हिन्दी-साहित्य का सक्षिप्त इतिहास'—वाजपेयी जी के ये तीन ग्रन्थ प्रबन्धात्मक है, यद्यपि इनकी विषय-प्रस्थापन की प्रक्रिया और शैली पूर्णत शास्त्रीय और निर्वैयक्तिक न होकर स्वच्छन्दतावादी तथा व्यक्तिनिष्ठ कोटि की है। केवल विषय-विवेचन की सर्वांगी-णता ही इन कृतियो को निबन्ध-श्रेणी से प्रबन्ध-सीमा के भीतर रख देती है। इस प्रबन्धात्मक-आवरण के कारण हम इन रचनाओ को अपने विवेचन की परिसीमा के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं कर रहे हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से वाजपेयी जी के निबन्धो के तीन-चौथाई से भी अधिक निबन्ध साहित्यिक विषयो पर लिखे गये हैं। इसमे से भी अधिकाश समीक्षात्मक हैं। साहित्येतर विषयो मे वाजपेयी जी ने कुछ दार्शनिक, कुछ सामयिक, कुछ यात्रा-विषयक और कुछ राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याओ से सबधित निबन्ध लिखे हैं। कुछ शैक्षणिक और कुछ सास्कृतिक-धार्मिक विषयो पर भी लिखे गये हैं। व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध होने के कारण इनमे आद्यन्त वाजपेयी जी की निजी अनुभूतिया और मान्यतायें भी अभिव्यक्त हुई हैं। व्यक्तिगत विशेषताओं से सम्पन्न होते हुए भी उनके निबन्ध व्यक्ति-वैचित्र्यवाद अथवा चमत्कारवाद से युक्त नही है, प्रत्युत् वे उनके सुसाहित और सुसतुलित व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया हैं। वस्तुत उनका सश्लिष्ट और सौष्ठववादी व्यक्तित्व ही उनके निबन्धो मे रूपायित हुआ है।

वाजपेयी जी एक तत्त्वदर्शी कृति-समीक्षक के साथ-साथ अग्रेजी, सस्कृत और हिन्दी-साहित्य के पण्डित और आचार्य तथा सफल अध्यापक भी हैं। कृति-समीक्षक के कारण उनके निबन्धों मे उनके व्यक्तित्व की गहरी साहित्य-निष्ठा, जीवन-दर्शन-

सम्बन्धी उदात्तता और व्यापक दृष्टि मिलती है, आचार्य और पण्डित होने के कारण विशद साहित्यिक मथन, नवीन विचारोत्तेजन की क्षमता और विषय के मर्म तक पैठने की तलस्पर्शी प्रज्ञा तथा सफल अध्यापक होने के कारण दुर्बोध और कठिन विषय को भी सरल से सरलतम रूप मे प्रस्तुत करने की क्षमता उनके निबन्धो की प्रतिनिधि विशेषतायें बन गई हैं। वैचारिक दुरूहता, साम्प्रदायिक सकीर्णता और अभिव्यक्ति की जटिलता उनके निबन्धो मे कही भी नही मिलती।

व्यक्तिगत निबन्ध की रचना प्रक्रिया मे भावग्रहण, विचारण तथा सुतीव्र अभिव्यक्ति ये तीन उपकरण प्रमुख होते हैं। वाजपेयी जी के निबन्धो मे इनका उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। वे हिन्दी के प्रथम स्वच्छन्दतावादी समीक्षक हैं। प्रत्येक स्वच्छन्दतावादी कवि या लेखक भावावेश की असाधारण अवस्था विशेष मे ही अपनी रचना प्रस्तुत करता है। समीक्षा-कार्य मे प्रवृत होते समय समीक्षक भी अपनी अन्त प्रेरणा से परिचालित रहता है, किन्तु उसके इस कार्य के सहयोगी तत्त्व रागात्मक न होकर बौद्धिक—चिन्तन, मनन, विवेचन से सबद्ध हुआ करते हैं। वाजपेयी जी के निबन्धो के मूल मे भी यही सर्जनशील अन्त प्रेरणा विद्यमान है। इसी कारण उनके निबन्धो का आरम्भ और अन्त अप्रत्याशित होता है। अपनी प्रेरणा के अनुरूप वे अपने निबन्धो को किसी भी स्थल से आरम्भ कर देते हैं और जहा प्रेरणा का प्रसार समाप्त हुआ, निबन्ध का भी समापन कर देते हैं। अन्त-प्रेरणा के फलस्वरूप ही उनके निबन्ध आकार मे लघु है। इसी का प्रतिफलन उनके निबन्धो मे विषय विवेचन की असपूर्णता के रूप मे भी देखा जा सकता है। विवेचन की असपूर्णता का अर्थ यह नही कि उन्होने जिस विषय को प्रस्तुत किया है, उसे बीच मे ही, अधूरा छोड दिया है, प्रत्युत विषय को सर्वांग रूप मे प्रस्तुत न करके उन्होने उसके अग विशेष को ही उठाया है और उसे समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सपूर्ण विषय-विवेचन का विस्तार उनके निबन्धो मे नही मिलता जिसका न मिलना ही स्वाभाविक है, क्योकि विषय-विवेचन की असपूर्णता निबन्ध का एक आवश्यक उपादान है, किन्तु जिस दृष्टिकोण-विशेष को आधार बनाकर वाजपेयी जी ने अपने विषय को प्रस्तुत किया है वह खडित न होकर अखण्ड है, उनके विचारो मे कार्य कारण की तारतम्यपूर्ण शृ खला है और निबन्ध अपनी सीमा मे पूर्णत सुसबद्ध हैं।

एक रचना मे एक ही विचार धारा या दृष्टिकोण की उपस्थापना के कारण वाजपेयी जी के निबन्धो मे विषय के व्यापकत्व की जगह गहराई अधिक आ गई है। उनकी सारग्राहिणी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि भी अत्यन्त तीक्ष्ण है, विषय और विचारो के ऊहापोह मे भी मूल मर्म का उद्घाटन करने मे उनकी यह विशेषता परिलक्षणीय है। इस मनीषा के कारण वे अपने निबन्धो के बीच-बीच मे अनेक तात्त्विक प्रश्न उठाते चलते हैं। उनमे से कुछ का तो उत्तर स्वय दे देते हैं, शेष

पाठको और साहित्यिक जिज्ञासुओ के लिए छोड देते हैं। विषय से सबधित प्रश्नो की झडी लगाने की उनकी यह क्षमता और विशेषता हिन्दी के अन्य निबन्धकारो मे विरलता से मिलती है।

वाजपेयी जी के सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। उनके निबन्धो मे दूसरो के मत और उद्धरण अत्यत विरल हैं। जो कुछ आये भी हैं वे खण्डन-मण्डन या कहीं-कहीं अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए आये हैं। वाजपेयी जी का प्रत्येक विषय पर अपना स्वतन्त्र मत ही उनके निबन्धो मे सर्वोपरि है। इस मौलिक चिन्तना मे उनकी अपार आत्मनिष्ठा, सुदृढता, दार्शनिक गम्भीरता और तात्विकता विद्यमान है। वस्तुत वाजपेयी जी ने निबन्ध साहित्य को आत्माभिव्यक्ति का साधन बनाया है और इस कार्य मे वे कृतकृत्य भी हुए हैं।

जहाँ तक उनकी विचारणा के स्वरूप का प्रश्न है, वह उनके उदार, मनस्वी और स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व की विभूति है। वाजपेयी जी हिन्दी-समीक्षा मे सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति के जनक हैं। सर्वप्रथम भारतीय तथा पाश्चात्य विचार-धाराओ का सम्यक् समन्वय करके उन्होने हिन्दी मे भारोपीय समीक्षा-शैली को भी जन्म दिया है। उनके विचारो मे पौर्वात्य और पाश्चात्य का ही नही, प्राचीन और अत्याधुनिक, आदर्श और यथार्थ, सूक्ष्म और स्थूल आदि का भी समन्वय है। वे रसवादी समीक्षक हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त का विवेचन युग-चेतना के अनुकूल करते हुए वे उसका अग्रिम विकास करते है और उसके विकसनशील रूप का ही समर्थन करते हैं। प्राचीन सिद्धान्तो की जडता, गतानुगतिकता और रूढियो के प्रति वे विद्रोही हैं। साहित्य मे अगतिशील तत्वो की वे उपेक्षा करते है। वर्तमान विचार-सरणियो के ऊहापोह मे से वे केवल उन्हीं तत्वो का ग्रहण-समर्थन करते है जो मानवीय जीवन तथा साहित्य के राष्ट्रीय और सास्कृतिक उत्थान मे सहायक सिद्ध हो।

आरम्भ से ही वाजपेयी जी अपनी वैचारिक प्रखरता, व्यापकता तथा मौलिकता लेकर हिन्दी मे अवतरित हुए। उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के निबन्धो मे जो प्राथमिक वक्तव्य दिए है वे आज भी उसी रूप मे मान्य और समादृत है। इतना ही नही, वाजपेयी जी के ये विचार परवर्ती काल मे छायावादी कवियो और लेखको पर शोध-कार्य करने के आधार-स्तम्भ बने। उनके निबन्धों की यह विचारात्मक गरिमा सहज ही उनके मननशील व्यक्तित्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। विचारो की सकुलता, दार्शनिक गम्भीरता और सघनता उनके साहित्यिक-समीक्षात्मक निबन्धो के स्वाभाविक लक्षण हैं। इसीलिए उनके निबन्ध हिन्दी-साहित्य मे आदर्श विचारात्मक निबन्धो का

स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। प्रखर विचारात्मकता के साथ व्यक्तिगत विशेषतायें उनके निबन्धों को नवीन दीप्ति प्रदान करती हैं।

'राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्यायें' शीर्षक कृति मे वाजपेयी जी के 'आकाश और पृथ्वी' जैसे कतिपय यात्रा-विषयक और वर्णनात्मक-विवरणात्मक निबन्ध भी हैं। इनमे उनकी उन्मुक्त कल्पनायें, बिम्ब-ग्राहिणी शैली और कतिपय शब्दो के द्वारा ही वस्तु को साकारता प्रदान करने वाली कला स्पृहणीय है। इसी कृति मे वाजपेयी जी के 'साहित्य का मर्म' जैसे कुछ समीक्षा-सिद्धान्तो से सम्बधित निबन्ध भी हैं जिन्हे उन्होंने एक कथात्मक आवरण मे प्रस्तुत किया है। सैद्धान्तिक समीक्षा के विकास को या राष्ट्र-भाषा हिन्दी की समस्याओ को कथा के रूप-प्रवाह मे प्रस्तुत करना वाजपेयी जी के निबन्धो का एक नवीन शिल्प-विधान है।

'आलोचना' पत्रिका के सपादकीय वक्तव्यो मे विषय और विचारो का सगुम्फन है। ये निबन्ध हिंदी-साहित्य की आधुनिक गति-विधि और समस्याओ को केन्द्रित करके लिखे गये हैं। अध्यक्षीय अभिभाषणों के विषय भी लगभग यही हैं; किन्तु वाजपेयी जी के किसी भी निबध मे विषय-साम्य होते हुए भी विचारो की पुनरुक्तियां नही मिलतीं। इसीलिए उनके प्रत्येक निबन्ध का स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व है। उन्होंने अपने कतिपय अभिभाषणो मे शोध-कार्य, विषय-प्रवर्तन, विश्व-विद्यालयीय पाठ्य-क्रम की एकरूपता, राष्ट्रभाषा हिंदी आदि विविध विषयो की महत्वपूर्ण समस्याओ को उठाकर उनका सम्यक् समाधान भी प्रस्तुत किया है। इन भाषणो मे बोलने की धारावाहिकता, उनके व्यक्तित्व की गम्भीरता तथा चिन्तन-शीलता विद्यमान है। वाजपेयी जी 'भारत' पत्र का सपादन भी कुछ समय तक करते रहे है, *साथ ही वे 'सूरसागर' और 'मानस' जैसे ग्रथो का भी सपादन-कार्य* कर चुके हैं, अतएव उनके सपादकीय वक्तव्यो मे एक सुयोग्य सम्पादक की प्रतिभा, कौशल, नूतन विचारोत्तेजना और सामयिक जीवन तथा साहित्य के प्रति सहज सतर्कता मिलती है। सामयिक जीवन और साहित्य की महत्वपूर्ण समस्याओ को उठाने एव उनका समाधान करने की चेष्टा के कारण वाजपेयी जी के ये सपादकीय वक्तव्य और अभिभाषण आकार में अपेक्षाकृत कुछ बडे हो गये हैं।

आकाशवाणी से प्रसरण की यांत्रिक भूमिका को ध्यान मे रखकर लिखी गई उनकी वार्ताओ तथा पुस्तको की परिचयात्मक-समीक्षाओ मे आश्चर्यजनक आकार-लघुता, वैचारिक गरिमा तथा दृष्टिकोण-विशेष की परिपूर्णता मिलती है। उनकी ये वार्तायें अधिकतर साहित्यिक विषयों पर ही लिखी गई हैं। *'श्रीकृष्ण-जयती', 'आपके स्वाध्याय की पुस्तकें' आदि कुछ सामयिक, सास्कृतिक और शैक्षणिक* विषयो पर भी लिखी गई हैं।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' मे सकलित 'बुद्धिवाद अधूरी जीवन-दृष्टि' तथा 'वैदिक दर्शन : समग्र जीवन-दृष्टि' वाजपेयी जी के ये दो दार्शनिक निबन्ध हैं । इनमे उनका जीवन-सम्बन्धी तात्विक चिन्तन हमारे समक्ष आता है ।

'दो शब्द', 'भूमिका', 'प्राक्कथन', 'सम्मति', 'निकष' आदि के रूप में वाजपेयी जी की जो रचनायें हैं, उनमे से अधिकाशत. विचारात्मक निबन्धो की गरिमा से परिपूर्ण हैं । उनकी कृतियो की प्राय सारी भूमिकायें सुविस्तृत है और वे अपने आप मे स्वतन्त्र महत्व रखती हैं । इन भूमिकाओ मे वाजपेयी जी ने अपने समीक्षादर्शों, साहित्यिक प्रतिमानो और सामयिक साहित्य की गति-विधियो की समीक्षात्मक सामग्री प्रस्तुत की है । सौष्ठववादी समीक्षा-प्रक्रिया के सप्त सूत्र उनकी 'हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी' नामक कृति की भूमिका मे ही स्पष्ट रूप से विज्ञापित हुए हैं । दूसरे लेखको की कृतियो के आरम्भ मे वाजपेयी जी के जो वक्तव्य हैं वे भी उनके साहित्यिक विचारो और मान्यताओ की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि इनमे से अधिकतर निबन्ध की सीमा मे नही आते, वे अत्यत लघु और उपचार मे परिचयात्मक हैं ।

निबध-शिल्प की दृष्टि से वाजपेयी जी अपने निबधो मे आत्मीयता, पाठको से निकटता, सरसता, आकर्षण, कुतूहल आदि तत्वो की सृष्टि के लिए प्रकारान्तर से या विषयान्तरित होकर विवेच्य लेखक के साथ अपने वैयक्तिक सबधो, सस्मरणो या उनके साथ हुए अपने वार्तालापों को भी प्रस्तुत कर देते हैं । इससे उनके विवेचन मे अधिक विश्वसनीयता और स्पष्टता आ जाती है। इसी प्रकार वाजपेयी जी अपने विषय पर तो तत्काल ही आ जाते हैं, किन्तु उसकी स्पष्टता के लिए बाद मे सम्यक् पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार उनके निबन्धो मे विवेच्य विषय अपने सम्पूर्ण परिपार्श्व के साथ प्रस्तुत होता है । साहित्यिक-समीक्षात्मक निबन्धो की शिल्प सबधी, वाजपेयी जी की यह एक सार्वत्रिक विशेषता है जिसे उनके किसी भी निबध मे न्यूनाधिक रूप मे देखा जा सकता है । हा, यात्रिक भूमिका को ध्यान मे रखकर लिखे गये उनके निबधो मे यह वस्तु विरल है, जिसका प्रमुख कारण आकार और समय-सबधी सकोच है। जहाँ यह लगाव नही, वहाँ सम्यक् पृष्ठभूमि के निर्माण के कारण वाजपेयी जी के निबध आकार मे कुछ बडे भी हो गये हैं । शिल्प-सबधी उनके निबधो की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता—समसामयिक तथा समान महत्व और विशेषता-सम्पन्न लेखको के साथ तुलना करते हुए विवेच्य विषय की महत्ता और उसकी सीमाओ का उद्घाटन करना है । इसके कारण भी उनके निबधो के आकार मे वृद्धि हुई है । 'जयशकर प्रसाद', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'रत्नाकर' या 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की अन्य किसी भी रचना को इस प्रसग मे, उदाहरण-रूप मे देखा जा सकता है ।

भाषा-शैली की दृष्टि से वाजपेयी जी के निबंधो की जो एक अति सामान्य विशेषता है, वह विचारो की सघनता तथा अभिव्यक्ति का लाघव है। थोडे शब्दो मे अधिक बातो को कहने की वृत्ति के कारण उनके निबंधो की प्रमुख शैली सूत्रात्मक है। विषय और विचारो के अनुरूप वह गम्भीर और अर्थवर्ती है। विषय-वस्तु के समान शैली पर भी उनके व्यक्तित्व का अक्षुण्ण प्रभाव पड़ने के कारण वह आत्मपरक या 'मैं' रूप मे प्रस्तुत हुई है। इस आत्मपरकता के द्वारा भी वाजपेयी जी की आत्मनिष्ठा प्रकट हुई है। शैली का दार्शनिक विवेचन करने वाले बफन का कथन—'व्यक्तित्व ही शैली है' वस्तुत वाजपेयी जी के विषय मे पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है। उनके व्यक्तित्व की गुरुता तथा उदात्तता के कारण उनकी शैली भी गम्भीर और औदात्यपूर्ण है। उसमे कही भी, किसी प्रकार का हल्का या छिछलापन नही मिलता। व्यक्तित्व की अडिगता, निर्भीकता और प्रशस्तता के कारण उनकी शैली मे भी विचारो को स्पष्ट रूप से व्यजित करने की शक्तिमत्ता, बल और ओजस्विता निहित है। दार्शनिक और मौलिक चिन्तक होने के कारण उनकी शैली मे विचार-गुम्फन की पूर्ण सामर्थ्य है। सूत्रात्मक मनोवृत्ति के कारण वह सामासिक है। यहाँ तक, उनका विश्लेषण-विवेचन का कार्य भी सामासिक पदावलियो के द्वारा सम्पन्न होता है। व्यास-प्रधान, इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक या विचारात्मक शैलियो की उनके निबंधो मे विरलता है। हा, आवश्यकतानुसार उनके निबंधो मे आगमन-निगमन, खण्डन-मण्डन, विचारात्मक, भावात्मक, उद्बोधनात्मक, तुलनात्मक, सभाषणात्मक, कथात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक, निर्णयात्मक आदि शैलियो का प्रयोग अवश्य मिलता है।

अपने आरम्भिक काल मे वाजपेयी जी छायावादी कवितायें भी लिखते रहे है। उनका यह कवि-हृदय उनके निबन्धो मे यत्र तत्र रागात्मक शैली के रूप मे दिखाई दे जाता है। जहाँ पर वाजपेयी जी ने इस शैली का प्रयोग किया है, वहाँ पर उनके निबधाश गद्यकाव्य के निकट पहुच गए है। ऐसे स्थलों पर उनके वाक्य बडे-बडे हो गए है और अलकारो की सौष्ठवपूर्ण छटा भी दिखाई देने लगी है। भाषा के प्रवाह मे उनकी अलकार-योजना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न रखकर दूध मे मिश्री की भाति मिली रहती है। ऐसे भावात्मक अशो मे उनकी सौन्दर्यमय प्रतीक-योजना और प्रासादिक, प्रवाहपूर्ण शब्द-विधान भी द्रष्टव्य होता है। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा की हीरक जयती के अवसर पर दिए गए उनके अध्यक्षीय अभिभाषण के आरम्भ मे उनकी रागात्मक शैली की उपर्युक्त सभी विशेषतायें विद्यमान हैं।

साधारणत. वाजपेयी जी के वाक्य छोटे-छोटे अमिश्रित कोटि के होते हैं। भाषा प्राजल, परिमार्जित तथा तत्सम शब्दो से परिपूर्ण है। वह कलात्मक,

साहित्यिक और लाक्षणिक तथा व्यजनात्मक है। वस्तुत उनकी भाषा भी उनकी वैयक्तिक चेतना की प्रतीक है जिसे कही भी, किसी भी रूप मे देखकर अलग से पहचाना जा सकता है। उसमे सूक्ष्म तथा गम्भीर भावो और विचारो को अभिव्यक्त करने का पूर्ण सामर्थ्य है। शब्दो की सुन्दर सगति और समीचीन प्रयोग, उनकी अन्तरात्मा को पहचानने की क्षमता, बिम्बग्राहिणी शक्ति, वाक्यो की तार्किक व्यवस्था और पूर्वापर समन्विति उनकी भाषा-शैली की अन्य प्रमुख विशेषतायें हैं। शब्दो का अपव्यय उनके निबन्धो मे किंचित् भी देखने को नही मिलता। उनके प्रत्येक वाक्य मे हर शब्द अपने स्थान पर अच्युत होकर बैठा है। वाजपेयी जी के भाषा सम्बन्धी आदर्श की यह विशेषता है कि उनके किसी भी वाक्य मे एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त नही हुआ। जहाँ अपवाद रूप मे ऐसे प्रयोग मिलते हैं, वहाँ उस शब्द विशेष पर अतिरिक्त बल प्रदान करने के लिए ही ऐसा किया गया है। उनके इस कार्य मे उनकी सामासिक शक्ति ही अन्तर्निहित है जो एक ओर उनकी भाषा-सबधी सम्वर्द्धना और परिष्कृति की सूचक है, दूसरी ओर उनकी वैचारिक गतिशीलता की ओर भी सकेत करती है। उनकी शैली मे आवर्तन न होकर अपरिमित गति है।

वाजपेयी जी की भाषा मे यद्यपि शुद्धता और प्राजलता का पूर्ण ध्यान है तथापि वे विजातीय शब्दो की उपेक्षा नही कर सके हैं। समन्वयशील मनोवृत्ति के कारण शब्द-सचयन के क्षेत्र मे भी उनकी उदारता और सहानुभूति दिखाई देती है। हम कह चुके हैं कि उनके विचारो की अभिव्यक्ति के धारावाहिक प्रवाह मे जो भी शब्द जिस रूप मे आ गया, वह उसी रूप मे अपरिवर्तनीय होकर उनकी भाषा का अभिन्न अग बन गया है। इसीलिए उर्दू-फारसी, अग्रेजी आदि के शब्द और पदावलियाँ उनकी भाषा मे यत्र-तत्र दिखाई देती हैं। वाजपेयी जी जहाँ अपनी तरग मे आकर व्यग्य-विनोद की मीठी चुटकी लेते हैं वहाँ पर अक्सर उर्दू-अग्रेजी के सामान्य बोलचाल के शब्द आकर उसमे सरसता प्रदान करते हैं। उनके व्यग्य-विनोद आचार्य शुक्ल जी की तरह तिलमिलाने वाले न होकर मार्मिक आघात करने वाले हैं। मर्माघात के ऊपर वे सरसता का मरहम भी लगा देते हैं जिससे चोट खाने वाला व्यक्ति भी क्षुब्ध न होकर सुस्मित हो उठता है। प्रेमचन्द से सम्बन्धित उनके निबन्धो को इस प्रसग मे देखा जा सकता है।

वाजपेयी जी भाषा के कायल नही है और न भाषा के द्वारा विचार-गोपन, आच्छादन या शब्द जाल खडा करने की उनकी वृत्ति है। भाषा उनके विचारो तथा भावनाओ की अनुगामिनी है और उस पर उनका पूर्ण स्वामित्व है।

वाजपेयी जी एक कुशल शब्द-शिल्पी भी हैं। अनेक प्राचीन, अप्रचलित शब्दो का प्रयोग करके उन्होंने इन शब्दो मे नवीन अर्थ-गरिमा प्रदान की है, अनेक

नये शब्दो और समीक्षात्मक पदावलियों का निर्माण तथा सहस्रो अंग्रेजी शब्दो का हिन्दी मे सटीक अनुवाद करके उनका प्रचलन किया है। 'व्यक्तित्व' जैसे शब्दो के निर्माण मे यद्यपि उन्हे सस्कृत-पडितो की वक्रदृष्टि का भाजन भी होना पडा, तथापि उनकी दृढता और निष्ठा के कारण आज ये शब्द हिन्दी मे सर्वाधिक व्यवहृत हो रहे हैं।

इस प्रकार वाजपेयी जी ने अपनी प्रौढ और सशक्त लेखनी के द्वारा न केवल आधुनिक युग के वैचारिक निबन्धो की वस्तु-सबन्धी गरिमा को आलोकित किया, वरन् निबन्ध-शिल्प तथा शैली का अभिनव स्वरूप प्रस्तुत करके अपने सर्जनशील व्यक्तित्व के द्वारा हिन्दी के शब्द-भाण्डार की भी श्रीवृद्धि की है। सभी दृष्टियो से इस युग के साहित्य मनीषी निबन्धकारो मे आपका स्थान मूर्धन्य है और आपके निबन्ध हिन्दी-साहित्य की स्थायी उपलब्धियाँ हैं।

●

वाजपेयी जी के निबंध-साहित्य में व्यंग्य

—डा० नत्थनसिंह एम ए, पी-एच. डी

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार और समीक्षक हैं। आपने समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो पक्षो से सम्बन्धित अनेक विषयो पर समीक्षात्मक निबध लिखे हैं। आकार और प्रकार दोनो ही दृष्टियो से ये निबध साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

प्राय देखा गया है कि गम्भीर विषयो का प्रतिपादन करते समय विवेच्य का विश्लेषण, सिद्धातो की *व्याख्या और विरोधी मतो के खडन के साथ-साथ अपने* मत का प्रतिपादन प्रमुख होता है, *व्यग्य गौण*। गम्भीर विषयो से सम्बन्धित समीक्षात्मक निबधो मे निबधकार व्यग्य का आश्रय केवल विरोधी तर्कों के खडन, मतो के विरोध और मान्यताओ की सारहीनता प्रमाणित करने के लिए लिया करता है। आचार्य वाजपेयी जी के विषय मे भी यही बात चरितार्थ होती है।

आचार्य वाजपेयी, प० रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के गम्भीर लेखक हैं। अत आपके निबधो मे भी व्यग्य का पुट सर्वत्र और प्रचुरता के साथ न मिलकर यत्र-तत्र ही मिलता है। भारतेन्दु युग के निबन्ध-साहित्य की सी व्यग्यात्मकता के दर्शन न तो आचार्य शुक्ल के साहित्य मे होते हैं और न वाजपेयी जी के साहित्य मे। किन्तु समीक्षा की कसौटी विषयक जो मान्यताएँ आचार्य वाजपेयी जी को अमान्य हैं, उनकी निस्सारता सिद्ध करने के लिए कहीं कही तो आपने व्यग्य के हलके छींटे मारे हैं और कही-कही कस कर प्रहार किए हैं। ऐसे स्थलो पर ही आपके व्यग्य की तीक्ष्णता एव प्रखरता देखने योग्य है। इस दृष्टि से 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की 'विज्ञप्ति', 'जयशकर प्रसाद' नामक पुस्तक, विशेषरूपेण उसकी भूमिका, 'आलोचना' नामक पत्रिका के सम्पादकीय, 'आधुनिक साहित्य' नामक ग्रथ की भूमिका तथा 'नई कविता' एव 'नई समीक्षा' विषयक कतिपय लेख और 'नया साहित्य : नये प्रश्न' नामक रचना का 'निकष' विशेषत. उल्लेखनीय हैं।

आचार्य वाजपेयी जी की समीक्षा के मूलाधार हैं रचना की ऐतिहासिक वस्तु स्थिति, सामाजिक विकास क्रम, रचयिता के व्यक्तित्व और विचार-धारा के साथ रचना के मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक उपकरणों का अध्ययन। इसके अतिरिक्त, साहित्य के अन्तरग के विषय मे उनकी यह मान्यता भी विचारणीय है—"*सर्वप्रथम मानवता की वह चेतना है, जो अणुबम की छाया मे—शान्ति का उपाय खोज रही है, मानव-सहयोग का एक नया अध्याय खोलना चाहती है। और एशिया मे आज पुनर्जागरण हो रहा है, यहाँ नवीन सृजन के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। आधुनिक कवि और कलाकार इस जागरण के गतिशील तत्व को पहचानने का प्रयत्न भी करें। आज के कवि के समक्ष सास्कृतिक समन्वय की वह समस्या भी प्रस्तुत है जो पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन से उत्पन्न हुई है और जिसका एक सुन्दर सकेत प्रसाद जी ने 'कामायनी' काव्य मे दिया है। हमारे काव्य मे आज वह प्रेरणा भी अपेक्षित है जो उन समस्त भौतिक और सामाजिक निर्माणों के लिए शक्ति दे जो आज हमारे अस्तित्व के लिए अपरिहार्य हैं। इन तात्कालिक स्थितियों और समस्याओ पर आधुनिक रचनाशील कवियों और कलाकारों की दृष्टि जानी ही चाहिए। तभी हमारे काव्य का अतरग पुष्ट और प्रशस्त हो सकेगा।*"[1]

समीक्षा के उक्त मूलाधारों और काव्य की उपरि-लिखित अतरग की भावना पर जिस समीक्षक अथवा कलाकार ने अवहेलना तथा उदासीनतापरक दृष्टि डाली है, वही आपके व्यग्य का शिकार बना है। इसके अतिरिक्त, विज्ञापन को साहित्य मे महत्त्व देने वाले कलाकार, मतवाद अथवा विशिष्ट मान्यताओं की नीव पर साहित्य का महल खडा करने वाले रचनाकार, राष्ट्रीय विशेषता की उपेक्षा करके साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीयता के घेरे मे खींच ले जाने वाले साहित्यिक, साहित्य मे अतिशय यथार्थवाद की धूम मचाने वाले यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक चित्रण के नाम पर *नग्नता, निराशा, कुण्ठा, निष्क्रियता तथा असामाजिकता का प्रसार करने वाले अन्तश्चेतनावादी*, छायावादी कवि को व्यक्तिवादी, पलायनवादी, स्वप्नद्रष्टा, मधुचर्याप्रेमी या अनन्त का उपासक कह कर यथार्थोन्मुखी कला-विहीनता की ओर घसीटने वाले समीक्षक, अस्थिर, अल्प और अपरिपक्व मति के समीक्षक, निरुद्देश्य यात्रा पर निकले राहो के अन्वेषी प्रयोगवादी कवि, साहित्य जगत् मे प्रयोगवाद का ऊँट छोडने वाले फ्रायड और जुग के भारतीय शिष्य, अशोभनीय, असास्कृतिक तथा असामाजिक तत्त्व लेकर साहित्य-सदन मे प्रविष्ट होने वाले साहित्यकार, छायावाद को हिस्टीरिया और प्रगतिवाद को दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औद्धत्य की सीमा पर पहुँचा हुआ *पर-पीडन प्रेम कह कर प्रयोगवाद को दोनों के समन्वय से*

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४५

पैदा हुआ काव्य कहनेवाला समीक्षक, लोक-मर्यादा तथा शालीनता को विस्मृत कर देने वाला साहित्य-स्रष्टा, सामाजिक जीवन की उपेक्षा से पूर्ण और स्वस्थ दृष्टिकोण-विहीन उपन्यासकार, यौन-सबन्धो की विशृ खलता, चारित्रिक ह्रास, शील तथा सयम आदि का विपर्यय दिखाने वाले कथाकार, चरित्रहीनता और यौन-असगतियो को ही क्रान्तिवादिता मान लेने वाले लेखक, साहित्य को समाजवादी तथा पूँजीवादी सीमाओ मे बद कर लेने वाले प्रगतिशील आलोचक, सुधारवादिता और उपदेशपूर्ण रचना को ही उच्चकोटि की कृति मान लेने वाले आलोचक, प्रसाद के ऐतिहासिक पात्रो को बाबाआदम के युग के चरित्र कह कर उनके सास्कृतिक एव राष्ट्रीय मूल्य का विघटन करने वाले समीक्षक, उनके रहस्यवाद को रूढिवाद की सज्ञा देने वाले साहित्यिक प्रवर और उनको 'एस्केपिस्ट' कहने वाले विवेचक, साहित्य मे मानवीयता के नाम पर इधर-उधर के तत्वो को ठूसने वाले साहित्यिक, साहित्य मे सैद्धान्तिक नुस्खो और चुने-चुनाये वाक्याशो मे लोक-जीवन की अभिव्यक्ति करने वाले कलाकार, शृ गार का परिमार्जन तथा परिष्कार करके रस की व्यजना करने मे असमर्थ, पर उसकी भर्त्सना करने वाले भारतेन्दु-द्विवेदी-युगीन कतिपय कवि, रचना के यथार्थ-सौन्दर्य की परख न करके अन्य बातो पर लेखनी चलाने वाले समीक्षक, छायावादी काव्यगत राष्ट्रीय-सास्कृतिक तत्वो को समझे बिना उस पर हमला बोल देने वाले आलोचक, प्रत्येक विचार को नवसन्देश कह कर उसकी ओर दौडने वाले साहित्यिक 'रूप' और 'मूल्य' की पृथक्-पृथक् कसौटियो पर काव्य का मूल्याङ्कन करने वाले कलाकार और साहित्य को अर्थनीति तथा वर्ग-चेतना का अनुगामी मान लेने वाले समालोचक आदि आचार्य वाजपेयी जी के व्यग्य के शिकार हुए है।

सुविधा के लिए आचार्य वाजपेयी जी के व्यग्य को पाँच वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—पहला प्रगतिवादी समीक्षक तथा प्रगतिवादी मान्यता विषयक व्यग्य; दूसरा प्रयोगवादी काव्य की मान्यता तथा प्रयोगवादी समीक्षा से सबधित व्यग्य, तीसरा मनोवैज्ञानिक रचना, रचना सिद्धात और मनोवैज्ञानिक कलाकारो से सम्बन्धित व्यग्य, चौथा, काव्य मे असामाजिक तथा असास्कृतिक तत्वो विषयक व्यग्य और पाचवाँ विविध।

प्रथम प्रकार के व्यग्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। कुछ नए और प्राचीन रहस्यवादी कवियो को लेकर समीक्षा-क्षेत्र मे प्रगतिवादी आलोचकों ने जो मान्यताएँ स्थापित की, उन पर व्यग्य इस प्रकार किया गया है—"छायावाद और रहस्यवाद पर इनका आक्रमण नादिरशाही ढग का है, क्योकि इसी से ये अधिकार छीनना चाहते हैं। 'छायावाद या पलायनवाद' यही उनका नारा है जिसके बूते से साहित्य के एक युग विशेष को हडप जाना चाहते हैं। इस युग के साहित्य को

हरी-भरी खेती पर ये कहर ढाते फिरते हैं। भाँति-भाँति के फिक्रे निकाल कर इन्हीं अस्त्रों से केवल छायावाद या रहस्यवाद के काव्य को ही नही, पूर्ववर्ती सपूर्ण हिन्दी-साहित्य को—हमारी राष्ट्रीय सस्कृति की अमिट धारा को—मिटा देना चाहते हैं। देखें, इनकी उछल-कूद से पैदा हुई अराजकता कितने दिन टिकती है।"[1]

'पल्लव' के उपरान्त पत जी का 'गुन्जन' प्रकाशित हुआ। 'पल्लव' मे पतजी का काव्य उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुच गया था। 'गु जन' के प्रकाशन पर विज्ञप्ति की गई थी कि इसमे सरगम के 'सा' से आगे बढ कर 'रे' के स्वर का सधान किया गया है। विज्ञप्ति के अनुसार 'गु जन' को उत्कर्ष की सीमा पर स्थापित किया गया, किन्तु वाजपेयी जी को यह प्रगति या उत्कर्ष नही प्रतीत होता। यही बात व्यग्य के आश्रय से इस प्रकार कही गई है—"किन्तु 'सा' के सार्थक प्रयोग के सामने 'रे' की बहुत कुछ निरर्थक पाद-पूर्ति मेरी दृष्टि मे कविता को आगे नही बढा सकी।"[2]

'गु जन' के बाद पत जी सामाजिक यथार्थ की ओर अधिक बढे। मार्क्स की विचार धारा का उनके मानस पर प्रभाव पडा और उन्होने प्रगतिवादी रूप स्वीकार कर लिया। पत जी के काव्य मे इस परिवर्तन को प्रगतिवादी समीक्षको ने स्वागत की दृष्टि से देखा। इस स्वीकृति और स्वागत पर व्यग्य का प्रहार करते हुए आपने लिखा—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान, सभी इस भयकर दुर्घटना मे ग्रस्त हो गये।"[3] इन शब्दों के पीछे काव्य की कलात्मकता के रक्षण का भाव प्रधान है। इन्हीं पक्तियो से आगे डा० रामविलास शर्मा द्वारा 'हस' मे लिखी पत जी की 'उत्तरा' की आलोचना पर व्यग्य किया गया है।

छायावाद-युग के प्रारम्भ मे समीक्षा का एक सुन्दर तथा स्वस्थ स्वरूप निर्मित होता जा रहा था, पर आगे चल कर हिन्दी समीक्षावाद विशेष के दल-दल मे फँस गई, इस मान्यता को दृष्टि मे रखकर वाजपेयी जी ने प्रगतिवादी समीक्षा पर इस प्रकार व्यग्य किया है—"केवल समाजवादी साहित्य और पूँजीवादी साहित्य के दो कठघरे बना कर मानव-समाज की सम्पूर्ण भावनात्मक और सांस्कृतिक सपत्ति को एक या दूसरे मे बन्द कर दिया गया है। पहला कठघरा दूषित और अपवित्र है दूसरा कठघरा शुभ्र और पवित्र। मानव के सामूहिक और सांस्कृतिक विकास के साथ इस प्रकार का खिलवाड नहीं किया जा सकता।"[4]

---

१ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी—विज्ञप्ति, पृ० १२
२ वही, पृ० १६
३ आधुनिक साहित्य, पृ० ३२
४ वही, पृ० ३६१

'यशपाल' और 'राहुल' जी ने एक विशेष दृष्टिकोण से अपने साहित्य का सृजन किया है। इन लेखकों के वैज्ञानिक *यथार्थवादी दृष्टिकोण को आचार्य जी* श्रेष्ठ साहित्य के लिए अहितकर मानते हैं और इस मान्यता पर व्यग्य का प्रहार इन शब्दो मे करते हैं—"वह ताजगी जो किसी लेखक मे अपने अनुशीलन से आती है, इनमे शत-प्रतिशत कहाँ से आए। फिर ये दोनो लेखक मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व को कोरमकोर अर्थाश्रित मानते है और क्षण-क्षण मे उसकी खिल्ली उडाने को तैयार रहते हैं। *आलिंगन-चुम्बन, व्यभिचार और मास-मदिरा के नज्जारे* इनके उपन्यासो मे जितने अधिक हैं, किसी भी बडे लेखक मे शायद ही हो।"[1]

आपकी *मान्यता है कि प्रगतिवादी समीक्षा ने साहित्य के स्वाभाविक* विकास-क्रम और स्वस्थ आधार को मतवाद के चक्कर में डालकर, उसका अहित किया है। यही बात व्यग्य के द्वारा इस प्रकार कही गई है—"यदि यह नई समीक्षा-धारा साहित्य के स्वस्थ आधार को और उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को किसी कठोर मतवाद के साथ न जोड़ कर स्वतन्त्र स्थिति मे रहने देती और यदि लेखको और रचनाकारो को *उक्त मतवाद के लिए बाध्य और अभिभूत न होना पडता,* तो रचना और समीक्षा के दोनो क्षेत्रो को अधिक लाभ पहुचता।"[2] इन पक्तियो मे समीक्षा के स्वस्थ दृष्टिकोण के निर्माण पर बल दिया गया है। प्रगतिवादी समीक्षा-शैली को एकांगी और सीमित बताते हुए आपने इसी सम्बन्ध मे आगे लिखा है—"*हिन्दी मे हम अभी बिलकुल दूसरी स्थिति पर ठहरे हुए है।* केवल मतवादी शब्दावली का व्यवहार करते हुए समीक्षायें की जा रही है, व्यक्तियो को प्रमुखता दी जा रही है, उनकी कृतियो और उनके साहित्यिक सौष्ठव को नही।"[3] यहाँ व्यग्य स्पष्ट और स्थूल है, इसके मूल मे विरोधी मत के खण्डन के साथ-साथ रचनात्मकता की प्रबल भावना है।

प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति पर चुटीला व्यग्य इस प्रकार है—"हिन्दी मे इस समीक्षा-शैली का व्यावहारिक स्वरूप और भी विचित्र है। किस नवागन्तुक प्रतिभा को यह सहसा आसमान पर चढा देगी और कब उसे जमीन पर ला पटकेगी, इसका कुछ भी निश्चय नही है।"[4] प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति की शब्दावली और मतवादिता को लक्ष्य करके आप लिखते है—"आए दिन इनकी समीक्षाओ मे टीटोवाद, ट्राटस्कीवाद, मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट-स्टालिनिस्ट-पद्धति आदि शब्दावलियो का *बहुलता से प्रयोग हो रहा है, जिससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि ये साहित्य*

१ *नया-साहित्य . नये प्रश्न*—निकष, पृ० १७
२ वही, हिन्दी-समीक्षा का विकास, पृ० २८
३ वही, पृ० २९
४ वही, नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ, पृ० ४३

मे राजनीति ही नही, तात्कालिक और दैनिक राजनीति तथा कार्य-क्रम का भी नियमन करना चाहते हैं। इन्ही कार्यक्रमो का अनुसरण करने और न करने मे ही ये साहित्य प्रगतिशीलता और अप्रगतिशीलता—उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का निपटारा करते रहते है। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति मे कोई बडी प्रतिभा पनप नहीं सकती और यह भी स्वाभाविक है कि प्रगतिशीलता का सेहरा सिर पर रखने के लिए कुछ लोग बने-बनाये 'सरकारी नुस्खो' का आंख मूँद कर सेवन कर रहे हैं।"[1]

मार्क्सवाद की समीक्षा को आधार मान कर चलने वाला प्रगतिशील आलोचक जनता के स्वातन्त्र्य और बौद्धिक विकास की समर्थना करता है; पर स्वय अपने मतवाद का आरोप उसकी स्वाधीन विचारणा पर करता है। इस तथ्य को लक्ष्य करके आचार्य जी व्यग्य करते हैं—"इसी जनगण की स्वस्थ चेतना और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता का इजहार करते जो नही थकते, वे ही यह विदेशी लबादा भारतीय जनता पर लादना चाहते हैं। जिस प्रकार क्रिश्चियन धर्म की प्रलोभन-कारिणी चादर हमे अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियो मे भेंट की जा रही थी, *उसी प्रकार यह मार्क्सवादी लबादा इस बीसवी शताब्दी मे लादा जा रहा है।* जिस प्रकार भारतीय जनता अपने उस परवश युग में भी उस चादर के मोह में नहीं पडी उसी प्रकार यह नया लबादा भी उसके बीच खपाया न जा सकेगा।"[2]

प्रगतिवाद की असगतियो एव उलझनो की ओर व्यग्य की बौछार करते हुए *आप लिखते हैं—"यद्यपि ज्योतिष के ग्रहो की महादशा और अतर्दशा की भांति* इस प्रगतिवाद की भी अनेक अन्तर्दशाएँ दिखाई देती हैं। कभी-कभी तो मुख्य दशा और अन्तर्दशा के बीच इतना अन्तर्विरोध आ जाता है कि सारी स्थिति ही अस्पष्ट हो जाती है।"[3]

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य की रचना, रचना-सिद्धान्त, रचनाकार और समीक्षको की मान्यता एव विचारण मे जहाँ कही वाजपेयी जी को असगति, कलाहीनता और वर्गवादी मताधिक्य लक्षित हुआ है, वहाँ आपने कसकर व्यग्य किए हैं। इन व्यंग्यो के पीछे स्वस्थ और मुक्त साहित्य के निर्माण और विकास की कामना ही है, अन्यथा कुछ नही।

फ्रायड आदि पश्चिमी दार्शनिकों के स्वप्न-सिद्धान्त को लेकर हिन्दी-साहित्य की विविध विधाओं मे जिस अन्तश्चेतनावादी मनोवैज्ञानिकता का प्रसार हो रहा

१ नया-साहित्य : नये प्रश्न, नव्ययम समीक्षा-शैलिया, पृ० ४३
२ वही, पृ० ४५
३ वही, नये-साहित्य का विकास, पृ० २१६

है, उसको लक्ष्य करके वाजपेयी जी ने सुन्दर व्यग्य किए हैं। इस व्यग्य के मूल मे, *हिन्दी-साहित्य मे विकसित कुठा, यौनि-असगति, निराशा, इन्द्रिय-लिप्सा और असामाजिकता के निवारण का भाव है। आचार्य वाजपेयी के व्यग्य का* दूसरा रूप इन विचारो को लेकर चलने वाली प्रयोगवादी मान्यता से सम्बन्धित है। प्रयोगवाद के मूल मे परिव्याप्त बौद्धिकता पर आपने इस प्रकार चोट की है—"वास्तव मे ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं, परन्तु इन भले आदमियो को इतना तो समझना चाहिए कि कविता के क्षेत्र मे कोरा बुद्धिवाद अधिक दूर तक नही चल सकता। कहा जाता है कि हिन्दी-कविता को भावना की *निरर्थक और असामाजिक गहराइयो से ऊपर उठा कर स्वस्थ* भूमि मे रखने मे इन बुद्धिवादियो ने अच्छा योग दिया है, और अब भी दे रहे हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि इस योगदान मे वास्तविक कविता कितनी है?"[1]

प्रयोगवादी रचनाकारो ने असामाजिकता और निराशा का राग अलापा है, जीवन मे लक्ष्यहीनता और यौन–विशृ खलताओ का पाठ पढ़ाया है तथा साहित्य के स्वस्थ सामाजिक स्वरूप और आदर्श से दूर हटाने का प्रयास किया है। अत प्रयोगवादी साहित्य की राष्ट्रीय असास्कृतिकता और असामाजिकता पर प्रहार करते हुए आपने लिखा है—"हम किसी साहित्यिक रचना के पास इसलिए नही जाते कि उससे *निराशा और लक्ष्यहीनता लेकर लौटें*। न हम उस रचना की *उन बारीकियो* से ही सतुष्ट होते हैं, जिनके द्वारा उस निराशामूलक प्रभाव की सृष्टि होती है। कोई भला–चगा आदमी न तो बीमारी मोल लेना चाहेगा और न बीमारी बुलाने की कला जानने की चेष्टा करेगा। बीमार आदमी भी बीमारी से प्रेम नही रखता, फिर स्वस्थ समाज क्यो रखेगा ?"[2] यहाँ प्रयोगवादी साहित्य को एक बीमारी कह कर व्यग्य का शिकार बनाया गया है।

मनोवैज्ञानिक चित्रण के नाम पर यौन-असगतियों, व्यभिचार और चारित्रिक पतन की गाथाएँ कहने वाले उपन्यासकार, जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की नायिका 'मृणाल' को लेकर किया गया एक व्यग्य देखिए—"सामाजिक रूढि और मान्यता के विरोध मे दुष्कर्म को सत्कर्म मानकर बरतना मृणाल की विशेषता है। वह असामान्य विद्रोह की मूर्ति बन कर उपस्थित होती है, यद्यपि उसका विद्रोह समाज-व्यापी न होकर व्यक्तिगत है।"[3] इस व्यग्य की समाप्ति यहाँ पर ही नही होती, वह *आगे चलता है—"जीवन के अन्य सारे उपक्रम और परिपाटियाँ इस विद्रोही साधना*

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ३५

२ वही, पृष्ठ ४८

३ वही, पृ० २१९

की तुलना मे तुच्छ और त्याज्य हैं । प्रमोद की उच्चाभिलाषा, उसकी सहानुभूति, आदर्शवादिता और अजी भी मृणाल की विद्रोह-ज्वाला और ज्योति के समक्ष निष्प्रभ और अर्थहीन है ।"[1] इन पंक्तियो मे जैनेन्द्रकुमार के पात्रो की सामाजिक आदर्शों की अवहेलना करने वाली तथाकथित क्रान्तिवादिता को व्यग्य का निशाना बनाया गया है ।

जैनेन्द्र अपने उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिकता को स्वनिर्मित एक विशेष दार्शनिकता के साथ प्रस्तुत करते हैं । आचार्य वाजपेयी ने जैनेन्द्र की इस शैली पर भी व्यग्य किया है—'परन्तु जैनेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक वस्तु-निर्माण के साथ जब से दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे, तब से उनकी रचनाओ का प्रभाव और उत्कर्ष सदिग्ध हो गया है । कदाचित् मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश की प्रमुखता रखने वाले उपन्यासो को दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान के सम्पर्क मे लाना ही खतरनाक है ।"[2]

इसके अतिरिक्त, जैनेन्द्र जी के अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासो के चरित्र-चित्रण पर भी आपने व्यग्य किया है । नारी पात्रो को नग्न दिखाने की शैली पर चोट करते हुए आप लिखते हैं—"ऐसा प्रतीत होता है कि 'सुनीता' को नग्न दिखा कर और उसी स्थान पर उपन्यास की समाप्ति का आयोजन कर जैनेन्द्र जी हृदयस्थित कुठा को उद्घाटित करते हैं । किसी भी बुद्धिवादी उपन्यास मे ऐसी दशा-योजना असगत समझी जायगी । 'सुनीता' के पश्चात् 'कल्याणी' और 'कल्याणी' के उपरान्त 'त्याग-पत्र' मे जैनेन्द्र जी का यह वैयक्तिक पक्ष और भी निगूढ और रहस्यमय रूप मे अभिव्यक्त हुआ है, जिससे न केवल कहानी और चरित्र-चित्रण मे अस्पष्टता आई है, उपन्यास अपने असली उद्देश्य से भी बहुत कुछ वचित रह गए हैं ।"[3]

कतिपय आलोचको ने जैनेन्द्र जी के उपन्यासो को गांधीवादी दार्शनिकता से युक्त बतलाया है । इस उपपत्ति का विरोध करते हुए आपने लिखा है—"जैनेन्द्र जी के उपन्यासो मे ऐसी ही कल्पना का प्राबल्य है । कदाचित् इसी कारण उनके उपन्यास मध्यवर्गीय परिवार के छोटे से ही घेरे मे रहे । शरच्चद्र और प्रसाद के उपन्यासो की भांति वे सच्चे अर्थ मे स्वच्छदतावादी नहीं हैं, और न प्रेमचद के अनेक उपन्यासो की भांति वस्तुत गांधीवादी हैं । वे एक तीसरे ही अनजाने पथ पर चलते गए हैं ।"[4]

---

१ आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २२०
२ नया साहित्य . नये प्रश्न—नये उपन्यास, पृ० १७८
३ वही, व्यक्तिवादी उपन्यास, पृ० १८७
४ वही, निबध, पृ० १६

जनेन्द्र जी ही नही, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेयजी के उपन्यासो तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटको मे मनोवैज्ञानिकता के नाम पर असामाजिक तत्त्वो के प्रवेश पर आपने व्यग्य किये हैं । 'चित्रलेखा' मे मनोविज्ञान के आवरण मे निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को लक्ष्य करके आपने लिखा है—"वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यह कहे कि नए मनोविज्ञान नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बडे प्रश्नो को इतनी हलकी कलम से सँभाल पाना सम्भव नही । कदाचित् इसीलिए 'चित्रलेखा' एक प्रश्न बनकर रह गई है।"[1] इसी तरह इलाचद्र जोशी और अज्ञेयजी के मनोवैज्ञानिक, चित्रण पर आपने चोटें की हैं। इन उपन्यासो मे वर्तमान हीन और रुग्ण भावनाओ को लक्ष्य करके आपने लिखा है—"विज्ञान के नाम पर हीन और रुग्ण भावनाओ का चित्रण ही श्रेष्ठ साहित्य के नाम पर खपने लगेगा। क्या इस प्रक्रिया के द्वारा श्रेष्ठ साहित्यिक निर्माण की सम्भावना रह जायगी।"[2]

'शेखर एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' नामक रचनाओ मे व्याप्त अतिशय आत्मकेन्द्रिकता और अहवादिता के साथ उसकी असामाजिकता पर अनेक बार आचार्य वाजपेयी जी ने व्यग्य के प्रहार किए हैं। इन उपन्यासो के विषय मे लिखा है—"वे विशिष्ट इसलिए;हैं कि हिन्दी मे इस समय विशिष्टता का यही स्तर है। और इनकी लोकप्रियता भी एक विशेष प्रकार के पाठक समाज की ही अभिरुचि का प्रतिफल है।"[3] इन शब्दो मे अज्ञेयजी के उपन्यासो की विशिष्टता ही नही, वरन् उनके पाठक भी व्यग्य के निशाने बनाए गए हैं।

जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय तीनो मनोविज्ञानवादी उपन्यासकारो पर चुटीला व्यग्य करते हुए आपने लिखा है—"जिस प्रकार जैनेन्द्र जी के उपन्यास यौन-वर्जनाओ के कच्चे उभार की सूचना देते हैं और जिस प्रकार अज्ञेय जी को कृतियो मे आत्म-श्रेष्ठता या अह की भावना का व्याघात बना रहा है, उसी प्रकार जोशी जी की औपन्यासिक रचनाओ मे निपीडन, निष्कासन और हत्या आदि की व्यक्तिगत विषाद और आत्मग्लानिजन्य भावनाएँ रहा करती हैं। यदि इन अनुदात्त भावनाओं और प्रकृतियो से हमारे ये व्यक्तिवादी कलाकार ऊपर उठ पाते, तो हिन्दी-साहित्य का बडा उपकार होता।"[4]

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न, नये उपन्यास, पृ० १७७
२ वही, पृ० १७९
३ वही, पृ० १८८
४ वही, पृ० १८९

मिश्र जी के समस्या-प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटकों में कार्य-व्यापार के अभाव और पात्रों की अतिशय वाचालता के साथ, नाटक में परिव्याप्त रहस्यमयता पर इन शब्दों में व्यंग्य किया गया है—"उनके पात्र चर्चा अधिक करते हैं काम कम। उनके नाटकों में व्यापार पर्दे की आड़ में घटित होते हैं।"[1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अंकित अंतश्चेतनावादी यथार्थवाद पर व्यंग्य करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं—"यह पराजय का स्वर है, जिसमें हमारे आँसू मनुष्य के लिए नहीं माँगे जाते, किन्तु उसके किसी विकृत और कुत्सित टुकड़े के लिए माँगे जाते हैं।"[2] यहाँ आचार्य जी यह दिखाना चाहते हैं कि इन उपन्यासों में वर्णित मानवीय वेदना, निराशा और उत्पीडन के मूल में व्यक्ति या समाज के उत्कर्ष अथवा संवर्द्धन का भाव नहीं, वरन् यौन लिप्सा और इन्द्रियों की अतृप्ति-जन्य वेदना रहती है, जिसके मूल में निराशा और निष्क्रियता का प्राधान्य होता है।

वर्तमान साहित्य में व्याप्त कई प्रकार के यथार्थवाद और उनके अवश्यंभावी दुष्परिणामों पर चोट करते हुए आपने लिखा है—"इन विविध यथार्थों के मिश्रण से अन्य अनेक प्रकार के साहित्यिक पुटपाक तैयार होते रहते हैं। यदि यही यथार्थवाद है, तो इससे हिन्दी साहित्य की कौन सी श्री-वृद्धि होगी।"[3]

अन्तश्चेतना प्रधान मनोवैज्ञानिक साहित्य की उपलब्धियों को व्यंग्य का केन्द्र बना कर आपने लिखा है—"इनकी अन्तश्चेतना पद्धति ने साहित्य को नया दिया, यह तो ज्ञात नहीं, पर एक नए प्रकार की साहित्यिक धारणा अवश्य चल पड़ी है, जिसका आशय यह है कि साहित्य की सृष्टि अवसर भले आदमी नहीं करते, कुछ विशेष प्रकार के स्वप्न-द्रष्टा ही किया करते हैं । जिस प्रकार स्वप्न देखे गए दृश्यों का अर्थ और भाव समझना किसी वैज्ञानिक का ही काम है, वैसे ही इन काव्य प्रतीकों का अर्थ और भाव समझना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं।"[4]

मनोविज्ञानवादियों द्वारा साहित्य-रचना और समीक्षा के क्षेत्र में की गई प्रगति को लक्षित करके आपने लिखा है—"साहित्यिक कृति में उपस्थित भावों, विचारों, दार्शनिक निदर्शों और जीवन दृष्टियों को भी मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसा जाता है। साहित्य के आस्वाद की समस्या भी मनोवैज्ञानिक की नजर से बची नहीं है। इधर जबसे चेतन मनोविज्ञान से आगे बढ़कर उपचेतन और अन्तश्चेतन

---

१ 'नया साहित्य : नये प्रश्न' नये उपन्यास, पृ० १६९
२ वही, आधुनिक काव्य का अंतरंग, पृ० १४३–४४
३ वही, समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता, पृ० १३८
४ वही, नवीन यथार्थवाद, पृ० १४

मनोविज्ञान की शोधें हुई हैं, तबसे साहित्यिकों के लिए नई कृतियाँ प्रस्तुत करने के लिए बड़ा क्षेत्र खुल गया है।"[1]

आचार्य वाजपेयी जी की प्रयोगवाद विषयक मान्यताओं पर प्रयोगवादी खेमे में विरोध-मूलक टीका-टिप्पणी की गई, उसका उत्तर देते हुए आचार्य जी ने व्यंग्य का प्रहार इस प्रकार किया है—"तार सप्तक के सप्त-महारथियों के लिए मेरे निबन्ध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का 'बचकाना' प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि यह अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गये हैं और कई तो खेमा छोड़ कर बाहर चले गए है।"[2] इसी संबन्ध में आगे प्रयोगवाद की संभावनाओं के सम्बन्ध में शंका व्यक्त करते हुए आपने लिखा है—"पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिंबित होने लगा है। आश्चर्य नहीं, यदि निकट भविष्य में यह वही रंगत धारण करे जो पश्चिम में अति-यथार्थवादियों की रचनाओं ने धारण किया है। यदि ऐसा हुआ तो घुणाक्षर-न्याय वाली कहावत हिन्दी-साहित्य में भी चरितार्थ हो जायगी।"[3] इन पंक्तियों में प्रयोग-वादी-साहित्य के खोखलेपन पर आघात किया गया है।

मनोविज्ञान के चित्रण और वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम पर साहित्य में प्रयोगवादियों ने यौन कुण्ठा, वासना की विवृत्ति, चारित्रिक दुर्बलताएँ, जीवन की निराशा और घोर असामाजिकता की अभिव्यक्ति करना प्रारम्भ कर दिया। प्रयोग-वाद के इस रूप को देख कर आपने व्यंग्य किया—"साहित्य को इन अँधेरी गलियों में ले जाने का श्रेय किन महानुभावों को है? उनको, जो यह कहते हैं कि साहित्य हमारी अंतश्चेतना के 'स्वातन्त्र्य' का प्रतीक है। ऐसे लोगों से स्वातन्त्र्य की परिभाषा पूछना भी व्यर्थ है, क्योंकि उनका स्वातन्त्र्य उनकी निजी वस्तु है—नितान्त व्यक्तिगत। आज तक जिसे हम स्वातन्त्र्य समझते आये है, उससे उनके स्वातन्त्र्य का कोई संबध नहीं।"[4]

प्रयोगवादियों ने काव्य के स्वस्थ वस्तु तत्व की उपेक्षा करके शिल्प के संभा-लने पर अधिक बल दिया। इसी तथ्य को लक्ष्य करके आपने लिखा—"आरम्भ में

---

१. 'नया साहित्य . नये प्रश्न' निकष, पृ० १८
२. वही, पृ० २१
३ वही, पृ० २१
४. वही, पृष्ठ ३०

प्रयोगवादी लेखक शिल्प के पीछे इतने दीवाने रहे कि उन्होंने प्रयोग को साधन और साध्य दोनो मान लिया था ।"[1]

साराश मे यह कह सकते हैं कि आचार्य वाजपेयी जी ने प्रयोगवादी साहित्य की लगभग सभी मान्यताओ पर कस कर व्यग किये हैं और भरसक प्रयास किया है कि हिन्दी का पाठक प्रयोगवाद के भ्रम से मुक्त होकर स्वस्थ साहित्य का उपासक बन जाय । यही इस प्रकार के व्यग्य का रचनात्मक पहलू है । यही आपका दूसरे, तीसरे तथा चौथे प्रकार का व्यग्य है ।

आचार्य जी का पाँचवें प्रकार का व्यग्य, जिसको यहाँ विविध की सज्ञा दी गई है, उन स्थलो से सबन्धित है जहाँ पर आचार्य जी ने प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल, जयशकर प्रसाद, प० महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखको पर समीक्षा लिखते समय इन साहित्यिकों तथा इनके समीक्षको की विरोधी मान्यताओ का खण्डन किया है अथवा साहित्य विषयक अपनी मान्यताओं की बलपूर्वक स्थापना की है । प्रेमचन्द जी की साहित्यिक मान्यताओ से अधिकाशत तो आचार्य वाजपेयी सहमत हैं; किन्तु प्रेमचन्द-साहित्य मे अनेक बातें ऐसी हैं, जो आपको मान्य नही हैं । ऐसे स्थलो पर ही आपने व्यग्य किया है । प्रेमचन्द-विषयक व्यग्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– "यह घटना एक बार नही, कई बार घटित हुई है, किन्तु गायत्री प्रत्येक अवसर पर अपनी भूल को स्वीकार कर भी उससे बाज नही आती । उसकी विलास-वृत्ति उसके व्यक्तित्व के अन्तरग मे बैठ कर अपनी लीला दिखाती है ।"[2] इन पक्तियों मे ज्ञानशकर के साथ गायत्री के अवैधानिक और चरित्रहीन सम्बन्धो पर व्यग्य है ।

प्रेमचन्द के उपन्यासो मे अनेक ऐसे पात्र वर्तमान हैं, जिनके हृदय का परिवर्तन बिना किसी ठोस आधार अथवा स्वाभाविक परिस्थिति-चित्रण के दिखाया गया है । ऐसे उपन्यासों पर और उपन्यासकार की मनोवृत्ति पर व्यग्य इस प्रकार किया गया है—"सेवासदन की भाँति ही प्रेमाश्रम का उत्तरार्ध भी एक ओर सुधारो के बाहुल्य से और दूसरी ओर मृत्यु और आत्म-हत्याओ के आधिक्य से भर गया है । बडे-बडे गुरु-घटाल भी, जो जीवन भर शोषण का व्यापार करते रहते हैं, अपने पुराने पापो को छोड बैठते हैं ।"[3]

*प्रेमचन्द जी के लगभग सभी उपन्यास तत्कालीन राजनीतिक अथवा सामा-*जिक आन्दोलनो की झाँकी प्रस्तुत करने वाले हैं; किन्तु वाजपेयी जी कलाकृति मे •

---

१. आलोचना, अक २५, सम्पादकीय, पृ० ७
२. प्रेमचन्द : एक विवेचन, पृ० ६१
३. वही, पृ० ६६

साहित्यिकता देखने के पक्षपाती हैं, कोई प्रचार अथवा आदोलन नही। अत व्यग्य करते हैं—"हिन्दी का साहित्य जमघट अभी शुद्ध साहित्यिक वातावरण से कोसो दूर है, इसलिए इस तरह की बातें प्रेमचन्द जी को ही नही, औरो को भी, अभी कुछ दिन, चौंकाती रहेंगी।"[1] इनके अतिरिक्त, प्रेमचन्द जी द्वारा 'आत्मकथा' लिखने, 'सत्य शिव सुन्दरम्' शब्दावली के प्रयोग करने और 'आत्मकथा' वाले 'हस' को 'आत्मकथाक' कहने आदि पर भी व्यग्य किए है। वाजपेयी जी के व्यग्य के निशाने केवल प्रेमचन्द जी ही नही, वरन् उनको उपन्यास-सम्राट की उपाधि देने वाले उनके प्रशसक तथा समीक्षक भी हुए है, यथा—"यह एक अच्छा खासा प्रहसन है कि लोग आपको उपाधि देकर खिसक गए हैं और दब कर आपका तमाशा देख रहे हैं।"[2] प्रेमचन्द जी की अनेक मान्यताओ, रचनाओ और साहित्यिक विचारणाओ पर वाजपेयी जी ने व्यग्य किए हैं। प्रेमचन्द जी की भाति ही, आचार्य शुक्ल की मान्यताओ का खण्डन भी वाजपेयी जी ने किया है। इस खडन मे यथा स्थान व्यग्य का समावेश हुआ है। शुक्ल जी के समीक्षादर्श के मूल मे लोकहित या लोक-मगल की भावना का प्राधान्य था, जिसका चरम वैभव प्रबन्ध काव्य मे विकसित हो सकता है, मुक्तक काव्य मे नही। दूसरे, शुक्ल जी अतर्द्वन्द्व के चित्रण और विरोधी भावो के सामजस्य-प्रदर्शन मे काव्योत्कर्ष माना करते थे। शुक्ल जी की इन मान्यताओ पर व्यग्य इस प्रकार किया गया है—"यदि एक ओर रामायण है तो दूसरी ओर 'विनय-पत्रिका' भी तो है। रवि बाबू ने टालसटाय की नकल की होगी तो तुलसीदास जी ने तो नही की।"[3]

शुक्ल जी ने हृदय की अनेक भावात्मकता के सहारे जगत की अनेकरूपात्मकता की अभिव्यजना को काव्य का चरमोत्कर्ष माना है और कवियो को अज्ञात प्रेम और अभिलाषा के अधकूप से निकालने की सलाह भी दी है। वाजपेयी जी इस अभिव्यक्तिवाद पर इस प्रकार व्यग्य करते हैं—"किन्तु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ डेढ-सौ नायक-नायिकाओ का गोरखधधा तथा अनेक भावात्मकता के बदले एक स्थूल, अगतिशील नीति-चक्र ही हाथ लगेगा।"[4]

वाजपेयी जी ने आचार्य शुक्ल की रहस्यवाद, छायावाद, प्रवृत्ति और निवृत्ति अभिव्यक्तिवाद और रस आदि अनेक मान्यताओ का का खण्डन किया है। इसी

---

१ 'हिंदी साहित्य . बीसवीं शताब्दी', पृ० ९७
२. वही, पृ० ८८
३. वही, पृ०, ९९
४. वही, ७३

खण्डन के बीच व्यग्य का समावेश हुआ है। वाजपेयी जी ने प्रसाद जी की 'तुम कनक किरण के अन्तराल मे, लुक-छिप कर चलते हो क्यो' कविता की सात पक्तिया उद्धृत करते हुए टिप्पणी की है, इस टिप्पणी मे शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी मत पर व्यग्य है—"अभिव्यक्तिवादी इस कविता के 'तुम' की तलाश करेगा ही और उसे अभिव्यक्त करेगा ही। 'लाज भरे सौन्दर्य' तक आते-आते लिंग-विपर्यय आदि के दोषो से लद कर कविता मध्यम श्रेणी की बन जायगी और अन्त मे आकर कह दिया जायगा कि वह छायावाद की कविता है अप्रसादिकता से भरी है।"[1]

प्रसाद जी के साहित्य का सही मूल्याकन न करने वाले समीक्षको पर आचार्य जी ने इस प्रकार व्यग्य किया है—"जिन्हे छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठपोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने मे लगे हुए थे जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठको का भावुक दल उन्हे समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था।"[2]

श्री कालिदास कपूर ने प्रसाद जी के 'ककाल' मे अश्लीलता का आरोप किया और कुछ समीक्षको ने उनको यौवन, रोमास और वासना का कवि कहा है। इन समीक्षको पर वाजपेयी जी ने इस प्रकार की चोटें की हैं—"श्री कालिदास कपूर को यह भ्रम हो गया कि अश्लीलता फैलाना ककाल का उद्देश्य है और उस भ्रम का कारण यही है कि वे हिन्दी उपन्यासो की उस छिछली धारा मे ही तैरते रहे हैं जिसमे गहरे पैठने भर को पानी ही नही है।"[3] दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—"जो प्रगतिशील महानुभाव केवल ऊपरी दृष्टि से जीवन और साहित्य का ऐक्य देखना चाहते है, जो साहित्य की भावनात्मक गहराई मे नही पैठना चाहते, जिनके लिए साहित्यिक प्रगति की पराकाष्ठा 'लाल तारा' तक पहुच कर रह गई है और जो स्वभावत 'रोमान्स' नाम से नफरत करने लगे हैं (मैं कह सकता हू उनमे से बहुतो की नफरत कागजी है), उन्हे मैं साहित्य का समीक्षक मानने से इन्कार करता हू। उन्हे चाहिए कि वे राजनीतिक गुटबन्दी के भीतर ही अपने विचारो का आदान प्रदान किया करें।"[4] इसी सम्बन्ध मे आपने 'मानवीय' शब्द को लेकर भी अच्छा व्यग्य किया है।

---

१ हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी, पृ० ७३, ७४

२ जयशकर प्रसाद, पृ० ३ (भूमिका)

३ वही, पृ० ४७

४ वही, पृ० ५ (भूमिका)

प्रसाद-साहित्य के विषय मे अनेक भ्रांत धारणाएँ फैलाने वाले और उनके नवीन काव्य का अध्ययन न करने वाले विश्वविद्यालयो के शास्त्रीय समीक्षको पर व्यग्य इस प्रकार किया है—"हमारे विश्वविद्यालयो के गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धातो का सग्रह करने मे महाराज दत्त की लक्षणा लक्ष्यभेद कर चुके है, पर जिनका सामयिक साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदैव काया प्रवेश ही किए रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बडे हिस्सेदार हैं। अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिए जब कभी इनकी जीभ खुलती है, तब एक ही ल्पेट मे किसी को सूफी, किसी को अभारतीय बनाती हुई अपना काम बना लेती है। बस, फिर वही काया प्रवेश! क्या आश्चर्य है यदि सामयिक साहित्य को इन्ही के कारण वाछित प्रगति न प्राप्त हो रही हो! ये ही अन्तराय बन कर अभ्युदयशील साहित्यिको मे दिग्भ्रान्ति उत्पन्न करते है। इनसे सचेत रहना हम सबका काम है।"[1] यहाँ चोट बडी गहरी और स्पष्ट है।

आचार्य वाजपेयी जी ने प्रसाद जी पर अश्लीलता तथा प्रोपेगैण्डा का आरोप करने वाले समीक्षक, नवीनता के विरोधी पाठक और समीक्षक, शृगार को हेय और त्याज्य मानने वाले आलोचक 'कामायनी' को न समझने वाले पाठक और प्रसाद जी के नाटको को विना समझे आलोचना लिखने वाले कृष्णानन्द गुप्त पर यथास्थान व्यग्य किये है।

आचार्य वाजपेयी जी के व्यग्य के कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार है—"हमारे काव्य क्षेत्र मे कलागत ईमानदारी के लिए बहुत कुछ स्थान दिखाई देता है। विज्ञापन से क्षणिक उछाल तो सम्भव हो सकता है, किन्तु उसे पुष्पक विमान नही बनाया जा सकता।"[2] यहाँ साहित्य के विविध विश्वासो का विज्ञापन तथा नारेबाजी का समावेश करने वाले रचनाकार तथा समीक्षक व्यग्य के निशाने बनाये गए हैं। दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—"अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को खोकर काव्य सार्वभौम तो होगा ही नही अपने राष्ट्रीय और कलात्मक मूल्य भी खो देगा। उसके स्थिति अपने को विश्व-नागरिक घोषित करने वाले उस पाश्चात्य के समान होगी जिसे कोई देश अपनी सीमा मे प्रवेश देने के लिए तैयार नही।"[3] यहाँ व्यग्य ऐसे साहित्य पर किया गया है, जो अपनी राष्ट्रीय सास्कृतिक विशिष्टताओ की अवहेलना करके अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्वमानवता के पीछे चक्कर काटता है।

वाजपेयी जी के व्यग्य का तीसरा उदाहरण भी देखिए—"जैसे किसी बच्चे के हाथ मे तेज धार की छुरी नही दी जा सकती, या किन्ही हिल्ते हाथो को

१ जयशकर प्रसाद, पृ० ७०
२ आलोचना—सम्पादकीय, अक २३, पृ० ५
३ वही, पृ० ५

आपरेशन का काम नही सौंपा जा सकता, वैसे ही किन्ही नौसिखिए, वाद-विज्ञानियो या किन्ही स्थविर शास्त्राचारियो को भी आधुनिक समीक्षा का कार्य नही सौंपा जा सकता।"[1] *यहाँ वे सब नवीन और प्राचीन आलोचक व्यग्य के केन्द्र हैं, जो प्रयोग-*वादी साहित्य को भली प्रकार समझने मे समर्थ नही हो पाये हैं और जिन्होंने साहित्य-जगत् मे भ्रान्ति पैदा कर दी है।

प्रयोगवादी काव्य की *शृंगारिक मान्यता* के सम्बन्ध मे एक उदाहरण और देकर इस प्रसग को समाप्त कर दिया जायगा। "कदाचित् कालिदास मे थोडी-सी लोक-मर्यादा बच रही थी। इसी से वे प्रयोगवादी कवियों की बराबरी पर नहीं रखे जा सकते। प्रयोगवादी इस विषय मे उनसे बाजी मार ले गये हैं।"[2]

कही-कही आचार्य वाजपेयी जी ने सूक्तियो के रूप मे व्यग्य प्रस्तुत किया है। ऐसे स्थलो पर *व्यग्य* की तीव्रता अधिक हो गई है। कुछ उदाहण देखिए—"कविता नारी छन्द के परदे को छोड कर पहली बार समाज के सम्मुख निरावरण उपस्थित हुई।"[3] "परदा प्रथा के समर्थको के लिए यह एक अनहोनी और असह्य बात थी।"[4] "हमारी साहित्यिक गगा मे प्रतिवर्ष नया जल समाहृत होता है।"[5] हिन्दी-साहित्य मे प्रतिवर्ष प्रारम्भ होने वाले नए वाद और मान्यताओ पर इस सूक्ति मे व्यग्य किया गया है। "जब देश की अधिकाश जनता भूखो मरती है, तब ठाकुर जी दूध मे स्नान करते हैं।"[6] "सयोग से इन दिनो पश्चिम मे पण्डिताई सुलभ हो गई है।" इस पक्ति मे पश्चिमी देशो मे उत्पन्न विभिन्न मत और वादो तथा भारतीय लेखको द्वारा उनके अनुकरण पर व्यग्य किया गया है। "साहित्य-समीक्षा की गाडी *'सूर-ससी' 'उडुगन', 'जडिया'* और *'गढिया'* आदि के दल-दल मे ही अटक रही थी आगे नही बढ रही थी।"[7] इस पक्ति मे भक्ति-युगीन समीक्षा-स्तर पर व्यग्य है, जिसमे प्रशसात्मक या ध्वसात्मक सूक्तियो का ही प्राधान्य रहता था।

भारतेन्दु जी ने अपने काल मे कवियो के सम्मेलन की प्रतिष्ठा की थी, जिनका उद्देश्य काव्य की कलात्मकता का विकास और लोक-रुचि का परिष्कार

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० ८६
२ वही, पृ०, ९४-९५
३ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १५०
४ वही, पृ० १५१
५ वही, पृ० २१५
६ प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० ११७
७ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० ९

करना था, पर उनके पश्चात् इन सम्मेलनों की क्या दशा हुई, यह आचार्य जी की इस व्यंग्यात्मक पंक्ति मे देखिए—"कविता सम्मेलन नही रहे। संगीत सम्मेलन और ताली सम्मेलन बन गये। इन्हे परिहास-सम्मेलन भी कह सकते हैं।"[1]

आज के बुद्धिवाद पर एक मुहावरे के प्रयोग द्वारा कसकर चोट की गई है, देखिए—"नाक नाक ही है, चाहे जिस ओर से पकडी जाय, पर प्रश्न यह है कि सिर के पीछे हाथ ले जाकर नाक पकडने की चेष्टा मे कौन सा बुद्धिवाद है।"[2] ऐसी ही एक सूक्ति द्वारा अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' के नायक 'शेखर' पर व्यंग्य किया गया है—"शेखर, मनोवैज्ञानिक प्रयोगो का एक पुतला है।"[3] प्रगतिवाद के विकास पर भी एक व्यंग्य सूक्ति-शैली मे किया गया है। देखिए—"एक नया पथ भले ही खुल जाय, राष्ट्र और साहित्य का कोई वास्तविक हित न होगा।"[4]

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि आचार्य वाजपेयी जी ने सदा इस बात पर बल दिया है कि हिन्दी मे राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और सामाजिक यथार्थ की परम्परा से पुष्ट सुन्दर कलात्मक साहित्य का निरन्तर विकास होता रहे। उनकी इस साधना के मार्ग मे अवरोध बन कर आने वाले प्रत्येक व्यक्ति, विचार, विश्वास और सिद्धान्त को व्यंग्य का निशाना बनना पडा है। यद्यपि, व्यंग्य आचार्य जी की शैली का प्रधान अंग नही है, पर अपने उद्देश्य की पूर्ति और विरोधी मत के खण्डन में आचार्य जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १०
२ नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २२५
३ आधुनिक साहित्य, पृ० २३२
४ प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० २६

वाजपेयी जी की गद्य-शैली

—डा० जेकब पी० जार्ज एम० ए०, पी-एच० डी०

शुक्लोत्तर समीक्षा को आगे बढाने वाले तलस्पर्शी आलोचक आचार्य वाजपेयी जी छायावाद तथा रहस्यवाद के उन्नायक एवं प्रतिष्ठापक के रूप मे हिन्दी समालोचना-साहित्य मे प्रादुर्भूत हुए थे। उन्ही के शब्दो मे "मेरा आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पंत की नयी कविता के विवेचक के रूप मे हुआ था।"[1] उनके व्यक्तित्व की यह विभूति थी कि अपने उन प्रारम्भिक दिनो मे ही वे शास्त्रीय समीक्षा के पूर्व-निर्धारित मानो के स्थान पर, अपने अध्ययन और मनन से उद्भूत मानो के आधार पर प्रत्येक रचना के वैशिष्ट्यो के उद्‌घाटन मे संलग्न हुए। अपनी प्रथम पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य . बीसवीं शताब्दी' मे ही समीक्षा सम्बन्धी अपनी मान्यताओ का निर्देश करते हुए आपने लिखा है[2]

"समीक्षा मे मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टायें है जिनमे क्रमश ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है—

१—रचना मे कवि की अन्तर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic spirit);

२—रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation);

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न, निवेदन।

२ हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० ३१।

३—रीतियो, शैलियो और रचना के बाह्यागो का अध्ययन (Study of technique)

४—समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन,

५—कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण),

६—कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन, तथा

७—काव्य के जीवन सम्बन्धी सामजस्य और सन्देश का अध्ययन।

इससे विदित होग कि वाजपेयी जी अपने अध्ययन और मनन से उद्भूत अभूतपूर्व व्यक्तित्व का सबल लेकर आविर्भूत हुए थे। उनका वक्तव्य उनका अपना है, उनके पांडित्य से अभिमडित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और इसी कारण आधुनिक युग के शैलीकारो मे वे स्थान भी पा सके। हा, इसमे कोई सदेह नही कि मौलिक चिंतन अभिव्यक्ति खोजता है और इस प्रकार शैलीकार प्रादुर्भूत होता है।[1]

भाषा और शैली के सम्बन्ध मे आचार्य जी की कुछ अपनी मान्यताए हैं। भाषा को वे केवल साधन-मात्र मानते हैं न कि साध्य। उनके अनुसार भाषाए अपने आप मे निर्दोष होती हैं। भाषा का सहज प्रयोग ही उन्हे मान्य है, वे यहां तक मानते हैं कि भाषाए अपनी विपरीत या वक्रगति से सस्कृतियो एव राष्ट्रीय समूहो का विघटन या व्यपघात भी कर सकती हैं। राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि अत्यत उदार है राष्ट्रभाषा जनभाषा है, सम्पूर्ण जनसमूह को सुलभ रहती है तथा उस जनसमूह की सर्व-जीवन विधि तथा उसकी समस्त आशा-आकाक्षाओ को प्रतिफलित करती है। वह किसी एक व्यक्ति या सस्था के मान की नही होती। आगे उन्होंने लिखा है "राष्ट्रीय भाषा के पद पर आसीन होने के कारण, हिन्दी-व्याकरण तथा उसका प्रयोग अहिन्दी भाषी क्षेत्रो के व्यक्तियो द्वारा निश्चित रूप से प्रभावित होगा। कोई भी व्यक्ति दक्षिणवासियो को हिन्दी-व्याकरण के अशुद्ध प्रयोग तथा सामान्य बोलचाल मे, हिन्दी मे, दक्षिणी भाषाओ के सम्मिश्रण को नही रोक सकता।"[2] उनकी यह उदार विचारधारा इस सम्बन्ध मे वस्तु-स्थिति या सच्ची स्थिति की पहचान की परिचायक है। वे मानते हैं कि—'ठोक पीट कर

---

१ J M Murry The problem of Style · "An individual way of feeling and seeing will compel an individual way of language p 15

२ राष्ट्रभाषा की समस्याए, पृ० ४३।

सब समय उसे (भाषा को) इच्छानुरूप नहीं बनाया जा सकता। उसका सौंदर्य चलित है, स्थिर नहीं।[1]

आचार्य वाजपेयी जी मानते हैं कि भाषा-शैली की सफलता अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने मे है। इसके लिए प्रयुक्त शब्द शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुन्दर होने चाहिए। शब्दो की शुद्धि व्याकरण का विषय है; सामयिकता का आशय उसकी स्वाभाविकता और प्रसगानुकूलता से है; सार्थक शब्द प्रतिभा के रूप मे हमारे सामने उपस्थित होते हैं और पदो का सुन्दर प्रयोग वह है जो सगीन (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो, और सबकी सहायता से सघटित हो, जिसके ध्वननमात्र से अनुरूप अर्थमत्ता प्रकट हो और जो वाक्य-विन्यास का प्रकृत अभिन्न अग बनकर वही निवास करने लगे।[2] परम्परा-प्राप्त भाषा की अपेक्षा नये प्रयोगों से युक्त नवार्थ सकेतिनी भाषा, उनके अनुसार, सजीव सप्राण होती है। भाषा-शैली को वे परिस्थिति की उपज मानते हैं, परिस्थिति के अनुरूप उसमे परिवर्तन भी होते हैं।[3]

शैली अक्सर काव्य का बहिरग-पक्ष माना जाता है। लेकिन वाजपेयी जी के अनुसार, 'काव्य मे बहिरग और अतरग का ऐसा कोई भेद नहो है। सार्थक सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छद—ये सब भावो के, अभिन्न अग हैं। बाह्य और अतरग यहाँ कुछ नहीं। शैली से उनका आशय भावात्मक, विनोदात्मक, व्यग्यात्मक अथवा मधुर, प्रासादिक और ओजस्वी आदि शैलियो से है। काव्य की शैली बलपूर्वक हम पर अधिकार कर हमे अपना परिचय करा देती है। सर्वजन-सुलभ स्वच्छ और सपाट नवीन और स्पष्ट शैली प्रशसा प्राप्त करती है, परिश्रम-साध्य और अनावश्यक ऐश्वर्य से पूर्ण शैली नही। सरल शैली सारग्राहिणी सामर्थ्य रखती है। चमत्कार-बहुल और श्रमसाध्य शैली मध्यम श्रेणी के सौन्दर्यप्रिय कवि ही काम मे लाते हैं और इससे वे अपनी भावना के अभाव की पूर्ति किया करते है। वे काव्य के सौन्दर्य को अभिव्यजनागत सौन्दर्य से ऊपर की वस्तु मानते हैं।[4]

वाजपेयी जी के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य तथा भाषा और शैली सम्बन्धी उनकी धारणाओ की उपर्युक्त पृष्ठभूमि पर अब हम उनकी शैलीगत खूबियो का अध्ययन करेंगे। वे अपने समय के मौलिक चिंतक हैं और इसी कारण उनकी शैली

---

१ रामाधार शर्मा, हि० सै० स०, पृ० २०४।

२ *हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी*, पृ० १४।

३ रामाधार शर्मा : हि० सै० स०, पृ० २०५।

४ वही, पृ० २०६-०७।

सयत और सुष्ठु रूप से सुसज्जित होकर हमारे सामने आ उपस्थित हो जाती है। विचारो की कसी हुई परम्परा उसकी अपनी विशेषता है। व्यर्थ का आडबर कही भी नही मिलेगा। एक उदाहरण लीजिए

"साहित्य का सृष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। *मानव जीवन ही साहित्य का उपादान और विषय* वस्तु रहा है *और रहेगा। मानव*-जीवन विकासशील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण या मार्मिक अ शो की अभिव्यक्ति, यह साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है। यहां दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है। मानव-जीवन के विविध रूपो की अभिव्यक्ति साहित्य मे होती तो है, पर वह किस विशेष प्रकार से होती है ? वह प्रकार "कल्पना प्रकार" कहलाता है। अब दो शब्द समूह हो गए, 'मानव-जीवन की अभिव्यक्ति' और 'कल्पना प्रकार। यही तीसरा प्रश्न उपस्थित है 'मानव जीवन (काव्य-वस्तु) *और कल्पना-प्रकार मे किस प्रकार का सम्बन्ध है?* क्या वस्तु 'पूर्णत' प्रकार' म समाहित हो जाती है या कुछ शेष भी बचती है? दूसरे शब्दो म क्या कल्पना के माध्यम के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से भी मानव जीवन की अभिव्यक्ति साहित्य म हो सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर है 'नही', अर्थात् कल्पना ही काव्य या साहित्य का एकमात्र नियामक तत्व है। अब चौथा *प्रश्न कल्पना के स्वरूप का है। कल्पना का स्वरूप* सर्वसम्मति से *रूपात्मक माना* गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अतएव साहित्य भी भावाश्रित 'रूप' ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य मे कोई दूसरी वस्तु-वत्ता रह ही नही सकती। साहित्य मे वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सम्बन्ध को समझना ही सबसे बडी साहित्यिक साधना है। इस स्थान पर पाचवा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'रूप' या 'भावाश्रित रूप' क्या पदार्थ है और साहित्य मे इसकी विशेष प्रकृति क्या है? अपने व्यापक अर्थ म 'रूप' या 'भावाश्रित रूप' एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जिसके *विविध उन्मेष 'स्वप्न', 'दिवास्वप्न' 'बाल कल्पना' तथा 'साहित्य' आदि अनेक क्षेत्रो* मे देखे जाते हैं। साहित्य म इनकी विशेष प्रकृति सार्वजनिक बनने की रही है। कल्पना तो व्यक्ति करता है पर 'रूप' बहुजन सवेद्य होता है। इसी कारण इस 'रूप'-तत्व मे अ ग सगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। यह सारी सामग्री शब्दो का परिधान धारण कर उपस्थित होती है, अतएव शब्द रहित 'रूप' की अपेक्षा यह शाब्दिक 'रूप' अपनी विशेषताए रखने को बाध्य है। साहित्य जिज्ञासा का छठा प्रश्न यह है कि साहित्य म शब्द प्रयोग की विशेषता *क्या होती है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय साहित्य शास्त्रियो* ने ध्वनि-तत्व की उद्भावना द्वारा दिया है। यही साहित्य और कला-सम्बन्धी सातवी और अन्तिम जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है, इस सम्पूर्ण साहित्य-व्यापार का लक्ष्य क्या है? इसके उत्तर मे अधिकाश विचारको ने यही कहा है कि 'रूप' या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा

उच्चकोटि के लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओ का लक्ष्य है ।"[1]

आचार्य वाजपेयी जी शैली का समस्त बल समेट कर इन पक्तियो के द्वारा अपने अध्ययन और मनन की अभिव्यक्ति करते है। विषय यदि गम्भीर है तो वे भी उससे कम गम्भीर नही हैं। मरे महोदय के, उत्तम शैली के सम्बन्ध मे इस कथन को कि वहाँ लेखक के स्वभाव (टेम्पर), विषय और भाषा मे पूर्ण सामजस्य (हारमनी) होना चाहिए, हम उत्तम शैली का मेरुदड मानें तो यहाँ शैली का उत्तम स्वरूप देख सकते हैं।[2] अभिव्यक्ति की कैसी कसी हुई परम्परा है! एक-एक वाक्य का प्रथम शब्द अपने पहले वाक्य से इतने अभेद रूप से जुटा हुआ है कि विचारधारा एक दूसरे के हाथो से हाथ मिलाती, इठलाती-हसती, मचलती-चलती चली आ रही है मानो वह अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए दृढ चित्त हो, ऐसी अवस्था मे बेचारा पाठक उससे प्रभावित हुए बिना रहे ही कैसे? वाक्यो का कैसा भव्य उपयोग हुआ है। विषय बौद्धिक है, जटिल है और इसी कारण लेखक भी विशेष सजग और सतर्क है। ..'साहित्य भी भावाश्रित रूप है' 'आदि वाक्य आचार्य शुक्ल जी के सूत्र वाक्यो का स्मरण दिलाते हैं। सम्पूर्ण साहित्य सम्बन्धी समस्त प्रश्नो का इतने सक्षिप्त रूप मे इतना पूर्ण विवेचन उपस्थित करना आप जैसे आचार्यों का काम है।

वाजपेयी जी की विवेचनात्मक शैली की यह विशेषता है कि लेखक उसे इतना सरल और आकर्षक रूप देता है कि पाठको को कथा-कहानियो का सा आनद प्राप्त हो जाता है। कही भी दुराव या अस्पष्टता का आभास तक नही है। छोटे-छोटे वाक्यो म एक-एक विचारखड उपस्थित करते हुए वे आगे बढते है, अपने पाठको को साथ लेकर :

"कला की पुरानी परिपाटियाँ बदल रही थी। नई कला अपना नया इतिहास बना रही थी। प्राचीन परिपाटी के अनुसार चरित्र की एक विशेष रूपरेखा होती है। कुछ सर्वमान्य गुणो का उल्लघन नही किया जा सकता। रामायण का धीरोद्धत चरित्र रावण सीता के साथ शारीरिक अनाचार नही कर सकता, क्योकि वह 'उद्धत' के साथ 'धीर' भी है। कला की यह मर्यादा सर्वमान्य थी और प्राचीन

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ०३-४।

2 J. M. Murry : The problem of Style :-a perfect harmony be weent the writer's temper, the chosen land of his language, P. 17.

काव्य के पाठक को इस सम्बन्ध मे कोई शका नही हो सकती थी। इसी प्रकार प्राचीन कला-परिपाटी मे रावण के घर रही सीता की अग्नि-परीक्षा भी किसी प्रकार का विस्मय या तर्क नही उत्पन्न कर सकती। परन्तु आज का पाठक न तो रावण के व्यवहार को ही स्वत. स्वीकृत मान पाता है और न अग्नि-परीक्षा की निर्ममता को ही सहन कर सकता है।"[1]

"नई खडी बोली कविता की शैशवावस्था मे (आज से ४०-५० वर्ष पूर्व) एक नयी सामाजिक जागृति के साथ एक सयत आदर्शवादी विचारधारा का पहला आलोक फैलने लगा था। उस प्रात कालीन वातावरण मे एक सरल सुन्दर दीप्ति थी। मन पर किसी प्रकार के अन्यथा आवरण न थे। आशा का हल्का उत्साह था, विश्वास की प्रचण्ड गरिमा न थी। इस काल के कवियो की भावना मे एक सरल सौम्यता खेल रही थी। कल्पना की आकाशीय उडानो का नाम न था। कवियो ने अधिकतर पुराने आख्यान लेकर उन्हे अपनी नयी भावना से सज्जित किया। चित्रित चरित्रो और वर्णन किए गए विषयो मे कोई बडी व्यापकता या प्रसार न था। मनोवैज्ञानिक सघर्षो की भरमार न थी। अभिव्यजना मे भी सरलता थी, सजावट न थी। अलकारो और अप्रस्तुतो की योजना चकाचौध करने वाली नही थी। भाषा का रूप कलात्मक न था। रचना मे भाषा की पूरी शक्ति का उपयोग नही किया गया था, किन्तु क्लिष्टता और बेढगापन भी उसमे नही था।"[2]

अपने पाठको को प्रभावित करने की कला का एक उदाहरण देखिए :

"'आंसू' मे छायावाद कहाँ है ? उसके वियोग वर्णन मे ? नही, वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति मे ? नही; वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है। हिन्दी मे जब किसी के पास इतनी शक्ति नही थी कि वह इस तरह की बातें कहे, तब प्रसाद जी ने उन्हे कहा।"[3]

"साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी मे उनकी (महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की) कौन-सी कृतियाँ रक्खी जायंगी ? क्या उनके अनुवाद ? 'कुमारसंभवसार', 'रघुवश', 'हिन्दी महाभारत' अथवा 'बेकन-विचार रचनावली', 'स्वाधीनता' और 'सम्पत्तिशास्त्र' ? किन्तु ये सब तो अनुवाद ही हैं, इनमे द्विवेदी जी की भाषा-शैली स्वयं ही परिष्कृत हो रही थी—क्रमश विकसित हो रही थी और आजकल की दृष्टि से उसमे और भी परिवर्तन किये जा सकते हैं। तो क्या उनकी रचित कविताए

---

१. आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ० १६
२. वही, पृ० २६
३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १२०

प्रदर्शनी मे रखी जाय ? किन्तु वे तो स्वय द्विवेदी जी के ही कथनानुसार "कविता नहीं है और हमारी दृष्टि से भी अधिकतर उपदेशामृत हैं।

उनके लेख ? 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'कालिदास की निरकुशता', 'मिश्र-बन्धु का हिन्दी-नवरत्न', 'तिलक का गीता भाष्य' और ऐसे अन्य अनेक आलोचनात्मक लेख तथा टिप्पणियाँ द्विवेदी जी की जागृत प्रतिभा का परिचय कराते हैं। पर, प्रश्न यह है कि क्या यह स्थायी साहित्य है ?'[1]

यहाँ हम देखते हैं कि निषेध ही विधि बन जाता है और लेखक की तर्क-बुद्धि के सामने पाठक हतप्रभ बन जाता है। लेखक स्वय प्रश्न उठाते हैं, उसका विवेचन करते हैं और उसी के आधार पर अपना निर्णय भी देते हैं और इस सारे क्रिया-कलाप म पाठकों को भी वे अपने साथ लिये चलते हैं। हाँ, दूसरो को प्रभावित करना, अभिभूत करना, अपने पक्ष मे मिला लेना शैली की विजय की चरम सीमा ही है।

अक्सर ऐसा देखा जाता है कि कुशल चित्रकार दो एक सीधी-सादी रेखाओ के माध्यम से एक सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार वाजपेयी जी ने अपने विवेचन मे थोडे म बहुत कहने की कला का अच्छी तरह प्रयोग किया है। अपने अध्ययन से उद्भूत तत्वो को थोड़ मे उपस्थित करना उन्हे खूब आता है।

"प्रसाद के प्रगीत अतीत की सुखद स्मृतियो के एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया लेकर आये थे। साथ ही उनकी आरम्भिक रचनाओ मे यौवन और शृ गार की अतृप्त अनिवार्यता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' के छाया-सकेतों मे इन्हीं दबी भावनाओं का आभास मिलता है। 'झरना' की '*छेडो मत यह सुख का कण है*', '*उत्तेजित कर मत दौडाओ, यह करुणा का थका चरण* है' आदि पक्तियो मे इसी की गू ज है। 'आसू' मे प्रसाद के कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है। परन्तु इसी के साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ काव्य का अग बन गई है। उद्दाम शृ गारिक स्मृतियो के साथ सपूर्ण समाधानकारक दार्शनिक अनुभूति 'आसू' की विशेषता है।"

भाषा का एक अबाध प्रवाह, एक स्निग्ध लय, एक मधुर तान, उनकी शैली मे सर्वत्र व्याप्त है। लेखक की अपने आप मे अखड आस्था, अपने अभिमतों पर *अचल विश्वास के कारण भाषा ओज और स्फूर्ति से अभिमण्डित हो जाती है।* एक उदाहरण देखिए

---

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० २

"छायावाद युग को चाहे जिस नाम से पुकारिये, इसका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। राष्ट्रीय इतिहास मे जिन सुस्पष्ट प्रेरणाओ से यह उत्पन्न हुआ और जिस आवश्यकता की पूर्ति इसने की, उसकी ओर ध्यान न देना आश्चर्य की बात होगी। हिन्दू जाति के नाना भेद-प्रभेदो के बीच एक सघटित जातीयता का निर्माण; हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई आदि विभिन्न धर्मानुयायियो मे एक अन्तर्व्यापी मानव-सूत्र का अनुसधान, राष्ट्रो-राष्ट्रो के बीच खाइयाँ पाटना, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अपने देश के सामने ये प्रधान प्रश्न थे। देश की स्वतन्त्रता का भी कुछ कम प्रधान प्रश्न न था। पर वह जातीय और राष्ट्रीय एकसूत्रता के आधार पर ही खड़ा रह सकता था और अन्तर्राष्ट्रीय मानवसाम्य का एक अग बनकर ही शोभा पा सकता था। यह सम्मिलन और सामजस्य की भावना भारतीय सस्कृति की चिरदिन की विशेषता रही है, इसीलिए महायुद्ध की शान्ति के पश्चात् ये प्रश्न सामने आते ही वह सास्कृतिक प्रेरणा जाग उठी और तीव्र वेग से तत्कालीन काव्य और कलाओ मे अपनी अभिव्यक्ति चाहने लगी।"[1]

चिन्तन और तर्क से आपूरित अपनी विवेचनात्मक शैली के साथ ही साथ लेखक मे विषयानुसार भावप्रवणता भी प्रस्फुटित हो उठी है। यहाँ लेखक की भाषा कुछ सज-धज कर आती है, वाक्य भी अपेक्षाकृत कुछ लम्बे हो जाते है, एक दो समास-पद भी मिलेंगे :

"जिस व्यक्ति ने लगातार बीस वर्षों तक लगभग दस करोड हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया, वह लखनऊ की तलहटी का रहने वाला एक ग्रामीण ब्राह्मण था। जब अवध की नवाबी के दिन बीत चुके थे, तब उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक ग्राम मे इनका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश के ये निवासी हैं—इस काल मे उजडकर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन गया था, किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ तो लुप्त नही होती, इसलिए प्राचीन सस्कार भी कभी सुयोग पाकर पुनर्जन्म ले लेते हैं। गगा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष मे बाल्मीकि के कवि-कण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करती होगी, आज भी दौलतपुर के समीप से ही निकलकर बहती है। वे आम्र कानन जो वहीं सोए पथिकों के समीप अपने अमृतफल बरसाते थे, आज भी दौलतपुर के चतुर्दिक् अपना वही उपहार लिये खड़े हैं। बैशाख का महीना यद्यपि गर्मी का है, किन्तु रात को अच्छी ठण्डक पडती है। ऐसे ही समय इस ग्राम मे शिशु महावीरप्रसाद ने जन्म लिया। सरस्वती का बीज मन्त्र उनकी जिह्वा पर अंकित कर दिया गया। ज्योतिष-विद्या सत्य हुई।"[2]

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० १७

२. वही, पृ० ४

एक अबोध ग्रामीण बालक का साहित्यिक अनुशासन करना, अवध की नवाबी के बीत जाने पर इनका (नवीन नवाब का) जन्म होना, अवध का उजड कर निरक्षर होते समय इनका प्रादुर्भूत होना आदि उल्लेखो मे परोक्ष तुलना के द्वारा प्रभावोत्पादन का सफल प्रयत्न श्लाघनीय है। उद्धरण का अन्तिम भाग कविता ही है, वाजपेयी जी का कवि-हृदय यहाँ मचल उठा है।

विषयानुकूल भाषा मे परिवर्तन करना वाजपेयी जी के लिए सहज-साध्य है। समीक्षा के कठोर बुद्धि-प्रधान तथा तर्कपूर्ण क्षेत्र हैं "राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ" सुलझाने के लिए, और समझने के लिए भी। जब वे 'लहलहाते खेतो, लम्बे-लम्बे जलाशयो और झूमती हरियालियो से सदा-सर्वदा मनोमुग्धकारी केरलाविका के पास पहुचते जाते हैं तो उनकी भाषा भी अपना स्वरूप बदलती है :

"प्राय एक सौ मील तक हिम-श्वेत बादलो का प्रसार नीलवर्ण की पर्वत-मालाओ के ऊपर गगा की भाँति प्रवाहित हो रहा था और उससे भी ऊपर हमारा हवाई जहाज, इस नील-धवल दृश्य-राशि को लाघता हुआ प्रकृति के ऊपर मनुष्य की विजय की सूचना दे रहा था। साथ ही प्रकृति के साथ एक अन्तरग सामजस्य का द्योतन भी वह कर रहा था। मीलो तक फैले हुए श्वेत बादल खूब अच्छी तरह धुनी हुई रुई के समान, पर साथ ही एक अपूर्व नमी लिए, दिखाई देते थे। जान पडता था कि हिम के विशाल शिखर ही बूँद-बूँद और रेशे-रेशे होकर उडे जा रहे हैं। आगे-पीछे और दोनो पार्श्वों मे भी यही श्वेत राशि दिखाई दे रही थी। ऐसा जान पडता था कि आकाश ही परिवर्तित होकर बादलों का समूह बन गया है।—हमारे सामने उडते हुए बादल हमको अभिभूत नही कर पाते थे, क्योकि वे हमसे नीचे थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि श्वेत खरहो की असख्य राशि अपने पर्वत कोटर मे प्रवेश करने के लिए दौडी जा रही है। हमे ऐसा भान हुआ कि एक ओर हिम या बरफ के अपार ढूहो मे से उनका जलसार निकाल कर खोखला कर दिया गया है, वे ही बादल बनकर भागे जा रहे हैं, और दूसरी ओर ऐसा जान पडता था कि हिम का जल सार श्वेताकाश को समर्पित कर दिया गया है जिससे आकाश ही बादल बन कर हमारे पैरो तले आ गया है।"[1]

इसी प्रकार उनकी प्रथम विमान-यात्रा का अनुभव भी पठनीय है। विवरणात्मक शैली का नितान्त भव्य स्वरूप हमें इन उद्धरणो मे प्राप्त होता है। लेखक की विवरणात्मक दृश्याकन की प्रतिभा का यहाँ पता चल जाता है, उपमादि अलकार उनके इशारे पर नाचते हुए अपने पाठकों के सामने दृश्य-चित्र उपस्थित करते चले जाते हैं।

---

१ राष्ट्र-भाषा की कुछ समस्याएँ, पृ० ९

वाजपेयी जी की विवेचनात्मक शैली की एक बडी भारी विशेषता है, उसमे यत्र-तत्र व्याप्त सुन्दर तथा सार्थक, प्रसग-युक्त अलकार-योजना। काव्य मे अलकार के स्थान के सम्बन्ध मे वैसे तो इनका मत है कि *अलकार काव्य-साधना की पहली सीढी है। वह मूर्तिपूजा की भाति चरम साधना नही है, चरम सिद्धि तो है ही नही। अलकार चित्र हैं और चित्रो की सहायता एक सीमा तक ही आवश्यक है।— उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही काम करते हैं जो दूध मे पानी। उनसे कविता फीकी पड जाती है, वह अनेक प्रकार से पतित होने लगती है।*[1] परन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि यहाँ उनका तात्पर्य उस परम्परावादी, रूढि-ग्रस्त अलकार-योजना की पद्धति से है। अपने विवेचनात्मक गद्य मे भी उन्होने अलकारो का कितना भव्य उपयोग किया है, यह दिखाने के लिए नीचे उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं —

अ—"जो मुसीबतें आवें, उन्हे झेलना होगा, किन्तु जीवन की गति अवरुद्ध नही की जा सकती। भिक्षुक आवेंगे, इस भय से भोजन बनाना नही बन्द किया जा सकता। जानवर चर जायेंगे, इस भय से खेती करना नही छोडा जा सकता।"[2]

आ—"जो भाषा अपनी सम्पूर्ण प्रौढ प्रतिभा और देशव्यापी प्रभाव के रहते हुए भी अपनी ही परिचारिका खडी बोली को अपना सौभाग्य सौंप कर विवश पडी हो, उस मानिनी को सात्वना देने के लिए उसके किसी अनन्य प्रेमी की ही आवश्यकता होगी, ब्रज की वह सम्य सुन्दरी जब ग्रामीण और अनुपयोगी कही जा रही हो, तब उसके रोष-दीप्त मुख की अश्रुमुक्ताओ को समालने के लिए बहुत बडी सहानुभूति अपेक्षित है।"[3]

इ—"हम अपने काव्योद्यान मे ऐसे फूल लगाना नही चाहेंगे जो हमारी धरती से रस खीचना अस्वीकार करें और जिन्हे प्रयोगो का इन्जेक्शन देकर ही जिलाया जा सके।"[4]

ई—"मेरी ये समीक्षायें और निबन्ध निर्माण की पगडडिया हैं, इतिहास वह 'रोलर' है जो इन अथवा इन जैसी अन्य पगडडियो को समतल कर प्रशस्त पथ बनाता है। यदि प्रारम्भिक पदचिह्न और पगडण्डियां न हो, तो इतिहास का रोलर किस भूमि पर काम करे।"[5]

---

१ रामाधार शर्मा—हिन्दी मे सैद्धातिक समीक्षा का विकास, पृ० २०८

२ हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ८२

३ वही, पृ० २४

४ आधुनिक साहित्य, पृ० २३

५ वही, भूमिका, पृ० १०

ग—"जलियान बाग की दुर्घटना हुई और एक विराट जन-आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उभर उठा। आहुतिया पड़ती गईं और आग भड़कती गई। गाधी जी और उनके सहकारियो के निरीक्षण मे स्वतन्त्रता का यह महायज्ञ निरन्तर चलता रहा। बीच-बीच म व्यवधान आए, राजनीति की धारा नए मोड लेती रही, वह गुमसुम होकर चुपचाप भी रही। निराशा की रेखाएँ भी भारतीय क्षितिज पर दिखाई दी, पर राजनीतिक उतार-चढावो के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय चेतना अव्याहत ही रही।"[1]

उ—"प्रबन्धकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीजे आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूट-घूट पी सकते हैं।"[2]

ए—"साम्राज्यशाही का बोझ असह्य हो गया है और आर्थिक वैषम्य का नग्न दृश्य देखा नही जाता।"[3]

ऐ—"क्रिश्चियन धर्म की छाया मे मानव-चेतना का एक नया विकास भी आरम्भ हुआ था।"[4]

उपर्युक्त अलकारो के परीक्षण से यह भी विदित होगा कि समय समय के साथ-साथ वाजपेयी जी की दृष्टि भी सामान्य व्यवहार की ओर अग्रसर होती रही है और उनकी अलकार-योजना भावना जगत् को छोडकर नित्यप्रति के जगत् को अपनाती गई है।

इसी प्रकार उनकी रचनाओं म इधर-उधर बिखरे सूत्र वाक्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं। जैसे

"काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है।"[5]

महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती।[6]

'प्रतिभा किसी कठघरे मे बन्द नहीं रहती।'[7]

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० २१
२ वही, पृ० २४
३ नया साहित्य . नए प्रश्न, पृ० १६
४ वही, पृ० ६५
५ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी : विज्ञप्ति, पृ० १३
६ वही, पृ० २६
७ वही, पृ० ५७

'साहित्य हमारे जीवन का, हमारे प्राणो का प्रतिनिधि है।'[1]
'सभी सिद्धान्त सीमित है, किन्तु कला के लिए कोई सीमा नही है।'[2]
'साहित्य तो एक सात्त्विक जीवन है।'[3]
'साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है।'[4]
'साहित्य (भी) भावाश्रित रूप है।'[5] आदि

अभी तक के विवेचन से विदित होगा कि वाजपेयी जी का वाक्य-चयन भी कलापूर्ण है। अक्सर ऐसा देखा देखा जाता है कि गम्भीर विवेचन मे वाक्य अत्यत छोटे कर दिये जाते हैं, परन्तु जब विषय साधारण रहता है, विवेचन गम्भीर नही होता और शैली वर्णनात्मक रहती है, तब वाक्य भी अपेक्षाकृत लम्बे बन जाते हैं। कही-कही सन्तुलित वाक्यो का प्रयोग विशेष प्रभावोत्पादक है·

"उनके सामने समाज की कोई 'सबल व्यवस्था न थी, कोई अनुकरणीय आदर्श या विधान न था "[6] इन कवियो ने, पुराने साचे मे नये रामकृष्ण को नही, नए जीवन-साचे मे पुराने रामकृष्ण को ढालना चाहा और ढाल भी दिया।"[7] इसी प्रकार, : "नए विचार और नई भाषा—नया शरीर और नई पोशाक—दोनो ही नई हिन्दी को द्विवेदी जी की देन हैं।"[8]

'वह (आज का पाठक) कल्पना, भावना और आदर्श नही चाहता है, चाहता है, वैज्ञानिक और वास्तविक सत्य।"[9] 'पता नही, सोता कौन है और जागता कौन है ?"[10] जब तक युद्ध होते रहेगे तब तक सद्भावना और शान्ति का विकास होगा कैसे ?"[11] हाँ, 'मधुशाला' और 'शेष-स्मृतिया' एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती हैं—मध्यकालीन मादक स्वप्न।[12] "पर इस प्रकार की बात वास्तव मे है नही।"[13] आदि वाक्य-रचना मे प्रभावोत्पादन की

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ८२
२ वही, पृ० ८२
३ वही, पृ० ९६
४-५ नया साहित्य : नए प्रश्न, निकष, पृ० ३
६-७ आधुनिक साहित्य : भूमिका, पृ० १२
८ वही, पृ० १३
९ वही, पृ० ४८
१० वही, पृ० ५२
११ वही, पृ० ८१
१२ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० २७
१३ वही, पृ० ११७

अपूर्व क्षमता है, साधारण वाक्यो के बीच इस प्रकार के प्रयोग पाठको को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। दो एक स्थानो पर उद्धरणो का भी वाक्य मे उपयोग हुआ है। जैसे 'जिनके मस्तिष्क की भगीरथ शक्ति ससार मे नई विचारधारा प्रवाहित करती है ते नर वर थोरे जग माही।"[1] "दोनो की (निराला और पत की) विशेषताएँ इकट्ठी होकर इतनी समतोल सी हो गई है कि 'को बड छोट कहत अपराधू' की सी दशा आ पहुची है।"[2]

वाजपेयी जी के शब्द-चयन के सम्बन्ध मे अक्सर सुनने मे आता है कि संस्कृत के तत्सम् शब्दो के प्रति उन्हे विशेष मोह है। अपनी भाषा के सम्बन्ध मे स्वय वाजपेयी जी की धारणा यह है कि वह संस्कृत की ओर झुकी रहती है।[3] हा, इतना अवश्य है कि उन्होने अधिकतर समीक्षा की गम्भीर भूमिका को अपनाया है। उनकी शैली मुख्य रूप से विवेचनात्मक है और इसी कारण उन्हे स्वाभाविक रूप से संस्कृत के शब्दो के ऊपर अधिक निर्भर रहना पडा है। इसका तात्पर्य यह नही है वे दूसरे प्रकार के शब्द अपनाते ही नही। उनकी रचनाओ के निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त हम इस निर्णय पर पहुचते हैं कि वाजपेयी जी ने प्रसगानुकूल अरबी-फारसी के शब्दो को भी अपनाया है जैसे—तमगा। आ० साहित्य भूमिका, पृ० ११, शिकायत-पृ० १५।, खाका। भू० पृ० १६। पहलू। भू० पृ० १७, हवाला। भू० पृ० ४१। जादूगरी। भू० पृ० ४६।, गनीमत। भू० पृ० ४६। गुजाइश। भू० पृ० ४७। सवाल। भू० पृ० ४८।, दलील। १५।, आसान। पृ० १९। शिकजा। हि० सा० बी० श० विज्ञप्ति पृ० ९ निगाह। वही पृ० १०।, कायल। वही, पृ० १२।, मजबूत वही, पृ० १२।, खामी। वही, पृ० ३। मौजूद। वही, पृ० १४।, गुमराह। वही, पृ० १८।, कारनामा। वही, पृ० १८।, जिक्र। वही, पृ० १८।, शुमार करना। वही, पृ० १९।, हिमाकत, वही, पृ० २३। हैसियत। वही, पृ० २९। इनके अतिरिक्त भले चगे। आ० सा० भूमिका, पृ० ११। हलचल। वही, पृ० १२। छिछला। पृ० १५। ढूढ़ना। वही, पृ० १५।, ऊबड खाबड। वही, पृ० १५। बानगी-वही, पृ० १६, छानबीन। वही, पृ० १६।, खेवे। वही, पृ० १७।, भरमार। वही, पृ० १७। पैठ। वही, पृ० १९। धुन। २०।, नाज। २०।, अधूरा। २३।, अनहोनी। २९।, कच्चा। ४१। जायत नाजायत। आ० सा०, पृ० १६, सिलसिला। पृ० १८। जाहिर। पृ० २१।, खिलवाड। पृ० २३। अजनबी। २३।, ओछी। २३।, चौहद्दी। २४।, दो टूक। २९। काटा-कूटी। ३२।, बेतहाशा। ३७।, खोलना। ८३।, दोहरी। हि० सा० बी० श० विज्ञप्ति, पृ०

१ हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी, पृ० १
२ वही, पृ० १८
३ राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें

१० । अटकल । १८ ।, चौपट होना । १८ । खात्मा । १८ । हेठी देना । १९ ।, ताज्जुब जाहिर करना । वही : पृ० ९७ ।, भलमनसाहत । रा० भा० कु० स०, पृ० ७ । पूछते ताछते, वही, १० । आदि शब्द उनके शब्द-चयन की व्यापक दृष्टि के परिचायक है । एक गम्भीर आलोचक होने के कारण, मुहावरो और लोकोक्तियो की प्रदर्शनी खडी करने की ओर 'वाजपेयी जी का ध्यान नही गया है । लेकिन रह रहकर मुहावरो का भी सुन्दर प्रयोग उन्होने किया है । "आशाओ पर पानी फिर जाना ।" आ० सा०, पृ० ३२ । सम्पत्ता । ताख पर रखना । वही, पृ० ३५ ।, लोहा मानना । ४३ ।, खिल्ली लेना । ४६ ।, रास्ता पकडना । हिं० सा० बी० श० विज्ञप्ति, पृ० १२ ।, नीव मजबूत करना । वही, १२ । तुला पर तौला जाना । वही, १४ ।, पर्दा डालना । १५ । खाइया पाटना । १७ । सोलह आने । सार्थक करना । २४ । पँर जमाना । ८१ । कमाल हासिल करना, पृ० १८ ।, बीडा उठाना । ९६ ।, एक पथ दो काज । रा० भा० कु० स०, पृ० ५ । नौबत आना । ६ ।, कार्य । निपटा देना । पृ० ७ । हुडी मे ऊट की तलाश करना । वही, १० । आदि इसके उदाहरण स्वरूप हैं । हिन्दी की शुद्धता और जातीय शैली की रक्षा के प्रति वे सजग तो है, लेकिन भाषा की अभिव्यजना शक्ति को बढाने के लिए अग्रेजी शब्दो का आवश्यकतानुसार प्रयोग करने मे वे नही हिचकते प्रकृतिवादी ।Naturalists। आ० सा०, पृ० ९, सब्जेक्टिव आइडियलिस्ट । व्यक्ति तत्ववादी ।, वही, २० । सामान्य बोध । Common sense । पृ० ३४ । आलकारिक । Ornamental । ६८ । वस्तु रूप । Objective । ७८ ।, कार्य । Action । । ९८ । पडी रेखा Horizental) पृ० १२४, खडी रेखा (Vertical line) पृ० १२४ प्रभावान्विति । Unity of effect । १२५ । विनोद प्रधान (C mic) । १२९ । आत्मपरक चित्रण । Subjective portraitture) । १३० ।, प्राणिसत्तामूलक Biological । १३३ ।, राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास । Epic novel । । १७ । दु खवादी । Sadistic ।१६१।, Rhythm या लय । १७८ । महाकथा Epic story । १९८ । कथात्मक प्रकरण । Narration । कच्ची सामग्री Raw material । ३०० । स्वच्छन्दता । रोमांटिसिज्म । और परम्परा । क्लेसीसिज्म । ३८६ ।, पालिश । हिं० सा० बी० श० विज्ञप्ति, पृ० १८ ।, निर्विकल्प या Absolute फैशन । ६० । प्रोपेगण्डा वृत्ति । ९५ ।, प्राइवेट तरीका । ९७ ।, कविता के डिक्टेटर । १३३ । Pedantic । ११६ ।, प्रत्यक्ष तथ्यवादी । पाजिटविस्ट्स । १२७ ।, साम्य ।, सरल और स्वातन्त्र्य । Equality fraternity & liberty ।१२७। मतलब भरा Tendentious । न० सा० न० प्र० निकष, पृ० १३ आख्यान-बहुल । Episcdic । १३, अति यथार्थवादी । Sur realists । २१ । विशदीकरण । Elaboration । २३ । मत । Thesis. २३, प्रतिमत । Antithesis । २३ । आदि शब्दो के साथ ही They are riding on horse back over vacuum अर्थात् 'वे शून्य मे घोडे दौडा रहे हैं, ।न० सा०

न० प्र० पृ० १। They promised to give us a world, instead they gave us a hospital। उन्होंने हमे नया ससार देने को कहा था, पर हमें उनसे मिला एक नया अस्पताल।१।, आदि अंग्रेजी के पूरे के पूरे वाक्यों और उद्धरणो का भी उन्होने उपयोग किया है।

वैसे तो वाजपेयी जी की गम्भीर समीक्षा मे हास्य और व्यग्य प्रमुख स्थान नहीं रखते। लेकिन रह रह कर उसका सयत रूप अवश्य दृष्टि गोचर होता है।

"पत्र-पत्रिकाओं में मन्त्रियो-उपमन्त्रियो के लेखो की एक बडी मात्रा रहा करती है। जब कभी दैनिक पत्रों के, विशेष कर अग्रेजी दैनिको के, विशेषाक प्रकाशित होते हैं, तब उनमे मन्त्रियों-उपमन्त्रियो या आकांक्षी मत्री-उपमन्त्रियो के लेखो की भरमार रहती है।"[1] यहाँ आकाक्षी-मन्त्रियो आदि मे व्यग्य स्पष्ट है।

"न मालूम क्यो जैनेन्द्र जी के अनुयायी भी उनकी रचनाओ को समीक्षा के प्रकाश मे नही आने देना चाहते। जिन परिस्थितियो के बीच जैनेन्द्र जी की पात्रिया जैसा आचरण करती हैं, यदि उसमे किसी को कुछ अस्पष्टता दीखे-अस्वाभाविकता कहना तो और भी बडी हिमाकत होगी-तो उसकी भी शिकायत नही करनी होगी। जो कुछ लिखा गया, ब्रह्मवाक्य वही है। उस पर किसी प्रकार की शका उठ नही सकती, नही तो शकाकार की वह स्थिति हो जायगी जो मौसी के मुह पर मूछ की कल्पना करने वाले की महाराष्ट्र मे हुआ करती हैं—वकील प्रोफेसर माचवे। पर अपने यहाँ बिल्ली मौसी के मूछे भी हुआ करती हैं और छोटे-छोटे बच्चे भी क्रीडावश उनका उपयोग किया करते हैं, इसमे अस्वाभाविकता या अनौचित्य कोई नहीं देखता।"[2]

यहां तीखे व्यग्य की प्रखरता विशेष उल्लेखनीय है। लेकिन स्वय, स्निग्ध हृदय और मुग्ध मन होने के कारण तथा गम्भीर अध्ययन और मनन के फलस्वरूप भी, हास्य, व्यग्य आदि की प्रवृत्ति या उनमे अपेक्षाकृत कम हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनकी शैली रूखी और शुष्क है।

आचार्य वाजपेयी जी की विवेचनात्मक शैली की की इस भूमिका पर आकर हमारी दृष्टि हिंदी और मलयालय गद्य के दो-एक अद्यतन उन्नायको की ओर सहज रूप से जाती है। अद्युनातन हिन्दी क्षेत्र मे पहले पहल आचार्य वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जोडा सामने आता है।। मुग्ध मन, स्निग्ध हृदय इन दोनो आचार्यों मे व्यक्तित्व की समान भूमिका के बावजूद विवेचनात्मक शैली की दृष्टि से

१ आधुनिक काव्य : रचना और विचार : पृ० ४।
२ हिन्दी-साहित्य . बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति, पृ० २३।

अन्तर अवश्य झलकता है। एक ने विषय को व्यक्तित्वानुसार बनाया तो दूसरे ने विषयानुसार व्यक्तित्व को अपनाया, एक मे आकर अनेक अवसरो पर व्यक्तित्व ने विषय को दबा दिया, तो दूसरे ने व्यक्तित्व और विषय मे सामजस्य उपस्थित किया। द्विवेदी जी मूलत एक साहित्यिक स्रष्टा हैं, तर्क और विश्लेषण की अपेक्षा उल्लास और उद्वेग उन्हे प्रिय हैं, फल यह हुआ कि उनकी विवेचनात्मक शैली मूल रूप मे भावप्रेरित रही। एक ही उदाहरण लीजिए, 'आलोचना का स्वतत्र मान' के सम्बन्ध मे द्विवेदी जी लिखते हैं

"एक पत्र के लिए लेख लिखने बैठा हू । चाहता हू कि काव्य के रसलोक की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध मे पाठको को नई बात सुनाऊ, परन्तु हृदय भीतर से विद्रोह कर रहा है। बार-बार मन का बहुत दिनो का अन्त सचित पाप बाहर निकल आना चाहता है। वर्षो से अध्यापन का कार्य कर रहा हूँ, हिन्दी और सस्कृत के रस-सिद्ध महाकवियो की वाणी पढता पढाता आया हू । विद्यार्थियो को और अपने आपको समझाता रहा हू कि इस काव्य रस के रसिको को एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है जो ब्रह्मानद का सहोदर है।"[1]

मलयालम के क्षेत्र मे आलोचक-प्रवर मुण्टशेरी तथा मारार की भी हमे याद आती है। शब्दो का बिंब ग्रहणात्मक प्रयोग और चमत्कारपूर्ण वाक्य-रचना की दृष्टि आदि के विचार से मुण्टशेरी और वाजपेयी जी मे कौन आगे है, यह बताया नही जा सकता, हा मुण्टशेरी की शैली अधिक पाडित्य विजृभित अवश्य है, इस दृष्टि से वैयक्तिकता और तरलता के कारण मारार जी, वाजपेयी जी के अधिक निकट आ जाते हैं। अधिक लिखने का यहा अवसर नही है, हिन्दी और मलयालम के विवेचनात्मक शैली के क्षेत्र मे पूर्वाग्रहरहित सहज तरल शैली के ये तीनो विद्वान उन्नायक रहे है। एक-एक उद्धरण उपस्थित कर इनकी शैली पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे

'आँसू मे छायावाद कहा है? उसके वियोग-वर्णन मे? नही, वह तो साक्षात् मानवीय है। क्या उसकी सम्मिलन-स्मृति मे? नही, वह तो कवि की साहसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति है।"

—आचार्य वाजपेयी

"उपस्थित सामग्रिया और प्रबध ऐसा कहा है न ? किस प्रकार हुए हैं वे? सदा के लिए काम मे लाने के लिए ईश्वर के द्वारा। या उस प्रकार के अन्य किसी के द्वारा। हमारे पुराने बधुओ को सौपा गया है क्या, हमारी आखो के सामने पडी ये सारी व्यवस्थाए ? किसी दूसरे से सम्बन्धित न होकर अपने आपमे प्रादुर्भूत कुछ सिद्धियो के रूप मे उन्हे गिन सकते हैं क्या ?"

—मुण्टशेरी

१ अशोक के फूल, पृ० १४५-४६।

"वास्तव मे एक आदमी को माता-पिताओ से जैसे, भार्या से भी कुछ कर्तव्य नही है क्या ? पुत्र के रूप मे पिता के वचन की रक्षा के लिए उद्विग्न होकर निकले राम, भर्ता की हैसियत से भार्या के मान की—अपने को पूर्ण रूप से विदित हुए चारित्र सम्बन्धी आत्माभिमान की—रक्षा करने के लिए भी *बाध्य हैं न ?"*
—मारार

तो भी हमे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विवेचन की जिस सतुलित पद्धति का वाजपेयी जी ने अपने आलोचनात्मक निबन्धो मे अनुगमन किया है, वह न तो मुण्टशेरी मे मिलती है, न मारार मे । मुण्टशेरी अपने विवेचन मे, यहाँ तक *कि तर्क-योजना तक मे अधिकतर भावप्रवण ही दिखाई पडते हैं । विचारो की* कसी हुई परम्परा का उनमे अक्सर अभाव दिखाई पडता है । विपत्तियो के प्रति एक प्रकार की असहिष्णुता का भाव उनकी शैली मे अवश्य झलकता है । मुण्टशेरी और मारार दोनो सृजनात्मक साहित्यकार (कथा-कहानी आदि लिखने वाले नही, प्रभावात्मक आलोचक कहिए) अधिक हैं, दोनो आलोचना को एक सृजनात्मक प्रक्रिया मानकर ही आगे बढे हैं ।

ऊपर विवेचन से विवेचनात्मक शैली के क्षेत्र मे आचार्य वाजपेयी जी का स्थान स्वय विदित हो जाता है । शैली को आप व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानिए, वाजपेयी जी मे वह मिलेगी अवश्य । इधर हमे वाल्टर पेटर (१८३९-१८९४) का वक्तव्य ही स्मरण आता है "शैली व्यक्ति है, किन्तु वह व्यक्ति नही जिसके मन की तरग मनमानी और अतर्कित, असहज और कृत्रिम है, किन्तु वह व्यक्ति जिसकी *अनुभूति उस वक्तव्य के सम्बन्ध मे पूर्णत ईमानदारी की है जो उसके लिए सबसे* बडा यथार्थ है ।"[1] अब यदि आप शैली को अभिव्यजना कौशल[2] मानेंगे तो वह वाजपेयी जी मे सर्वत्र प्राप्त होगा, उसका अलग उल्लेख भी आवश्यक नही । यदि आप शैली को अपने व्यापक अर्थ मे लेने के पक्षपाती हैं जहाँ वह निरपेक्ष रूप मे साहित्य की समस्त विशिष्टताओ के एक साथ वाचक के रूप मे प्रयुक्त होती है[3] तो भी वाजपेयी जी खरे उतरते हैं विषय आपके महान रहे तो प्रतिपादन रीति भी गम्भीर और सयत रही । रोचकता, स्पष्टता, प्रभविष्णुता प्रसगानुसार शब्दो एव *वाक्यो का चयन और उचित अलकार योजना उनकी विशेषताएं हैं, उनकी शैली* उनके गम्भीर व्यक्तित्व से आलोकित हैं ।

●

---

१ उद्धृत पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा । प्र० स० डा० नगेन्द्र । पृ० २३० ।
2 Technique of exposition.
3 Style as the highest achievement of literature.

वाजपेयी जी की समीक्षा-शैली

—डा० रामकुमारसिंह एम ए, पी-एच डी

आधुनिक हिन्दी की अन्य अनेक साहित्यिक विधाओ की भाति आधुनिक हिन्दी समीक्षा का भी उद्भव भारतेन्दु-युग से और उसका व्यवस्थित विकास द्विवेदी युग से मान्य है। प्रारंभिक समीक्षा 'पुस्तक परिचय', 'समीक्षा' आदि शीर्षको मे सैद्धान्तिक आधार पर गुण, दोष, दर्शन आदि के रूप मे केवल पत्रिकाओ से सम्बन्धित रही। इस समीक्षा-चेतना के फलस्वरूप क्रमश खोज और अध्ययन का कार्यारभ करती हुई बीसवी शदी ने द्विवेदी-युग की अवतारणा की और व्यवस्थित समीक्षा का पथ प्रशस्त हुआ। इस युग मे हमे तीन प्रकार के समीक्षक मिलते हैं—(१) प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो का निरूपण करने वाले—लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' प्रभृति, (२) केवल पाश्चात्य आलोचना-सिद्धातो का अध्ययन, मनन और प्रचार करने वाले—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इत्यादि तथा (३) भारतीय एव पाश्चात्य सिद्धातो का सुन्दर समन्वय उपस्थित करने वाले—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि।

इस समन्वयवादी समीक्षा-धारा के महत्वपूर्ण युग-नियामक आचार्य शुक्ल ही हुए। अपने इस विशिष्ट दृष्टिकोण एव चिंतनशक्ति से उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी का व्याख्यात्मक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर हिन्दी समालोचना-पद्धति को एक निश्चित दिशा दी, किन्तु उनके विशिष्ट भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण, सामाजिक मर्यादा और नैतिकता के विशेष आग्रह ने कृति एव कृतिकार के प्रति स्वच्छद, मनोवैज्ञानिक चिंतन के लिए अधिक अवकाश नहीं दिया। फलत जिस प्रकार द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता आदि की उपेक्षा करते हुए, कवि-हृदय की उन्मुक्त भावना ने स्वच्छद काव्य-सृष्टि के लिए पख खोले, उसी प्रकार इस स्वच्छद-समीक्षा का भी प्रणयन हुआ।

इस स्वच्छद समीक्षा-पद्धति मे सामाजिक मर्यादा और नैतिक मापदण्डो को *अस्वीकार नही किया गया। इसमे भारतीय रस-सिद्धात तथा पाश्चात्य सवेदनीयता* और मनोवैज्ञानिकता को समन्वित किया गया। युगीन परिस्थितियो के परिवेश मे कवि की आतरिक सवेदना, ध्वन्यात्मकता, भावाभिव्यक्ति, कल्पना-सौंदर्य, शब्दचयन, *व्यक्तित्व, अनुभूति आदि के आधार पर समीक्षा की प्रगति हुई। आचार्य नन्ददुलारे* वाजपेयी प्रमुख रूप से इस आधुनिक समीक्षा-धारा के अग्रणी, प्रवर्तक विद्वान हैं। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-परिषद् के कलकत्ता-अधिवेशन (१९६२) मे *डा० नगेन्द्र ने अपने भाषण मे इस सम्बन्ध मे घोषित किया था—"आचार्य* वाजपेयी जी के जैसे निबन्ध हिन्दी-साहित्य मे कम हैं।" इस सम्बन्ध मे यहाँ यह भी चर्चा असगत न होगी कि उन्होने अपने गुरु आचार्य शुक्ल से मत-वैभिन्य दिख*लाते हुए सर्वप्रथम अपनी पैनी दृष्टि से छायावादी काव्य चेतना को परखा और* उसे प्रतिष्ठित भी किया। स्वय आचार्य वाजपेयी के शब्दो मे—"मेरा आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पत की नयी कविता के विवेचक के रूप मे *हुआ था नये जीवन-दर्शन, नयी भावधारा, नूतन कल्पना-छवियो और* अभिनव भाषा-रूपो को देखकर मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ था।"

आचार्य वाजपेयी जी की 'प्रसाद', 'सूर', प्रेमचन्द' के कृतित्व पर सपूर्ण एव स्वतन्त्र समीक्षा कृतियाँ हैं तथा 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', एव 'नया साहित्य नये प्रश्न' तीन समीक्षात्मक निबन्ध सग्रह हैं। कृतियो के नाम ही लेखक की महत्वाकाक्षा के द्योतक हैं। उनकी कृतियो का समग्र समाकलन करते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होने अपनी पद्धति से किसी साहित्यकार विशेष का समग्र अनुशीलन, या उसके किसी विशेष पक्ष का अनुशीलन, अथवा किसी विशिष्ट साहित्यिक विधा पर स्वतत्र मत सम्पादन करते हुए कुछ नवीन दृष्टिकोण स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त कतिपय पौरस्त्य एव पाश्चात्य साहि*त्यिक तथा दो-एक दार्शनिक सिद्धातो पर भी विचार प्रस्तुत किये है। यह कहना* भी अनुचित न होगा कि निबन्ध, काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, समीक्षा पौरस्त्य एव पाश्चात्य साहित्यिक मत और सिद्धात आदि लगभग सभी साहित्यिक विधाओ पर उन्होने *दृष्टिपात किया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक चेतना की नवीन भाव*भूमियो, नये अनुशीलन की अनेक भूमिकाओ, साहित्य-धाराओ, विचारणाओ आदि का सूक्ष्म विवेचन एव निरूपण किया है। वाजपेयी जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य *की समष्टि चेतना का अपनी आलोचक दृष्टि मे समाहार कर लिया है।* उनकी कृतियो के भूमिका भाग तो इस शताब्दी के साहित्यिक विकास की एक सक्षिप्त, सम्पूर्ण, ऐतिहासिक परिनिरीक्षणात्मक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उनकी इस समग्र दृष्टि की *व्यापकता का कारण उनकी आलोचक प्रतिभा ही नहीं,* वरन् हिन्दी के भाग्य से ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण का अधिकारा ऐतिहासिक समय

उनकी आखो के सामने से गुजरा है और गुजर रहा है। यह उनकी समग्र ऐतिहासिक दृष्टि की पूर्णता का अनना सयोग है।

कृतियो के विचार से आचार्य वाजपेयी का 'हिन्दी साहित्य . बीसवी शताब्दी' एक तरुण साहित्यकार का प्रथम स्थापन है जो अभी-अभी अखाडे मे उतरा है, जिसमे शक्ति है, सामर्थ्य है और है जिसमे नई कला के भविष्य की नई अरुणाभा है, जिसमे वह तत्कालीन साहित्यकारो पर साहसपूर्वक और आजमाने चला है। और तो और इस ग्रथ म प्रेमचन्द जी से वाद-विवाद मे पजे भिडाने की महत्वपूर्ण स्पष्ट चर्चा है। इसमे सगृहीत निबध वाजपेयी जी की आलोचन-कला की तरुण रश्मियाँ हैं।

किसी भाषा और साहित्य के भाग्य से ही युग की समस्त साहित्यिक चेतना एव भाषा का समाहार करने वाला कोई एक प्रतिनिधि महाकवि जन्म लेता है, उसी प्रकार एक युग का सम्यक् व्याख्याकार आलोचक भी युगीन आवश्यकता से ही उत्पन्न होकर साहित्य के बिखरे सूत्रो को जोडकर इतिहास-निर्माण का पथ प्रशस्त करता है। आचार्य वाजपेयी जी मे हम ऐसे ही आलोचक के दर्शन करते हैं।

वाजपेयी जी पाश्चात्य एव पौर्वात्य काव्यमतो के गभीर अध्ययन के उपरात आलोचना क्षेत्र मे उतरे थे, किन्तु उनके सम्यक् ज्ञान, प्रभाव और उपयोग को मान्यता देते हुए भी उनकी अपनी सत् समालोचक प्रतिभा अपनी समालोचना-पद्धति का आदर्श निरूपण करने मे समर्थ हो सकी है, इसमे सदेह नहीं। प्रतिभा की पहचान भी यही है कि गतानुगतिकता उसे अभीष्ट नही होती। भारतीय काव्यमतो मे ध्वनिमत एव पाश्चात्य मतो मे क्रोचे के अभिव्यजना मत का उन पर प्रभाव है; किंतु वे कवि की आतरिकता को टटोलने मे यथावश्यक मनोविश्लेषण की महत्ता भी स्वीकार करते हैं। किंतु इस सबध मे वे किसी मनोवैज्ञानिक वाद विशेष से परिचालित न होकर, रचनाकार के अनुकूल मनोविज्ञान की सहज भावना एव अन्तर्दृष्टि से ही प्रेरित होते हैं। हाँ, उसके सामाजिक औचित्य का निर्णय वे अत्यन्त ही निर्भीक, स्पष्ट और स्वतन्त्र रूप से देते हैं, उसी प्रकार जैसे कि वे सामान्यवातों मे भी अपना मत सपादित करते हुए कुछ अधिक गभीर होकर बोलने लगते हैं।

उनका स्वतन्त्र मत आलोच्य काव्य कृति के गम्भीर अध्ययन एव उसके सम्बन्ध मे उनके निष्पक्ष स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित होता है जो अध्येताओ को सतोष प्रदान करता है। (यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वे कृति के अध्ययन के प्रभाव से प्रभाववादी बनकर कभी नहीं बोलते)। वाजपेयी जी की उदग्र प्रतिभा की यह विशेषता है कि उन्हें किसी मत विशेष का आग्रह नहीं है। उनकी तत्त्व-ग्राहिणी बौद्धिक क्षमता बेजोड है। अतएव उनकी समीक्षा प्रत्येक दृष्टि से श्लाघ्य और सतुलित होती है।

युग और समाज की राजनीतिक एव समाजशास्त्रीय चेतना की पृष्ठभूमि पर कृतिकार एव कृति को लेकर उसके वातावरण निर्माण का परिचय देते हुए उनकी आलोचना का सूत्रपात होता है। वे कवि की प्रतिभा-सगत मनोवैज्ञानिक अतरगता को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हुए, कृति के निर्बल एव सबल पक्षों की सम्यक् परीक्षा करते हैं। काव्य-प्रेरणा के मूल उत्स एव काव्य-सौंदर्य के समग्र भावात्मक एव कलात्मक आकलन तथा समाज सापेक्ष्य उसकी उपादेयता के निर्णय के साथ उनकी समीक्षा समाप्त होती है। उनकी समीक्षा कर्ता (कवि) और भोक्ता (अध्येता) दोनों के अनुकूल होती है।

वाजपेयी जी ने 'नया साहित्य . नये प्रश्न' के निकष मे अपने सप्तसूत्री मानदण्डो का उल्लेख इस प्रकार किया है —

(क) साहित्य मे मानव जीवन के विविध रूपो की अभिव्यक्ति होती है।

(ख) वह अभिव्यक्ति किसी विशेष प्रकार या माध्यम से होती है जिसे हम *'कल्पना'* प्रकार कह सकते हैं।

(ग) कल्पना ही काव्य या साहित्य का नियामक तत्व है।

(घ) कल्पना का स्वरूप सर्वसम्मति से रूपात्मक माना गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित 'रूप' ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य मे कोई दूसरी वस्तु-वत्ता रह ही नही सकती। साहित्य मे वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सबध को समझना ही सबसे बडी साहित्यिक साधना है।

(ङ) अपने व्यापक अर्थ मे 'रूप' या 'भावाश्रित रूप' एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ है जिसके विविध *उन्मेष, 'स्वप्न', 'दिवा स्वप्न', 'बाल-कल्पना' तथा 'साहित्य'* आदि अनेक क्षेत्रो मे देखे जाते हैं। 'साहित्य मे इनकी विशेष प्रकृति सार्वजनीन बनने की रही है। यह सारी सामग्री शब्दो का परिधान धारण कर उपस्थित होती है अतएव शब्द रहित 'रूप' की अपेक्षा यह शाब्दिक 'रूप' अपनी विशेषताए रखने को बाध्य है।

(च) *साहित्यिक शब्द-प्रयोग की विशेषताएं भारतीय काव्यशास्त्र* (ध्वनिमत) *एव पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों द्वारा अनुमोदित हैं। अर्थगर्भता और* सार्वजनिक ग्राह्यता उसके विशेष गुण हैं।

(छ) 'रूप' या सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा उच्च कोटि के लौकिक या अलौकिक आनन्द का उद्रेक ही साहित्य और कलाओ का लक्ष्य है।

सक्षेप मे, ये ही सप्त सूत्र वाजपेयी जी के अपनी आलोचना सम्बन्धी मानदड हैं, जिनको वे न्यूनाधिक रूप मे दृष्टिपथ मे रखते हुए अपनी समीक्षायें सम्पन्न करते हैं। इनके सम्बन्ध मे आचार्य जी ने यही मन्तव्य इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"साहित्य की इन सप्त सूत्री जिज्ञासाओ मे साहित्य और कला सम्बन्धी ज्ञातव्य सभी तथ्य आ जाते हैं। कम से कम मुझे इनमे एक प्रकार की पूर्णता दिखाई देती है। मेरे आरम्भिक साहित्यिक जीवन से ही अध्ययन के फलस्वरूप या सस्कारवश, ज्ञात या अज्ञात रूप मे, ये सभी सूत्र मुझे आभासित होते रहे हैं—यह बात दूसरी है कि मेरी अल्प क्षमता के कारण इनमे से एक या अनेक सूत्रो की उपेक्षा की गई हो अथवा इनके प्रयोग मे त्रुटिया रह गई हो। इनके समन्वित स्वरूप की पूर्णता तो किसी महान् कलाकार की किसी विशिष्ट रचना मे ही मिल सकती है, पर स्रष्टा और समीक्षक दोनो को इनकी सजग चेतना तो रहनी ही चाहिए।" परन्तु वे यह भी मानते है कि "साहित्यिक आलोचना कोई ऐसी छोटी वस्तु नही है, जिसे कोई एक व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओ मे सीमित कर दे।"

आलोचना के उपर्युक्त मानदण्ड उनके अपने हैं, किन्तु उनके मत से, स्रष्टा और समीक्षक दोनो के दृष्टिकोण से बहुत कुछ उपयोगी हैं। इनमे काव्य या कला के मूल उत्स 'रूप' की परख पर बल दिया गया है। उनके अनुसार 'रूप' की सफल एव कलात्मक अभिव्यजना (शब्द या अन्य किसी माध्यम से) उसका व्यक्त रूप है, किन्तु उसकी कलात्मकता अभिव्यक्ति उसको अतिरिक्त सौन्दर्य-समन्वित कर देती है इसमे सन्देह नहीं। ऐसी स्थिति मे माध्यम के सौन्दर्य की भी परख अनिवार्य हो जाती है। निष्कर्षत 'अभिव्यजना' और 'ध्वनि' के तत्वो का स्पर्श इन सूत्रो मे समाहित हो जाता है। उनके भावाश्रित रूप के स्वप्न, दिवास्वप्न, बालकल्पनायें, आदि फ्रायड के अवचेतनवाद को भी अपने क्रोड मे समेट लेते हैं। वाजपेयी जी के साहित्यिक क्षेत्र मे पदार्पण करने के प्रथम चरण से ही ये तथ्य ज्ञात या अज्ञात रूप मे उनके मानस मे टकराते रहे हैं और तभी वे अपने प्रारम्भिक युग के प्रमुख युग प्रभावी प्रतिभाशाली आलोचक आचार्य शुक्ल से पथान्तर निर्दिष्ट कर सके। यह कोई नियम नही है कि पूर्व चिन्तक ज्ञान के जिस तथ्य को अवगत कर चुके हो वह सर्वमान्य भी हो?

देशकाल की सापेक्षिक परिस्थितिजन्य भूमिकाओं पर ही किसी कृति के कृतित्व के सम्बन्ध मे उसकी मन स्थिति का निर्माण होता है। उसका अनुशीलन और मूल्याकन तत्सम्बन्धी शकाओ की अनेक अर्गलायें उन्मुक्तकर सजग रूप से, बिना किसी निजी प्रवृत्यात्मक आसक्ति के, हमे कृति की भावभूमियों के सामीप्य और सत् निर्णय का अवसर प्रदान करता है। अतएव समीक्षक और पाठक के लिए उसके अध्ययन-सिद्ध ज्ञान की उपादेयता निर्विवाद है। युग-जीवन के परिपार्श्व मे युगविशेष की काव्यकृतियो का अनुशीलन, काव्य-सौन्दर्य के आस्वादन को अधिक यथार्थ और तथ्य सचलित बनाता है। वाजपेयी जी अपनी समीक्षा-पद्धति मे इसीलिए कृति एव कृतिकार से सम्बन्धित देशकाल की परिस्थितियो के अकन को

महत्व देते हैं। कवि के कृतित्व की समकालीन एवं भावी उपादेयता, महत्ता, उसके सन्देश एवं प्रभाव का, व्यक्तिगत एवं सामाजिक युगधर्म से उसके सामंजस्य का सही अंकन भी तभी सम्भव होता है। सतत् परिवर्तनशील सामाजिक साहित्यिक एवं ऐतिहासिक मूल्यों का तभी सही अंतर स्पष्ट होता है। आखिर, यह तो एक मान्य तथ्य है कि युगीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के प्रभाव से बहुत कुछ अनुप्राणित होकर ही कला और साहित्य नये रूप में जन्म लेते हैं और इस प्रकार कलाकार के सजग व्यक्तित्व को समाज के स्थूल प्रभावों से निरपेक्ष स्वस्थ प्रतिबिम्ब (साहित्य) के प्रस्तुतीकरण में महत्वपूर्ण बनाते हैं। साहित्य का नवीन चेतना-सम्पन्न यह युगीन पट-परिवर्तन उसकी विकास-परम्परा की एक ऐतिहासिक कड़ी जोड़ता है। ऐसी अवस्था में उसका अध्ययन महत्वपूर्ण ही नहीं, निश्चित रूप से अनिवार्य होता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में साहित्य मानव-कल्याण-वादी शिवम् की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित होता है, यह स्मरण रखना चाहिए। अतएव साहित्य समाज विशेष के सांस्कृतिक उत्थान पतन में श्रेयस का स्मारक होता है, वह मानव भावना के दैवीय स्वरों में ही बोलता है। अतएव समीक्षक-दृष्टि युगीन परिवेश में उसकी परख न करे यह असंगत प्रतीत होता है।

आधुनिक युग में मनोविज्ञान शास्त्र ने मानव के अन्तर्मन की परिस्थितियों (विशेष दशाओं) के अध्ययन का नया क्षेत्र उन्मुक्त किया है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार वह चेतना का विज्ञान माना भी जाता है। साहित्य सृष्टि के मानसिक चेतना से प्रबुद्ध अनुभूति, अभिव्यक्ति और तत्वज्ञान की नयी भावभूमियों के मर्म का अनुसन्धान समीक्षा कार्य में उसी की देन है। उस दृष्टिकोण से साहित्य की परख में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग यथावसर अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए, साहित्यिक मनोविश्लेषण मनोवैज्ञानिक पद्धति से मात्र अनुप्रेरित ही होता है, वहा सिद्धान्त-पालन या अतिवाद की कोई शर्त नहीं है। साहित्यिक मनोविश्लेषण समीक्षक की प्रातिभ अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न एवं स्वतन्त्र होता है, काव्य-शास्त्र के अनुकूल होता है। क्रोचे, फ्रायड आदि के साथ पाश्चात्य साहित्यिक समीक्षा ने वैज्ञानिक सत्य की सिद्धि के विचार से उसे प्राथमिक महत्व दिया। भारत में भी रसानुभूति के सिद्धान्त के साथ उसकी किसी न किसी रूप में मान्यता अवश्य थी, किन्तु उसका आधुनिक सार्वजनीन व्यावहारिक रूप उससे बहुत दूर था। वाजपेयी जी ने पौरस्त्य एवं पाश्चात्य काव्यमतों, समीक्षा सिद्धान्तों आदि के सम्यक् अध्ययन द्वारा उनके सन्तुलित निष्कर्षों को हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक प्रतिष्ठापन करते हुए समीक्षादर्श को अत्याधुनिकता प्रदान की है। साहित्य के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित अनेक कृतियों को युगीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेशों में परखने के अतिरिक्त, साहित्य-स्रष्टाओं एवं उनकी कृतियों के मनोवैज्ञानिक स्वरूपों, विशेषताओं, प्रभावों, सन्देशों आदि के अध्ययन का

क्रम अनुसधानित करते हुए समीक्षा का आदर्श प्रस्तुत किया। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक न्यूमैन और स्टर्न के अनुसार विश्लेषणात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति ही सूक्ष्म अध्येता और समीक्षक होते हैं। कहना न होगा कि वाजपेयी जी ऐसे ही समीक्षक हैं।

कवि के व्यक्तित्व, उसके व्यक्तित्व की निर्माणकारी परिस्थितियों तथा कृति मे उसकी सन्निहिति आदि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा रचना की प्रकृति विशेष का आकलन सरल हो जाता है। व्यक्तित्व व्यक्ति के पूरे व्यवहार का दर्पण होता है। व्यक्ति के विभिन्न व्यवहारो की स्वाभाविक प्रतिक्रिया उसके चरित्र और क्रियाकलाप आदि मे अवश्य परिलक्षित है। 'रचना-प्रकार' और 'शैली' की स्वस्थ अथवा अस्वस्थ कल्पना-छवियाँ कवि के व्यक्तिगत मानसिक एव स्वाभाविक व्यवहार की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित होती हैं, उनकी उदात्तता एव अनुदात्तता का स्वरूप वही गढा जाता है। अतएव वाजपेयी जी अपनी समीक्षा-शैली मे इस सिद्धात के सहयोग से कृति एव कृतित्व को समझने का विशेष प्रयास करते हैं। कृति के निर्माण-काल की परिस्थितियाँ, कृतिकार के द्वारा गृहीत प्रभाव और कृति मे उनकी छाया, काव्य-स्फुरण के उत्स, रूपाकार, कल्पना छवियाँ, कवि की अन्तर्वृत्ति का समाकलन आदि वे उन्ही स्वच्छन्द चिन्तनात्मक मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो मे करते हैं। अतएव किसी मत, वाद विशेष आदि से परिचालित होकर कट्टर सैद्धातिक स्तर पर आचार्य वाजपेयी की आलोचन-कला को जाँचना व्यर्थ होगा। कवि की शिक्षा दीक्षा, वशानुक्रमिक एव वातावरणिक सस्कारो, कला और सस्कृति के सम्बन्ध मे उसकी वैयक्तिक धारणाओ आदि का प्रसग भी उसी प्रकार आचार्य जी की आलोचन-कला का अग है। कृति की अभिव्यजन-कला पर कृति की प्रातिभ शक्ति के अतिरिक्त इनका भी विशेष प्रभाव पडता है, कृति की मौलिकता, सशक्तता, कलात्मक सौन्दर्य सम्पन्नता, भाव सप्रेषण की पूर्णता उसी पर निर्भर रहती है, अतएव भाव-सौन्दर्य की परख के साथ आचार्य जी अपनी समीक्षाओ मे इस ओर भी विशेष ध्यान देते हैं। पुन व्यक्तिगत एव सामाजिक युग-धर्म को दृष्टिपथ मे रखते हुए साथ ही साथ उनके सन्तुलित निर्णयो द्वारा कृति की उपादेयता का भी निर्णय आता है।

उपर्युक्त अभ्यर्थित विचारो के साथ ही अब हम वाजपेयी जी की अपनी आलोचन-कला सम्बन्धी इस मान्यता पर पहुच जाते हैं कि—"अनेक चरित्रो, चरित्र-रेखाओं, दृश्य-चित्रणो, सवादो, वर्णनो और अन्य उल्लेखो के माध्यम से साहित्यकार अपने जीवन-अनुभव और जीवन-मतव्य को व्यक्त करता है। इनकी व्याख्या और परीक्षा ही काव्य की वास्तविक व्याख्या और परीक्षा है। नाना अलकारो और प्रसाधनो से वह अनुक्रम, अग-सगति और बोधगम्यता के सामाजिक उपकरण ले आता है जिनसे उसके मूल्य मे वृद्धि होती है। विविध दार्शनिक और नैतिक धारणायें और अभ्यास इसमे स्थान पाते हैं। इस सम्पूर्ण सार्थक रूप-सृष्टि को ही

काव्य, कला या साहित्य कहते हैं। सार्थकता के बिना रूपसृष्टि का कोई मूल्य नही है। आज के कई समीक्षक 'रूप' और 'मूल्य' की अलग-अलग भूमिकाओ पर काव्य की परीक्षा करना चाहते हैं। परन्तु यह प्रयास वैसा ही है जैसे स्वर्ण-कुण्डल मे से कोई सोना निकालने की चेष्टा करे।"

"कवि अपने काव्य के लिए ही जिम्मेदार है, पर समीक्षक अपने युग की सम्पूर्ण साहित्यिक चेतना के लिए जिम्मेदार है।" वाजपेयी जी के इस कथन के अनुसार यदि छाया, प्रगति और प्रयोग-युग तक की उन्ही की समीक्षा-सरणि पर सम्यक् सक्षिप्त दृष्टिपात कर लिया जाय तो असगत न होगा। वाजपेयी जी ने छायावादी काव्य प्रवृत्तियों और धाराओ को सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक पृष्ठभूमियो पर आधृत कर उन्होने उसके समग्र काव्य-सौन्दर्य के विश्लेषण एव मूल्याकन का समुचित उपक्रम किया। इस प्रकार काव्य की छायावादी प्रवृत्ति-विशेष को महत्वपूर्ण घोषित करते हुए नये छाया-युग की प्रतिष्ठा की। छायावादी काव्य चेतना मे प्रवृत्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण एव उससे अनुप्राणित होकर किसी रहस्यमयी सत्ता के प्रति समर्चना की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वाजपेयी जी ने हिन्दी के उस उदात्त युग का सौहार्दपूर्ण अभिनन्दन किया।

किन्तु छाया-युगोपरान्त प्रगति-युग का उन्होने वैसा स्वागत नही किया, कारण कि मार्क्स के दार्शनिक चिन्तन से उन्होने अपना मतभेद उपस्थित किया है। उनका मत है, "मुझे मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रतिपत्तिया स्वीकार नही हैं। सामाजिक विकासक्रम मे आर्थिक व्यवस्था को सर्वोपरि बताकर साहित्य तथा अन्य उपकरणो को उसका अनुवर्ती होने का तर्क मुझे सुसगत नही जान पडता।"

हिन्दी की प्रयोगवादी धारा को वे निराशावादी भूमिका पर प्रतिष्ठित मानते हैं। उनके अनुसार श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण निराशावाद की भूमिका पर नही हो सकता। उन्होने लिखा है "विकास की अनिवार्यता के साथ आस्था की अनिवार्यता मुझे एक अटल साहित्यिक नियम जान पडती है।" अतएव प्रयोगवाद की उन्होने आलोचना प्रस्तुत की है। अभी तर्क-वितर्क इस क्षेत्र मे चल रहे हैं। पता नही-नये काव्य के निर्माणकालीन कूडे-कर्कट के ढेर से कब और कितने हीरे उपलब्ध हो सकेंगे तथा वाजपेयी जी की आलोचना के लिए सही सबल उपस्थित कर सकेंगे, तथापि आस्थामयी लोक-कल्याण की भूमिका पर उनके द्वारा नये काव्य का मार्ग-निर्देशन हो रहा है, इसमे सदेह नही।

वाजपेयी जी की भाषा-शैली

काव्य की भाति सत् समालोचना भी एक कला है और ऐसी प्रत्येक कला की एक भाषा हुआ करती है, उसका शैलीगत एव वैयक्तिक रूप भी हुआ करता है।

अतएव वाजपेयी जी की आलोचन-कला पर इतना विचार कर लेने के उपरान्त उनके समीक्षक की भाषाशैली पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना निबन्ध की पूर्णता की दृष्टि से समीचीन ही होगा।

वाजपेयी जी की भाषा-शैली उनकी रूपाकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप है, उसमे सुरुचि सपन्न परिष्कृति और परिनिष्ठा, सहृदयतापूर्ण रागात्मकता, पाडित्य-पूर्ण सास्कृतिकता, सूत्रात्मकता, आभिजात्य एव साहित्यिक व्यजनात्मकता है। उसे हम सामान्य स्तर की भाषा तो नहीं कह सकते, तथापि विषय के स्पष्ट प्रतिपादन मे वह पूर्णतया सक्षम है। अतएव उसमे आकर्षण है, शब्दो के प्रयोग अपने स्थान पर तथ्य सवाहक दायित्व का पूर्ण निर्वाह करते हैं। बहुधा नये-नये शब्द प्रयुक्त एव निर्मित भी हुआ करते हैं, यदाकदा परम्परागत पदावली के रूढ अर्थ भी परिष्कृत होकर समसामयिक उपयोगिता के अनुकूल बन जाते हैं, यथा प्लेटो के युग से सबधित 'नीतिवाद' और 'नैतिक मूल्य' आदि शब्द। सच्चे साहित्यिक कलाकार अपनी अभिव्यजना के उपयुक्त अपनी भाषा के निर्माण मे भी अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय अवश्य देते हैं। इस दृष्टि से वाजपेयी जी भी कोई अपवाद नही हैं, वे सुन्दर परिनिष्ठित भाषा के निर्माता हैं, आधुनिक युग के इस समीक्षक का प्रतिशब्द अभिनव आधुनिकता मे आवेष्टित है।

उनकी शैली विषय-प्रतिपादन के अत्यन्त ही अनुकूल है, साहित्यिक अध्येताओ के लिए सुरुचि उत्पादक, सुपाठ्य एव ग्राह्य है, किन्तु उसका स्तर उच्चकोटि का है। भाव और विवेक निष्ठा के अनुकूल भाषा-शैली का स्तर भी ऊपर उठता ही है। अतएव यदि हम उसे सामान्य श्रेणी के अध्येताओ के स्तर का नहीं पाते तो उसे दोष नही दे सकते, फिर उसकी व्यजनात्मक सूत्रात्मकता केवल उच्च साहित्यिक अध्ययन के सशक्त निष्कर्षों से ग्रथित होती है। वह सामान्य श्रेणी के अध्येताओं के लिए है भी नही। उसमे पिष्टपेषण की प्रवृत्ति नही है। उसका स्तर विशुद्ध साहित्यिक और सास्कृतिक है। अतत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत के साथ हम अपने निबन्ध का उपसहार करेंगे—"सम्प्रति हिन्दी मे आलोचना बहुत हो रही है। आलोचक भी अनेक दिखाई देते हैं। पर, विशुद्ध साहित्यिक भूमि पर स्थित यदि कोई सच्चा आलोचक दिखाई देता है तो वह वाजपेयी जी के अतिरिक्त अन्य नही है।"

●

हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी : एक आलोचना दृष्टि

—डा० भालचन्द्र तैलग, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी साहित्येतिहास और समीक्षा की दृष्टि से लिखी गयी यह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की रचना 'बीसवी शताब्दी' नवीन समीक्षा-धारा की आरम्भिक सिद्धान्त चर्चा है। चालीस बयालीस वर्षो की अवधि को शताब्दी महत्वाकाक्षावश ही नही *कहा गया है, वरन् इन वर्षों की अपनी अवधि मे हिन्दी-साहित्य का जो विषयगत* तथा शैलीगत उन्नयन हुआ है वह शताब्दियो तक महत्ता और महनीयता का चर्चा विषय बना रहेगा। अत रचना का यह अभिधान समसामयिक समीक्षा का वह प्रथम ज्योतिष्मान् पथचिन्ह है, जिसके आलोक मे स्वच्छन्दता एव सस्कृति की समीक्षा-धाराए अविरल रूप से प्रकाशित रहेंगी।

ऐतिहासिक भूमिका

भारतेन्दुयुग से आरम्भ होनेवाली साहित्यिक समीक्षा यहा आकर पूर्णता *ग्रहण करती है। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र खडी बोली गद्य के यशस्वी विधायक थे और* द्विवेदी जी भी उसी पथ के पथिक थे। गद्य का नवीन उत्थान ही द्विवेदी जी का साध्य था, परन्तु 'सरस्वती' की सहायता से उन्होने भाषा के शिल्पी, विचारो के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक-तीन-तीन सस्थाओ के सचालक का काम उठाया और बडी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। उन्होने वही लौहलेखनी चलाई *जो इतिहास मे द्विवेदी कलम के नाम से प्रचलित होगी।' द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलकृत और रुक्ष है। लघुता उनकी विभूति है।'*[1] 'पर एक नई परिपाटी भावाभिव्यक्ति की तीखी लाइनक्लियर की सी स्वच्छ सपाट

---

1 बीसवीं शताब्दी, पृ० ८, ४, ६, १४।

शैली अवश्य निकली है। जिसमे सस्कृत का सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कही नही है। द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचन्द्र जी आदि के उपन्याससाहित्य मे फूलाफला। इनके द्वारा हिन्दी के *समीक्षा-साहित्य का अवश्य शिलान्यास हुआ है।'*[1] मेरे मित्र प्रिन्सिपल कृष्णानन्द ने 'त्रिवेणी' की भूमिका मे आचार्यवर शुक्ल जी की समीक्षा के समन्वयात्मक तत्व निरूपण तथा निर्णायक रूप एव उनकी शैली का विस्तृत विवेचन किया है। 'बीसवी शताब्दी' उसी की उपरान्त रचना है।'[2] 'शुक्ल जी का समीक्षादर्श अतिशय व्यापक और सर्व सामान्य अवश्य था, परन्तु परिवर्तनशील वस्तुजगत् और उसमे उद्भावित होने *वाले साहित्यरूपो और प्रक्रियाओ को ग्रहण करने की प्रवृत्ति न थी,* शुक्ल जी ने जिस समीक्षा को अपने निजी आदर्शों की वैयक्तिक या सब्जेक्टिव भूमि पर स्थापित किया था, उसे ही वस्तु-मुखी और विकासमान भूमियो पर रखकर परखने का कार्य नये समीक्षक कर रहे है।'[3] डा० देवराज लिखते हैं 'वाजपेयी जी सम्पूर्ण अर्थ मे अपने युग के लेखक हैं, इस दृष्टि से उन्होने (१) नई प्रतिभाओ को अपना *समर्थन एव प्रोत्साहन दिया। (२) आधुनिक हिन्दी के पाठको का* रुचिपरिष्कार किया। (३) आलोचना क्षेत्र मे नई दृष्टियो के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया।' डा० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है 'श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य की गतिविधियो का मूल्याकन तथा वस्तुनिष्ठ आकलन करने मे अपनी सूझबूझ और व्यापक मानदडो का उपयोग किया। रूढ आलोचना के परिहार का यह प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा को नूतन मार्ग की ओर उन्मुख कर सका।'[4] कदाचित् इसी नवीन दिशा को नयी समीक्षा को आचार्य वाजपेयी ने तटस्थ और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भावित *'साहित्यिक समीक्षा'* कहा है, जिसमे विभिन्न युगो के सास्कृतिक और दार्शनिक आदर्शों के साथ रचना की मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओ के *अध्ययन का उपक्रम था। 'वे हमारी साहित्यसमीक्षा के बालारुण हैं;* किन्तु दिन अब चढ चुका है और नए प्रकाश तथा नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी-साहित्य-समीक्षा कर रही है।'[5]

स्वच्छन्दतावादी सौष्ठव या सांस्कृतिक समीक्षाधारा?

कतिपय अनुशीलनकताओ ने इस नवीन समीक्षाधारा को स्वच्छन्दतावादी या सास्कृतिक समीक्षा पद्धति के प्रधान प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी समालोचक के रूप

---

१ बीसवी शताब्दी : १९४९ : पृ० ६, १२, २।
२ त्रिवेणी : सम्हादक प्रि० कृष्णनन्द, भूमिका : पृ० १६ से १९ तक।
३ आलोचना : इतिहास अक विशेषाक ५, पृ० १७७, १७८।
४ हिन्दी आलोचना की अर्वाचीन पद्धतिया, पं० पृ० तीन, १८।
५ बीसवी शताब्दी, पृ १९४९, पृ० ८७।

मे हिन्दी-साहित्य वाजपेयी जी से परिचित है।' आगे चलकर वे यह भी लिखते हैं 'वाजपेयी जी मे हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।'[1] डा० भगवत्स्वरूप मिश्र जी ने अपने शोधग्रन्थ हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास मे सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा की विस्तृत चर्चा की है। उनकी स्थापना है

१ आधुनिक-हिन्दी कविता मे युगातर का परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवनदर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है। (पृ० ४२१)

२ सौष्ठववादी यह समझाने की चेष्टा करता है कि कलाकार की जीवन सम्बन्धी धारणा है क्या ? और इन धारणाओ के बनने के कारण क्या हैं ? उसका व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी परिस्थिया उसके जीवनदर्शन, वस्तु, निर्वचन, शैली आदि के लिए कितनी उत्तरदायी हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि यह समालोचक मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक और ऐतिहासिक तीनों समीक्षा शैलियो का उपयोग करता है पर गौण रूप से ही। उसका प्रधान उद्देश्य कलाकृति के सौष्ठव तथा तज्जनित अह्लाद की अनुभूतिमय व्याख्या है। पर उसके साथ ही वह इस सौष्ठव के उद्भावक कलाकार और उसकी निर्मायक परिस्थितियो का अध्ययन भी कर लेता है। पृ० ४५३।

३ रस की जो प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त पडितराज द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है। पृ० ४७५।

४ अग्रेजी को Romantic Poetry तथा Romantic criticism के अध्ययन का भी पर्याप्त प्रभाव पडी है।

५ सौष्ठव की अनुभूति का सहज परिणाम ही अह्लाद है पृ० ४४७।

६ नवीन समालोचक सौष्ठव को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करता है। उसमे भावों, कल्पनाओ और अनुभूतियो की स्निग्धता, कान्ति, माधुर्य और मार्मिकता आदि उन सभी गुणो का समावेश है, जो उनकी प्रभावोत्पादकता और सौष्ठव Sublimity के उत्कर्षक हैं। पृ० ४४८।

७ सौष्ठववादी साहित्यदर्शन का आधार शास्त्रो की अपेक्षा काव्य जगत् अधिक है कवि और आलोचको ने इस विश्लेषण मे भी निगमनात्मक क्रिया का ही आश्रय लिया है। पृष्ठ ४३८।

---

१ हिन्दी आलोचना . उद्भव और विकास १९५४। पृ० ४६६, ४७५।

उपर्युक्त मेरे द्वारा छाटी गयी इन सात मान्यताओ को यदि आचार्य वाजपेयी जी की विज्ञप्ति मे सूचित की गयी उनकी प्रयासदिशा की सप्तसूत्री चेष्टाओ से तुलना करें तो हमे इस नवीन साहित्यिक-समीक्षा की कोई नयी समीक्षा दृष्टि तथा उपलब्धि स्पष्टतया प्राप्त नही होती, फिर उसे 'वाद' सज्ञा देना तो सर्वथा अनुचित है। इसके ऐतिहासिक उपक्रम को देख कर तो और भी निराशा होती है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र जी वाजपेयी जी के विषय मे लिखते हैं कि 'बीसवी शताब्दी' के निबन्धो मे तो प्रधानत उनका ध्यान कवि की अन्तर्वृत्तियो के विश्लेषण की ओर ही रहा है पर 'सूरसन्दर्भ' की भूमिका मे आलोचक पूर्ण सौष्ठव-वादी हो गए हैं। इससे तो ऐसा लगता है कि उनकी पहिली स्थापना ही गलत है। जबतक सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के दसवें परिच्छेद मे दोनो नाम विकल्प मे सार्थ हैं, तब तक हमें इसे छायावादी कविता की मान्य समीक्षा पद्धति स्वीकार करनी ही होगी। इसी सन्दर्भ मे आइये 'बीसवी शताब्दी' के छाया-वादी सिद्धान्तचर्चा की चर्चा करें।

आलोचक श्री पडित वाजपेयी का प्रस्थानबिन्दु है

'इस छायावाद को हम पडित रामचन्द्रशुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नही मान सकेंगे। इसमे एक नूतन सास्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टत पृथक् अस्तित्व और गहराई है।'[1]

स्पष्ट है कि श्री वाजपेयी जी प्रथमत छायावाद मे एक नूतन सास्कृतिक मनोभावना का उद्गम मानते हैं और युगीन निर्मित मन स्थिति का प्रतिनिधित्व स्वीकार करते हैं। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति मे सांस्कृतिक महत्व को गौण रूप दे देते हैं, यह रूप तब और भी खुल जाता है जब वे सौष्ठव की अनुभूति के सहज परिणाम 'अह्लाद' की व्यवस्था करते हैं 'अह्लाद' को वे भार-तीय आलकारिक का रसास्वाद और पाश्चात्य समालोचक का सौन्दर्यमूलक अह्लाद अर्थात् Aesthetic pleasure मानते हैं।' यह व्याख्या और भी जटिल तब हो जाती है जब वे आगे लिखते हैं कि 'कलाकार के व्यक्तित्व, कलात्मक सौष्ठव और दोनो के समन्वय का उद्घाटन करना वाजपेयी जी की शैली की प्रधान विशेषता है। आलोचक कितनी गहराई मे जाकर कवि के भावसौष्ठव और चरित्रकल्पना की उच्चता तथा महत्ता का स्वय साक्षात्कार कर लेता है एव अपनी अनुभूतिमयी शैली से उसका उद्घाटन करके पाठको को भी आह्लादित होने का अवसर प्रदान करता है।'[2] जटिलता आगे न बढे, अत पहले हम श्री वाजपेयी जी की 'अनुभूति' की

१ बीसवी शताब्दी जयशकर प्रसाद, पृ० १३३।

२ हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास डा० भगवत्स्वरूप मिश्र पृ० ४४८-४७४

परिभाषा समझ लें। वह वस्तु जो कल्पना के विविध अगो और मानव छवियो का नियमन और एकान्वय करती है 'अनुभूति' कहलाती है। सदर्भ के इस बल पर अब छायावाद की उस सर्वमान्य व्याख्या को प्रस्तुत किया जाय जिसे आचार्य वाजपेयी जी ने श्री महादेवी वर्मा शीर्षक निबन्ध मे दी है। 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य मे आध्यात्मिक छाया का भान (मान नही) मेरे विचार से एक *सर्वमान्य व्याख्या* हो सकती है।'[1]

इस व्याख्या की व्याख्या मे प्रसाद जी के सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यदृष्टि को भी सम्मिलित किया गया है। प्रसाद जी का कथन है कि 'सस्कृति, सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[2] उन्होने सौन्दर्यदृष्टि को व्यष्टि तथा समष्टि मे विभाजित किया है। श्री वाजपेयी जी ने उस अन्तर को बडी सूक्ष्मता के *साथ समझा है और उसके महत्व को विशेष रूप से जाना है*। इसी *आधार ही पर* तो वे छायावाद और रहस्यवाद की दो विशेष पृथक्-पृथक् काव्यशैलियो की सृष्टि की कल्पना करते हैं। श्री वाजपेयी जी आगे कहते हैं कि 'व्यष्टि सौन्दर्यबोध एक सार्वजनीन (सार्वजनिक नही) अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है। यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्यचेतना की जन्मदात्री है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हू। समष्टि सौन्दर्यबोध उच्चतर अनुभूति है।'[3] श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना व्यष्टि और समष्टि के समागम की चर्चा करते हुए कहते हैं 'छायावादी काव्य नूतन सस्कृति एव नूतन दर्शन की बहुलतम समस्याओ का समाधान मानवतावादी धरातल पर करता है अत उसकी स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति मे व्यष्टि और समष्टि का समागम हो जाता है। आगे वे यह भी कहते है कि 'व्यक्तिस्वातत्र्य की सर्वग्राह्यता मे (समष्टिबोध) तथा व्यक्ति के महत्व की (मानवमात्र की) श्रेयमुक्त *मान्यताओ मे इस काव्य के कवि की अनुभूति का निर्माण हुआ है* जो *उल्लास और* आत्मबल से युक्त है।'[4] सर्वमान्य व्याख्या का 'मानव' शरीर, मन और आत्मा का मानव है। उसे *केवल मासपिड समझ उसके अगसौष्ठव की अनुभूति* को, रक्तवाहिनी शिराओ, स्नायुओ, तन्तुजालो और ग्रन्थियो के यौवनउल्लासो की अनुभूति को छायावादी अनुभूति समझ लेना एक गलती होगी। 'मानव' यहाँ आत्मा का अभिन्न रूप है। तथा 'सूक्ष्म' वह सत्य है, जिसका निदर्शन अभिव्यक्ति चाहती है। श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना के शब्दो से पुन हमे समर्थन मिलता है कि 'छायावादी काव्य

---

१. बीसवीं शताब्दी पृ० १६३ *तथा हिन्दी आलोचना* ' उद्भव और विकास पृ० ४३३।

२ प्रसाद : काव्य और कला, पृ० ५

३. बीसवीं शताब्दी : १९४९ : पृ० १६४

४. छायावाद स्वरूप और व्याख्या . श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना, पृ० १२०-१४३

की राष्ट्रीय भावना का स्वरूप सूक्ष्म है। उसमे एकत्व का भाव निहित है जिसका मूल सास्कृतिक तथा दार्शनिक है।' 'छायावादी कवि की स्वानुभूति मे युगात्मा की पुकार गूजती है। छायावाद मे युग और सस्कृति का आत्मभूत सत्य भविष्य के मगल की कामना करता है?' यदि आप उन दिनो आचार्यवर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी के छायावादी कविता के शृगार की इन्द्रियलिप्सा के आक्षेप-वचन सुनते तो समझ लेते कि उन्ही के शिष्य श्री वाजपेयी जी ने उन आक्षेपवचनो का विरोध कर यह क्यो माना कि पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टत पृथक् अस्तित्व और गहराई है? और तो और, गहराई से भी उनका अर्थ सौन्दर्यबोधो की ही गहराई से है जहाँ सास्कृतिक सस्कारो की जडें पहुच चुकी हैं। उसी के ही परिणामस्वरूप वे प्रसाद को काव्य मे साम्य, सख्य और स्वातन्त्र्य के कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित कहते हैं। इसी सास्कृतिक भूमिका पर ही तो श्री वाजपेयी जी ने भारत मे पहिली बार छायावादी कवियो की बृहत्त्रयी प्रकाशित की थी। मैं तो यहाँ तक कहूगा कि देशकाल से दूर तथा भिन्न अग्रेजी साहित्य के Romanticism उसकी Romantic Poetry तथा उसके Romantic Criticism का प्रभाव जो भारत में पनपा उसका हेतु भारतवर्ष का उर्वर सास्कृतिक आलवाल ही था। डा० नगेन्द्र ने अपने आलोचनातत्वो से जिस मनोभूमि के दर्शन कराये हैं उस आधार पर हमे छायावादी काव्य और उसके समानान्तर चलने वाली समीक्षाधारा को स्वच्छन्दतावादी तथा पडित नन्ददुलारे वाजपेयी जी के प्रवर्तन के अनुसार उसे सास्कृतिक समीक्षाधारा सज्ञा देना अधिक समीचीन लगता है। प्रसन्नता की बात है कि तदुपरान्त जो शोधग्रन्थ प्रकाशित हुआ है—मेरा सकेत डा० रामाधार शर्मा के सन् १९६२ के प्रकाशित शोधग्रन्थ 'हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा' से है—वहाँ उन्होने अपने तृतीय खड की सामग्री को 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षा' का नाम दिया है। डा० इन्द्रनाथ मदान ने भी इस सौष्ठववादी पद्धति के स्थायी तत्वो को निश्चित करना कठिन माना है। 'सुष्ठु' शब्द प्रयोगात्मक माना जाता है और उसके मूल मे स्थैर्य ही अधिक है। अत. सौष्ठव शब्द मे गत्यात्मकता का अन्तर्भाव नही हो पाता। दूसरे, सौष्ठववादी नामकरण मे वह उमगभरी राष्ट्रीय चिन्तन धारा एव वह आवेगपूर्ण सास्कृतिक चेतनाधारा उद्वेलित नही होती जो उस युग नही, नवयुग मे हमे देखने को मिली थी। तीसरे, सौष्ठव की अनुभूति मे भी न वह जीवनादर्शों की उद्दीप्ति है, न वह ऊर्जा है, और न वह उल्लासभरी उत्तेजना है, जो छायावाद के निर्माणकाल के उन दिनो देश मे दिखाई देती थी। छायावादी काव्यानुभूति की प्रेरणाओ की परिधि पर स्वतन्त्री के तने हुए तारो पर खेली हुई स्वच्छदता के स्वरो की वह मीड 'सौष्ठववाद' शब्द मे या उसके सहज परिणामस्वरूप 'आह्लाद' शब्द मे सुनाई ही नही पडती। ऊष्मा की वे किरणें आज विकीर्ण होना चाहती हैं। उसे तो 'स्वच्छदतावादी अथवा सास्कृतिक समीक्षाधारा' ही कहना उचित होगा। बीसवी शताब्दी इसी समीक्षाधारा की कृति है।

काव्य-सिद्धांत तथा सिद्धातचर्चा

बीसवीं शताब्दी मे उद्भावित कतिपय मान्यताए निम्नलिखित हैं:—

१— काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। वि० पृ० ८

२— काव्य के इन समस्त उपकरणो का यही प्रयोजन है कि वे जीवन-सौन्दर्य की कला हमारे हृदयो मे खिला दें। सौन्दर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है; अतएव *काव्यकला का उद्देश्य सौन्दर्य का ही उन्मेष करना है।* पृ० १४५, १४६

३— उच्च और प्रशस्त कल्पनाए, परिश्रमलब्ध विद्या और काव्ययोग्यता उच्च साहित्य सृष्टि की हेतु बन सकती है, किन्तु देश और काल की निहित शक्तियो से परिचय न होने से एक अग फिर भी शून्य रहेगा। पृ० १४६

४— रस और अलकार, नायक और नायिका साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तत्व ये ही हैं। रसवादी काव्य की आत्मा रस को अलौकिक मानते हैं। पच अलौकिकता पाखण्ड है। रसवादी यह मानते हैं कि अलकार उनके काव्य की शोभा तो है ही, कविता के लिए अपेक्षित साधन भी है, हम यह कहेंगे कि अलकार काव्य-साधना की पहली सीढी है अलकार चित्र हैं। कविता जिस स्तर पर पहुचकर अलकारविहीन हो जाती है, वहां वह वेगवती नदी की भाति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही काम करते हैं जो दूध मे पानी। सैंकडो सहस्रो नायक-नायिकाओ के भेदो को जनजीवन से अलग करके देखने मे क्या रखा है? किन्तु यदि किसी ने भूले-भटके वैसी फिक्र की तो अनेकरूपता के नाम पर सौ-डेढ सौ नायक-नायिकाओं का गोरखधधा तथा अनेक भावात्मकता के बदले एक स्थूल अगतिशील नीतिचक्र ही हाथ लगेगा। पृ० ५६, ६७, ६८, ६९, ७२, ७३।

५— छन्द : सृष्टि, छन्दशक्ति तथा छन्दो के रहस्य को कविता के कलापक्ष की चीज समझना चाहिए। छन्दो के, (मात्रिक वर्णिक छन्दो के) (पुरानी और खडी बोली के) छन्दोवद्ध सगीत के, मुक्तछन्द के, छन्दोमय शब्द के, अनुप्रास के अत्यानुप्रास की आवृत्ति रीति से ही कविता सुन्दर रूप बनती है। महाकवि तुलसीदास की चौपाई की तरगो से, ब्रजभाषा के कवि रत्नाकर के छन्दो की कारीगरी से तथा साकेत के छोटे-छोटे छन्दो की विशिष्ट कला से तथा निराला के मुक्तछन्दों की सृष्टि से कविता द्युतिमती हो उठी है। रस किसी छन्द मे नही। वह तो मानव-सवेदना के विस्तार मे है। भावना का प्रसार अथवा पौरुष प्रदर्शित करने मे गुप्त जी ने अधिकाश कवित्त छन्द का प्रयोग किया है। गोस्वामी जी की चौपाइयो की तरग भगिमा अधिक रमणीय, काम्य और उपयुक्त हुई है। यदि गोस्वामी जी की छोटी सी

चौपाई के सम्पूर्ण आवर्तो-विवर्तों की गणना की जाय तो बहुलता मे भी केशवदास पीछे रह जाय। गोसाईं जी की तरह गुप्त जी भी छन्द का मर्म ही नही समझते, उसके आवर्तविवर्त से अभीप्सित भावप्रतिमाए भी खडी करते हैं। पृ० २८, २९, ४९, ५०, ५७, १३९

६– अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना गुणो को काव्यवस्तु का भेद न मान उन्हें व्यक्त करने की प्रणाली का भेद माना गया है। अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है। व्यजना के आतिशय्य से काव्यचातुरी बढती है। पृ० १३९

७– यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनो साहित्य की चित्रणशैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। कला की सौन्दर्यसत्ता की ओर दोनो का झुकाव रहता है, किन्तु एक मे (आदर्शवाद मे) विशेष *या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यहाँ इष्ट* शब्द का प्रयोग उसी अर्थ मे किया गया है जिस अर्थ मे रसवादी 'रस' का प्रयोग करते हैं और दूसरे मे सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यजना होती है (*यहाँ मैं रस-सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर यह परिभाषा कर रहा हू)*।

८– काव्य *अथवा* कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य *अभिव्यजना* का ही सौन्दर्य नही है। अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानवजगत् और मानसवृत्तियो से है जबकि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है। पृ० ५८

९– काव्य मे बहिरग और अन्तरग का ऐसा कही भेद नही है। सार्थक, सुप्रयुक्त शब्द, यथायोग्य छन्द ये सब भावो के अभिन्न अग है। पृ० १५३

१०– सूक्ति और सगीत काव्य के अलकरण हैं, वे स्वत काव्य नही है। वि० पृ० ३

११–*भोग विकासोन्मुख काव्य का लक्षण नही है। भोग स्वत. कोई अनुभूति नही है।* वह इन्द्रियो की विवशता मात्र है। पृ० २०७

'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' की इस उपरोक्त साहित्यिक सिद्धान्तचर्चा से यह स्पष्ट है कि भारतीय रस, अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सम्प्रदायो, आदर्शों तथा आस्थाओ का जहाँ श्री वाजपेयी जी पर पूर्वाग्रह है वहाँ योरोप के पुनरुत्थान आन्दोलन रेनेसा, रोमान्टिक के रोमान्स, रोमान्सवादी काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति, कल्पना तथा अभिव्यजना एव रोमान्टिक समीक्षा की अन्तर्दृष्टि का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव है। उनके समन्वय की यह समीक्षादृष्टि और बीसवी शताब्दी के समूचे साहित्य स्वरूपो की एकाग्र वस्तुनिष्ठ निरीक्षण-परीक्षण को यह सूक्ष्मभेदिनी शक्ति सर्वथा और सर्वदा स्तुत्य रहेगी।

भाषा तथा अभिव्यजना शैली :

'पण्डित वाजपेयी जी की आलोचना पूर्णतः निगमनात्मक और इगित शैली की कही जाती है।'[1] श्री गोपाल गुप्त जी, श्री वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति को 'व्याख्यात्मक' कहते हैं। आगे वे यह भी कहते हैं कि 'श्री वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति चुस्त और मार्मिक अवश्य है, 'दूसरी विशेषता उनकी आलोचना-पद्धति की *व्यग्यात्मकता है।*'[2] किन्तु बीसवी शताब्दी की इस समीक्षाकृति मे श्री वाजपेयी जी की विश्लेषणात्मक शैली ही अधिक प्रमुख रही है। इस शैली मे उनका तुलनात्मक दृष्टिकोण वस्तुत महत्वपूर्ण है। यथा : 'रामायण सृष्टि की आशा है, महाभारत निराशा। यदि कालचक्र के इन दोनो महान् रूपको को काल के ही एक लघुरूपक मे प्रकट करें तो कहेंगे कि रामायण आधीरात से लेकर दोपहर दिन तक का बारह घण्टा है और महाभारत दोपहर दिन से लेकर आधी रात तक का बारह घण्टा।' पृ० ४५। 'कविता-सम्मेलन नहीं रहे। सगीत-सम्मेलन और ताली-सम्मेलन बन गये। इन्हे परिहास-सम्मेलन भी समझ सकते हैं। लक्ष्य भ्रष्ट हो गया।' पृ० १०।

एकावली और कारणमाला जैसे अलकारो की सहजता और सजगता इन उद्धरणो मे देखिये—'यह केवल शब्द-सौन्दर्य की बात नही है, छन्द के *घटनजन्य सौन्दर्य की, पक्ति-पक्ति की एक दूसरी की सनिधि की और उस सन्निधि* मे सन्निहित सगीत की बात है।' पृ० २९। 'इस क्रान्तिदूत (अचल जी) का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की।' पृ० १९६। रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा आदि अलकारो का आधार लेकर व्यजना पर खेलती हुई अर्थव्यक्ति यहा देखिए 'वास्तव मे वे (रसवादी) अलकारो को अपनी *रससिद्धि का साधक—अपनी कामधेनु का गोपाल बनाते हैं।*' पृ० ७३। '*यह अभि*-व्यक्तिवाद व्यवहार मे आने पर लघुचित्रवाद बन जाता है।' पृ० ७३। 'निराला जी की कल्पनाएँ उनके भावो की सहचरी हैं। वे सुशीला स्त्री की भाँति पति के पीछे-पीछे चलती हैं।' पृ० १४६। 'उनकी (श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी की) कहानियों की तुलना मुक्तक काव्य से की गई है जिसमे सोने की तौल जैसी सफाई और राईरत्ती तुली हुई डाडी होती है।' पृ० १८५। '*अन्तिम* दोनो गुरु मात्राओ के पैर पर खड़ी होकर चौपाई मानो अपने दृढ अस्तित्व की घोषणा करती है।' पृ० ४९। '*परन्तु यहाँ भी साहित्य-समीक्षा की गाडी 'सूर-सखी', 'उडुगन', 'गढ़िया' आदि के* दलदल मे ही अटक रही थी, आगे नहीं बढ रही थी।' पृ० ९। भावाभिव्यक्ति की अपनी इगित शैली मे उन्हे परवाह नही, यदि अग्रेजी भाषा के बहुप्रचलित शब्द

---

१. हिन्दी-आलोचना की अर्वाचीन पद्धतियाँ : डा० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० २६
२. हिन्दी के आलोचक : शचीरानी गुर्टू : श्री गोपाल गुप्त, पृ० १६७, १७१

वहाँ प्रवेश पा जाय। 'रत्नाकर जी 'मेथ्यूआर्नल्ड' की भाति हिन्दी के अन्तिम 'क्लेसिक' कवि थे, उनको नवीनतावादी अथवा भावी युग का क्रान्तिकारी कवि बतलाना और शायर सिंह सपूत की भाति लीक छोडकर चलने की सिफारिश करना मृगजाल खडा करना और वास्तविक रत्नाकर से कोसो दूर जा पडना है।' पृ० २३। 'कल्पना थी, इस 'ओलेम्पिक' प्रतियोगिता मे पन्त जी ने अपने लिए प्रेम और सौंदर्य के 'हीट्स' चुन लिये हैं और शृ गारवर्णन का उनका 'रेस' विशेष चमत्कारपूर्ण हुआ है।' पृ० १५३। 'कवि की उक्ति, लोकगीत की टेक, तथा लोककथाश के सकेतो का आलबन लेकर श्री वाजपेयी जी अपनी अभिव्यजना शैली को गति, सामर्थ्य और पुष्टि देते हैं यथा 'द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे कपास की ही खेती की—'निरस विसद गुनमय फल जासू।' पृ० ११। 'शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक सबलता का प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा, चिडिया रैन-बसेरा' गाकर भीख मागने वालो का ब्रह्मास्त्र बन गया।' पृ० १६५। 'यह चेतन व्यक्तित्व देने (या पर्सानिफाई करने) की प्रवृत्ति ही ह्रासोन्मुख होकर 'चिडियो का विवाह' नामक ग्रामीणगीत मे परिणत हो गई है जिसमे सब चिडियों को विवाह सम्बन्धी एक-एक काम सिपुर्द किया गया है।' पृ० १६६। भावो के विवेचन-प्रसग मे कभी-कभी पडित जी अपनी विनोदप्रियता का आभास देते हैं। ऐसे स्थलो मे उनकी वैयक्तिक, जातीय तथा प्रान्तीय साकेतिक दृष्टि-विक्षेप का पता चलता है, यथा · 'जैसे इस प्रदेश की छोटी लखौरी ईटें दृढता मे नामी हैं वसे ही द्विवेदी जी के छोटे वाक्य भी।' पृ० १४। 'यही प्रसाद जी प्रसाद जी हैं। आसू मे वे वे हैं।' पृ० १२३। 'जैन आदर्श न सही 'जैनेन्द्र-आदर्श' की ध्वजा तो उनके हाथो मे है ही, उसी की छानबीन हो जाने दीजिये।' वि० पृ० १९। 'वाजपेयी जी किसी समुन्नत भावना से प्रेरित होकर साहित्य-सृष्टि नही कर रहे, केवल ओछे ढग की बगाली भावुकता के हिन्दी प्रतिनिधि हैं।' पृ० १८८। 'नही तो शकाकार की वह स्थिति हो जायगी जो मौसी के मु ह पर मू छ की कल्पना करने वालो की महाराष्ट्र मे हुआ करती है—बकौल प्रभाकर माचवे।' वि० पृ० १९। अन्त मे, पण्डित वाजपेयी जी ने तुलनात्मक प्रणाली का आधार लेकर अपने लघुवाक्यो मे जो अभिव्यक्तियाँ की हैं, उन्हें यहाँ उद्धृत करना अभीष्ट होगा 'अश्कजी की शब्दशक्ति जितनी ही सीमित है, भट्ट जी की उतनी ही विस्तृत।' वि० पृ० २५। 'मैथिलीशरण जी मे वह आदर्शात्मक मनोभाव एक करुण मानवीय सात्विकता तथा उपाध्याय जी मे प्रशान्त सात्विकता तक सीमित है।' पृ० ११८। 'हरवशराय 'बच्चन' तब तक अज्ञात और 'अज्ञेय' अविज्ञात थे।' पृ० २०६। 'अचल आरम्भ मे अतृप्ति से आक्रान्त थे, बच्चन निराशा से।' वि० पृ० २४। 'हाँ, मधुशाला और शेप स्मृतियाँ एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती है—मध्यकालीन मादक स्वप्न।' वि० पृ० २४। 'रामायण मे यदि कर्मसौन्दर्य खिल उठा है तो विनयपत्रिका मे भी प्रेम-भावना चमक उठी है।' पृ० ६६। 'आधुनिक गीतकार विनयपत्रिका के ही

वशज हैं ।' पृ० ६६ । 'साकेत-मेघनादवध मे यह साम्य है कि दोनो ही लोकोत्तरत्व की प्रतिक्रियाए हैं ।' पृ० ४७ । निर्णय और मूल्याकन की तुला पर रखे हुए ये उद्धरण लक्षणाशक्ति से समर्थ, पुष्ट, प्राणान्वित हैं । 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' का समीक्षा-जगत् इस अभिव्यजनाशैली की मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता तथा रचनाकौशल के गुणो को अवश्य ही पुरस्कृत करेगा ।

'महाकवि सूरदास'

—डा० भगीरथ मिश्र

'महाकवि सूरदास' मे महात्मा सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन है। इस दिशा मे अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, पर उन सबसे भिन्न इसकी विशेषताएँ हैं और इसमे कोई ऐसी पुनरुक्ति नहीं जो इस ग्रंथ के मूल्य या महत्त्व को कम करने वाली हो। लेखक ने प्राय सूर के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री का स्वमत-पुष्टि या वैषम्य के स्थलो में बराबर उल्लेख किया है। परन्तु एक यह बात खटकती है कि इस दिशा मे लिखे गए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का कही भी किसी रूप मे इसमे उल्लेख नहीं; वे हैं 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'[1] और 'सूरदास'।[2] जान पड़ता है कि वाजपेयी जी ने इन्हे देखा नही, अन्यथा अपने 'जीवनी और व्यक्तित्व', 'काव्य-सौन्दर्य', 'दार्शनिक पीठिका' जैसे प्रसगो मे वे इनका उल्लेख अवश्य करते; क्योंकि इन विषयो पर इनमे विस्तृत विवेचनाएँ हैं। मेरी दृष्टि मे उनका उपयोग आवश्यक था। इतना होते हुए भी इस पुस्तक मे विश्लेषणात्मक अध्ययन और तथ्य उद्घाटन का प्रयत्न इतना गम्भीर है कि महाकवि सूरदास के अध्ययन मे यह एक ठोस पृष्ठभूमि ही नही, वरन् एक आलोकपूर्ण दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का नाम है 'महाकवि सूरदास'। सूरदास के महाकवि होने मे शायद किसी को शका न हो, पर 'सूर-सागर' को 'महाकाव्य' कहना विवाद से शून्य नही। प्रबन्धात्मक न होने पर भी 'सूर-सागर' मे महाकाव्य-सुलभ क्षेत्र, भाव-भूमि, चित्रण, विशाल दृष्टि आदि की कमी नही है। और इसका कही भी सकेत न होना केवल

---

१ लेखक-डाक्टर दीनदयाल गुप्त

२ लेखक-डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

इस बात का ही द्योतक सिद्ध होता है कि लेखक इस पक्ष मे किसी प्रकार की शका *या मत-वैषम्य की आशा नहीं रखता। इतना ही नहीं, समस्त पुस्तक पर दृष्टिपात* करने से पुस्तक मे महाकवित्व-प्रधान दृष्टि नहीं, वरन् इस महाकवि के काव्य के अध्ययन के लिए उपयोगी पृष्ठभूमि और दृष्टि प्रदान की गई है। अतएव शीर्षक को देखते हुए यह कमी भी इसमे खटकती है।

प्रथम अध्याय मे भक्ति के विकास का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत लेखक ने भक्ति-सम्बन्धी विशाल भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उसके विकास को स्पष्ट किया है। वेदों मे भक्ति-सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण, ब्राह्मण-काल मे भक्ति का स्वरूप, उपनिषदो मे भक्ति और उपासना का स्वरूप तथा विष्णु को मनुष्य के अधिक सान्निध्य, भक्तों के परम दैवत् की स्थापना के प्रसग बडे ही रोचक हैं। विस्तार-भय के कारण ही सम्भवत उपनिषदो की रहस्यात्मक भक्ति-भावना पर अधिक नहीं लिखा गया है। इस प्रकार महाकाव्य और गीता-काल मे भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण है, जिसमे लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि वेदव्यास ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमे वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषद-शास्त्र-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय-प्रधान भक्ति को समान स्थान *प्राप्त हुआ, जो भागवत धर्म है। इस प्रसग का विश्लेषण विस्तृत रूप से लेखक* ने किया है कि गीता और भागवत द्वारा भक्ति का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इनमे कर्म-फल-त्याग के साथ-साथ ईश्वर को सब कुछ समर्पण की भावना की परिपुष्टि हुई है, जो सभी साधनो से श्रेष्ठ है और प्रेमाभक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती है, जिसकी व्याख्या ही विशेष रूप से नारद और शाडिल्य भक्ति-सूत्रों म हुई है तथा इसी स्वरूप का प्रतिपादन अनेक रूपों मे पौराणिक युग मे हुआ। भागवत भक्ति के पूर्ण विकास को स्पष्ट करने वाला ग्रथ है, जिसका आधार लेकर आगे आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की।

भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदायो का उल्लेख द्वितीय अध्याय मे है। पृष्ठ-भूमि के रूप मे हिन्दी-भक्ति-काव्य के अध्ययन के हेतु यह प्रसग बडा ही उपादेय है। इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विश्लेषण है और शकराचार्य के मत से इसकी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसग मे इस परम्परा मे आने वाले स्वामी रामानन्द की उपासना-पद्धति की भी चर्चा है। श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की भी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यह सब हमे सूरदास ही नहीं, अष्टछाप के अन्य कवियो के विचार और भाव धारा को समझने मे सहायक हैं। यह अध्याय हिन्दी के भक्ति-काव्य को हृदयगम करने के लिए बडा उपयोगी है।

तीसरा अध्याय सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व पर है। इस प्रसग मे 'सूर-सागर' के अतिरिक्त 'सूर-सौरभ', 'हिन्दी नवरत्न', 'अष्टछाप'[1], 'सूरदास'[2], 'सूर-निर्णय' आदि ग्रन्थो का उल्लेख है, परन्तु जैसा पहले सकेत किया जा चुका है, सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व की दिशा मे सबसे अधिक विस्तृत विवेचन और प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करने वाले ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का कोई उल्लेख नहीं और न 'सूरदास' ग्रन्थ का ही। डाक्टर ब्रजेश्वर वर्मा के 'सूरदास' मे जीवन-सम्बन्धी बातें अत्यन्त विस्तार के साथ दी गई हैं। हो सकता था कि वाजपेयी जी उनसे सहमत होकर उन्हें पुष्ट करते अथवा सहमत न होकर अपना कोई दूसरा दृष्टिकोण सामने रखते। अतएव इन दो पुस्तको का उपयोग न करने से अब तक के अध्ययन मे इस प्रसग द्वारा विकास प्रस्तुत नही किया जा सका। इनके उपयोग से कतिपय मत-वैषम्य के स्थल भी साफ हो जाते—उदाहरणार्थ डा० गुप्त जी सूरदास जी का जन्म-सवत् वल्लभाचार्य जी के जन्म-सवत् के आधार पर सवत् १५३५ मानते हैं, परन्तु वाजपेयी जी ने उन्ही तर्कों को देते हुए स० १५३० माना है। इसी प्रकार के अन्य कई स्थल हैं जिन पर वाजपेयी जी के अध्ययन द्वारा प्रकाश पडना आवश्यक था।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय 'आत्म-परक भाव-भूमि' अत्यन्त महत्त्व का है। यह हमे सूर साहित्य को ही नही, वरन् समस्त कृष्ण भक्ति काव्य को समझने के लिए एक मापदण्ड प्रदान करता है। यह रीतिकालीन शृ गारी कृष्ण-काव्य से सूर जैसे भक्त कवियो के कृष्ण काव्य का अन्तर स्पष्ट करता है। वल्लभाचार्य का उद्देश्य दर्शन और भक्ति का समन्वय था। हिन्दी के भक्त कवियो ने भक्ति और काव्य का समन्वय कर दिया। इस बात को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है—"ज्ञान की इस मौन समाधि के समकक्ष (भक्तों के लिए तो उससे भी बढकर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनन्दमयी है।'"[3] यह भक्ति की मुखर समाधि, भक्ति काव्यामृत का प्रवाह ही है। इतना ही नही, दिव्य जन्म-कर्म वाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरान्त जो कृष्ण का नख शिख सौन्दर्य-वर्णन है उसके द्वारा कलाओ का शृ गार पवित्र हो उठा।" लेखक का निष्कर्ष है कि कृष्ण दूसरे कवियों के हाथ मे नायिकाओ के आमोद प्रमोद, अष्टायाम और विलासमयी चेष्टाओ और वासनामयी, भावनाओ के प्रेरक बन गए, किन्तु सूर के हाथ में वे सर्वत्रपूत—सर्वत्र पावन—बने हुए हैं। भक्ति-

---

१ डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सपादित
२ लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३ महाकवि सूरदास, पृ० ८४

कालीन कवियो का महत्त्व सचमुच इस बात मे है कि उन्होने मानव की समस्त भावनाओ का विस्तार उन्हे रामकृष्णमय बना दिया।

'दार्शनिक पीठिका' मे सूर-काव्य के आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। यहाँ लेखक ने 'सूर सागर' के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट किया है। इसमे प्रमुख मन्तव्य यह सिद्ध करना है कि सूर की भक्ति भावुकता-मात्र से प्रेरित नही, वरन् ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है। उनका भक्ति-मार्ग दार्शनिक चिन्तनो के उपरान्त निश्चित किया हुआ जीवन पथ है। प्रेमा भक्ति का लक्ष्य, ज्ञानियो की मुक्ति नही, वरन् मुक्ति तो इन भक्तो के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। उनके लिए तो साधन और साध्य सब कुछ भक्ति ही है।

'सास्कृतिक और नैतिक पक्ष' नामक अध्याय म कतिपय आक्षेपों के उत्तर हैं। लेखक ने यह सिद्ध किया है कि गीता और भागवत दोनो मे ही कृष्ण की तटस्थ भावना प्रधान है। दोनो मे वर्णित कृत्य उनकी लीला हैं, केवल स्वरूप-भेद है। कृष्ण दोनो ही में निस्सग और निर्लेप हैं और इस दृष्टि से देखने पर ही कृष्ण चरित्र के सास्कृतिक और नैतिक पक्ष को समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण तो सराहनीय है, परन्तु आक्षेपो के उत्तर मे उनकी व्यक्तिगत, आलोचना, ऐसी गम्भीर पुस्तक मे अधिक शोभनीय नही जान पडती।

जिस प्रकार उपर्युक्त अध्याय मे नैतिक और सास्कृतिक, दृष्टि से उठी हुई शकाओ का निवारण है, उसी प्रकार 'प्रतीक-योजना' नामक अध्याय मे सूर-काव्य-सम्बन्धी कुछ साहित्यिक शकाओ का समाधान किया गया है। लेखक ने इसके भीतर कतिपय प्रतीको (जैसे—होली, रास, भँवरगीत, चोलीबन्द तोडना वेणु-गीत आदि के भीतर का सौन्दर्य) को केवल लौकिक या केवल आध्यात्मिक रूप मे एकागी दृष्टि से नहीं, वरन् समन्वित दृष्टि से स्पष्ट किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एकाध स्थलो पर वर्णन को न्यायोचित ठहराने का अधिक आग्रह आवश्यक नहीं दीखता।

'काव्य-सौन्दर्य' के प्रसग मे सर्व प्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओ का सकेत है जिनम उन्होने केवल रूढि-पालन किया है और कोई भावात्मक सौन्दर्य उनम नही आ पाया। इसके पश्चात् इसम सूर-काव्य म आये कुछ वर्णनों के सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है और उनके भीतर के चित्रणों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा है। परन्तु सूर के काव्य-सौन्दर्य का व्यापक और पूर्ण उद्घाटन इसम नहीं हो पाया और इस दृष्टि से यह अन्य प्रसगो से हीन है।

यह सब होते हुए भी 'महाकवि सूरदास' पुस्तक मे जिन प्रसगों को लिया गया है, उनम लेखक का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन पूर्णतया प्रकट है। बहुत से

ऐसे प्रसंग हैं जिनके अधिक विस्तार से विवेचन की आवश्यकता, इतनी पृष्ठभूमि देने के बाद अपेक्षित थी और जिनके अभाव मे यह सूर-साहित्य के अध्ययन की भूमिका-रूप जान पडती है । परन्तु उनके न होने का कारण विस्तार-भय ही समझ पडता है । इस पुस्तक मे प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा सूर-साहित्य के विद्यार्थियो को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी, इसमे सन्देह नही ।

०

'आधुनिक साहित्य'

—डा० विजयशंकर मल्ल

●

आधुनिक साहित्य (मुख्यत.छायावाद-प्रगतिवाद-काल) की गतिविधि का परिचय देने और उसकी उपलब्धियो की परीक्षा करने वाली यह एक महत्त्वपूर्ण समीक्षा-पुस्तक है। इसमे प० नन्ददुलारे वाजपेयी के विविध विषयो पर लिखे गए ३८ समीक्षात्मक निबन्धो का सकलन है। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्य, समीक्षा, साहित्यिक धाराएँ तथा मत और सिद्धात—इन सात प्रकरणो मे छायावाद-प्रगतिवाद-काल की प्रमुख कृतियो, लेखको, प्रवृत्तियो, साहित्य-रूपो तथा सिद्धान्तो का एक अनुक्रम से विवेचन उपस्थित करने वाली इस पुस्तक की समीक्षण-परिधि काफी वैविध्य-पूर्ण है। 'आधुनिक साहित्य' शीर्षक ४५ पृष्ठो के मुखबन्ध मे पिछली आधी शताब्दी के हिन्दी-साहित्य के विविध अगो का प्रवृत्तिगत सर्वेक्षण करते हुए प्रतिनिधि साहित्यकारो की विशेषताओ का सक्षेप मे उद्घाटन भी किया गया है।

वाजपेयी जी एक ऊँचे दर्जे की सौन्दर्य-सवेदना, सामाजिक चेतना और काव्य-विवेक से सम्पन्न हिन्दी के एक प्रमुख समीक्षक हैं। इतना ही नही, वे उन थोडे से विधायक आलोचको मे हैं जो किसी नए साहित्यिक उत्थान मे सतर्कतापूर्ण योग देते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्तियो, कृतियो और प्रवृत्तियो पर उपलब्ध उनकी आलोचनाओ का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार होना चाहिए, परन्तु यहाँ प्रस्तुत पुस्तक के कुछ प्रमुख प्रसगो का सक्षिप्त विवरण और विवेचन प्रस्तुत करने की ही कोशिश की जा सकती है। सुविधा के लिए हम इस समीक्षात्मक परिचय को तीन भागो मे बाँट लेना चाहते हैं—आधुनिक साहित्य का सर्वेक्षण, सैद्धान्तिक चर्चा और व्यावहारिक आलोचनाएँ।

आधुनिक साहित्य के सर्वेक्षण मे सास्कृतिक और मानसिक आधार पर प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए साहित्य-विकास का निरूपण किया गया है कि किस प्रकार धार्मिक, नैतिक और साहित्य-रूप-योजना-सम्बन्धी रूढ़ियाँ टूटती गई और

नूतन सृष्टि होने लगी। साहित्य का मूल्यांकन-सम्बन्धी कोई भी निर्णय लेखक के समग्र जीवन-दर्शन की मान्यता से ही उद्भूत होता है, अत यहाँ भी वाजपेयी जी के साहित्यिक दृष्टिकोण' का पता मिल जाता है। उनकी दृष्टि से आरम्भिक नवीन कला की सर्वप्रथम भेदक विशेषता यह थी कि वह 'जीवन व्यवहारो मे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और तज्जनित अनुभूति का आदर करने लगी।' फिर भी साहित्य का पूर्ण उत्कर्ष अभी न हो सका, 'इसका कारण सामाजिक स्थिति के साथ साहित्य की अपनी परिस्थितियाँ भी है।' इस प्रसग मे सामाजिक स्थिति की अपेक्षा साहित्य की अपनी परिस्थितियो का ही अधिक ध्यान रखा गया है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि पूरे विवेचन मे साहित्यिक मूल्य-परिवर्तन के सामाजिक कारणो का अधिक निर्देश न करके प्रस्तुत साहित्य की प्रवृत्तियो का आकलन ही लेखक का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसमे लेखक की दृष्टि अचूक है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर किसी को प्रस्तुत सर्वेक्षण एकांगी प्रतीत हो सकता है, पर यह बहुत कुछ दृष्टि-भेद की बात होगी। वाजपेयी जी किसी साहित्येतर वाद से परिचालित न होकर साहित्य के स्वतन्त्र मानो से विचार करने वाले गहरी पैठ के आलोचक हैं।

हमारे उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नही है कि 'आधुनिक साहित्य' के लेखक ने अपने सर्वेक्षण मे युगीन परिस्थितियो का निर्देश किया ही नही। कहना इतना ही था कि उन्होने केवल सामाजिक परिस्थितियो का ही अधिक ध्यान न रख कर प्रस्तुत साहित्यिक प्रवृत्तियो का आकलन विशेष सतर्कता से किया है। छायावाद-काल की एकदम आरम्भिक स्थिति का विचार करते हुए लेखक ने इन नव-युग स्थापक कारणो का निर्देश किया है। बदला हुआ पारिवारिक वातावरण, विगत महायुद्ध, पश्चिमी साहित्य और विचारो का सम्पर्क, गांधी जी और राष्ट्रीय सग्राम। इन सबसे प्रभावित हिन्दी के तत्कालीन युवा-लेखको ने नवीन जीवन-दृष्टि और नई साहित्य-सस्कृति का निर्माण किया, क्योंकि *"साहित्य वास्तव मे कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।"*

हिन्दी-काव्य की नव्यतर प्रगति उन प्रतिभाशाली प्रगीतकारो के द्वारा हुई जो राजनीति के सीधे सम्पर्क से दूर थे। तात्पर्य छायावादी कवियो की 'वृहत्-त्रयी' से है। विविध जीवन दशाओ की अभिव्यक्ति करने वाले प्रबन्ध काव्यो के ही भीतर *पूर्ण काव्योत्कर्ष की सम्भावना देखने वाले समीक्षको से लेखक का मतभेद है। उन्ही* के शब्दो म "प्रबन्ध काव्य कविता का आवृत और आच्छादित रूप है। प्रगति काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबन्ध काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीज आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूँट-घूँट *पी सकते हैं।" प्रसाद, निराला और पत का विवेचन करते हुए वाजपेयी जी ने 'गुञ्जन' के बाद के कवि पत के विकास के प्रति असतोष व्यक्त किया है। 'स्वर्ण-*

किरण', और 'स्वर्ण-धूलि' पर लिखी गई रामविलास शर्मा की आलोचना को उन्होंने उनकी 'असदिग्ध साहित्यिक मर्मज्ञता' का प्रमाण बतलाया है, क्योकि उसमे पत की कलात्मक खामियो का विस्तारपूर्ण विवेचन किया गया है। पर यह कथन तनिक आश्चर्यपूर्ण लगता है, क्योकि डाक्टर शर्मा और वाजपेयी जी की (पत-सम्बन्धी) आधारभूत समीक्षा-दृष्टियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। एक यदि पत की इधर की रचनाओ से इसलिए असतोष व्यक्त करता है कि कवि मार्क्सीय दर्शन को ठीक से आत्मसात् नही कर पाया या उसे उचित कलात्मक आवरण नही दे पाया, तो दूसरा उसकी आलोचना इसलिए करता है कि कवि मे 'पल्लव' जैसे उन्मुक्त भावोन्मेष का वैसा विकास नही हो पाया जैसा शैली जैसे स्वच्छन्दतावादी प्रगीत-कवि मे पाया जाता है। पत की विचार-बोझिल रचनाओ को ही लक्ष्य करके वाजपेयी जी ने खेद प्रकट किया है कि "हिन्दी का शैली हिन्दी मे आता-आता ही रह गया।" यहाँ जिस शैली की ओर सकेत किया गया, वह शैली नही है जिसके लिए मार्क्स ने कहा था कि He would always have belonged to the socialist van guard बल्कि वह वह शेली है जो धरती से दाना-पानी लेकर भावना-लोक मे उन्मुक्त होकर विहार करने वाला गीत-विहग था।

निबन्धो और एकाकी नाटको के बारे मे जो कुछ लिखा गया है उससे लगता कि हिन्दी साहित्य के ये अ ग बिलकुल ही कमजोर और परोपजीवी हैं, पर बात शायद ऐसी है नही। हिन्दी मे एकाकीकार चाहे न हो पर एकाकी जरूर हैं। कहने का मतलब यह है कि इस क्षेत्र मे कोई एक पूर्ण समुन्नत व्यक्तित्व तो नही है, पर रचनाएँ ऐसी कई हैं जिनकी ओर विश्वास के साथ सकेत किया जा सकता है। यही बात निबन्धो के बारे मे नहीं कही जा सकती। उसमे कतिपय उन्नत व्यक्तित्व हैं। इधर के लेखको मे नयो की छुट-पुट रचनाओ को छोड भी दे तो सियाराम शरण गुप्त के अतिरिक्त हजारीप्रसाद द्विवेदी और पदुमलाल, पन्नालाल बख्शी इस क्षेत्र के ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्हे छोडा नही जा सकता।

सर्वेक्षण के अन्त मे प्रचलित समीक्षा प्रणालियो—मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी, यथार्थवादी, उपयोगितावादी और कलाविज्ञानीय (सौन्दर्य-शास्त्रीय) की प्रवृत्तिमूलक आलोचना की गई है और साहित्य के स्वतत्र मान की दृष्टि से उनकी एकागिता की ओर सकेत किया गया है। लेखक के मतानुसार साहित्य का लक्ष्य 'सद्भावना या रस की सृष्टि है, किसी प्रकार के मानसिक या सामाजिक विज्ञान के मतवाद का पोषण नही।

अन्त मे कला-विज्ञानियो (Aestheticians) द्वारा निरूपित काव्य-प्रक्रिया के साथ वाजपेयी जी ने जो सहमति व्यक्त की है, और 'अभिव्यजनावाद', साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति जैसे निबन्धो मे उनकी उपपत्तियो को कुछ दूर तक

मान्यता प्रदान की है उससे उनके जीवन निरपेक्ष कलावादी होने का भ्रम हो सकता है। निरपेक्ष, अखड, शाश्वत जैसे कतिपय शब्दो के प्रासगिक प्रयोग कही-कही इस भ्रांति के फैलाने का अवसर भी प्रदान करते मालूम हो सकते हैं, पर सारी पुस्तक देखने पर यह भ्रम बना नही रह पाता। कलाविज्ञानीय विचारो के प्रति वाजपेयी जी के झुकाव का कारण ऐतिहासिक है। छायावाद पर जो कई प्रकार के आक्षेप किए गए उनकी स्थूल नैतिकता, रूढिवादी जीवन-दर्शन, उपयोगितावादी आग्रह, देशी-विदेशी साहित्यिक मानदडो का झगडा आदि ऐसे आधार-भूत प्रेरणा-केन्द्र थे जो इस नवीन काव्य को चारो ओर से बांधकर इसकी गति रोक देना चाहते थे। ऐसी स्थिति मे ऐसे साहित्यिक मान-दण्ड की आवश्यकता थी जो इन स्थूल बन्धनो से नए काव्य को छुटकारा दिलाकर उसके रसास्वादन के लिए उपयुक्त मानसिक वातावरण तैयार कर सके और छायावाद को फलने-फूलने मे सहायता प्रदान कर सके। यह एक असाधारण कार्य था। वाजपेयी जी की आलोचना ने यह कार्य सफलता पूर्वक किया। लेकिन इसका यह मतलब कदापि नही कि उनकी आलोचना-पद्धति और साहित्यिक मूल्य-सम्बन्धी मान्यताएँ अपना काम कर चुकी। ऐसा सोचना बिलकुल गलत होगा। उनकी आलोचना-पद्धति सुदृढ आधारो पर खडी है और वह साहित्यिक मूल्यो के निर्धारण तथा रचनाओ के आस्वादन मे पूरी सहायता प्रदान करती रहेगी। यह भी उल्लेखनीय है कि वाजपेयी जी ने आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्तो का, जो काव्य का लक्ष्य अधिक-से-अधिक वृत्तियो का परितोष-मात्र (Satisfaction of Impulses) मानता है, विरोध इसलिए किया है कि उसका सिद्धान्त 'देश-काल और व्यक्तित्व की भिन्नता का आकलन' नही करता, अत एकागी ठहरता है। जिस निर्भीकता और साहित्य-विवेक के साथ उन्होने छायावाद-काल मे साहित्य पर होने वाले मतवादी आक्रमणो का विरोध किया था, उसी शक्ति के साथ वे सामयिक साहित्य की भी आलोचना कर रहे है।

'नई समीक्षा प्रणाली' शीर्षक निबन्ध मे वाजपेयी जी ने काव्यालोचन का जो त्रिकोण उपस्थित किया है उसकी तीन रेखायें ये हैं—१ परिस्थितियो का परिचय, अर्थात् आलोच्य वस्तु के देश, काल, परिस्थितियो, सामयिक समस्याओ और विचारणाओ का अध्ययन, २ शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि, ३ काव्य-सवेदना। आलोचना का मुख्याधार यह तीसरी रेखा है जो समय, स्थिति, विचार धारा और शैली आदि के अनेकानेक भेदो के रहते हुए भी काव्य या साहित्य का एक अपना माप बनाने का प्रयास करती है। काव्यालोचन की यह कसौटी निश्चय ही पर्याप्त पुष्ट है। इस प्रसग मे लेखक ने काव्य के शाश्वत स्वरूप के प्रति आशक्ति रखने वाले ऐसे व्यक्तियो से विरोध प्रकट किया है जो उसकी निरपेक्ष सत्ता को मान कर उसके आलोचनात्मक निरूपण मे प्रेरक सामाजिक परिस्थितियो पर विचार करने की आवश्यकता नहीं मानते। ऐसा ही विरोध उन्होने उन लोगो का भी किया है

जो किसी सास्कृतिक या दार्शनिक परिपाटी से रूढ सम्बन्ध स्थापित करके उसे आलोच्य वस्तु से भी अधिक महत्त्व दे देते हैं। वाजपेयी जी की साहित्य-चेतना कितनी व्यापक और गहरी है, इसका पता बहुत कुछ इस बात से लग जाता है कि वे किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन काव्य-वस्तु या विचारणा को काव्य की पूर्ण कसौटी नही स्वीकार करते। काव्य की ऐसी आलोचना-पद्धति ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, व्यक्तिवादी, अव्यक्तिवादी, सोशलिस्ट, असोशलिस्ट सभी प्रकार के लेखको की रचनाओ का बिना किसी पूर्वाग्रह के साहित्यिक मूल्यांकन कर सकती हैं। घोषित नीति के बावजूद सच्चे कलाकार की सफल कृति मे उस सवेदना की अभिव्यक्ति हो सकती है जो सच्ची वस्तु-स्थिति का द्योतन करती हो तथा वास्तव मे मार्मिक अन्तत. मगलमयी हो (अब वह सवेदना घोषित नीति की विरोधी भी हो सकती है)। एगेल ने ठीक कहा है कि 'The realism I allude to may creep out even in spite of the author's views।' चरेवब की कहानी 'डार्लिंग' की आलोचना करते हुए टाल्सटाय ने भी कुछ ऐसी ही बात कही थी और यह दिखाया था कि कहानी-लेखक यद्यपि जान-बूझ कर इसकी नायिका ओलिका का उपहास करना चाहता था पर उसका चरित्र नारी-स्वभाव की उच्चतम विभूतियो का व्यजक बन गया है।

नवोद्‌भूत आलोचना-प्रणालियो का सबसे बडा दोष सम्भवत यही है कि उनका सम्बन्ध प्राय केवल विषय वस्तु से होना है। लेकिन विषय-वस्तु और रूप (Form) इन दोनो का एक साथ विचार न होने से सन्तुलन नही आ सकता। किसी लेखक की प्रस्तुत रचना का भी सम्यक् उद्‌घाटन करने की ओर यथेष्ट ध्यान देकर ये आलोचना-प्रणालिया रचयिता की मानसिक प्रक्रिया अथवा रचना-निर्माण की सामाजिक प्रेरणा का अनुसधान करने मे ही पूरी तरह व्यस्त हो जाती है। विषय-वस्तु का विचार भी काव्योचित भाव गांभीर्य (रूढिवादी या सकीर्ण अर्थ मे नही) की दृष्टि से उतना नही होता जितना अनुमानाश्रित सामाजिक प्रभाव के आकलन की दृष्टि से। वाजपेयी जी इसी एकांगिता का विरोध करते हैं। उनके मत से विषय-वस्तु और काव्य-रूप दोनो का सन्तुलित विचार होना चाहिए। जबकि समाज-शास्त्र, मानस-शास्त्र, राजनीति और साहित्य मे स्पष्ट भेद है और इन सबकी अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं तो साहित्य का विचार करते समय इनकी भेदक सीमाओ का ध्यान अनिवार्यत रखना होगा, सक्षेप मे यही वाजपेयी जी का पक्ष है।

धार्मिक और राजनीतिक मतवाद बराबर आवेशपूर्ण मान्यताओं की सृष्टि करते हैं। आवेग (या आक्रोश) को निकालकर अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर तत्त्वो का सन्निवेश साहित्य मे हो, यही 'आधुनिक साहित्य' का आधारभूत दृष्टिकोण है।

सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विचार-धाराओ का साहित्य से सम्बन्ध अवश्य है, पर अनुवर्ती रूप मे। जीवन सापेक्ष होते हुए भी साहित्य की अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है। वाजपेयी जी अनुभूति के क्षेत्र मे किसी प्रकार का वर्ग-विभाजन नही स्वीकार करते। उनके शब्दो मे 'प्रकृत मानव-अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है।'

प्रयोगवादी कविताओ का विरोध वाजपेयी जी ने सामाजिक और प्रकृत अनुभूति की व्यजना-विषयक दृष्टि से किया है। उनका आलोचना का आधार 'सप्तक' का पहला भाग रहा है। इसमें यद्यपि विभिन्न विचार-धाराओं के कवि हैं, पर एकाध को छोडकर अन्यो मे नए प्रयोग की आतुरता किसी गम्भीर लक्ष्य से प्रेरित नही मालूम होती। अन्वेषण के लिए अन्वेषण करने वालो अथवा अपने प्रयोगो से पाठको को सिर्फ चौंकाने की कोशिश करने वालो का लेखक ने कडा विरोध किया है। उनके सारे विरोध के मूल मे यह आक्षेप है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्यक्ति-व्यापक समाज के प्रति गहन आत्मीय सम्बन्ध से बँधे हुए नही हैं, केवल उसकी तार्किक भूमियो मे विचरण करना ही जानते हैं।" यह आक्षेप गम्भीर है और कोरे तर्क-जाल बुन कर इसका उत्तर नही दिया जा सकता। यह ठीक है कि वाजपेयी जी की आलोचना का आधार अधिकतर 'सप्तक' के कवियो के वक्तव्य रहे हैं, पर एक दृष्टि से इन पर विचार करना आवश्यक ही था, क्योकि इस तरह की रचनाओ को प्रयोगवादी कहने के लिए विवश करने वाले ये वक्तव्य ही हैं। भावात्मक पुनस्सगठन करने वाले सभी युग के विशिष्ट कवि रहे हैं, पर मात्र नये प्रयोगो की चमत्कार-चारुता के प्रति इतना आग्रह हिन्दी-काव्य मे शायद पहले कभी नही था। एक प्रकार से यह पूरा का पूरा युग ही प्रयोगवादी कहा जा सकता है, पर जिन्हे 'प्रयोगवादी' कहा जाता है वे निश्चय ही उस आक्षेप के पात्र हैं जो वाजपेयी जी ने किया है और जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। बल्कि यही भेदक विशेषता है जो उन्हे प्रगतिवादियो से अलग करती है। कहा जाता है कि शब्द प्रयोग मे आते-आते घिस जाते हैं और उनकी व्यजक-शक्ति क्षीण हो जाती है, इसलिए प्रयोगवादी कवि नए शब्दो का प्रयोग करते हैं। पर यह बात जितनी ठीक है उससे भी अधिक महत्त्व की ठीक बात यह है कि किसी जाति के जीवन से निकले हुए कितने ही शब्द ऐसे भी होते हैं, जो शताब्दियो से अपने चारो ओर भाव-समूह सचित करते आने के कारण अत्यत महत्त्व के होते हैं। ऐसे समर्थ शब्दों को पहचानना और आवश्यकतानुसार नए सम्बन्धो मे उन्हे रख कर नए अर्थ की अभिव्यक्ति करना सामाजिक दृष्टि से अधिक उपयोगी होगा। फिर अर्जित ज्ञान और ज्ञानाभास को व्यक्त करने के लिए अपनी व्यजनाओ को कही एकदम सिकुडाकर और कही बेहिसाब फैलाकर अतिरिक्त जानकारी दिखाना और भारी अर्थ-समूह का अस्वाभाविक बोझ लाद कर शब्दो का कचूमर निकालना कहाँ तक सगत है, यह

भी कम विचारणीय प्रश्न नही है। इस सम्बन्ध मे और भी बहुत-सी बातें उठती हैं पर उनका विचार यहाँ करना सगत न होगा।

प्रकीर्णक व्यावहारिक आलोचनाओ मे वाजपेयी जी की सूक्ष्म दृष्टि, नवीन उद्भावना और उनकी सामाजिक सम्बन्ध-भावना अच्छी तरह देखी जा सकती है। ये किसी रचना या रचनाकार का 'समग्र विवेचन' या 'मूल्याकन' नही उपस्थित करती और इसलिए इनमे 'सर्वांगपूर्णता' खोजने वाले कभी कभी निराश हो सकते हैं, पर इसीलिए इन विवेचनो मे गहराई आ गई है। रचयिताओ और रचनाओ की प्रस्तुत समीक्षाएँ परम्परागत रूढिमयता से मुक्त और मौलिक होने के कारण नया प्रकाश देती हैं और पाठक को स्वतत्र बुद्धि से एक बार फिर सोचने को विवश कर देती हैं। यह इनकी भारी सफलता है।

जैनेन्द्र के 'त्याग-पत्र' तथा अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' आदि की विवेचना मे सामाजिक दृष्टि से मूल्याकन किया गया है। जैनेन्द्र पर विचार करते हुए लेखक ने उनकी भावुकता पर आश्रित तर्क-प्रणाली की सामाजिक अनुपयोगिता अच्छी तरह उद्घाटित की है। 'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल के गूढ रहस्यात्मक और सामाजिक नियमो के विरोधी दार्शनिक आधार की कमजोरी बतला कर उसके निष्क्रिय (रचनात्मक नहीं) विद्रोह की सामाजिक निरर्थकता दिखाई गई है। इस उपन्यास के बारे मे यह कथन कि इसमे हम 'केवल एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना मे भटकते रह जाते हैं", सचमुच विचारणीय है। 'शेखर एक जीवनी' पर विचार करते समय लेखक के सामने प्रमुख प्रश्न यह रहा है कि "कला और निरीक्षण-सबधी लेखक की मार्मिकता और मनोविज्ञान की गहरी पैठ हमे कहाँ ले जाती है ? केवल मनोरजन और चमत्कारी कथा ही पर्याप्त है या उस कथा की प्रेरणा और उसके सामाजिक प्रभाव का आकलन करना भी हमारा कर्तव्य है।" शेखर का वह विद्रोह, जो उसके व्यक्तित्व को अत्यधिक असामाजिक, आसक्तिपूर्ण और व्यक्तिवादी बना देता है, वाजपेयी जी की तीव्र आलोचना का लक्ष्य बन गया है। गम्भीर मुद्रा म कही हुई शेखर की एक उक्ति पर वाजपेयी जी की सार-गर्भित टिप्पणी यह है—'यह भी एक दार्शनिक की उक्ति होती, यदि शेखर की उक्ति न होती।" यह कथन शेखर की अधिकाश उक्तियो पर लागू होता है।

किसी रचना पर शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार किया गया है और किसी पर सामाजिक दृष्टि से। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिन रचनाओ मे सामाजिकता और कलात्मकता का पूरा तादात्म्य नहीं हो सका है और किसी एक पक्ष की हानि हो गई है उस पर वाजपेयी जी ने दूसरे पक्ष से विचार करके सतुलित दृष्टिकोण का आग्रह किया है।

व्यावहारिक आलोचनाओ मे उनकी मौलिक, विचारोत्तेजक और कतिपय अर्थ-गर्भित सूक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद के नाटको के विषय मे उनकी कुछ उद्‌भावनाओ की ओर सकेत किया जा सकता है। प्रसाद के नाटको पर जो उल्लेखनीय आलोचनाएँ उपलब्ध हैं उनमे प्राय प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमो और थोडे-बहुत पश्चिमी नाट्यादर्शो का ही मूल आधार रखा गया है। पर वाजपेयी जी की दृष्टि से ढाई हजार वर्ष पूर्व के नाट्यादर्शों के आधार पर ही आधुनिक नाटको की व्याख्या ठीक नही। प्रसादीय नाटको के विषय मे उनकी कुछ सूत्र-रूप उपपत्तियाँ ये हैं—१ 'प्रसाद के नाटक आलकारिक कोटि मे ही परिगणित होगे।' (ऐतिहासिक और सास्कृतिक बन्धन के कारण), २ 'उनके नाटको मे औपन्यासिक गुण अधिक हैं।' (चरित्र-बाहुल्य, काल-विस्तार और कथा बाहुल्य की दृष्टि से), ३ 'ये Biographical अथवा जीवनी-प्रधान नाटक है।' (सम्पूर्ण घटनावली के लिए एक लक्ष्य या केन्द्र-बिन्दु के अभाव के कारण), ४ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चाणक्य का चरित्र नाटकोचित होने की अपेक्षा महाकाव्योचित अधिक है, इत्यादि। कामायनी, साकेत, गोदान और प्रेमचन्द आदि पर लिखे गए निबन्धो मे प्राय इस प्रकार की मौलिक और विचारोत्तेजक उद्‌भावनाएँ देखी जा सकती है।

'आधुनिक साहित्य' के निबन्धो मे एक खटकने वाली बात यह है कि इनमे कही-कही तो विवेचन-सम्बन्धी अनावश्यक विस्तार दिखाई पडता है, और कही अनपेक्षित सकोच। इसका कारण है'अलग-अलग स्वतन्त्र रूप मे, विभिन्न मन स्थितियो मे इनका लिखा जाना। इसलिए जैसा कि लेखक ने स्वय निर्देश किया है, पुनरावृत्ति भी कई जगह हो जाने दी गई है। जिन निबन्धो मे किसी एक पक्ष मे विचार किया गया है उन पर दूसरे पक्ष से भी यदि प्रकाश डाला गया होता तो अधिक अच्छा होता।

पुस्तक को समग्र रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि सामाजिक परिस्थितियो का कुछ अधिक स्पष्टता और विस्तार से विचार हुआ होना तो अधिक अच्छा होना। यह इसलिए और भी जरूरी मालूम होता है कि इससे यह जानने और विचारने का अवसर मिलता कि किसी विशेष दार्शनिक परिपाटी से परिचालित न होने वाले आलोचक को साहित्य के विवेचन मे सामाजिक परिस्थितियो का आकलन किस रूप मे करना चाहिए। यह आज की एक बहुत बडी समस्या है। लेखक ने रिचर्ड्‌स के सम्बन्ध मे जो आपत्तियाँ उठाई हैं वे अधिक जोर के साथ क्रोचे के सम्बन्ध मे भी उठनी हैं। 'जीवन' शब्द आजकल इतना अनिश्चित हो गया है कि प्रत्येक स्थिति मे वह पूरी स्पष्टता के साथ अपना अर्थ नही व्यक्त करता। क्रोचे का मत क्या सचमुच काव्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध द्योतित करता है, इस पर कुछ और विस्तार और स्पष्टता से विचार होना चाहिए। इसमे सदेह नही कि क्रोचे का अभिव्यजनावाद सामाजिक सम्बन्धो से काव्य को कई ओर से अलग

कर देता है । कला, प्रातिभज्ञान, अनुभूति, व्यजना, कल्पना, प्रगीतात्मकता, सौंदर्य आदि के सम्बन्ध की उसकी मान्यताओ को अधिक दूर तक मानना अत्यत कठिन है, जो अन्तत पूरी तरह एक ही अर्थ को व्यक्त करते मालूम होते हैं और सामाजिक सम्बन्धो म क्रमश विच्छिन्न होते चले जाते हैं ।

यह सब कुछ ब्यौरे की बातें हैं । जहाँ तक सम्पूर्ण रूप मे इस पुस्तक की आलोचनाओ का प्रश्न है, इनका महत्त्व असदिग्ध है । आधुनिक साहित्य के गम्भीर जिज्ञासुओ के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है । इस सग्रह के निबन्धो का सबसे बडा महत्त्व इस बात मे है कि ये साहित्य के विषय मे अधिक स्वतत्रता के साथ रूढि-मुक्त होकर सोचने के लिए पाठक को विवश करते हैं और एक विशिष्ट आलोचक की महत्त्वपूर्ण नई दृष्टि सामने रखते हैं

'नया साहित्य : नये प्रश्न'

—डा० बच्चन सिंह एम० ए०, पी एच० डी०

●

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपो को समझने समझाने का जितना तल स्पर्शी प्रयास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने किया है उतना अन्य कोई व्यक्ति अब तक अकेले नही कर सका है। आधुनिक साहित्य के अतिरिक्त सूर और तुलसी-साहित्य के अन्तरग का भी उनका गहन अध्ययन है। सूर-साहित्य के अन्तरग पक्ष का गहन अध्ययन उनके 'महाकवि सूरदास' के कतिपय अन्तिम अध्यायो मे मिलेगा। नये पुराने साहित्य के सम्बन्ध मे उन्होने जो कुछ लिखा है उसमे दृष्टिकोण की नवीनता, अन्तरग का गहन विश्लेषण और पकड की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। यह सच है कि मुख्यत नये साहित्य और उसकी समस्याओ के चिन्तन और मनन ने उनके दृष्टिकोण को नूतन आलोचनात्मक चेतना दी है। यह भी सच है कि यूरोपीय साहित्य के गम्भीर अध्ययन ने उनकी चिन्ता को नवीन उन्मेष और स्फूर्ति दी है, लेकिन इससे उनकी भारतीय समीक्षा-दृष्टि की सम्पन्नता, परिष्कृति और सन्तुलन प्राप्त हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के फल-स्वरूप ही वे भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा रस निष्पत्ति का पुनराख्यान कर सके हैं।

वाजपेयी जी की नवीनतम समीक्षा-पुस्तक 'नया साहित्य नये प्रश्न' मे दो दार्शनिक निबन्धो का भी सग्रह है, फिर भी समग्रत इसमे नये साहित्य से सम्बद्ध नये प्रश्नो के विश्लेषण तथा विविध समस्याओ के सन्तुलनात्मक हल प्रस्तुत करने के प्रयास किये गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागो मे विभक्त है—'निबन्ध', 'विवेचन और निरूपण', 'वार्तायें और वक्तव्य', 'दो दार्शनिक निबन्ध' और 'परिशिष्ट'। इस पुस्तक मे समय-समय पर लिखे गए निबन्धो-वार्ताओ आदि को सग्रहीत किया गया है। इसलिए

स्वाभाविक है कि कुछ बातो को पुन पुन ले आना पडा है। अत इसकी प्रमुख विवेचनाओ और मान्यताओ को समीक्षा की परिधि मे ले आने के लिए मुझे अलग क्रम बनाना पड रहा है। 'निकष' वाजपेयी जी की गम्भीर और रोचक आत्म-समीक्षा है। शेष खण्डो मे नवीन यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आधुनिक काव्य, नये उपन्यास, समस्या नाटक, नई समीक्षा तथा पश्चिमी और भारतीय समीक्षा-शास्त्र को कई कोणो से देखा गया है।

निकष' मे वाजपेयी जी ने अपने कृतित्व की उपलब्धियो और अभावो का विवेचन किया है और नये साहित्य की दिशा निर्देशित करके उसके लिए एक 'निकष' भी तैयार किया है। समीक्षा के क्षेत्र मे वाजपेयी जी का आगमन प्रसाद, निराला और पन्त के विवेचक के रूप मे हुआ था। ये ही इनकी समीक्षा के केन्द्र-विन्दु थे। वे 'नये जीवन-दर्शन, नई भाव धारा, नूतन कल्पना-छवियो और अभिनव भाषा-रूपो को देख कर उनकी ओर आकृष्ट हुए।' उनके अभाव मे 'साकेत', 'प्रियप्रवास' और रत्नाकर की काव्य कृतियाँ इन्हे अनाकर्षक लगी। इसके फल-स्वरूप जैसा वाजपेयी जी का कहना है, उनके विवेचन मे गहरी एकागिता आ गई। 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी' मे प्रेमचन्द–सम्बन्धी जो निबन्ध सग्रहीत है, उसमे उन्होने अपनी रुचि की प्रमुखता को स्वीकार किया है। अपनी इस एकागिता को उन्होंने अपनी अन्य समीक्षा-पुस्तको मे सन्तुलित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि वाजपेयी जी ने स्वय स्वीकार किया है कि वस्तुमुखी दृष्टि के अभाव मे उनके साहित्यिक मूल्याकन म कोई बडी कमी आ गई है, यह कहना अतिरजना होगी, *फिर भी वे अपनी एकागिता के प्रति जागरूक जरूर हैं। लेकिन जिसे* वाजपेयी जी ने एकागिता कहा है वह अपने आप मे पूर्ण है। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी' के छायावादी कवियो से सबद्ध निबन्धो के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, साकेत और रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे गए निबन्ध उनकी तल-स्पर्शिनी दृष्टि, अन्तर्भेदिनी प्रतिभा और अचूक पकड के द्योतक हैं। इन सभी कवि-लेखको पर पहली बार नये ढग से विचार किया गया है जो आज भी अपनी ताजगी और पैनेपन के कारण विचारोत्तेजक बने हुए हैं। समीक्षा के क्षेत्र मे भी कुछ हद तक वाजपेयी जी का अनुकरण हुआ—विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लेकर। कुछ तरुण आलोचक वाजपेयी जी की बात को ठीक ढग से दुहरा भी न सके। इन्ही के सम्बन्ध मे टी॰ एस॰ इलियट ने कहा है कि 'The majority of critics can be expected only to parrot the opinions of the last master of criticism' उनकी दूसरी पुस्तक 'जयशकर प्रसाद' मे प्रसाद के काव्य (कामायनी), नाटक, उपन्यास (ककाल) पर भिन्न भिन्न समयो पर लिखे गये निबन्ध सग्रहीत हैं। प्रसाद के काव्य-नाटको

पर लिखी गई अनेक पुस्तको के बावजूद भी प्रसाद को समझने के लिए आज भी वह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। उनकी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी' मे प्रेमचन्द पर सगृहीत निबन्ध की एकागिता दूर करने की दृष्टि से लिखी गई है, पर इसमे एक दूसरी एकागिता आ गई है जिससे प्रेमचन्द की त्रुटियो का पक्ष काफी निर्बल पड गया है। यह पुस्तक उनके गौरव के बहुत अनुकूल नही हो सकी है। उनकी चौथी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' ५०' मे प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे 'प्रयोगवाद' सम्बन्धी लेख 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी' के लेखो की तेजस्विता को पुन. ताजा कर देता है। इसके सम्बन्ध मे उन्होने 'निकष' मे स्वय लिखा है "प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक मे एक भी सवर्धना का शब्द नही है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबन्ध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तार सप्तक' के सप्त महारथियो के लिए मेरी उस निबन्ध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का बचकाना प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नही बीता; पर हृदय परिवर्तन बहुतो का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गये हैं और कई तो खेमा छोड कर बाहर चले गए हैं।' जिस तरह शुक्ल जी सम्बन्धी वाजपेयी जी के लेखो ने समीक्षा-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वो की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया, उसी प्रकार इस लेख द्वारा भी प्रयोगवाद-सम्बन्धी अनेक सकीर्णताओ का उद्घाटन हुआ। इस पुस्तक के कुछ अन्य निबन्धो की चर्चा उनकी नवीनतम पुस्तक की चर्चा के साथ की जायगी, क्योकि क्रम-स्थापन की दृष्टि से इन्हे दोनो पुस्तको मे रख दिया गया है।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' मे साधारणतः पाठकों को जिज्ञासा हो सकती है कि ये नये प्रश्न क्या है और वे क्यो उत्पन्न हुए है ? इन जिज्ञासाओ का समाधान 'विवेचन और निरूपण' खण्ड के पहले निबन्ध 'नवीन यथार्थवाद' मे मिलेगा। इस निबन्ध को अन्य निबन्धो की पृष्ठभूमि समझना चाहिए। यथार्थवाद के नाम पर दो विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं :—मार्क्सवादी विचार-पद्धति और अन्तश्चेतनावादी विचार-पद्धति। मार्क्सवादी विचार-पद्धति या समाजवादी यथार्थवाद 'वर्ग-सघर्ष' की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है। अन्तश्चेतनावादी साहित्य को मन की दमित वृत्तियो के प्रकाशन का माध्यम मानते हैं, साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर उनका विश्वास नहीं है। वाजपेयी जी ने इन दोनो मतो को परस्पर-विरोधी और अतिवादी कहा है। लेकिन वे इनका सर्वथा तिरस्कार नहीं करते, काव्य धारणाओ मे वे इनकी सहायता अवश्य लेना चाहते हैं। उनका निश्चित मत है कि साहित्य का लक्ष्य और स्वरूप आज की इन यथार्थवादी सीमाओ को पार करने पर ही दिखाई देगा। आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर

समासीन हो चुकी है तो उसे वर्गों, फिर्कों या सम्प्रदायों मे विभक्त कर परखना अत्यधिक आत्मघाती नीति है। अपने इस निबन्ध मे वाजपेयी जी ने साहित्यकारो का ध्यान नवीन राष्ट्रीय जागृति की ओर आकृष्ट करके स्वस्थ और जीवन्त साहित्य के निर्माण का समर्थन किया है।

'आधुनिक काव्य का अन्तरग' शीर्षक निबन्ध मे उन्होने बतलाया है कि काव्य और जीवन की समस्या के नाम पर काव्य 'यथार्थवाद' द्वारा अनुशासित हो रहा है। इनके अतिरिक्त जीवन-सम्बन्धी एक तीसरा दृष्टिकोण है—प्रयोगवाद, जिसे निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा गया है। लेकिन आज काव्य मे मार्क्सवाद का शोर और अन्तश्चेतनावाद का आतक बहुत कुछ शान्त हो गया है। प्रयोगवाद, जिसे वाजपेयी जी ने निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा है, अब नकारात्मक नही रह गया है। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' की कुछ कविताओ को इसके प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। हाँ, नकेनवादी आज भी प्रयोग या स्थापत्य को साध्य मान कर पूर्व की समस्त साहित्यिक मान्यता—साधारणीकरण प्रेषणीयता, सवेगात्मक अनुकूलत्व आदि (Emotinal response)—को अस्वीकार करके सच्चे निहिलिस्ट होने के दावे पर अडे हुए हैं। इस सिलसिले मे वाजपेयी जी ने एशिया के पुनर्जागरण, अणु-बम की छाया मे शान्ति खोजने वाले मानव-सहयोग आदि के क्रियाशील तत्वो को पहचानने के लिए कलाकारो का आह्वान किया जो सचमुच मे छाया काव्य के अन्तरग को पुष्ट और प्रस्तुत करने मे काफी दूर तक योग देगा।

इस सग्रह मे उपन्यास सम्बन्धी चार निबन्ध सग्रहीत हैं—'नये उपन्यास', 'व्यक्तिवादी उपन्यास', 'नवीन कथा-साहित्य—विचार-पक्ष' और 'उपन्यासकार जैनेन्द्र'। पहले निबन्ध मे हिन्दी-उपन्यास के उपलब्धि-अभाव को उसके ऐतिहासिक विवेचना-क्रम मे उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द के बाद वाजपेयी जी ने उपन्यास लेखको की जो त्रयी मानी है उसमे भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् एक दूसरी त्रयी का उल्लेख किया गया है जिसमे यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आते हैं। प्रथम त्रयी की उपलब्धि है उपन्यासो को विवरणात्मक पद्धति से हटाकर उन्हे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना, लेकिन मनोवैज्ञानिक ऊहापोह मे सलग्न हो जाने से उनका सामाजिक पक्ष अत्यन्त अशक्त और कहीं कहीं रुग्ण हो गया है। दूसरी त्रयी नये यथार्थवाद के किसी न-किसी रूप से बुरी तरह आक्रात है। यशपाल मार्क्सवाद की सीमाओ का अतिक्रमण नही कर पाते तो इलाचन्द्र अन्तश्चेतनावाद का, अज्ञेय इन दोनो के सन्धि-स्थल पर खडे हैं। कदाचित इसीलिए अज्ञेय का चरित्राकन अधिक सूक्ष्म और गहरा है। टेक्नीक सम्बन्धी अनेक उपलब्धियो के बावजूद प्रेमचन्द की मानवीय सवेदना की ओर हमारे उपन्यासकार अभी अच्छी तरह उन्मुख नही हो पाए हैं। यह उनका सबसे

बडा अभाव है। उपन्यासकार जैनेन्द्र को उनकी समग्रता मे इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखा गया है कि उनकी केन्द्रीय स्थापना, परिदृश्य, दृष्टिकोण, टेक्नीक आदि के अनेक पहलुओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। इसमें जैनेन्द्र का सन्तुलित विवेचन हुआ है, जो वाजपेयी जी के गहरे चिन्तन का द्योतक है।

नाटककार लक्ष्मीनाराय मिश्र सम्बन्धी निबन्ध में मुख्य रूप से समस्या-नाटकों पर विचार किया गया है, जो कई अर्थों मे नवीन और विचारोत्तेजक है। समस्या नाटक मूलत रूढि-विध्वसक, बौद्धिक और विचारों को उद्बुद्ध करने वाले हैं। समस्या नाटको के आविर्भावक इब्सन के विचार-पक्ष का उल्लेख करते हुए यहाँ ने लिखा है कि उसके विचार हमारे ऊपर निर्दय आघात करते हैं और आदर्शों के आतकों से बच निकलने की उत्तेजनात्मक प्रेरणा देते हैं, वे भावी जीवन की वास्तविकताओं के प्रति हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं।[1] मिश्र जी की समस्याओं का बहिरंग तर्कपूर्ण है, लेकिन समाधान भावात्मक और आदर्शवादी। उनकी समस्याएँ न अद्यतन समस्याओं का स्पर्श करती हैं और न ही हमारी रूढियो पर निर्दय प्रहार। वाजपेयी जी ने उन्हे मूलत पुनरुत्थानवादी और उग्र हिन्दुत्ववादी कहा है जो नाटकों की विषय-वस्तु और परिसमाप्ति को देखते हुए बहुत कुछ सगत प्रतीत होता है।

इस पुस्तक मे समीक्षा सम्बन्धी चार निबध हैं—'हिन्दी-समीक्षा का विकास', 'द्विवेदी-युग की समीक्षा-देन', 'नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ', 'समीक्षा सबधी मेरी मान्यता'। प्रथम तीन निबन्धो में हिन्दी-समीक्षा के क्रमिक विकास तथा उसकी प्रमुख भूमियों का उल्लेख करते हुए अपनी साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय निबन्धों में मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की अतियो पर जमकर प्रहार किया गया है। वैसे इनकी आशिक आवश्यकता स्वीकार की गई है। साहित्यिक मूल्यों से केन्द्र-च्युत होकर मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, प्राणि-शास्त्र के जगलों मे भटकने वाले आलोचकों से इलियट ने भी निवेदन किया है—And further more there is a philosophic border line, which you must not transgress too far or too often, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to present your self as a philosopher, metaphysician, sociologist or psychologist instead." 'समीक्षा-सबधी मेरी मान्यता' में वाजपेयी जी ने बतलाया है कि यूरोप की सामाजिक स्थिति और भारत की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। पश्चिम कई अर्थों में पूर्व से आगे है। उसका साहित्य स्वस्थ होने के साथ प्रतिगामी भी है। हमारा समाज और साहित्य स्पष्टत. विकासोन्मुख स्थिति

---

1. Raymond William, Drama · From Ibsen to Eliot of P 42

मे है। अत हमे समीक्षा-विधियो को पश्चिम से उधार नहीं लेना चाहिए। उनकी दृष्टि म भारतीय समीक्षा-पद्धति की दीर्घ और सुदृढ परम्परा को नज़रअन्दाज करना कभी भी श्लाघ्य नही है। इसके साथ ही वे पश्चिम के अनेक नवीन विचारों को सन्निविष्ट करके अपनी समीक्षा-पद्धति को पुष्ट करना चाहते हैं। वे सच्चे अर्थ म प्रगतिशील हैं। उनका कहना है—"किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियो की सुघरता या शब्दों के चमत्कार से बडा नही बनता। उनके लिए आवश्यकता होती है अदम्य साहस की, अव्यभिचारी चरित्र की और उदात्त जीवन-चेतना की। आज के सर्जनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य के स्रष्टाओं के लिए उन्होने जिस महान् राष्ट्रीय चेतना और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था की आवश्यकता बतलाई है वह उनके व्यापक पूर्व-ग्रहहीन और सन्तुलित दृष्टिकोण की द्योतक तथा भावी स्वस्थ साहित्य की मार्गदर्शिका है।

व्यावहारिक आलोचना के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी तीन स्पष्ट, सुविचारित और नवीन उद्भावनाओ से सम्वलित निबन्ध भी इस पुस्तक मे सग्रहीत हैं। 'पाश्चात्य समीक्षा सैद्धान्तिक विकास' निबन्ध मे पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास को बहुत तर्कपूर्ण तथा सुलझे हुए ढग से उपस्थित किया गया है। इसकी सुसबद्धता और एकतानता पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है।

'भारतीय समीक्षा की रूपरेखा' में अनेक मौलिक प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, जो वाजपेयी जी के दीर्घकालिक स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। भारतीय समीक्षा के पुन परीक्षण और पुनर्व्यवस्था की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने जो नवीन उपपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे गम्भीर चिन्तन की माग करती हैं। उनका कहना है कि इसकी नवीन व्याख्या और पुनर्व्यवस्था के लिए व्याख्याता या व्यवस्थापक को पश्चिमी समीक्षा की एकतानता और परम्परा के नैरन्तर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय समीक्षा शास्त्र अतिशय समृद्ध है, फिर भी पश्चिमी समीक्षा शास्त्र की भाति सुगठित नहीं है। इसलिए आज की पीढी उसके मूल्यों का लाभ न उठाकर पश्चिमी समीक्षा के शब्दो को उधार लेती है।

वाजपेयी जी ने निकोल और बोसाके के 'काव्यशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र' का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उनमे भारतीय समीक्षा शास्त्र के नगण्य विवरण का प्रमुख कारण है भारतीय समीक्षा शास्त्र की स्पष्ट रूपरेखा का प्रस्तुत न किया जाना। उन्होंने भारतीय समीक्षा शास्त्र की उन कतिपय त्रुटियो का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वह आज के पाठकों के लिए अगम्य और विकर्षक भी हो गया है। उदाहरणार्थ भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' नाट्य विज्ञान की अपेक्षा नाट्य कला और रगमचीय कला का विधि निर्देशक ग्रन्थ रह गया है। दूसरे स्थानों

पर तत्व-चिन्तन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ इस प्रकार सम्पृक्त हो गया है कि उनकी विभाजक-रेखा लुप्त हो गयी है। इसी तरह काव्य-सिद्धांत सम्बन्धी ग्रंथों में सिद्धांत और रीति व्याकरण पास-पास आ गये हैं। आज इन्हें वैज्ञानिक ढग पर अलग-अलग करना है। कुछ बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद हो सकता है। जैसे रस, रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि वे मूल रूप में काव्य-सिद्धांत के विभिन्न पक्ष थे, न कि सम्पूर्ण काव्य-दर्शन के स्थानापन्न। यह केवल अनुमानाश्रित है, इसके लिए समुचित प्रमाणों का अभाव है। फिर भी भारतीय समीक्षा-शास्त्र के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे जो सुझाव उन्होंने दिये हैं वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। वे अलकार के अतर्गत कवि के कल्पना पक्ष, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के अन्तर्गत अभिव्यंजना की स्थिति और रीति को व्यापक अर्थ मे सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यजना के रूप मे स्वीकार करते हैं। इस नव निर्माण का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उनका कहना है 'नव-निर्माण के इस कार्य मे हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्त्वो, सिद्धान्तो या काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायो से नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकास क्रम से है जिससे विभिन्न स्थितियों मे विभिन्न तत्त्वो, सिद्धान्तो और संप्रदायो का रूप-निर्णय, निर्माण और पुनर्निर्माण किया है, एव उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वस्तु प्रदान की है।' इसके लिए उन्होने इतिहास की गत्यात्मक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अध्येता को सारी परिस्थितियो पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

इस संग्रह मे 'रस-निष्पत्ति' सम्बन्धी निबन्ध कदाचित् सबसे अधिक विचारोत्तेजक और विवादग्रस्त है। 'रस-निष्पत्ति' का विवेचन करते समय जो नई व्याख्या वाजपेयी जी ने प्रस्तुत की है वह मूलत. लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतो तथा साधारणीकरण के प्रश्न से सबद्ध है। लोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए उन्होने बतलाया है कि 'इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रो मे मानी है।' लेकिन आगे चलकर जब वाजपेयी जी लोल्लट के प्रसग मे नायक आदि का अर्थ कवि-कल्पित नायक ग्रहण कर लेते हैं तब कई शंकायें उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनवगुप्त और मम्मट के मत से 'रामादावनुकार्ये' का सामान्य अर्थ ऐतिहासिक राम आदि से लिया गया है न कि कवि-कल्पित राम से। लेकिन वाजपेयी जी का मत शास्त्रीय उद्धरणो के आधार पर अन्यथा नही माना जा सकता। एक तो लोल्लट आदि की अपनी कृतियाँ आज उपलब्ध नही हैं, दूसरे मम्मट और अभिनव ने स्पष्ट रूप से उसके मत का उल्लेख नही किया है। मम्मट के उद्धरण के आधार पर यदि राम को एक ओर ऐतिहासिक राम माना जा सकता है तो वहाँ कवि-कल्पित राम भी माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि काव्य-नाटक के राम कवि-कल्पित ही होगे।

'रस-निष्पत्ति' के निबन्ध में साधारणीकरण के सम्बन्ध मे भी वाजपेयी जी ने एक मौलिक स्थापना की है कि साधारणीकरण समस्त कवि-कल्पित व्यापार का होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के सबध मे मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं—

(१) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति-विशेष या विशेष वस्तु आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलबन हो जाती है।

(२) रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रथो मे विवेचन नही हुआ है किसी भाव की व्यजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलबन होता है।

(३) जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक मे सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप मे स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन मे कोई-न-कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है, अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलबन पाठक या दर्शक का आलबन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलबन रहता है। इस दशा मे भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है।

यदि शुक्ल जी की पहली बात अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर साधारणीकरण की स्थिति स्वीकार कर ली जाय तो कई असगतियाँ उठ खड़ी होगी। जिनके प्रति हमारे मन मे पूज्य भावना है उनके रति-वर्णन को सुनकर क्या हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं ? ऐसा न तो शास्त्रीय दृष्टि से समव है और न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। शुक्ल जी की दूसरी और तीसरी बात मे कोई पार्थक्य नहीं पड़ता। शील की दृष्टि से जब कोई पात्र श्रोता या पाठक के किसी भाव का आलबन होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि के भाव के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है जिसका उल्लेख शुक्ल जी ने एक पृथक् कोटि (दे० उ० ३) मे किया है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' मे साधारणीकरण की विस्तृत और विद्वतापूर्ण चर्चा की है। उनकी पकड़ मुख्यत. मनोवैज्ञानिक है। उन्होने भट्टनायक और अभिनवगुप्त का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि *'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है* अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर

सकता है कि 'वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।' आगे चलकर उन्होंने इसे और साफ करते हुए कहा है कि 'हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं।'

वाजपेयी जी अनुभूति शब्द का व्यवहार न करके 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' शब्द का व्यवहार करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण कवि की 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' का होता है। काव्य-प्रक्रिया अनुभूति की अपेक्षा व्यापक शब्द है। इसमें कवि की अनुभूति, विचार, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी बातों का समाहार हो जाता है।

संक्षेप में, 'नया साहित्य नये प्रश्न' में साहित्य की अनेक महत्त्वपूर्ण नई पुरानी समस्याओं का सन्तुलित और विचारपूर्ण हल प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी प्रश्नों के विवेचन में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है, फिर भी साहित्येत्तर मूल्यों के यथोचित सन्निवेश में उन्होंने कभी अनास्था नहीं प्रकट की है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तथा उसका साहित्यिक मूल्यानुचिन्तन, नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण, भावी स्वस्थ साहित्य की रूप-रेखा तथा उसके भविष्य का निर्देशन, भारतीय समीक्षा शास्त्र की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता आदि बहुत से विषयों के समावेश तथा सन्तुलित विवेचन में वाजपेयी जी ने समन्वयात्मक और नवीन विचार-पद्धति अपनाई है। वह अपने आप में एक आदर्श समीक्षा-सरणि बन गई है।

इस पुस्तक से प्रतीत होता है कि आज भी वाजपेयी जी का व्यक्तित्व विकसनशील है, यह उनके साहित्यिक विकास की नई मंजिल है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों में जो सन्तुलन और प्रौढ़ता तथा भाषा शैली में जो स्पष्ट निखार दिखाई पड़ता है वह उनकी भावी प्रौढ़तर कृतियों का द्योतक है।

'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ'

—डा० लक्ष्मीनारायण दुबे, एम० ए०, पी-एच० डी०

०

आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी के मूर्धन्य समीक्षक तथा विद्वान लेखक हैं। हिन्दी-वाङ्मय की उन्होने अपनी कृतियो यथा 'जयशकर प्रसाद', 'प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन', 'महाकवि सूरदास', 'हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य · नए प्रश्न' के द्वारा श्रीवृद्धि की है। इसी समृद्ध तथा पुनीत परम्परा मे उनकी नवीनतम कृति 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए' आवद्ध होती है।

आचार्य वाजपेयी जी का आगमन हिन्दी के छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पन्त की नयी कविता के विवेचक के रूप मे हुआ था। नये जीवन-दर्शन, नयी भाव धारा, नूतन कल्पना-छवियो और अभिनव भाषा-रूपो को देखकर वे इन कवियो की ओर आकृष्ट हुए थे।[1] वाजपेयी जी की इस मूल भित्ति से अवगत हो लेने पर, यह कहना स्वाभाविक ही है कि आधुनिक भारत की विवादास्पद् राष्ट्र भाषा-समस्या पर भी उन्होंने अभिनव उपपत्तियो तथा सारपूर्ण प्रारूपो मे चिन्तन किया है। इस पुस्तक के द्वारा हमे उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का व्यावहारिक रूप विदित होता है जो कि सिद्धान्त तथा मेधा पक्ष मे ही निष्णात नही है, प्रत्युत समय के नब्ज की सवेदनशीलता को भी ग्राह्य बनाता है।

कुछ वर्ष पूर्व, केन्द्रीय शासन ने उत्तर भारत से दक्षिण भारत को हिन्दी के प्रति सद्भावना-सचार के लिए कुछ साहित्यिको को भेजे जाने का प्रस्ताव किया था। इसी प्रसग मे केन्द्रीय सरकार के आमन्त्रण पर लेखक ने २७ अगस्त, १९५९ से

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, मासिक 'कालिदास', मेरा साहित्यादर्श, जनवरी, १९६२, पृ० १७-१८।

९ सितम्बर, १९५९ ई० तक निरन्तर १४ दिनो तक केरल की अभिभाषण-यात्रा की थी।[1] प्रस्तुत यात्रा के अन्तर्गत त्रिवेन्द्रम, क्विलान, चगानूर, चगनाचेरी, कोट्टायम, एट्टिमनूर और पालाई, एरनाकुल्म, त्रिचूर, पालघाट, कालीकट तथा टेलीचरी नामक एकादश केरलीय स्थानो का पर्यटन किया गया और विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, हिन्दी सस्थाओ, व्यक्तियो आदि से सम्पर्क स्थापित किया गया। आलोच्य पर्यटन मे राष्ट्रभाषा और उसकी समस्याओ के विभिन्न पक्षों पर आचार्य वाजपेयी जी को कुछ सोचने और कहने का अवसर मिला था, जिसका परिपक्व फल इस कृति के रूप मे उपलब्ध हुआ है। प्रस्तुत कृति मे राष्ट्रभाषा की समस्याओ को पृष्ठभूमि मे उत्तर और दक्षिण के धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक समन्वय के बाह्य तथा आन्तरिक परिवेश का अध्ययन तथा विवेचन करते हुए उन्तीस निबन्ध दिये गये हैं।

'राष्ट्रभाषा की समस्याए' पर मनन करते हुए, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गरिमापूर्ण किरीट से मडित होने के इतिहास पर अत्यत सक्षेप मे विचार कर लेना अप्रासगिक एव अनुचित प्रतीत नही होगा। आचार्य वाजपेयी जी ने लिखा है कि महात्मा गाधी के द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रचारित की गई थी।[2] महात्मा गाधी के अनुरोध के फलस्वरूप ही, सन् १९२५ मे काग्रेस के कानपुर अधिवेशन मे हिन्दी सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ और वह पारित हो गया।[3] देश की सविधान सभा मे राज्य-भाषा के रूप मे दक्षिण भारतीयो ने हिन्दी का समर्थन किया।[4] राष्ट्रभाषा के अनन्य उपासक तथा सेनानी श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी, हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर, ब्रजसाहित्य मण्डल के सहारनपुर अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण मे अहिन्दी भाषा-भाषियो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट की थी।[5] तत्पश्चात् भारत के भाषा-व्योम मे विभिन्न वर्ण के मेघ आच्छादित होने लगे जिनसे वातावरण उद्दीप्त तथा अस्थिर हो गया। आचार्य वाजपेयी जी ने अपने अनेक अभिभाषणो द्वारा विपाक्त वातायन को निर्मूलित तथा पवित्र बनाने का सुन्दर प्रयत्न किया है। उनकी परियात्रा तथा कृति का मूलाधार ही राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर राष्ट्रीय-ऐक्य, सास्कृतिक समन्वय, साहित्यिक उदात्तता तथा व्यावहारिक भूमि के आयामो से देखना परखना है। समीक्षक के रूप मे वे यदि साहित्य को एक सास्कृतिक उपादान के रूप मे ग्रहण करते हैं और आलोचना मे भी राष्ट्रीय जीवन

---

१ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए, वक्तव्य, पृष्ठ० ४२।'
२ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए', हिन्दी का भ्रामक विरोध, पृ० ५८।
३ डा० ज्ञानवती दरबार—भारतीय नेताओ की हिन्दी-सेवा, पृ० १४९।
४ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए', पृ० ५८।
५ 'ब्रजभारती', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'-स्मृतिअक, पृ० ५१।

के सास्कृतिक बिम्ब के सम्मेलन के प्रति आग्रह करते हैं।[1] तो राष्ट्रभाषा की समस्याओ पर विचार करते हुए, राष्ट्र तथा सस्कृति के पुनीत तथा चिरन्तन घटकों को नीव के पाहन के रूप मे उनका स्थान देना, नैसर्गिक ही प्रतीत होता है। आचार्य वाजपेयी जी ने, साहित्यिक के रूप मे, हिन्दी के क्षेत्र मे अधिकाधिक काव्य विवेक जागृत करने को शीर्ष प्राथमिकता दी है,[2] एतदर्थ, राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर उनमे कही भी दुराग्रह अथवा असन्तुलन दिखाई नही देता। उनका दृष्टिकोण राजनीतिज्ञ का दृष्टिकोण न होकर, एक चिन्तक, समन्वयवादी सास्कृतिक साहित्यिक, राष्ट्रीय तथा भारत की प्राचीन शास्त्रीय व शाश्वत् निधियो के अनुगायक का दृष्टिकोण है। उन्होने स्वय लिखा है कि स्वराज्य मिलने के पश्चात् देश मे सहसा राजनीतिक शक्ति का इतना प्राधान्य हो गया है कि उसने सामाजिक जीवन के अन्य उदीमान पक्षो को स्वतन्त्र रीति से बढने नही दिया। सामाजिक जीवन की विविध दिशाओ मे जो कुछ कार्य हो राजनीति का 'स्टैंप' लगा कर ही हो और उसका श्रेय राजनीतिज्ञो को मिले, इस सर्वग्रासिनी वृत्ति ने राष्ट्रीय जीवन को एकागी बना दिया है।[3] उन जैसे प्रखर, निष्पक्ष व निर्भीक व्यक्ति के द्वारा ही यह टिप्पणी सभव है। वास्तव मे राजनीति ने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को जितना सकुल व चिन्त्य बना दिया है, उतना अन्य किसी ने नही।

प्रस्तुत पुस्तक मे सकलित आचार्य वाजपेयी जी के अभिभाषणो को जहाँ एक दृष्टिकोण से महाविद्यालय के स्नातको के मध्य, विश्वविद्यालय तथा स्नातकोत्तर महाविद्यालयों मे हिन्दी के कार्यकर्त्ताओ के बीच और दक्षिण भारत-हिन्दी प्रचार-सभा तथा अन्य तद्वत् सस्थाओ के तत्त्वावधान मे दिए गए भाषणो की चार श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है, वहाँ दूसरे दृष्टिकोण से भी इन अभिभाषणों को चार वर्गो मे सहज ही बाटा जा सकता है:—

क—राष्ट्रभाषा सम्बन्धी भाषण, यथा—'राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा', 'जनता जननी की दृढता', 'राष्ट्रभाषा के विकास मे दक्षिण का योग' और 'राष्ट्रभाषा पर आरोप'।

ख—हिन्दी सम्बन्धी भाषण, यथा—'देशोन्नति मे हिन्दी का दायित्व', 'हिन्दी का भ्रामक विरोध' और 'दक्षिण भारत मे हिन्दी'।

ग—साहित्यिक भाषण, यथा—भारतीय भाषाओ का आदान प्रदान भाग १ व २, 'हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग', 'सस्कृत का भारतीय भाषाओ पर

१ श्री नर्मदाप्रसाद खरे—'नई धारा', आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयी, मार्च १९६१, पृ० २७-२८।

२ मासिक 'कालिदास', लोक सस्कृति विशेषाक, फरवरी-मार्च, १९६२ पृ० १२

३ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', स्वाधीन भारत मे साहित्यकार का दायित्व, स्वाधीनता विशेषाक, १३ अगस्त, १९६१, पृ० ७।

प्रभात', 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा' और 'हिन्दी और मलयालम साहित्य'।

(घ) काव्य शास्त्रीय तथा संस्कृति-साहित्य-मर्म-उद्घाटक अभिभाषण यथा 'काव्य-सिद्धान्त की समानता', 'भारतीय काव्य-आत्मा की एकता', 'भाषा-सौन्दर्य', 'भाषा की एकता' 'साहित्य का मर्म' और 'भारतीय संस्कृति के मूलतत्व'।

उपर्युक्त भाषणों में आचार्य वाजपेयी जी ने मूलत. राष्ट्रभाषा के स्वरूप तथा दक्षिण की कठिनाइया, हिन्दी व हिन्दी साहित्य, काव्य शास्त्र के सम्प्रदाय, भाषा और साहित्य के मर्म आदि पर ही समयानुकूल विचार किया है। हिन्दी पर किए जाने वाले आरोपो की यथातथ्यता तथा उनके उत्तर व समाधानो को प्राधान्य मिला है। लेखक ने दाक्षिणात्यो की व्यावहारिक समस्याओ के विश्लेषण को भी अपनी दृष्टि से तिरोहित नही किया है। हिन्दी प्रयोग तथा व्याकरण, उच्चारण की कठिनाइया, हिन्दी के माध्यम से अभिव्यक्ति करने की समस्या, हिन्दी शिक्षको के लिए प्रशिक्षण केन्द्र, शिक्षको तथा छात्रो का विनिमय, हिन्दी का रूप, प्रादेशिक कार्यकर्त्ताओ के आरोप, हिन्दी की पाठ्य पुस्तको तथा पुस्तकालय की पुस्तको का प्रश्न, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा के नये उत्तरदायित्व आदि विविध पक्षो का प्रतिपादन करते हुए, वाजपेयी जी ने अपने अनुभव, निरीक्षण, निर्णय तथा सम्मतिया भी यथास्थान अभिव्यक्त की हैं। केरल प्रदेश मे हिन्दी की स्थिति के सम्बन्ध मे, लेखक का सार इन पक्तियो मे मुखर हो उठा है कि "समग्र रूप से केरल प्रदेश मे हिन्दी की स्थिति वास्तव मे सतोषप्रद है। हिन्दी ने जनता के हृदय मे अपना घर बना लिया है। यहाँ पर हिन्दी भाषा से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के लिए उत्सुकता है। पर इस उत्सुकता को सुव्यवस्थित योजनाओ के द्वारा हिन्दी के अनवरत विकास तथा उसके पढने-लिखने के उपयुक्त स्तर की दिशा मे बढावा देना है। केरल मे हिन्दी तथा मलयालम के बीच कोई प्रतिद्वन्द्विता नही है। वास्तव मे दोनो भाषाए सहोदर बहिनो की तरह व्यवहृत हैं। अत्यल्प मात्रा मे कुछ पढे लिखे लोग अग्रेजी को अनिवार्य भाषा के पद से हटाने के कारण शिक्षा स्तर के गिर जाने की आशकाएँ उठाते हैं। किन्तु शिक्षा के उच्चतम स्तरो तक भारतीय भाषा से ही अध्ययन अध्यापन हो, इस पक्ष का बहुमत है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि केरल प्रदेश शिक्षण-माध्यम के भारतीयकरण की दिशा मे अन्य प्रदेशो की अपेक्षा शीघ्रता तथा दृढतापूर्वक अग्रसर हो रहा है। कारण यह विदित होता है कि यहाँ की जनता अपने दृष्टिकोण मे बहुत व्यावहारिक है और यह जानती है कि भविष्य मे उसके लिए अधिकतम मात्रा मे कौन सी वस्तु उपादेय सिद्ध होगी।"[1]

प्रस्तुत कृति के समारम्भ मे 'केरल की शारदीय परिक्रमा' अध्याय के अतर्गत उक्त प्रदेश की शारदीय सुषमा का वर्णन है। हिन्दी मे यात्रा-वृत्तान्त एव सस्मरणों

१ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याए' वक्तव्य, पृ० ५०।

का अपेक्षाकृत अभाव ही है। पर्यटन साहित्य विषयक जो कतिपय श्रेष्ठ व सुष्ठु कृतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमे इस वर्णन का अपना अनूठा स्थान है। मेघ, जल-फुहिया, समीर, पर्वतमाला, सूर्यास्त आदि का कवित्व मय वर्णन पढ़कर यह बात प्रमाणित हो जाती है कि आचार्य वाजपयी जी ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कवि के रूप मे किया था[1] और प्रकृति, प्रवृत्ति, व्यक्ति तथा वस्तुओ के परखने की उनमे अद्भुत क्षमता तथा प्रतिभा है। उनके कलाकार तथा चिन्तक का सुन्दर समन्वय, मानो निम्न पंक्तियो म, प्रस्फुटित हो पडा है —

"प्राय एक सौ मील तक हिम-श्वेत बादलो का प्रसार नील वर्ण की पर्वत-मालाओ के ऊपर गगा की भाँति प्रवाहित हो रहा था और उससे भी ऊपर हमारा हवाई जहाज, इस नील धवल दृश्य राशि को लाघता हुआ प्रकृति के ऊपर मनुष्य की विजय की सूचना दे रहा था। साथ ही प्रकृति के साथ एक अन्तरग सामजस्य का द्योतन भी वह कर रहा था। मीलो तक फैले हुए श्वेत बादल खूब अच्छी तरह धुनी हुई रुई के समान, पर साथ ही एक अपूर्व नमी लिए हुए दिखाई देते थे। जान पडता था कि हिम के विशाल शिखर ही बूँद बूँद और रेशे रेशे होकर उडे जा रहे हैं। आगे-पीछे दोनो पार्श्वों मे भी वही श्वेत राशि दिखाई दे रही थी। ऐसा जान पडता था कि आकाश ही परिवर्तित होकर बादलो का समूह बन गया है। प्रसाद की कामायिनी के अन्तिम सर्गम पैदल मनु यात्रा करते हुए, श्रद्धा और इडा के साथ जब हिमालय के ऊपर पहुच कर मानसरोवर के समीप जा रहे थे, तब कुछ पंक्तियों मे ऐसी ही दृश्यावली का आभास दिया गया है। अन्तर इतना ही है कि प्रसाद की पंक्तियों में मनुष्य की गतिमन्द और दृश्यावली का आच्छादन अधिक है। दृश्य मानव पात्रों पर हावी हो गया है, पर यहाँ तीव्रगतिक वायुयान पर बैठे हुए हम दृश्यों पर अनुशासन कर रहे थे। हमारे सामने उडते हुए बादल हमको अभिभूत नहीं कर पाते थे, क्योकि वे हमसे नीचे थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि श्वेत खरहो की असख्य राशि अपने पर्वत-कोटर म प्रवेश करने के लिए दौड़ी जा रही है।"[2] इसी प्रकार कन्याकुमारी के 'सूर्यास्त' के प्रख्यात् रमणीय प्राकृतिक दृश्य का चित्रण करते हुए, आचार्य वाजपेयी जी के कवि ने लिखा है कि समुद्र काफी गहरा नीला था, काला भी कहा जा सकता है। आकाश उसकी अपेक्षा कहीं स्वच्छ और हलके रग का था। सूर्य की पीनाभ किरणें सागर जल को रगीन बनाने मे असमर्थ हो रही थी। कई बार सूर्य समुद्र मे डूबा और फिर फिर उससे ऊपर निकला, जैसे कोई अच्छा तैराक डुबकी लगाकर जल के ऊपर निकलता है। अन्त मे वह क्षण भी आया, जब सूर्य ने जल समाधि ले ली। जल की सतह पर तैरती हुई उसकी अन्तिम किरणें समुद्र पर एक चादर सी बिछाने लगीं। धीरे-धीरे वह

१ 'नई धारा', मार्च, १९६१, पृ० २९।
२ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ', पृ० ९

चादर भी जल मे डूब गई।[1] केरल की शारदीय परिक्रमा को प्रस्तुत पर्यटन का चल-चित्र कहा जा सकता है। आलोच्यकृति की सर्वाधिक विशेषताएँ हैं—प्रतिपाद्य विषय की सुबोधता तथा शैली की रोचकता। सामान्यतया आचार्य वाजपेयी जी के कृतित्व मे गाम्भीर्य एव ऋजुता की प्रधानता प्राप्त होती है, परन्तु इस कृति मे प्रसन्न प्रवाह, मर्मस्पर्शिता तथा सरसता के गुण अधिक मात्रा मे मिलते हैं। 'केरल की शारदीय परिक्रमा' जहाँ माधुर्य तथा प्रसाद गुणो से परिप्लावित है, वहाँ अभिभाषणो मे भी दुरूहता तथा क्लिष्टता का घोर अभाव है। काव्य शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक विषयो को भी सरल व बोधगम्य रूप मे उपस्थित किया गया है। आख्यान, रूपक, दृष्टान्त आदि के माध्यम से तथ्य व तत्वो को सुगम रूप मे प्रस्तुत करने मे लेखक को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। 'हिन्दी का भ्रामक विरोध' शीर्षक लेख मे हिन्दी को रमणी के रूप मे प्रतिपादित किया गया, जिससे शादी करने के लिए विभिन्न प्रदेश के व्यक्ति मनोवाछित परिसीमाएँ रखते हैं।[2] द्रौपदी स्वयवर की इस कथा के पश्चात्, 'जनता-जननी की दृढता' शीर्षक निबन्ध मे आचार्य वाजपेयी जी ने, केरल प्रदेश की लोकप्रियता के अनुकूल, शकर-पार्वती के पौराणिक आख्यान के द्वारा हिन्दी की स्थिति का विश्लेषण किया। भारत की जनता रूपी पार्वती ने हिन्दी रूपी शकर का वरण किस प्रकार किया, इसका विनोदात्मक तथा मर्मपूर्ण आकलन प्रस्तुत किया गया।[3] भारतीय पौराणिक आख्यान के दो कथाओ मे 'पाचाली परिचय' और 'शिव-पार्वती परिणय' का सूझ-बूझ परिपूर्ण उपयोग करते हुए, 'राष्ट्र भाषा पर आरोप' मे आंग्ल नाटक 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के कथानक को उपस्थित करते हुए, हिन्दी रूपी पोर्शिया की तर्क पूर्ण किन्तु सुगम्य स्थिति की विवेचना की गई है।[4] 'भाषा सौन्दर्य' मे युवकोचित कहानी 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' को प्रस्तुत किया गया।[5] 'साहित्य का मर्म' जानने के लिए टेलीचेरी के नगरपालिकाध्यक्ष द्वारा आमन्त्रित सभा मे भारत के प्रमुख नवरत्न और पाश्चात्य देशो के प्रमुख नवरत्नो के तर्कों व मीमासा के सुन्दर रूपक को पिरोया गया।[6] इस प्रकार श्रोताओ तथा पाठको को बहुमूल्य सामग्री सरस अभि-व्यक्ति के माध्यम से प्रदान की गई है।

प्रस्तुत कृति मे आचार्य वाजपेयी जी की शैली मे नूतन मोड अथवा प्रारूप के दर्शन होते हैं। सम्प्रेषणीयता तथा परिहासात्मकता के पल्लव सर्वत्र थिरक

१ 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ', पृ० १२
२ वही, पृ० ५७-६१
३ वही, पृ० ६५-६९
४ वही, पृ० ८६-९०
५ वही, पृ० १०५-१०९
६ वही, पृ० १२४-१३०

रहे हैं। उनकी कृतियों में सर्व प्रथम बार ही, उर्दू के शेर की उपलब्धि हुई जो कि *उनकी वायुयान-यात्रा के अनुभव तथा प्रतिक्रिया के रूप में सटीक प्रतीत होता है—*

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का,
जो चीरा तो इक कतरए खूँ न निकला।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सदृश्य आचार्य वाजपेयी जी कहीं-कहीं व्यग्य-विनोद के मधुर व मर्मस्पर्शी छींटे छिड़क दिया करते हैं। अपनी प्रथम कृति मे, आचार्य वाजपेयी जी ने इस वृत्ति का उद्घाटन निम्न पंक्तियो मे किया है :–"न मालूम क्यों जैनेन्द्र जी के अनुयायी भी उनकी रचनाओ को समीक्षा के प्रकाश मे नहीं आने देना चाहते। जिन परिस्थितियो के बीच जैनेन्द्र जी की पात्रियाँ जैसा आचरण करती हैं *यदि उसमे किसी को कुछ अस्पष्टता दीखे (अस्वाभाविकता कहना तो और भी* बड़ी हिमाकत होगी) तो उसकी भी शिकायत नही करनी होगी। जो कुछ लिखा गया है ब्रह्मवाक्य वही है। उस पर किसी प्रकार की शका उठ ही नहीं सकती, नही तो शकाकार की वह स्थिति हो जायेगी जो मौसी के मुँह पर मूँछ की कल्पना करने वाले की महाराष्ट्र में हुआ करती है—बकौल प्रोफेसर माचवे। पर अपने यहाँ बिल्ली मौसी के मूछें भी हुआ करती हैं और छोटे-छोटे बच्चे भी क्रीडावश उनका उपयोग किया करते हैं, इसमे अस्वाभाविकता या अनौचित्य कोई नहीं देखता।"[2]

आचार्य वाजपेयी जी के व्यग्य शिष्ट, सयत, सतुलित तथा स्वस्थ होते हैं। उनके विनोद को आचार्य भरतमुनि के 'स्मित हास्य' की श्रेणी मे रखा जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक मे हास-परिहास का अग अधिक पुष्ट व चित्ताकर्षक है। आचार्य जी ने एक स्थान पर लिखा है कि 'व्यथित' जी ने जिस प्रकार हमारा परिचय उक्त सभा मे दिया—दुलारे जी का उपनाम देकर पुकारा—उससे मेरे इस अनुमान की पुष्टि हुई है कि 'व्यथित' जी सचमुच व्यथित हैं।[3]

सन्तुलन, विवेक, परिपक्वता तथा व्यावहारिकता के आधार ने प्रस्तुत कृति को अनुपम स्तर और आभा प्रदान की है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सदृश्य मनीषी एव विद्वान मार्ग दर्शक के चिन्तन तथा निर्देशों से अवगत होने के लिए यह पुस्तक अक्षय प्रेरणा-स्रोत और मनन-मजूषा प्रमाणित होती है।

१. 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें', केरल की शारदीय परिक्रमा, पृ० ७
२. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', विज्ञप्ति, पृ० १९
३. 'राष्ट्रभाषा की कुछ समस्यायें', पृ० २७